THE SOCIAL ENVIRONMENTS IN HINDI LITERATURE OF BHAKTI PERIOD

THESIS SUBMITTED TO

THE UNIVERSITY OF COCHIN

FOR THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

B. Suseela Amma
M. A.

UNDER THE SUPERVISION

Of

Dr. N. Raman Nair M.A. (Hindi English & Malayalam), Ph. D.

DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF COCHIN
COCHIN-22
KERALA (India)

1973

भक्तियुगीन हिन्दी-साहित्य

के

सामाजिक-परिवेश का अनुसंधान

(कोचीन विश्वविद्यालय की पी-एच. डी.
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

卐

प्रस्तुतकर्त्री :

बी. सुशीला अम्मा
एम. ए.

卐

निर्देशक :

डॉ. एन. रामन नायर
एम. ए. (हिन्दी, अंग्रेजी, मलयालम), पी-एच. डी.

卐

हिन्दी विभाग
कोचीन विश्वविद्यालय
कोचीन - २२

१९७३

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by Sry. B. Suseela Amma, under my supervision for Ph.D., and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Dr. N. Raman Nair
M.A.(Hindi, English & Malayalam), Ph.D.
Supervising Teacher.

Department of Hindi,
University of Cochin,
Cochin-22.

ACKNOWLEDGEMENTS

The work was carried out in the Hindi Department, University of Cochin, Cochin-22, during the tenure of scholarship awarded to me by the University of Cochin. I sincerely express my gratitude to the University of Cochin for this kind of help and encouragements.

Suseelamma B

(B. Suseela Amma)

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन (क) - (ङ.)

प्रथम अध्याय १ - ७५

भक्ति आन्दोलन, भक्ति संप्रदाय, भक्त कवि एवं तत्कालीन सामाजिक स्थिति आदि का पर्यवेक्षण

'भक्ति' शब्द की परिभाषा एवं उसका स्वरूप - भक्ति आन्दोलन - भक्ति का इतिहास - विभिन्न धर्म-प्रचारक - नाथ मुनि (रंगनाथ मुनि) - यामुनाचार्य - श्री रामानुजाचार्य - माध्वाचार्य - निम्बार्काचार्य - विष्णुस्वामी और उनका संप्रदाय - श्री रामानंद और उनका संप्रदाय - नाथ संप्रदाय - सूफी संप्रदाय - वल्लभाचार्य और उनका संप्रदाय - चैतन्य संप्रदाय - राधावल्लभ संप्रदाय - हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय ।

भक्ति आन्दोलन की देन - निर्गुण भक्ति काव्य-धारा - ज्ञानाश्रयी शाखा - कबीर - रैदास (रविदास) - धर्मदास - गुरु नानक - दादूदयाल - सुन्दरदास - मलूकदास - प्रेमाश्रयी-शाखा ।

सगुण-भक्ति-काव्यधारा - कृष्ण भक्ति शाखा - वल्लभ-संप्रदाय के प्रमुख कवि - महाकवि सूरदास और उनकी रचनाएं - परमानन्ददास - नन्ददास - कृष्णदास - कुम्भनदास - चतुर्भुजदास छीतस्वामी - गोविन्दस्वामी - राधावल्लभ संप्रदाय के प्रमुख कवि - श्री दामोदरदासजी (सेवकजी) - हरिराम व्यास - ध्रुवदास - गौड़ीय संप्रदाय के प्रमुख कवि - गदाधर भट्ट और उनकी रचनाएं - सूरदास मदनमोहन - रामराय और उनकी रचनाएं - सखी संप्रदाय के प्रमुख कवि - श्री विट्ठलविपुलदेवजी - श्री बिहारिनदासजी - भक्ति युग के संप्रदाय मुक्त कवि - मीराबाई रसखान - रहीम और उनकी रचनाएं - राम-भक्ति-काव्य-धारा - मर्यादोपासना शाखा के प्रमुख कवि - रसिकोपासना शाखा के प्रमुख कवि - अग्रदास ।

भक्तिकालीन कवियों का सामाजिक दृष्टिकोण।

द्वितीय अध्याय ७६ - १६२

हिन्दी-भक्तिकालीन काव्यों में वर्णित सामाजिक परिस्थितियां

भक्तिकालीन समाज - समाज के वायक्रम - समाज में स्त्री का स्थान - नारी की दुरवस्था - सौतिया डाह - नारी धर्म और उसका आदर्श - स्त्री एवं शिक्षा स्वातंत्र्य - नारी-निन्दा ।

समाज में गर्हित नियम और सम्बन्ध - माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति वात्सल्य - माता-पिता के प्रति संतान का आदर और भक्ति - गुरु भक्ति - बिरादरी या भ्रातृप्रेम - दाम्पत्य प्रेम - सास-बहू और ससुर - मित्रता, मिलन, आतिथ्य आदि - शिष्टाचार ।

सामाजिक नियम-विधान - पर्दा-प्रथा - सती-प्रथा - जौहर प्रथा - गौना प्रथा - दहेज प्रथा - दास प्रथा ।

घोड़ दौड़ - भोजन तथा विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ - औषधियां और वनस्पतियां - विभिन्न प्रकार के सामाजिक खेल- दौड़ का खेल - आंख मिचौनी का खेल - चौगान का खेल भौंरा एक डोरी का खेल - गेंद का खेल - पीछे से आकर आंख बंद कर लेने का खेल - माखन लीला ।

पशु-पक्षी आदि से मानव का पारस्परिक सम्बन्ध - जलचर जन्तु - थलचर- वन्य-थलचर - पालतू - नभचर - कीट-पतंग आदि - भक्तिकालीन नगर और ग्राम विधान ।

तृतीय अध्याय १६३ - ३११

हिन्दी-भक्ति कालीन काव्य-धारा में वर्णित राजनीतिक परिस्थितियां

भक्तिकालीन काव्य और उसमें राजनीतिक प्रभाव - भक्तिकालीन कवि और उनका राजनीतिक आदर्श -

राजा के अधिकार - राजा का कर्तव्य और गुण
राजा-प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध - शासन
व्यवस्था - सरकार की नियम व्यवस्था - अधिकारी-
गण - कर या लगान - सैनिक प्रबन्ध - दण्ड-विधान
राज्य सुरक्षा - गढ़ रचना - नागरिक जीवन ।

भक्तिकालीन कवियों में वरिष्ठ शासन की कल्पना-
रामराज्य - रामराज्य की महानता - `रामचरितमानस`
में रामराज्य की कल्पना - `कवितावली` में रामराज्य
की कल्पना - `दोहावली` में रामराज्य की कल्पना -
`गीतावली` में रामराज्य की कल्पना - कलियुग वर्णन -
राजनैतिक भविष्य की सूचना - `दोहावली` में कलियुग
वर्णन - `कवितावली` में कलियुग वर्णन - `रामाज्ञाप्रश्न`
में कलियुग वर्णन - `विनयपत्रिका` में कलियुग वर्णन ।

चतुर्थ अध्याय ३१२ - ३६२

हिन्दी भक्तिकालीन काव्यों में आयी हुई आर्थिक
व्यवस्थाओं का परिचय

आर्थिक दशा : सामान्य परिचय - उच्च वर्ग एवं
निम्न वर्ग - किसानों की दशा - व्यापार और
वाणिज्य - अन्य उद्योग - प्राचीन सिक्के - नाप-
तौल - परिमाण रीति ।

पंचम अध्याय ३६३ - ४८८

हिन्दी भक्तिकालीन काव्य और धार्मिक परिस्थितियां

`धर्म` की परिभाषा - भक्तिकालीन काव्यों के आधार
पर आराधना क्रम - निर्गुण संत- सगुण मत - आराधना
स्थान - मन्दिर और तीर्थ - स्थान - विभिन्न प्रकार की
पूजा - मूर्ति पूजा - शक्ति पूजा - शिव-पार्वती की पूजा -
सूर्य पूजा - इन्द्र पूजा - गोवर्धन पूजा - भूत-प्रेत की पूजा -
शालिग्राम की पूजा - नदियों की पूजा - अन्य पूजा ।

भक्तिकाल में प्रचलित मुख्य व्रतानुष्ठान - हिन्दू-मुसलमानों में
प्रचलित बाह्याडम्बरों का खण्डन - हिन्दुओं के अनाचारों

का खण्डन - मुसलमानों के दुराचारों का खण्डन -
धार्मिक व्यवस्थाएं - वर्ण व्यवस्था - आश्रम धर्म -
ब्रह्मचर्याश्रम - गृहस्थाश्रम - वानप्रस्थाश्रम - संन्यासाश्रम ।

लोकविश्वास - पौराणिक विश्वास - अवतारवादी
विश्वास - अन्य पौराणिक विश्वास - पौराणिक
वृक्ष, पशु-पक्षी, पशु-वाहन, सर्प आदि के प्रति
विश्वास - सामान्य विश्वास - शकुन-अपशकुन -
शुभशकुन - अपशकुन - स्वप्न एवं उनका परिणाम -
अंगों का फड़कना - नज़र लगना और उसका निवारण -
शपथ - छींक - अन्धविश्वास - विविध विश्वास -
परंपरागत मान्यताएं - यात्रा-विचार - दिवस-विचार
तिथि-विचार - ग्रह-विचार - ग्रह-नक्षत्र-तिथि-विचार -
भाग्यवाद (हस्तरेखा एवं भाल रेखा) ।

हिन्दी भक्ति कालीन काव्यों पर धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव
ज्ञानाश्रयी शाखा - प्रेमाश्रयी शाखा - कृष्ण भक्ति शाखा
श्रीमद्भागवत का प्रभाव - कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास,
कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास,
नन्ददास, संप्रदायमुक्त हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि - मीराबाई,
रसखान, रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना) - विष्णुपुराण -
ब्रह्मवैवर्त ।

राम-भक्ति-शाखा - रामचरितमानस पर प्रभाव - अध्यात्म-
रामायण एवं रामचरितमानस - आनन्दरामायण एवं राम-
चरितमानस - श्रीमद्भागवत एवं रामचरितमानस - हनुमन्नाटक
एवं रामचरितमानस - प्रसन्नराघव एवं रामचरितमानस -
श्रीमद्भगवद्गीता एवं रामचरितमानस - जानकीमंगल - पार्वती
मंगल - श्रीकृष्ण गीतावली - गीतावली - कवितावली -
विनयपत्रिका ।

षष्ठ अध्याय ५८९-६५७

हिन्दी भक्तिकालीन काव्यों में उल्लिखित सांस्कृतिक
एवं कला सम्बन्धी बातें

भक्तिकालीन काव्यों के आधार पर विभिन्न संस्कार -

जन्मोत्सव - जातकर्म संस्कार - छठी संस्कार - नामकरण संस्कार - निष्क्रमण संस्कार - अन्नप्राशन संस्कार - वर्ष-गांठ संस्कार - चूड़ाकर्म संस्कार -कर्णवेध संस्कार - उपनयन संस्कार - वेदारंभ संस्कार - विवाह संस्कार - वर की तलाश करना - कन्यावालों का वर के घर जाना - वर का कन्या को देखने आना - वाग्दान - वरदा - लग्न एवं तिथि निश्चित करना - बरात को निमंत्रण देना - हल्दी-तेल चढ़ाना - देवी पूजन - मंडप छाना एवं चौक पूरना - वर की सज्जा - बारात के आगमन पर वर को देखने की लालसा - बारात का स्वागत द्वारपूजा - मधुपर्क - शाखोच्चारण - पाणिग्रहण - अग्नि प्रदक्षिणा - मंडप में गाना होना - मांग में सिंदूर भरना - लावा बिखेरना - जुआ खेलना - गाली गाना - डायज या दहेज - गृह-प्रवेश - मुंह दिखाई - कंगना खोलना - विदाई - अन्त्येष्टि संस्कार ।

कला सम्बन्धी विचार - वास्तुकला - चित्रकला - मूर्तिकला - काव्यकला - संगीत कला ।

उत्सव-पर्व - वैदिक पर्व तथा अन्य अवसरों की अभिव्यक्तियां : मकर संक्रान्ति - एकादशी व्रत - भोगी संक्रांति - ज्येष्ठाभिषेक रामनवमी का पर्व - नृसिंह जयन्ती - वामन जयन्ती । नित्य एवं अवतार लीलाओं के उत्सव - संवत्सर - गनगौर - अक्षय तृतीया - श्रावण तीज - रथयात्रा - पवित्रा - जन्माष्टमी - राधाष्टमी - गोपाष्टमी - दानलीला - सांझी - नवरात्र देवी-पूजन - नाग-लीला - दावानल उत्सव - केशी-दानव का उत्सव - रास -अन्नकूट - व्रतचर्या । ऋतुओं के उत्सव - डोल फूलमंडली - हिंडोरा - देव प्रबोधिनी। लौकिक त्यौहार रक्षाबन्धन - दशहरा - धनतेरस - रूपचतुर्दशी - दीपावली - गोवर्धन पूजा - भैयादूज - होली । अन्य त्योहार - दधिकांधा उत्सव - नाग पंचमी - कार्तिक स्नान - वसंत पंचमी ।

वस्त्राभूषण - वस्त्र विशेष - बालकों के वस्त्र - बालिकाओं के वस्त्र - पुरुषों के वस्त्र - स्त्रियों के वस्त्र । आभूषण - बालकों तथा युवकों के आभूषण - स्त्रियों के आभूषण - शीश के आभूषण - मस्तक के आभूषण - कर्णाभूषण - नाक के आभूषण गले के आभूषण - भुजा एवं कलाई के आभूषण - उंगलियों के आभूषण - कटि के आभूषण - पैर के आभूषण ।

शृंगार-प्रसाधन : उबटन - स्नान - केशविन्यास - माँग - अंजन - भौंह बनाना - महावर - बिंदी एवं तिलक - तिल - मेंहदी - सुगन्ध द्रव्यों का प्रयोग - नाना प्रकार के पुष्पों का प्रयोग - दर्पण - पान खाना।

साहित्यिक स्थिति - संत-साहित्य - सूफी-साहित्य - कृष्णभक्ति साहित्य - रामभक्ति साहित्य ।

सप्तम अध्याय ६५८ - ६५६

उ प सं हा र

परिशिष्ट १ - २५

सहायक ग्रन्थ-सूची

प्राक्कथन

प्राक्कथन

'साहित्य' समाज की चेतना में सांस लेता है। उसमें विशाल मानव-जाति की आत्मा का स्पंदन ध्वनित होता है। साहित्य मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं का साकार रूप है। इस दृष्टि से साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। बहुत दिनों से मेरी ऐसी मनोकामना थी कि हिन्दी की भक्तिकालीन काव्यकृतियों में वर्णित सामाजिक स्थितियों का अध्ययन किया जाय। मेरी यह धारणा रही है कि किसी कवि के दार्शनिक अथवा काव्य-शिल्प सम्बन्धी अध्ययन के साथ-साथ उसके सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी परिचित होना अत्यंत जरूरी है। आधुनिक बुद्धिवादी युग में मनुष्य को और किसी परिवेश में देखने के पहले मनुष्य के रूप में समझने की आवश्यकता है और यही इस युग का सबसे बड़ा जीवन-दर्शन होना चाहिए। सामाजिक जीवन असंदिग्ध रूप से मानव-जीवन की चिरपुरातन गाथा है, जिसमें हमारा भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ सन्निहित रहता है। इसलिए मेरी इच्छा थी कि हिन्दी साहित्य के किसी युग के काव्यों में प्रस्पष्ट सामाजिक दशा-दिशाओं का अध्ययन करूं। इसलिए एम.ए. की उपाधि प्राप्त करने के बाद जब पी-एच.डी. के लिए मैंने १९६[illegible] में अपने आचार्यों से 'भक्तियुगीन हिन्दी साहित्य के सामाजिक परिवेश का अनुसंधान' नामक विषय पर शोध करने की अनुमति मांगी तो उन्होंने इस विषय को सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनुसार १-१-१९६[illegible] से मैंने आदरणीय गुरुवर डा० एन.रामन नायरजी के निर्देशन और तत्वावधान में शोध-कार्य शुरू किया। प्रस्तुत प्रबन्ध उसी का परिणाम है।

'समाज' शब्द बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत केवल पारिवारिक या कौटुम्बिक बातें ही सीमित नहीं रहतीं। राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि अनेक पहलू भी उसमें समाहित हैं। इसलिए विषय-स्वीकृति

के समय से समाज के इस व्यापक अर्थ को सम्मुख रख कर ही शोध-कार्य मैंने शुरू किया था। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अधिकाधिक विषयों को मैंने अध्ययन का माध्यम रखा है। इस कारण प्रस्तुत प्रबन्ध में पारिवारिक, गार्हिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, प्रशासकीय सब विषयों के विषय-भेद को दृष्टि में रखते हुए सात अध्यायों में चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

प्रथम अध्याय में 'भक्ति' शब्द की परिभाषा एवं उसके स्वरूप का निर्धारण करते हुए तत्कालीन प्रमुख आचार्यों और उनके स्थापित संप्रदायों पर प्रकाश डाला गया है। श्री रामानन्द और उनके संप्रदाय के प्रचलन के फलस्वरूप निर्गुण भक्तिधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा का जन्म हुआ। उसके सबसे महान कवि हुए थे संत कबीर। निर्गुण-भक्ति की दूसरी शाखा प्रेममार्गी थी, जिसके अन्तर्गत प्रमुख कवि के रूप में मलिक मुहम्मद जायसी सम्मुख आते हैं। सगुण भक्ति के भीतर जो कृष्ण-भक्ति शाखा है उसके प्रमुख कवि थे सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवि। नरोत्तमदास आदि भी इस शाखा के गण्यमान कवि थे। रामभक्ति-शाखा के श्रेष्ठ कवि लोकनायक तुलसीदास भी आलोच्य काल के अन्तर्गत आते हैं। भक्ति युग के संप्रदाय मुक्त कवि मीरां, रसखान, रहीम आदि की रचनाएं भी अध्ययन का विषय रही हैं। इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त इस अध्याय में अन्यान्य कवियों और उनकी कृतियों का भी परिचय दिया गया है और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर उन कवियों के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भक्तिकालीन काव्यों में वर्णित सामाजिक परिस्थिति का संपूर्ण चित्र खींचा गया है। समाज में स्त्री का स्थान, माता-पिता का पुत्र-पुत्री के साथ सम्बन्ध, गुरु-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, दांपत्य-प्रेम, पर्दा-प्रथा, सती प्रथा, जौहर प्रथा, दहेज प्रथा, शिक्षा-प्रणाली आदि बातों के संबंध में व्यक्त विचारों का प्रतिपादन किया गया है। तत्कालीन भोजन-रीति, खाद्य-पदार्थ, औषधियां, विभिन्न प्रकार के खेल, पशु-पक्षी के साथ मानव का सम्बन्ध, नगर और ग्राम-विधान की रीति - इन सबके बारे में इधर पर्याप्त विवरण मैंने प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय में भक्तिकालीन राजनैतिक परिस्थिति का चित्र उतारा गया है । राजनैतिक स्थिति के अन्तर्गत राजा के अधिकार, राजा-प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध, शासन-व्यवस्था, सैनिक नियम, नागरिक जीवन, वरिष्ठ शासन की कल्पना, रामराज्य की महानता, कलिकाल वर्णन के सहारे राजनैतिक भविष्य की सूचना आदि विषयों की विस्तार के साथ चर्चा प्रस्तुत की है । अंत में निष्कर्ष के तौर पर कलियुग वर्णन में निहित विचारों की सत्यस्थिति पर प्रकाश डाला गया है ।

चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन आर्थिक दशा का चित्रांकन हुआ है । इधर उच्च और निम्न वर्ग के लोगों की आय, व्यापार-वाणिज्य की स्थिति और अन्य उद्योगों के बारे में पर्याप्त चर्चा की गयी है । उस काल में प्रचलित सिक्के, नाप-तौल, परिमाण की रीति आदि बातों पर भी विचार हुआ है ।

पंचम अध्याय में भक्तिकालीन काव्यों में वर्णित धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है । इसके अन्तर्गत `धर्म` शब्द की परिभाषा देते हुए हिन्दू मन्दिरों के विनाश और तत्पश्चात् धर्म-प्रचारकों के प्रादुर्भाव की ओर भी संकेत किया गया है । समाज में प्रचलित विभिन्न आराधना-क्रमों जैसे मूर्तिपूजा, शक्तिपूजा, इन्द्रपूजा, नदियों की पूजा, मुख्य व्रतानुष्ठान, वर्ण-व्यवस्था, चारों आश्रम-धर्म आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है । लोगों की अनेक धारणाओं अर्थात् अवतारवाद, शकुन, यात्रा-विचार, भाग्यवाद, हस्तरेखा, भालरेखा आदि के बारे में भी पर्याप्त विचार इसी अध्याय में प्रस्तुत किया है । अंत में विभिन्न धार्मिक संस्थाओं और तत्कालीन कवियों पर पड़े धार्मिक ग्रंथों के प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है ।

षष्ठ अध्याय में भक्तिकालीन काव्यों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का ढांचा प्रस्तुत किया गया है । संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न संस्कार जैसे जन्मोत्सव, जातकर्म,

उपनयन, विवाह, दहेज आदि की ओर इशारा किया गया है। कला संबंधी स्थिति, उत्सव-पर्व, समाज में प्रचलित वस्त्राभूषण, शृंगार-प्रसाधन का भी अध्ययन किया गया है। इसके अलावा भक्ति-साहित्य के शिल्प-पक्ष अर्थात् भाषा, शैली, अलंकार, छंद, मुहावरे, कहावत, लोकोक्ति आदि भी अध्ययन के विषय बने हैं।

सप्तम अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है। इसके अन्तर्गत ऊपर प्रस्तुत किये छः अध्यायों में वर्णित बातों को दृष्टि में रख कर तत्कालीन काव्य-परिस्थितियों और कवि-संदर्भों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध को समाप्त करते करते मैं यही कहना चाहती हूं कि पूर्व निर्धारित धारणाओं से मुझे बहुत आगे बढ़ने का मौका मिला है। भक्ति-युग के कवियों का मुख्य ध्येय यद्यपि भक्ति का प्रसार था तो भी वे अपने समय के समाज के हृदय-स्पंदन को सुने बिना नहीं रह सके। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज, राजनीति, संस्कृति, धर्म, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में अनेक विचार-रत्न भरे पड़े हैं। उनको ढूंढ निकाल कर यथास्थान पर विनिवेश करने तथा उनका मूल्यांकन तथा तुलनात्मक विवेचन करने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। त्रिवेन्द्रम के केरल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की समाज-विज्ञान सम्बन्धी बहुत-सी पुस्तकों से मुझे मदद मिली है। यही नहीं वहां के पब्लिक लाइब्रेरी, ब्रिटिश काउन्सिल लाइब्रेरी और अमेरिकन लाइब्रेरी से भी कई उपयोगी ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध को लिखने में यदि मुझे थोड़ी-सी भी सफलता मिली है तो उसका सारा श्रेय मेरे पूजनीय गुरुवर डा० रामन नायरजी को है, जिनके चरणों में बैठकर मुझे शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रबन्ध लिखने की मूल प्रेरणा देने एवं कार्यकाल में सक्रिय निर्देशन देकर मार्ग प्रशस्त करने में उन्होंने मुझे जो सहयोग दिया है उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना केवल औपचारिक है। कृत्यांतर बहुलता के बीच में भी मेरे लिए आवश्यक समय प्रदान कर उन्होंने मुझे अनुग्रहीत किया है। उनका पूर्ण वात्सल्य, प्रेम, स्नेहार्द्र

सहानुभूति और अनुकम्पा सदैव मेरे साथ रही है। कोचीन विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष डा० एन.ई. विश्वनाथय्यरजी का नाम भी इस सिलसिले में अत्यन्त कृतज्ञता के साथ लेती हूं जिन्होंने भी विषय के चुनाव एवं सामग्री की खोज में मुझे बड़ी सहायता प्रदान की है। उनके उपदेश तथा मार्गदर्शन के अभाव में यह प्रबन्ध उतना पूर्ण नहीं हुआ होता जितना अब है। कोचीन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से मुझे जितनी सुविधा प्राप्त हुई है उसका परिचय देना असंभव है। इस विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापकों और सहयोगी छात्र-मित्रों की भी मैं विशेष आभारी हूं, जो मुझे सर्वप्रकारेण सहायक सिद्ध हुए हैं।

इसके अलावा राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी के निदेशक आदरणीय डा० सत्येन्द्रजी के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करती हूं जिन्होंने अपने अत्यंत व्यस्त समय में मेरे शोध-कार्य में नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की और मेरी अनेक शंकाओं का प्रत्यक्ष समाधान करके मुझे यथोचित मार्गदर्शन दिया है। इस बीच में मैं राजस्थान विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठजी के प्रति भी अत्यंत आभारी हूं जिन्होंने समय-समय पर मुझे अपना सहयोग दिया है। साथ ही साथ मुझे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से भी प्रस्तुत प्रबन्ध-विषय-सामग्री के लिए पर्याप्त सहायता मिली है। इस संस्था तथा उसके संचालकों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

विनीत

Suseelamma. B.

बी. सुशीला अम्मा.

प्रथम अध्याय

भक्ति-आन्दोलन, भक्ति संप्रदाय, भक्त कवि एवं तत्कालीन सामाजिक स्थिति आदि का पर्यवेक्षण

'भक्ति' शब्द की परिभाषा एवं उसका स्वरूप

'भक्ति' एक व्यापक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है। इसका अर्थ है सेवा करना। महामुनि शाण्डिल्य के मतानुसार ईश्वर के प्रति परानुरक्ति अर्थात् अनन्य और अपूर्व प्रेम हो जाना ही भक्ति है।[1] 'नारद भक्तिसूत्र' के अनुसार भगवान् के प्रति परम प्रेम हो जाने को भक्ति कहते हैं।[2] यह अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।[3] इसीलिए वेदांती शंकराचार्य ने आत्मस्वरूप के अनुसंधान को ही भक्ति माना है। महर्षि नारद के शब्दों में अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना और उसका थोड़ा सा विस्मरण होने पर अत्यंत व्याकुल हो जाना ही भक्ति है।[4] उनकी दृष्टि में ईश्वर स्वयं प्रमाणरूप हैं, अत: अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।[5] भक्ति शांतिरूपा और परमानन्दरूपा है।[6] 'तत्वमसि' के उपासक वेदान्ती शंकराचार्य ने 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[7] सूत्र की व्याख्या करते हुए 'परमेश्वर की निरन्तर उत्कण्ठा युक्त स्मृति' को ही भक्ति माना है।[8] रामानुजाचार्य 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'[9] की व्याख्या करते हुए परमात्मा की निरन्तर स्मृति को ही भक्ति मानते हैं।[10]

---

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे - शाण्डिल्य भक्ति सूत्र २.
२. सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा - नारद भक्ति सूत्र २.
३. अमृतस्वरूपा च। वही, ३. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। सूत्र ४.
४. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति। सूत्र १९.
५. प्रमाणान्यतरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्। वही सूत्र ५९.
६. शान्तिरूपात्परमानन्द रूपाच्च। वही, सूत्र ६०.
७. ब्रह्मसूत्र, अध्याय ४, पाद १, सूत्र १.
८. ब्रह्मसूत्र अ० ४, पाद १, सूत्र १ का शंकर भाष्य — 'यथा हि लोके.... या निरन्तर स्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैवमभिधीयते।'
९. ब्रह्मसूत्र, अ० १, पाद १, सूत्र १.
१०. ब्रह्मसूत्र, अ० १, पाद १, सूत्र १ का रामानुजभाष्य — 'एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्ति शब्देनाभिधीयते..... ।'

श्री मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार भक्ति वह है जो भागवत-धर्म-सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविच्छिन्न वृत्ति है ।[१] रूपगोस्वामी ने `भक्तिरसामृत सिन्धु` में भक्ति की परिभाषा यों की है :–

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।। [२]

अर्थात् जिसके मन में आराध्य के अतिरिक्त किसी अन्य की अभिलाषा न हो, जो ज्ञान तथा कर्म से आवृत न हो और जिसमें कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करते हुए उनका चिन्तन-मनन किया जाय, वही भक्ति उत्तम है । स्वामी विवेकानन्द अनेकानेक आचार्यों एवं भक्तों की भक्ति सम्बन्धी परिभाषाएं उद्धृत करने के पश्चात् अपना मत यों प्रस्तुत करते हैं – ` आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किये जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा ही भक्ति है, जिसका प्रारंभ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में ।`[३] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में `श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।`[४] आखिर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्ति में सर्वप्रथम पवित्र प्रेम की प्रगाढ़ता अपेक्षित है । साथ ही निश्छल भाव से उस पवित्र प्रगाढ़ प्रेम का पूर्ण समर्पण प्रभु के चरणों में होना चाहिए । परिवार के प्रति, संसार के प्रति और विभिन्न विषयों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम सम्भव है, परन्तु हम इसे भक्ति नहीं कह सकते । वस्तुत: ऐहिक आसक्तियों से परे भगवत्चरणों में परम पवित्र एवं निश्छल प्रेम की शुद्धानुभूति को ही भक्ति कहते हैं ।[५]

---

१. `द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्ति भक्तिरित्यभिधीयते ।।`
– भक्ति रसायन, प्रथम उल्लास, श्लोक ३.

२. भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व भाग, पहली लहरी, श्लोक ११.
३. भक्तियोग, पृ० १४.
४. चिन्तामणि, पहला भाग, `श्रद्धा-भक्ति` शीर्षक निबन्ध, पृ० ३२.
५. रामचरितमानस में भक्ति – डा० सत्यनारायण शर्मा, पृ० ४.

भक्ति-आन्दोलन

‘भक्ति आन्दोलन’ एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है । मध्यकालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि - सभी धरातलों पर देखें तो मालूम होगा कि यह शब्द बहुत ही उचित और समीचीन है । इतिहासकार और समालोचकों ने भक्ति की इस नयी धारा को ‘आन्दोलन’ (मूवमेंट) या ‘धर्मसुधार’ (रिलीजस रिफार्म) का नाम दिया है । आन्दोलन शब्द की सार्थकता तभी होगी जब किसी विशेष उद्देश्य की उपलब्धि के लिए कुछ व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों द्वारा कोई प्रयत्न किया जाय । किसी विशेष प्रकार की गतिविधि या क्रियाशीलता से ही इस शब्द का सम्बन्ध है । धार्मिक गतिविधियों की ओर संकेत करने वाला ‘सुधार’ या ‘रिफार्मेशन’ शब्द, ‘क्रान्ति’ (रिवोल्यूशन) शब्द के साथ प्रयोग किये जाने पर, ‘आन्दोलन’ हो जाता है । बौद्ध-जैन धर्मों के प्रवर्तक महात्माओं ने जिस नई धार्मिक चेतना को प्रसारित किया, उसे इतिहास में ‘बौद्धिक क्रांति’ की संज्ञा दी गयी है । आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में नवीन तत्वों का समावेश करके भक्ति मार्ग को जो नवीन मोड़ दिया था, उसको ‘आन्दोलन’ शब्द से अभिहित करना ही अधिक समीचीन है । ‘पुनरुत्थान’ या ‘पुनर्जागरण’ शब्दों से भी ‘आन्दोलन’ शब्द का अर्थ निकलता है; परन्तु आन्दोलन शब्द ही कहीं अधिक उचित है, क्योंकि धार्मिक आन्दोलन अपने को युग की आवश्यकता के अनुसार पूर्व प्रचलित धर्म-पद्धति में सहिष्णु परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तक ही सीमित रखता है, जबकि धार्मिक-क्रान्ति पुरानी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लेकर आमूल परिवर्तन के लिए खड़ी होती है । प्राचीनता और नवीनता में सामंजस्य स्थापित करके चलने वाली गतिविधियों को आन्दोलन कह सकते हैं और दोनों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सामंजस्य न मानकर विरो-धात्मक तत्वों पर आधारित संगठित प्रयास को ‘क्रांति’ की कोटि में रख सकते हैं । परिवर्तन दोनों का लक्ष्य रहता है, परन्तु जहाँ ‘आन्दोलन’ में सुधार की भावना अधिक रहती है, वहाँ ‘क्रान्ति’ में आमूल परिवर्तन की

भावना ऊपर उठती है, जिसका अनुगमन 'सुधार' स्वत: ही करता जाता है ।[१] 'आन्दोलन' और 'क्रान्ति' में जो अन्तर है, उसका विश्लेषण करते हुए एक आलोचक ने कहा है कि 'आन्दोलन' निरंतर चलने वाला हो सकता है, जबकि क्रान्ति बहुधा अल्पकालीन ही होती है । किसी परंपरागत या रूढ़िगत मत या व्यवस्था में आमूल परिवर्तन ला देने के बाद क्रांति का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और वहीं उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है । परन्तु, आन्दोलन हर नई परिस्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए प्रगति में सामंजस्य स्थापित करने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है । अत: वह दीर्घकालीन ही नहीं, अधिकांशत: नित्य होता है ।[२] इसका स्पष्ट उदाहरण मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन में स्पष्ट ही फलकता है ।

भक्ति का इतिहास

भारत में भक्ति-भावना का आविर्भाव उपनिषद् काल से ही माना जाता है । आलवार और नायनार संतों के समय से लेकर यह भावना समस्त भारत में फैलने लगी । उस समय की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वैष्णव भक्ति की भावना की ओर जन-जन का आकर्षण बढ़ा और बढ़ता ही गया ।

पांचवीं से नवीं सदी तक दक्षिण भारत में भक्ति का प्रचार प्रत्यक्ष रूप से हो रहा था । दक्षिण के अत्यंत प्राचीनतम वैष्णव संतों में आलवार भक्तों का स्थान उच्चकोटि का है । आलवारों की भक्ति में दास्य, वात्सल्य तथा कान्ता - इन तीनों भावों की प्रधानता है और वे भगवान की सेवा करने वालों को परमात्मा की कोटि में रखते हैं । इसके अलावा वे ईश्वर को वासुदेव, नारायण, भगवान, राम, कृष्ण आदि नामों से पुकारते हैं । पांचवीं-छठी शताब्दी में तमिल प्रदेश में जो धार्मिक उथल-पुथल हुई, उसने धार्मिक क्रान्ति के लिए उचित पृष्ठभूमि तैयार की । फैलती हुई इस धार्मिक

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन डा० मलिक मुहम्मद, पृ० १५-१६.
२. वही, पृ० १६-१७.

अव्यवस्था को हटाने के लिए जनता की मांग थी कि धार्मिक स्थिति को ठीक करने के लिए, उसकी कमजोरियों और बुराइयों को दूर करने के लिए तथा समस्त लोगों को सुख और शांति प्रदान करने के लिए, धार्मिक समाज-सुधारक पैदा हों। जनता की इस मांग की पूर्ति करने के लिए तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्त कवि आलवार और शैव भक्त संत कवि नायनार का पदार्पण हुआ। आलवार और नायनार संतों के प्रभाव से जो भक्ति सरिता प्रवाहित हुई उसकी तरल-तरंगों में तमिल प्रदेश की दुखार्त जनता मज्जन और अवगाहन कर अपने लिए शांति और सुख प्राप्त कर सकी। सम्पूर्ण जनता में नवीन उत्तेजना हुई और इस भक्ति मार्ग ने जन-आन्दोलन का रूप धारण किया। अतः वैष्णव भक्त संत आलवार और शैव भक्त संत नायनार के सुसंगठित और सुव्यवस्थित प्रयासों ने भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इस भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप इसलिए मिल सका कि आलवारों और नायनारों ने जाति-पांति और ऊंच-नीच के भेद-भाव को मिटा कर सबको समान रूप से भक्ति मार्ग में भाग लेने का अधिकार घोषित किया था। ब्राह्मण धर्म की कठोर वर्णाश्रम नीति की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। चूंकि बौद्धों और जैनों ने निम्न जातियों के लोगों को और स्त्रियों को भी अपने धर्म में स्थान दिया था; अतः वे लोग जो सामाजिक स्तर पर अनादृत थे, उन बौद्ध-जैन धर्मों की शरण में चले गये। उन सब को फिर भक्ति मार्ग में लाने के लिए आलवारों और नायनारों ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों ने शूद्रों के साथ-साथ नारियों को भी भक्ति पंथ में प्रविष्ट होने का अवसर दिया और भक्ति मार्ग में सबका समान अधिकार घोषित किया। केवल घोषणाओं से ही नहीं, बल्कि अपने जीवन के आदर्शों से भी उन्होंने इस तथ्य का निरूपण किया कि कोई उच्चवर्ण के कारण बड़ा नहीं बनता, पर अटूट भक्ति के कारण ही श्रेष्ठ समझा जाता है।[१]

आलवार वैष्णव भक्तों के बाद में आने वाले आचार्यों में नाथमुनि (रंगनाथ मुनि) और यामुनाचार्य का स्थान उत्कृष्ट कोटि का है। धार्मिक

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन   डा० मलिक मुहम्मद, पृ० ६८.

क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करने वालों तथा समस्त भारत में भक्ति का व्यापक प्रचार करने वालों एवं भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या करने वालों की दृष्टि से ये आचार्य आलोक स्तंभ हैं ।

विभिन्न धर्म प्रचारक

नाथ मुनि (रंगनाथ मुनि)

आदि आचार्य नाथ मुनि का समय ८२४ ई० से ९२४ ई० तक माना जाता है । इनका जन्म `वीरनारायणपुरम्` नामक स्थान पर हुआ । उन्होंने अपना अधिकांश समय श्रीरंगम् में बिताया । वे संस्कृत और तमिल के बड़े विद्वान थे । नाथ मुनि ने अपने परिश्रम से आलवार भक्तों के कुछ सर्वप्रचलित गीतों को संग्रहीत किया और उसका संपादन किया । यह गीत संग्रह `नालायिर प्रबन्धम्` अथवा `दिव्य प्रबन्धम्` सर्वप्रचलित था । वे नम्मालवार की शिष्य परम्परा के परांकुश मुनि के शिष्य थे । उन्होंने श्रीरंगम् मन्दिर में जो ब्राह्मण मंडली थी वहाँ आलवार गीतों का अध्ययन और अध्यापन किया । नाथ मुनि के द्वारा वैष्णव मंदिरों में प्रबन्धम् के गायन का प्रबन्ध वास्तव में वैष्णव मन्दिरों की उपासना प्रणाली में एक शांतिपूर्ण क्रांतिकारी घटना थी ।[१] प्रबन्धम् की गणना भी वेदों में होने लगी । उन्हें `तमिल वेद` की प्रसिद्धि प्राप्त हुई । यद्यपि विशिष्टाद्वैतवाद का सिद्धान्त रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित समझा जाता है, तो भी वास्तव में उसकी नींव नाथमुनि ने ही डाली थी । प्रसिद्ध आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने नाथमुनि को श्रीसंप्रदाय के

---

१. "This innovation effected silent revolution in temple worship as it raised the status of the Prathanda to the level of the veda and liberatized the meaning of revolution."

- The Philosophy of Visistadvaita, P.N. Srinivasacharya., P. 511.

संस्थापक माना है ।[१]

नाथ मुनि ने कर्म और भक्ति, लोक एवं वेद दोनों में सामंजस्य स्थापित कर सबके लिए भक्ति का द्वार खोल दिया और इसको विप्र, शूद्र, स्त्री-पुरुष - सबके लिए उन्मुक्त कर दिया । इनके ग्यारह प्रधान शिष्य थे, जिनमें प्रमुख थे पुंडरीकाक्ष, कुरुकनाथ एवं श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ और उन्होंने भक्ति-मार्ग का प्रचार गुरु नाथ मुनि के साथ उत्तर भारत के चारों ओर भ्रमण करके खास कर मथुरा, द्वारिकापुरी, बदरीनाथ आदि स्थानों में किया ।

यामुनाचार्य

यामुनाचार्य रंगनाथ मुनि के पौत्र थे । इनके पूर्व पुण्डरीकाक्ष और राममिश्र नामक दो आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ । राममिश्र आचार्य के बाद आने वाले सुप्रसिद्ध आचार्य हैं यामुनाचार्य । तमिल में इनका नाम `आलवंदार` है । श्री नाथमुनि ने अपने पौत्र का नाम `यामुन` इसीलिए रखा कि उन्हें तीर्थाटन करते समय मथुरा में यमुना-स्नान करने का अवसर मिला और इससे वे अत्यंत प्रसन्न हो गये । यामुनाचार्य का समय सन् ९१८ ई० से १०३८ तक माना जाता है ।[२] यामुनाचार्य बड़े विद्वान थे, जिन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं । उनमें `गीतार्थ संग्रह`, `सिद्धित्रय`, `महापुरुष निर्णय`, `स्तोत्ररत्नम्`, `श्री चतुः श्लोकी` और `आगम प्रामाण्य` सर्वप्रमुख हैं । उन्होंने `गीतार्थ संग्रह` में भक्ति और प्रपत्ति की सुन्दर व्याख्या की है । `सिद्धित्रय` में वैष्णव संप्रदाय को काफी महानता दी गयी है । `स्तोत्ररत्नम्` एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने भक्ति-भावना में आत्मसमर्पण की प्रधानता दी है । श्री वेदान्त

---

१. दुष्टे पक्षुत्व भावादनुमितिविषये लाघवस्यानुरोधा-
   च्छास्त्रं गोचास्सेधे विहतिविरहिते नास्तिकत्वप्रहाणात् ।
   नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिरुपचितं यामुनेयप्रबन्धै-
   स्त्रातं सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतमः कर्शनं दर्शनं नः ।।

   - तत्त्वमुक्ताकलापं : श्री वेदान्तदेशिक, श्लोक ९८६

२. हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासाफी : डा० एस. एन. दास गुप्ता, जिल्द ३, (द्वितीय संस्करण), पृ० ९७.

देशिकाचार्य ने यामुनाचार्य के तीन ग्रंथों — `स्तोत्ररत्न`, `चतु:श्लोकी` और `गीतार्थ संग्रह` पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैती दर्शन के विवेचन में इन्हें आधार-ग्रंथ माना है। इस प्रकार यामुनाचार्य ने अपने ग्रंथों द्वारा वैष्णव भक्ति तथा पंचरात्रों के सिद्धांतों का दृढ़ प्रतिपादन किया और भागवत धर्म की स्थापना में बड़ा योग दिया। उन्होंने भागवत सिद्धांतों के दर्शन से जन-जन को परिचित कराया।

दक्षिण में आलवार भक्तों और उनके उत्तराधिकारी के रूप में रामानुजाचार्य माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और विष्णुस्वामी का प्रादुर्भाव हुआ। अद्वैतवादी शंकराचार्य के सिद्धांतों के विरोध में दक्षिण में चार प्रमुख धर्माचार्यों ने चार संप्रदाय स्थापित किये। श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के आधार पर `श्रीसम्प्रदाय`, श्री माध्वाचार्य ने द्वैतवाद के आधार पर `ब्रह्मसंप्रदाय`, श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत के आधार पर `सनक संप्रदाय` और श्री विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत के आधार पर `रुद्र संप्रदाय` का प्रचलन एवं प्रचार किया। इन चारों संप्रदायों में भगवान विष्णु और उनके अवतारों की उपासना का उल्लेख किया गया है।

श्री रामानुजाचार्य

यामुनाचार्य की पौत्री के पुत्र श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत और श्री संप्रदाय का सुव्यवस्थित रूप में प्रचार किया। रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। भगवान विष्णु ने सर्वप्रथम श्री संप्रदाय का उपदेश श्रीदेवी (लक्ष्मी) को दिया था। इसीलिए उन्हीं के नाम पर इसका नाम `श्री संप्रदाय` रखा गया।

श्री रामानुजाचार्य का जन्म सन् १०१६ ई० में (वि०सं० १०७४ में) दक्षिण भारत के श्री पेरुम्बुदूर नामक स्थान में हुआ था। यद्यपि नाथमुनि और यामुनाचार्य जैसे महान् आचार्यों द्वारा वैष्णव संप्रदाय की रूपरेखा तैयार की गयी थी, तथापि भक्ति-भावना को एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित शास्त्रसम्मत

साधना-पद्धति का रूप देने का प्रयत्न, दक्षिण भारत में, श्री रामानुजाचार्य ने ही किया था । रामानुज ने अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रंथों और भाष्यों का प्रणयन किया । उनकी प्रमुख रचनाएं हैं – 'वेदार्थ संग्रह', 'श्रीभाष्य वेदान्त दीप', 'वेदान्तसार', 'नित्यग्रंथ' तथा 'गद्यत्रयम्' (शरणागति गद्य, श्रीरंगम् गद्य, श्रीवैकुण्ठ गद्य) आदि । श्री रामानुजाचार्य ने अद्वैत तथा शैवमत की कमियों का चित्रण वेदार्थसंग्रह में किया है । इसके साथ ही उन्होंने परस्पर विरोधी उपनिषद् ग्रंथों के दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित करते हुए ईश्वर-जीव से सम्बन्धित शरीर-तत्व का निरूपण किया है । वेदान्तदीप और वेदान्तसार दोनों वेदतत्वों के ग्रंथ हैं । ब्रह्मसूत्रों के आधार पर विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का निरूपण हुआ है । रामानुजाचार्य की सर्वश्रेष्ठ कृति 'श्रीभाष्य' है । 'गीता भाष्य' में श्री यामुनाचार्य की 'गीतार्थसंग्रह' का निरूपण किया है । श्री रामानुज ने शरणागति-गद्य में प्रकृति की आध्यात्मकता का निरूपण करने के साथ ही साथ प्रपत्ति के महत्व का विवेचन किया है । श्री रामानुज ने श्रीरंगगद्य में श्री रंगनाथ के प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति का समर्पण कर उनके सामीप्य की कामना की है । परमधाम और परमानन्द पर तीव्र अनुभूतियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का दर्शन 'वैकुण्ठ गद्य' में मिलता है । सच्चे वैष्णव भक्त के दैनिक आदर्शों पर प्रकाश डालने वाली रचना है 'नित्य ग्रन्थ' । श्री रामानुज के ग्रंथों में आळ्वार भक्तों के प्रबन्धम् का कुछ प्रभाव है ।

श्री शंकराचार्य के द्वारा उत्तर भारत में जिस अद्वैतवाद का प्रचार हुआ उसका विरोधी आन्दोलन श्री रामानुजाचार्य के नेतृत्व में दक्षिण भारत में हुआ । श्री रामानुज ने अपने संप्रदाय और सिद्धान्त के प्रचार के लिए हिन्दू जनता के समक्ष नवधा-भक्ति का मनमोहक स्वरूप रखा, जिससे हिन्दू धर्म में एक नवीन चेतना जागी । दक्षिण भारत का यह भक्ति-आन्दोलन शुद्ध हिन्दू धर्म से अनुमोदित था ।

श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की व्याख्या इस प्रकार की है – "सत्य का केवल एक ही दृष्टिकोण है और ज्ञान का समस्त विषय ज्ञान सत्य है । विषय और विषयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है ।

अत: किसी भी अवस्था में इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता । यह भेद व्यावहारिक ही नहीं पारमार्थिक भी है । जिस प्रकार विषय और विषयी का भेद नित्य है, उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है, अस्तु । रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ-साथ जीव और जगत् भी सत्य हैं । जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नहीं, वरन् नित्य और पारमार्थिक सत्ताएं हैं, किन्तु जीव और जगत् सत्य और सनातन होते हुए भी परमेश्वर के अधीन हैं । वे स्वतंत्र नहीं हैं । परमेश्वर अंगी है; जीव और जगत् उसके अंग हैं । अस्तु, एक परब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतंत्र और परम सत्ता है । अतएव रामानुजमत भी इस दृष्टि से अद्वैतवाद ही है - किन्तु, रामानुज का परब्रह्म शंकराचार्य के ब्रह्म की भांति निर्गुण, निर्विशेष, चिन्मात्र नहीं है; वरन् वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है । इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है ।[१] अत: रामानुज का अभिप्राय है कि माया मान्य नहीं है । उन्होंने मायावाद का खंडन किया । विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है । उसके लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है । उन्होंने यह स्थापित किया कि एकाग्र चित्त होकर ईश्वर की भक्ति करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध किया और श्रद्धा-भक्ति का मनमोहक स्वरूप हिन्दू जनता के सम्मुख खड़ा कर दिया । हिन्दू धर्म को नवीन चेतना प्राप्त हुई और हिन्दुओं को एक सशक्त आलम्बन मिल गया । अत: रामानुजाचार्य ने जनता के बीच में भक्ति का महान् सन्देश पहुंचाया है ।

माध्वाचार्य :

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के बाद माध्वाचार्य ने दक्षिण भारत में आचार्य शंकर के मायावाद के विरोध में द्वैतमत का प्रचार

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन डा० मलिक मुहम्मद, पृ० २०१.

किया । माध्वाचार्य द्वारा स्थापित यह मत भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से विशिष्ट मत है । दक्षिण के आचार्यों में भी माध्वाचार्य को विशिष्ट स्थान इसलिए प्राप्त हुआ कि उन्होंने द्वैतमत की स्थापना के लिए न केवल शंकर के अद्वैतमत का तीव्र विरोध किया, बल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के लिए रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत को भी अस्वीकार कर दिया । माध्वाचार्य संप्रदाय के आरंभिक उपदेष्टा ब्रह्मा जी हैं, इसीलिए यह संप्रदाय 'ब्रह्म संप्रदाय' के नाम से भी प्रसिद्ध है । इस संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैतवाद' कहलाता है । इस संप्रदाय में भक्ति-तत्व पर अधिक बल दिया गया है, लेकिन अन्य सभी सिद्धान्तों में दार्शनिक पक्ष की मुख्यता है । अतः माध्वाचार्य का ब्रह्मसंप्रदाय भक्ति मार्ग का प्रतिनिधित्व करता है, और अन्य तीनों संप्रदाय दार्शनिक सिद्धान्तों का ।

माध्वाचार्य का जन्म सन् १२९५ में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक जिले के बेल्ले ग्राम में हुआ था । पिता का नाम नारायण भट्ट और माता का नाम वेदवती था । माध्व का पहला नाम वासुदेव था । ग्यारह वर्ष की आयु में वे संन्यासी हो गये, तब उनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया था । इसके बाद वे आनन्दतीर्थ अथवा माध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गये ।

माध्वाचार्य ने कुल मिलाकर सैंतीस ग्रंथों की रचना की । उनमें 'ब्रह्मसूत्र भाष्य', 'अणुभाष्य', 'औपनिषद् भाष्य', 'गीता-तात्पर्य-निर्णय', 'गीता भाष्य', 'अनुव्याख्यान', 'भागवत तात्पर्य निर्णय', 'महाभारत तात्पर्य निर्णय', 'उपाधि खण्डन', 'मायावाद खण्डन' आदि सर्वप्रमुख हैं ।

माध्व-सिद्धांत के अनुसार परमात्मा विष्णु है, जो अनन्त गुण सम्पन्न है । परमात्मा विष्णु की सेवा करना ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है । भगवान की कृपा से जीव अक्षय आनंद प्राप्त करता है । माध्वाचार्य के सिद्धांत में ६ प्रमुख बातों का अंकन हुआ है — (१) हरि अर्थात् विष्णु सर्वोच्च तत्व है । (२) जगत् सत्य है । (३) ब्रह्म और जीव का भेद वास्तविक है । (४) जीव ईश्वराधीन है । (५) जीवों में तारतम्य है । (६) आत्मा के आंतरिक सुखों की अनुभूति ही मुक्ति है । (७) शुद्ध और निर्मल भक्ति ही

मोक्ष का साधन है। (८) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं। (९) वेदों द्वारा ही हरि जाने जा सकते हैं।[१]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि माध्वाचार्य के अनुसार उपासना के दो रूप हैं — शास्त्रानुशीलन और ध्यान। कुछ साधक शास्त्राभ्यास से अज्ञान को दूर करके वस्तु तत्व या अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त करते हैं; और कुछ साधक भगवान के प्रति अनन्य भक्ति में लीन रहकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। माध्व के द्वैतवाद के अनुसार मुक्ति का सर्वोच्च साधन `अमला` भक्ति या दोष-रहित भक्ति है। यह भक्ति अहैतुकी और दोषरहित निर्मल भक्ति है। माध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त में राम, कृष्ण आदि सभी अवतारों की उपासना की ओर संकेत किया है, लेकिन उन्होंने राधाकृष्ण की उपासना का विधान नहीं किया है।

निम्बार्काचार्य

सनक संप्रदाय के लोकप्रसिद्ध प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य हैं। भगवान् के हंसावतार के बाद सनकादि महर्षियों ने ब्रह्मज्ञान की निगूढ़ शिक्षा प्राप्त कर उसका उपदेश सबसे पहले अपने शिष्य नारद को दिया था। इससे यह संप्रदाय `सनकादि संप्रदाय` के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक प्रतिनिधि श्री निम्बार्काचार्य होने के कारण इसे निम्बार्क-संप्रदाय भी कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का नाम `द्वैताद्वैतवाद` है।

श्री निम्बार्क के समय के बारे में अभी तक कोई निश्चित जानकारी नहीं हो सकी है। डा० भाण्डारकर के अनुसार उनका निधन सन् ११७२ में हुआ था। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि ये श्री रामानुजाचार्य के बाद ही आविर्भूत हुए। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म कर्नाटक प्रांत के अन्तर्गत बल्लरी जिले के `निम्बापुर` नगर में हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार

---

१. श्रीमन्मध्वमते हरि: परतर:, सत्यं जगत् तत्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्च भावं गता ।।१।।
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधने ।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरि: ।।२।।
—ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास : प्रभुदयाल मीतल, पृ०१५७ से उद्धृत ।

निम्बार्क स्वामी का जन्म आंध्रप्रदेश में गोदावरी के तटवर्ती वैदूर्यपत्तन नामक स्थान में हुआ था।[१] निम्बार्क के बारे में उपलब्ध यह प्रमाण केवल अनुमान मात्र है। निम्बार्काचार्य, निम्बादित्य, निम्बभास्कर एवं नियमानन्दाचार्य आदि उनके अन्य अनेक नाम थे।

श्री निम्बार्काचार्य ने 'वेदान्त पारिजात सौरभ', 'वेदान्त कामधेनु', 'रहस्य षोडशी', 'प्रपन्न कल्पवली' और 'कृष्णास्तोत्र' आदि ग्रंथों की रचना कर हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने 'वेदान्त पारिजात सौरभ' में वेदांत सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या की है और साथ ही साथ द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है।

निम्बार्क संप्रदाय के अनुसार यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर स्वाभाविक भेदाभेद संबंध पर आधारित हैं, तो भी जीव और जगत् का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर या ब्रह्म की इच्छानुसार होता रहता है। उनके मतानुसार ब्रह्म जीव से भिन्न है, अभिन्न भी है। ब्रह्म व्यापक, सार्वभौम, सर्वज्ञ, सर्वगुणसंपन्न है, तो जीव क्षणभंगुर, अल्पज्ञ, और अणु है। इसलिए इस अर्थ में पूर्ण रूप से यह निर्णय कर सकता है कि ब्रह्म जीव से भिन्न है और अभिन्न भी। अतः जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान एवं अंश और अंशी का है। परमात्मा के कई नाम मिलते हैं - नारायण, भगवान्, कृष्ण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि। ब्रह्म के 'पर अमूर्त' अर्थात् 'परम कारत्व'; 'अपर अमूर्त' अर्थात् 'सर्वद्रष्टा' और 'अपर मूर्त' अर्थात् 'जीव' ये चार रूप माने गये हैं। ब्रह्म की इस विभिन्नता के कारण आचार्य निम्बार्क ने अपने सिद्धांत को भेदाभेद या द्वैताद्वैत नाम से अभिहित किया।

निम्बार्क संप्रदाय के उपास्य देव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण और सर्वेश्वर राधा अर्थात् परमाराध्य युगलस्वरूप श्री राधाकृष्ण हैं। इस संप्रदाय के अनेक शास्त्र-ग्रंथों में श्री निम्बार्क ने आह्लादस्वरूपिणी श्रीराधा को 'अनुरूप-सौभगा' माना है, अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के सर्वथा अनुरूप माना गया है।

---

१. 'श्रीनिम्बार्कसंप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त कवि' - डा० नारायणदत्त शर्मा, पृ० २१.

श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपने विशिष्ट ग्रंथ `सिद्धांतरत्न` में, जिसका दूसरा नाम `दशश्लोकी` है, वृषभानु-कन्या राधा के इसी महत्व स्वरूप का स्मरण कर एक सुप्रसिद्ध श्लोक की रचना की —

> 'अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम् ।
> सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम् ।।'[१]

निम्बार्क संप्रदाय के तत्वों के अनुशीलन से यही ज्ञात होता है कि श्री राधा-कृष्ण की सेवा-पूजा और उपासना विशेष रूप से होती है ।

निम्बार्क संप्रदाय पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव पड़ा है । इस संप्रदाय का विकास सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ, लेकिन बाद में इसका विकास उत्तर भारत में हुआ ।

विष्णुस्वामी और उनका सम्प्रदाय

दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में श्री विष्णुस्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जो `रुद्र संप्रदाय` के ऐतिहासिक प्रवर्तक और प्रचलनकर्ता हैं । रुद्र संप्रदाय के लोकप्रसिद्ध संस्थापक श्री विष्णुस्वामी किस काल में हुए थे, इस संबंध में प्रामाणिक वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है । विविध विद्वान लोग इसके बारे में मतभेद रखते हैं । विद्वानों ने चार विष्णुस्वामियों का उल्लेख किया है । इनमें पहले विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के पाण्ड्य राजा के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे. जिन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त सूत्रों पर `सर्वज्ञ सूक्त` नामक भाष्य लिखा था । दूसरे, कांची निवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी थे । उन्होंने कांची में श्री वरदराज की मूर्ति की स्थापना तथा द्वारिका में रणछोर एवं सप्तनगरियों में से छः नगरियों में विष्णु की मूर्तियों की स्थापना की । इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने `श्रीकृष्ण कर्णामृत` नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की एवं लीलाशुक बिल्वमंगल को अपना शिष्य बनाया । तीसरे

---

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास   प्रभुदयाल मीतल, पृ० १९४ से उद्धृत ।

विष्णुस्वामी का उल्लेख वल्लभसंप्रदाय के लोगों के विश्वास के अनुसार वल्लभाचार्य की गुरु-परंपरा में मिलता है । चौथे, विष्णुस्वामी वे हैं, जो पहले माधवाचार्य और सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर के नाम से जाने जाते हैं । इन चारों विष्णुस्वामियों के बारे में अभी तक उपलब्ध प्रमाण नहीं हैं । लेकिन वल्लभ मतानुयायियों ने वल्लभ संप्रदाय में विष्णुस्वामी को प्राचीन आचार्य के रूप में माना है । फिर भी, विष्णुस्वामी के विषय में पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । डा० भण्डारकर के मतानुसार श्री विष्णुस्वामी का समय १३ वीं शताब्दी है ।[1] प्रो० भट्ट ने कुछ प्रमाणों के आधार पर विष्णुस्वामी का समय १० वीं शताब्दी माना है ।[2] नाभादास कृत `भक्तमाल` में विष्णुस्वामी का परिचय संगृहीत कर यह बताया है कि साधु ज्ञानदेव उनकी शिष्य परंपरा में अवश्य विद्यमान थे ।[3]

यद्यपि श्री विष्णुस्वामी के बारे में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं, तो भी यह बात स्पष्ट है कि वे रुद्रसंप्रदाय के संस्थापक हैं । रुद्रसंप्रदाय के सर्वप्रथम आरंभकर्ता भगवान शंकर हैं । इसीलिए इस संप्रदाय को `रुद्रसंप्रदाय` नाम मिला । भगवान् शंकर ने बालखिल्य ऋषियों को इस संप्रदाय का उपदेश दिया, जिसका ज्ञान कालान्तर में विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ था । विष्णुस्वामी के द्वारा समस्त दक्षिण भारत में इसका प्रचलन हुआ और उन्होंने इसके बाद एक अलग संप्रदाय की स्थापना की, जो कि उनके नाम पर `विष्णुस्वामी संप्रदाय` कहा गया है । शुद्धाद्वैत रुद्रसंप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत है ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १, पृ० ४२ से उद्धृत ।
२. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सेक्ट्स, पृ० ७७.

३. नाम तिलोचन शिष्य, सूरससि सदृश उजागर ।
गिरा गंग-उन्हारि काव्य रचना प्रेमाकर ।।
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दायन ।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथुपाधति पराइन ।।
नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरण रति ।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति ।।

- भक्तमाल, छप्पय ४८.

विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुसार गोपालकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं। उन्होंने नृसिंह को भी उपास्य देव माना है। अत: नृसिंह उनके इष्टदेव हैं, जो सत्, चित्, नित्य, निरार्चित्य एवं परमानन्दमय हैं। विष्णुस्वामी ने ईश्वर को सच्चिदानन्द स्वरूप माना है। ईश्वर अपनी `ह्लादिनी संविद् शक्ति` से आश्लिष्ट है। `माया` ईश्वर के अधीन रहती है। विष्णुस्वामी ईश्वर और जीव में भेदाभेद की मान्यता देते हैं। उनके अनुसार जीव क्लेशों का खजाना है और अविद्या द्वारा आच्छादित है। जीव हमेशा सुख और आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है, दु:ख प्राप्त करने का भी। वह स्वयं दोनों का अनुभव करता है। इसीलिए विष्णुस्वामी ईश्वर और जीव दोनों में परस्पर भेद स्थापित करते हैं।

विष्णुस्वामी अनेक ग्रंथों के रचयिता हैं; लेकिन अभी तक प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में उनकी केवल एक ही पुस्तक विशेष महत्व की है। वह विशिष्ट रचना है, `सर्वज्ञ सूक्त`। इसमें उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त की ओर संकेत किया है।

दक्षिण भारत के भक्ति-आन्दोलन की लहर धीरे-धीरे उत्तर भारत में फैलने लगी। दक्षिण भारत के अनेक धार्मिक सुधारक उत्तर में आये और वे अपने भक्ति-सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। मुसलमानों की क्रूरता से आक्रांत भारत के उत्तर देश में धार्मिक आन्दोलन चलाने वाले धर्मसुधारकों में स्वामी रामानन्द एवं वल्लभाचार्य का स्थान अन्यतम है। उत्तर भारत में धार्मिक सुधारकों ने भक्ति आन्दोलन की भिन्न-भिन्न दार्शनिक भूमिकाएं दीं। यद्यपि इन विभिन्न आचार्यों का समय ११ वीं शताब्दी से माना गया है, तो भी भक्ति का व्यापक प्रचार १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में हुआ। अब हम उत्तर भारत या हिन्दी प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन की ओर संकेत करेंगे और इसके साथ उस समय के प्रमुख आचार्य और उनके संप्रदाय का भी विचार करेंगे।

श्री रामानन्द और उनका संप्रदाय

दक्षिण भारत में श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-भक्ति

की पद्धति को रामानन्द ने उत्तर भारत में लाने का प्रयास किया। रामानन्द के व्यक्तित्व के प्रभाव से समस्त उत्तर भारत या हिन्दीप्रदेश में उनके सिद्धांत का प्रसार हो गया। रामानन्द द्वारा संस्थापित संप्रदाय में उन्होंने भगवान् राम को ही प्रधानता दी। उनके द्वारा प्रसारित इस संप्रदाय को `रामानंदी` अथवा `रामावत संप्रदाय` कहा जाता है। `श्री सम्प्रदाय` के प्रमुख प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में होने के कारण रामानन्द का यह संप्रदाय `श्री संप्रदाय` की शाखा के रूप में विकसित हुआ। दोनों संप्रदायों के दार्शनिक पक्ष में समानता है; केवल आराधना क्रम अथवा उपासना पद्धति में कुछ अन्तर दीखता है।

स्वामी रामानन्द की जन्म तिथि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। उन्होंने `श्रीसम्प्रदाय` की दीक्षा रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा की चौथी पीढ़ी के राघवानन्द से प्राप्त की। इस मान्यता के अनुसार उनका जन्म सं० १३५६ में हुआ था और कुछ लोग सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार रामानन्द की जन्म तिथि सन् १२९९ ई० मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार उनका समय विक्रम की १५ वीं शती के चतुर्थ और १६ वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है।[१] उनके पिता का नाम पुण्यसदन तथा माता का नाम सुशीला था और उनका पहला नाम था रामदत्त। वे प्रारंभ से ही बड़े होनहार और प्रतिभाशाली थे। उन्होंने काशी से दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया और वहाँ से श्री रामानुजाचार्य की चौथी पीढ़ी की शिष्य-परंपरा के राघवानन्द से वैष्णवी दीक्षा ली थी।[२]

श्री रामानन्दजी वैष्णव भक्ति के प्रारंभिक प्रचारकों में माने जाते हैं। रामानन्द के बारे में प्रसिद्ध कथन है —

"भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानन्द।"

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११५.
२. श्री भक्तमाल (वृन्दावन संस्करण), पृ० २५६-२६०.

इस कथन से यह प्रकट होता है कि भक्ति का विकास सबसे पहले दक्षिण भारत में हुआ था और उत्तर में इसका प्रचार रामानन्द ने किया । रामानन्द का जन्म दक्षिण में होने के ओर भी यह संकेत करता है । चाहे रामानन्द का जन्म दक्षिण में हुआ हो या उत्तर में, उन्होंने उत्तर भारत को वैष्णव भक्ति से आलोकित किया, जिसमें आलवारों की भक्ति के सिद्धान्तों का भी समावेश था ।

श्री रामानन्द के समय में भारत की हिन्दू जनता को सुल्तानों की तानाशाही से बड़ा कष्ट उठाना पड़ा । हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों पर बड़े आतंक और भय का वातावरण फैला हुआ था । स्वामी रामानन्द ने सुल्तानों की इस अत्याचारपूर्ण प्रवृत्ति के कारण उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थों में अपने संप्रदाय के केन्द्र स्थापित किये और वहाँ के निवासियों में भगवान् राम की भक्ति का प्रचार-प्रसार किया । उन्होंने वर्ण, जाति, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं को ध्यान में न रखकर सभी वर्णों और जातियों के लोगों को राम-मंत्र का महान् उपदेश दिया । इसलिए उनकी शिष्य-परंपरा में सब प्रकार के व्यक्ति थे । अर्थात् सवर्ण और अवर्ण के अनेक शिष्यों ने उनके उपदेश को नतमस्तक हो स्वीकार किया । सवर्ण शिष्यों में स्वामी अनंतानन्द सर्वप्रमुख थे और निम्न-जातियों के शिष्यों में कबीर प्रधान थे - जो मुसलमान थे । कबीर के अलावा रैदास (चमार), सेना (नाई) और धन्ना (जाट) आदि निम्नजाति के शिष्यों में अग्रगण्य थे । रामानन्द जी का यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है कि 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई । हरि को भजै सो हरि का होई ।' उन्होंने जाति-पाँति का भेद-भाव मिटा कर वैष्णव मात्र में समता का प्रचार किया था और नवधा-भक्ति से भी अधिक श्रेयस्कर बतलाया था ।[१] जिन शूद्रों के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग और समाज में सिर उठाकर रहने का अधिकारसदा के लिए बंद कर दिया गया था, उनके लिए उन्होंने भगवान् की दया का द्वार खोल दिया । अज्ञान के अंधकार में से अपने को ज्ञान के प्रकाश में ले जाने का मार्ग खोल दिया और मनुष्य समझने का

---

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास   प्रभुदयाल मीतल, पृ० १६१.

अधिकार भी प्रदान कर दिया। उन्होंने भगवान के समक्ष ऊँच-नीच सबको एक बराबर समझा।[१] इस प्रकार रामानन्दजी ने ही सर्वप्रथम शूद्र और अन्त्यजों को मंत्र-दीक्षा दी थी। बाद में इसका अनुकरण वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव ने अपने संप्रदायों में भी किया।

स्वामी रामानन्द ने रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' और 'प्रपत्ति' सिद्धांतों के आधार पर अपने संप्रदाय का संगठन किया। समय की आवश्यकता के अनुसार अपने सम्प्रदाय में परिवर्तन लाने की ओर भी वे सतर्क रहे। शैव तथा शाक्त पंथियों के प्रभाव से समाज में तंत्र-मंत्र, कील-कवचादि तांत्रिक उपासना के अंगों के प्रति लोगों का आकर्षण देखकर उन्होंने रामोपासना में भी उसकी व्यवस्था की। 'रामरक्षास्तोत्र' की रचना इसी उद्देश्य से हुई थी। इसी प्रकार नाथपंथी उपासकों के आदर्श पर संत-जीवन के प्रत्येक कृत्य के लिए उन्होंने पृथक्-पृथक् मंत्रों की रचना कर सिद्धांत-पटल का निर्माण किया था। यह सब केवल इस उद्देश्य से किया गया कि रामोपासना युग-धर्म के अनुकूल बने और पंथों के दल-दल में फंसी हुई जनता का उद्धार करके उसका उचित मार्ग-दर्शन कर सके। उनके शिष्यों ने तीर्थस्थान पर जम कर राम-भक्ति का प्रचार किया था। इसके कारण यवन शासकों की असहिष्णुता से प्रोत्साहित मुसलमानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये जाने से तीर्थों की रक्षा हुई। साथ ही, बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को रामतारक-मंत्र की दीक्षा देकर पुनः हिन्दू बनाने का क्रम भी चलाया गया।[२] उन्होंने पूजा संबंधी विविध अनुष्ठानों के स्थान पर इष्टदेव के भजन का प्रचार किया, संस्कृत के स्थान पर हिन्दी आदि लोक-भाषाओं की प्रतिष्ठा की और भक्ति के क्षेत्र में वर्णाश्रम-मर्यादा को हटाकर प्रभु-प्राप्ति का क्षेत्र सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। स्वामी रामानन्द ने इस सिलसिले में ब्राह्मण और शूद्र के ही भेद को नहीं मिटाया, वरन् हिन्दू और मुसलमान के भेद को भी मिटा दिया। जिस व्यक्ति ने इस संप्रदाय में दीक्षा ले ली और राम-भक्ति को स्वीकार कर लिया, वह

---

१. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ. ३०.
२. रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृ ७३-७४ का सारांश।

संप्रदाय के सभी व्यक्तियों के साथ बैठकर खा सकता था । राधा और कृष्ण के स्थान पर सीता और राम की भक्ति के प्रचार ने समाज को पवित्र मर्यादा-मार्ग, कर्तव्य-पालन तथा सदाचार का पुनीत संदेश भी दिया । सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं की ऊंच-नीच की भावना से प्रताड़ित निम्नवर्गीय शूद्रादि जब मुसलमानों में सामाजिक व्यवहार की समता देखते थे, तो स्वभावत: वे अपनी हीनता मिटाने के लिए इस्लाम धर्म की ओर आकर्षित हो जाते थे । मुसलमान भी हिन्दुओं की इस परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हें अपनाने और अपनी संख्या-वृद्धि करने में प्रयत्नशील रहे । स्वामी रामानन्द ने हिन्दुओं के समस्त वर्णों तथा अन्य विजातियों को भी भक्ति के क्षेत्र में एक साथ बिठाकर इस ऊंच-नीच की भावना पर प्रबल आघात किया । शूद्र ही नहीं, मुसलमानों को भी इससे बड़ा उत्साह मिला । हिन्दुत्व की रक्षा के लिए तो यह अमोघ वरदान सिद्ध हुआ ।[१] अत: रामानन्दी संप्रदाय में छुआछूत, जाति-पांति का भेद-भाव नहीं था ।

स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचलित एवं प्रसारित किया गया वैष्णव-भक्ति का स्वरूप पूर्णत: आलवार भक्तों या श्री संप्रदाय के 'तन्कले' मत की भक्ति के अनुरूप ही है । रामानन्द संप्रदाय में उन्होंने भक्ति को ही सर्वोपरि स्थान दिया, जो मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में से एक है । भक्ति के बिना लोग असहाय हैं, अत: भक्ति के बिना कोई भी व्यक्ति संसार-सागर को पार नहीं कर सकता । इस संसार-महासागर में चिरकाल से डूबते हुए अस्वतन्त्र चेतन जीवन के ऊपर भगवान की अहैतुकी-कृपा, अनन्त और लगातार कर्म-प्रवाह में निरत रहने पर ही प्राप्त होती है । कृपा-सिंधु, परमकीर्तिसंपन्न, अचिन्त्य वैभववाले भगवान श्रीराम (विष्णु) की अन्य के कष्ट के प्रति असहनशीलता ही दया है । भगवान का जीवों पर पुत्रवत् स्नेह है । वस्तुत: भगवान् अपने स्वजनों के पातकों पर दृष्टिपात तक नहीं करते और आचार्यों के मत से यही उनका वात्सल्य है ।[२] इसलिए मुक्ति की कामना वाले तथा पापों से निवृत्त हो जाने की इच्छा वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने सभी शुभ कर्मों को भगवदर्पण कर दें तथा

---

१. भक्ति का विकास : मुंशीराम शर्मा, पृ० ३८३-८४.
२. श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर, सं० रा० ट० दास, पृ० १६.

नैवेद्य आदि को भगवान् को अर्पित करके ही भोजन करें । इससे वे संसार के भय से मुक्त हो जाएंगे । भगवान् की इस अहैतुकी कृपा के सभी अधिकारी हैं— ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि । वहाँ कुल-बल, काल और दिखावट की कोई आवश्यकता नहीं है ।[१] अतः उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प को केवल भगवान् की निःसृत भक्ति के प्रति व्यक्त किया है । वे तो भक्ति के क्षेत्र को किसी सीमित ठिकाने तक बांधना नहीं चाहते थे । व्यक्ति जितना करने से पूर्ण विकास प्राप्त कर सकता था, उतना ही वह स्वीकार कर सकता था ।

श्री रामानन्द ने भगवान् के अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार — ये पांच रूप माने हैं । इनमें अर्चावतार ही सर्वप्रमुख है । उन्होंने भगवत्कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय बताकर कहा कि धनुर्धारी भगवान् की सुन्दर यशगाथा कथा का श्रवण नित्य होना चाहिए । भक्त को यह कथा अपनी मृत्युपर्यन्त सुननी चाहिए, जिसमें धार्मिक धरातल का विकास होता है और संसार की बाधाएं मिटती हैं । अतः मोक्षप्राप्ति चाहने वाले भक्तों को रामषडक्षर का जाप करना चाहिए ।

श्री रामानन्दजी द्वारा संस्थापित संप्रदाय में उन्होंने चित्, अचित् एवं ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है । चित् तथा अचित् की विशिष्टता के कारण ईश्वर ही 'चिदचिद् विशिष्ट' माना है । इस प्रकार श्री रामानन्द ने रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत की पूरी स्वीकृति करके रामावत संप्रदाय की स्थापना की । जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया था — 'जहां श्री वैष्णव मत में द्वादशाक्षर मंत्र की प्रधानता थी, वहां स्वामी रामानन्द ने षडाक्षर मंत्र — 'श्री रामाय नमः' — की व्यवस्था कर दी, जो रामावत संप्रदाय का मूल मंत्र है तथा द्वयमंत्र (पंचविंशत्याक्षर मंत्र) — 'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, 'श्रीमते रामचन्द्राय नमः' तथा चरम मंत्र — 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम' - की व्यवस्था करके उन्होंने श्री वैष्णव से रामावत संप्रदाय को पृथक् भी कर दिया ।[२] इसप्रकार

---

१. श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर   सं० रा० ट० दास, पृ० १७.
२. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन   डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० १९८.

रामानन्द जी रामोपासना की सुदृढ़ संस्थापना के लिए राम, लक्ष्मण एवं सीता — इस त्रिमूर्ति को उपयुक्त समझ कर स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस त्रिमूर्ति में तीन प्रकार के गुण देखे। सीता प्रकृतिस्थानीय है, लक्ष्मण जीव-स्थानीय हैं तथा श्रीराम को ईश्वरतत्व माना गया है। इन तीनों की परम कृपा प्राप्त करने से ही संसार-सागर से पार हुआ जा सकता है। वे संसार के पालनकर्ता हैं, गुणों के सागर हैं, सार्वभौम हैं एवं अशरणों के रक्षक हैं। इनका नित्य-निरंतर ध्यानपूर्वक स्मरण करना ही भक्ति है। भगवान् की प्राप्ति से मुक्ति सुनिश्चित है। स्वामी रामानन्द ने भक्ति उत्पन्न होने के लिए सात कार्यों का उल्लेख किया है — (१) विवेक (दुष्टाहार तथा सात्विक आहार का विवेचन), (२) विमोक (काम में अनासक्ति), (३) अभ्यास (भगवान् राम का सतत् शीलन), (४) क्रिया (पंच महायज्ञों का अनुष्ठान), (५) कल्याण (सत्य, आर्जव, दान-दया आदि), (६) अनवसाद (उत्साह) तथा (७) अनुद्धर्ष (सांसारिक हर्ष से अनासक्त) ।[१]

श्री रामानन्द द्वारा रचित दो प्रमुख प्रामाणिक संस्कृत ग्रंथ— 'रामार्चन पद्धति' और 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर' हैं। इन दोनों ग्रंथों में विशिष्टाद्वैतवा का समावेश है। 'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर' के १६२ श्लोकों में विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। भक्ति और मोक्ष प्राप्ति के अनेक उपाय इसमें बताये गये हैं। रामानन्द की हिन्दी रचनाएं — 'सिद्धांतपटल', 'रामरक्षा-स्तोत्र', 'ज्ञान-तिलक' एवं 'योग चिन्तामणि' हैं। इन ग्रंथों में भक्ति-तत्वों के अतिरिक्त योग -साधना को भी प्रधानता दी गई है।

इस प्रकार मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के समय, विशेषकर उत्तर भारत में, स्वामी रामानन्द का योगदान उच्चकोटि का है। रामानन्द की लोकप्रियता का रहस्य उनके महान व्यक्तित्व पर निर्भर रहा है। स्वामी रामानन्द के समसामयिक मौलाना रशीदुद्दीन नामक काशी के एक फकीर ने 'तजकारतुल फकरा' नामक ग्रंथ में रामानन्द के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है — "इस पुरी (काशी) में पंचगंगा घाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजपुंज और पूर्ण योगेश्वर हैं।

---

१. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन डॉ० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० १६६.

वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार और ब्रह्मनिष्ठत्व के स्वरूप ही हैं। परमात्मतत्व-रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु धर्माधिकार में वे हिन्दुओं के धर्म-कर्म के सम्राट हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या पांच सौ से अधिक है।'[१]

नाभादासकृत 'भक्तमाल' में रामानन्द के शिष्यों के नाम इसप्रकार दिये गये हैं -- (१) अनन्त, (२) सुखानन्द, (३) सुरसुरानन्द, (४) नरहर्यानन्द, (५) भावानन्द, (६) पीपा, (७) कबीर, (८) सेन, (९) धना, (१०) रैदास, (११) पद्मावती, (१२) सुरसरी। इस शिष्य-परम्परा में अनन्तानन्द सगुण मत के और कबीर निर्गुण मत के प्रमुख प्रवर्तक हैं। अनन्तानन्द को नाभादास ने रामानन्द स्वामी का सर्वप्रमुख शिष्य कहा है। इनका प्रताप इतना प्रखर था कि इनके चरणों का स्पर्श कर योगानन्द, कर्मचन्द, अल्ह, पयहारी, सारी, रामदास तथा नरहरिदास आदि भक्त लोकपालों के सदृश हो गये थे।[२] अनन्तानन्द 'हरिभक्ति-सिन्धु-वेला' नामक ग्रंथ के रचयिता हैं और उनकी शिष्य-परंपरा ने मध्ययुग में सबसे अधिक विस्तार से उनके सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द द्वारा संस्थापित रामावत संप्रदाय के भक्ति-आन्दोलन को व्यापक क्षेत्र में फैलाने में रामानन्द के सगुण और निर्गुण दोनों वर्गों के शिष्यों ने बड़ा सहयोग किया।

रामानन्द ने जिस वैष्णव भक्ति आन्दोलन को हिन्दी प्रदेश में प्रारंभ किया, वह एक प्रकार से हिन्दुओं की आत्म-रक्षा के लिए चलाया गया समाज-सुधारवादी आन्दोलन ही था। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की यह लहर दक्षिण से उपर्युक्त समय पर उत्तर में आ पहुंची। इसे हिन्दी प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन का प्रथम सोपान कहा जा सकता है। द्वितीय सोपान में नाथ संप्रदाय और सूफी प्रेमाख्यानकों के सूफी संप्रदाय और तृतीय सोपान में वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, राधावल्लभी संप्रदाय और हरिदासी संप्रदाय या सखी संप्रदाय पनपने लगे।

---

१. 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं', पृ० ३९ से उद्धृत।
२. भक्तमाल, रूपकला द्वारा संपादित, पृ० २९८.

नाथ संप्रदाय

जिस समय स्वामी रामानन्द के द्वारा जनता के बीच वैष्णव भक्ति का प्रचार शुरू हुआ, उस समय उत्तर भारत में नाथ-संप्रदाय का विकास हो रहा था। इसके अलावा शैव धर्म की ज्ञान और योगपरक साधना इसमें अन्तर्भुक्त होकर विकास की ओर अग्रसर हो रही थी। नाथ संप्रदाय का उदय सिद्धों की योगपरक तामसिक साधना की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। नाथसंप्रदाय के सशक्त प्रचारक गोरखनाथ ने ज्ञान और योग में अपनी साधना का निर्धारण किया। इस नाथ संप्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया। इसमें अनुभूति और हठयोग का प्रधान स्थान था और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुण पन्थ का बहुत कुछ साधन रूप निर्धारित किया।[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार नाथ-साधना में कौल मार्ग, शाक्त और कापालिक मार्ग — सब न्यूनाधिक मात्रा में अंतर्भुक्त हैं। नाथ संप्रदाय के ग्रंथों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है कि तांत्रिकों का कौल मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं।[२] इस प्रकार नाथ संप्रदाय में इन तीनों का संयोग हुआ है।

गोरखनाथ ने नाथसंप्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गयी, वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करनेवाली समस्त परंपरागत रूढ़ियों पर कठोर आघात भी किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।[३] उन्होंने अपनी अपूर्व संगठन शक्ति से शुद्ध सात्विक जीवन से शून्य भारतीय धर्म-साधना को अखण्ड ब्रह्मचर्य धारणा का सन्देश दिया। 'गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।

----

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०८.
२. नाथसंप्रदाय : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५.
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११७.

लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे उन्होंने नई प्राण-शक्ति से अनुप्राणित किया।[१]

गोरख संप्रदाय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है `गोरख-सिद्धांत संग्रह` । इस ग्रंथ में एक ओर स्वतंत्र हठयोग का निर्देश है, तो दूसरी ओर चौरासी सिद्धों के छः प्रधान शिष्यों का उल्लेख मिलता है । `गोरखबानी` के आधार पर गोरखनाथ की संगृहीत रचनाएं `सबदी`, `पद` (राग सामग्री), `सिष्या दरसन`, `प्राण संकली`, `नरै बोध`, `आत्मबोध`, `अभै मात्रा जोग`, `पन्द्रह तिथि`, `सप्तवार`, `मछीन्द्र गोरखबोध`, `रोमावली`, `ग्यान तिलक` और `पंच मात्रा` हैं ।

गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में आगे चलकर गौपीनाथ-- निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वरी के प्रसिद्ध रचनाकार महाराष्ट्रीय भक्त ज्ञानेश्वर हुए । उन्होंने `ज्ञानेश्वरी` की रचना श्रीमद्भगवद्गीता को आधार मानकर की । किन्तु उसके तत्वनिरूपण में नाथसंप्रदाय के सिद्धांतों को ही प्रमुखता दी । महाराष्ट्र में उस समय उच्च वर्ण वालों के कारण शूद्र जाति के अनेक लोग विषमता की बलि बन जाते थे और उद्धार के लिए छटपटा रहे थे । हीन जाति में जन्म लेने के कारण वे अत्यंत दुःखी थे और उस दुःख को मिटाने के लिए ईश्वर की आराधना करने लगे थे । पंढरपुर के विट्ठल इन दीन अन्त्यजों के अनन्य उपासक थे । विट्ठल वस्तुतः बालकृष्ण के ही प्रतीक हैं । वाकरी साधक विट्ठल को निर्गुण ब्रह्म मानते हुए और अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए भी भक्ति-साधना को सर्वोत्तम मानते हैं । यह भक्ति वाणी से परे है और अनुभवगम्य, अद्वैत या अभेद-भक्ति मानी गयी है । ज्ञानेश्वर ने `अमृतानुभव` नामक ग्रंथ के नवें प्रकरण में लिखा है कि जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय एवं भक्त-परिवार का निर्माण खोद कर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी निस्सन्देह एकत्र रहते हुए भी संभव है । ऐसी ही स्थिति में देव, देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त, भक्तिपात्र में विलीन हो जाता है और दोनों का अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनंत होकर प्रकट होता है । जिस

---

१. नाथसंप्रदाय डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८८-८९.

प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तादात्म्य हुए बिना भक्ति का होना असंभव है। निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी एक साधन मानते हैं और उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरन्तर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणों का सदा कीर्तन किया करते हैं।[१] वारकरी संप्रदाय के प्रमुख संचालक नामदेव ने विट्ठल का भजन एवं भक्ति करनी आरंभ कर दी। विट्ठल को जन-साधारण एवं हीन जनता का ईश्वर समझते थे। उसकी आराधना या भजन करने के लिए पुरोहित वर्गों की आवश्यकता नहीं थी। डा० वि.भि. कोलते के मतानुसार "पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिए ही महाराष्ट्र संतों ने विट्ठल संप्रदाय या वारकरी संप्रदाय खड़ा किया वारकरी संप्रदाय के भक्त-जन नाम-स्मरण का आलाप करते रहते थे। विट्ठल संप्रदाय में नामस्मरण की साधना का विशेष महत्व है।[२] तुकाराम ने स्पष्ट कहा है कि "हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल है। साधन और साध्य, दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही सारा पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के दास लोकलाज त्याग कर हरि-कीर्तन तथा नाम-स्मरण किया करते हैं, वहीं सब रस आकार भर जाते हैं और संसार के बांध को लांघ कर बहने लगते हैं। वेद के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा, तुकाराम की दृष्टि में भोले-भाले जीवों के लिए सगुण तथा साकार बालकृष्ण हैं।"[३]

ज्ञानदेव और नामदेव दोनों संतों ने उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थानों का पर्यटन किया, जो उस समय मुसलमानों के आतंक से डांवाडोल हो रहे थे। मुसलमानों ने हिन्दुओं के मंदिरों का विध्वंस कर दिया और मूर्तियों को तोड़-मरोड़ कर डाला। मुसलमानों का यह व्यवहार देखकर संत नामदेव का कथन है — "पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-फोड़ा और पानी में

---

१. मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना — डा० केशनीप्रसाद चौरसिया, पृ० ५०-५१.
२. मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, डा० वि.भि. कोलते, पृ० ४६.
३. भागवत संप्रदाय पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५८६.

डुबो दिया, फिर भी वे न क्रोध करते हैं, न क्रन्दन करते हैं। हे ईश्वर! मैं ऐसे देवताओं का दर्शन नहीं चाहता।"[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नामदेव के मन में निराकारोपासना पर विशेष श्रद्धा थी। विट्ठल संप्रदाय के अन्तर्गत होने पर भी उन्होंने साकारोपासना पर जोर न देकर केवल नाम-स्मरण पर विशेष बल दिया। यही तो महाराष्ट्र में प्रचलित उपासना-पद्धति है। लेकिन बाद में यह साधना-पद्धति पंद्रहवीं शताब्दी में उत्तरभारत में प्रचलित हो गयी। स्वामी रामानन्द और उनके निर्गुण-समुदाय के शिष्य कबीर आदि सन्त इस संप्रदाय के अन्तर्गत आये।

स्वामी रामानन्द जब दक्षिण की वैष्णव भक्ति को लेकर उत्तर भारत में आये तब यहां इस्लामी लोग मूर्ति पूजा का विरोध करके अपनी उपासना-पद्धति को बढ़ा रहे थे। उस समय सूफी-संप्रदाय प्रेम की पीर को जगा कर, अनेक वर्गों में सुव्यवस्थित होकर व्याप्त हो रहा था। इस तरह रामानन्द की प्रपत्तिपरक वैष्णवी भक्ति के संशोधित प्रयोग, मुसलमानों की मूर्तिपूजा के प्रति विरोधिनी प्रवृत्ति एवं सूफियों की विनम्र भावना - ये तीनों निर्गुण संप्रदाय के उदय को अनुकूल वातावरण प्रदान कर रहे थे।

सूफी संप्रदाय

हिन्दी के भक्ति-साहित्य के इतिहास में सूफी संप्रदाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में ईसा की बारहवीं शताब्दी में सूफी-सिद्धांतों का प्रवेश हुआ जो इस्लाम की ही एक शाखा के रूप में यहाँ प्रचलित हुआ। इस मत का प्रवेश भारत में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२ वीं शताब्दी) के समय से माना जाता है। इस देश में आने के पूर्व ही यह मत पश्चिमी देशों में व्याप्त विकसित हो चुका था। यों तो व्यापार के लिए मुसलमानों का आगमन भारत में ७ वीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था और तेरहवीं शताब्दी की अवधि तक बहुत से धर्म-प्रचारक यहां आये; किन्तु यह शास्त्रीय मुसलमानों (बा-शरा) की साधना-धारा नहीं थी, बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियों की

---

१. मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना — डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५३.

साधना थी । शास्त्रीय मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर आघात नहीं कर सकते थे । वे केवल उसके शरीर को नोच-खसोट कर दु:ख भर पहुंचा सकते थे; पर इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया । कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना-पद्धति का अविरोधी था ।[१] सूफी धर्म चार संप्रदायों के रूप में आया, जो अनुकूल समय पर आकर यहां अपना प्रचार करता रहा । ये चार संप्रदाय निम्नलिखित हैं :-

(१) चिश्ती संप्रदाय - (बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में) । सर्वप्रथम प्रचारक — मुइनुद्दीन चिश्ती ।

(२) सुहरावर्दी संप्रदाय - (तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में) । सर्वप्रथम प्रचारक - जियाउद्दीन अबुल नजीब तथा अब्दुलकादिर ।

(३) कादरी संप्रदाय - (पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में) । सर्वप्रथम प्रचारक - शेख अब्दुल कादर जिलानी ।

(४) नक्शबन्दी संप्रदाय - (सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में) । सर्वप्रथम प्रचारक - ख्वाजा बहाउद्दीन 'नक्शबन्द' ।

सूफी मत का उद्भव इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । इसमें इस्लाम धर्म के कट्टर धर्माचरण की जगह उदारता द्रष्टव्य है । इस्लाम धर्म के शास्त्रीय रूप में तो ईश्वर को दयालु पिता के समान चित्रित नहीं किया गया । इस्लाम धर्म का मूलमंत्र है - 'ला इलाह इल्लिल्लाह महम्मदुर्रसूलिल्लाह' अर्थात् अल्लाह के सिवा और कोई पूज्य नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल (मार्ग-दर्शक) हैं । अत: पक्का मुसलमान बनने के लिए अल्लाह और उसके रसूल पर पूर्ण विश्वास लाना नितान्त आवश्यक है । इस्लाम ने मूलरूप में जिस ईश्वर की कल्पना की थी, वह शक्तिशाली और निरंकुश प्रभु की कल्पना थी ।[२] सूफी मत के उद्भव का कारण यही है कि इस्लाम के कट्टर धर्माचरण के कारण समाज को अनेक धार्मिक क्लिष्टताएं सहनी पड़ीं । शास्त्रीय इस्लाम में ईश्वर एक दयालु पिता के समान चित्रित नहीं किया गया, जो अपने अज्ञानी बच्चों के

---

१. सूर-साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७.
२. मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना - डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५५.

अपराधों पर ध्यान दे, अपितु एक न्यायप्रिय भावुकता रहित शासक के रूप में है। उसकी कृपा के पात्र वही हैं जो उसकी आज्ञा का पालन करते हैं और उस पर विश्वास करते हैं। कुरान के अल्लाह से कभी कोई वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता और न बराबरी का दावा करने का साहस कर सकता है। इसी अपराधपूर्ण साहस पर प्रसिद्ध सूफी मंसूर हल्लाज को शूली दे दी गई थी; क्योंकि उसने अन-अल-हक्क (सोऽहम्) का नारा बुलन्द किया था। कुरान शरीर का इस्लामी चिन्तन एकेश्वरवादी है। इसके विपरीत सूफी मत की साधना, जीव और ईश्वर की तात्विक एकता और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास करती है। अखिल सृष्टि के कण-कण में ईश्वर के सौन्दर्य की झलक दीखती है। नियम-पालन और क्रिया के स्थान पर उसमें आन्तरिक अनुराग, आत्मसमर्पण की उत्कट आकांक्षा एवं परमात्मा-मिलन की तीव्र विरहाकुलता है। इस्लामी साधना शरीअत (कर्म-मार्ग) से संबन्धित है, किन्तु सूफियों में इन साधनाओं के अतिरिक्त अन्य विशेषता थी और वह थी मारिफत अर्थात् ईश्वर से पूर्णत: मिलकर अन-अल-हक की स्थिति में पहुंच जाना। उन पर इस्लाम विहित बातों के अतिरिक्त 'मादन-भाव' की भी छाप थी, जिसका उदय शामी जातियों के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना तथा धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियों ने अन्य जातियों के दर्शन तथा अध्यात्म से सहायता ले कर धीरे-धीरे एक नवीन मत का सृजन किया।[१] और अन्त में उसे शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे डाला।

सूफी धर्म का सार है, परमात्मा विषयक सत्यासत्य का ज्ञान और सांसारिक वस्तुओं का परित्याग। सूफी लोग परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखते हैं। परमात्मा के दर्शन पाने के लिए उनके हृदय में प्रेम की आकुलता होती है, क्योंकि केवल परमात्मा का प्रेम ही उनके लिए प्राप्य वस्तु है। उनके लिए संपूर्ण धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य उस प्रियतम का प्रेम पाना हो गया। प्रेमातिरेक से ये बेसुध हो जाया करते थे। इस प्रकार की आत्मविस्मृति की अवस्था ध्यान, स्मरण आदि के द्वारा बहुत अभ्यास के बाद ही संभव है।

---

१. तसव्वुफ या सूफीमत   श्री चन्द्रबली पांडेय, पृ० ६.

उनके अनुसार ध्यान, स्मरण तथा अन्य क्रियाओं द्वारा अपने अहं को भुला कर ही परमसत्ता के साथ जो व्यवधान है, उसे दूर किया जा सकता है। पहले जहाँ इन साधनों का आदर्श एकान्तिक जीवन, फकीरी, दीनता तथा विनम्रता था, वहाँ अब परमात्मा को प्रेम द्वारा पाना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। केवल बाह्याचार का यन्त्रवत् पालन सूफियों की दृष्टि में बेकार था। वे अन्तर की शुद्धि तथा हृदय से धर्म के नियमों को समझना और उनका पालन करना ही असली धर्म का पालन करना मानते थे।[१] सूफी साधकों का यह विश्वास है कि भावाविष्टावस्था (वज्द) ही एक ऐसा ज़रिया है जिससे आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है और उससे एकत्व लाभ कर सकती है। भावाविष्टावस्था में सूफियों ने फना (लय प्राप्त होना), वज्द (भाव), समा (संगीत), जौक़ (स्वाद), शर्ब (पीना), गैबत (अहं से बेखबर होना), वज्दात तथा हाल आदि शब्दों का प्रयोग किया है। एकमात्र सत्य परमात्मा के ध्यानादि से मन के भीतर एक आलोडन पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहं को खो बैठता है। साधक की चेष्टा की यह अंतिम अवस्था है, जिसकी प्राप्ति के बाद उसे अपनी ओर से करने के लिए कुछ नहीं रह जाता।[२] भारतीय दृष्टि से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही सूफी मत की प्रेम-साधना है।

भारत में सूफी मत का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार सूफी संत ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय से हुआ। मुगल बादशाहों के शासन-काल में इनकी लोकप्रियता बढ़ गयी। सूफी मत की ओर उनका झुकाव अधिक हुआ था। बादशाह अकबर के काल में कुछ परिवर्तन आया। अकबर पर कट्टर मुल्ला-वर्ग का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने हिन्दू रीति-रिवाज एवं उनकी धार्मिक मान्यताओं का आदर किया। अकबर की इस धार्मिक नीति ने भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) को फलने-फूलने का रास्ता साफ कर दिया। बादशाह जहाँगीर ने तो दोनों संप्रदायों (हिन्दू और सूफी) पर समान रूप से आस्था रखी। उदाहरण के लिए गोसाईं सद्रूप और सूफी मियाँ मीर के प्रति अटूट

---

१. सूफी मत साधना और साहित्य — श्री रामपूजन तिवारी, पृ० २०१.
२. वही, पृ० ३९२.

श्रद्धा का परिचय दिया । जहाँगीर के पश्चात् शाहजहाँ के काल में भी वही स्थिति थी ।

इस प्रकार सूफी संप्रदाय पर लगातार वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ने लगा । सूफी संत संस्कृत और हिन्दी में रुचि लेने लगे ।[१] सन् १५६६ ई० में प्रसिद्ध सूफी मीर अब्दुल वहीद बिलग्रामी ने 'हकीकी-हिन्दी' नामक एक ग्रंथ की रचना की और उसमें उन्होंने पचास से अधिक वैष्णव धर्म के प्रतीकों को सूफी साधना में समाविष्ट किया । इस ग्रंथ में जो 'कृष्ण' और 'गोपी' शब्द मिलता है वह यथाक्रम 'हजरत मोहम्मद' और 'फरिश्तों' के लिए प्रयुक्त होता है । इस प्रकार सूफी साधना के अन्दर कृष्ण-भक्ति को समेटने का प्रयास किया गया है ।

इस भाँति रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में निर्गुण भक्ति की प्रतिष्ठा करके अमूर्त ब्रह्म को व्यक्तित्व संपन्न गुणों से युक्त कर निष्ठापरक मानसिक भक्ति में प्रेम एवं भावुकता की स्पष्ट व्यंजना हुई । अंतिम प्रभाव सूफी मत का पड़ा ।[२] डा० रामकुमार वर्मा का कथन यथार्थ है — "भक्ति में प्रेम की भस्ति और भावुकता सूफी मत से आई हुई ज्ञात होती है ।"[३] इस प्रकार सूफी संप्रदाय ने जन-साधारण की आस्थाओं को आश्रय दिया ।

हिन्दी प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन के विकासक्रम के इतिहास की दृष्टि से वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के तीसरे सोपान में १६ वीं शती के अकबर जैसे धर्मसहिष्णु सम्राटों की उदार धार्मिक नीति के कारण पूरी स्वतंत्रता के साथ वैष्णव-भक्ति का

---

१. The Bhakti (devotion) songs of Vaishnavites excited more mystic ecstasy in Sufis than the other forms of Hindi and Persian poetry - p.60. Muslim Revivalist Movement in Northern India, Dr.S.R. Abbas Rizvi.

२. मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना — डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ६२.

३. अनुशीलन डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०१.

प्रचार करने वाले वैष्णव संप्रदायों का योगदान द्रष्टव्य है । वैष्णव संप्रदाय में मधुरोपासना की अधिकता थी । उत्तर भारत में पनपने वाले इन संप्रदायों में दक्षिण के चार संप्रदाय — श्री संप्रदाय, विष्णुस्वामी संप्रदाय, माध्व संप्रदाय और निम्बार्क संप्रदाय से थोड़ा-बहुत संबन्ध निश्चित रूप से था और इनके प्रभाव से उत्तर भारत में भिन्न-भिन्न संप्रदायों का जन्म हुआ । इस प्रदेश में ईसा की १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित इन संप्रदायों ने राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति को अधिक प्रचार किया ।

रामानन्द के संप्रदाय की दूसरी एक श्रेणी सगुणोपासकों की थी । सगुण भक्तों ने अपने आराध्य देव या उपास्य देवता को विभिन्न रूप या आकार देकर उपासना की । उनकी इस उपासना पद्धति को जनसाधारण ने भी स्वीकार किया । अनेक रूपों को लेकर प्रसारित इन संप्रदायों में राम-भक्तों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्तों की संख्या अधिक थी । रामानन्द के उपरांत मध्य युग में राम भक्ति का उतना भावुक प्रचारक कोई नहीं था । इसके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय — ये चार संप्रदाय पनपने लगे । इनमें वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । इन्होंने दक्षिणी वैष्णव भक्तों की उपासना पद्धति को अपनाया । यद्यपि इन दोनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का न्यूनाधिक रूप में अनुसरण किया था, तो भी अपने-अपने मत-विशेष के कारण अपनी पूजा-पद्धति और भजन-कीर्तनों के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव-धर्म को जन-सामान्य के अत्यंत निकट पहुंचाने का प्रयत्न किया । इन दोनों ने अपने राधावल्लभ अथवा गोपीवल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म में नूतन शक्ति का संचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली ।[1] चैतन्य और वल्लभ संप्रदाय के विकास के साथ ही साथ और भी दो संप्रदायों का प्रचार हो रहा था । एक तो राधावल्लभ संप्रदाय, जिसमें राधा-कृष्ण की युगल उपासना की प्रधानता थी । दूसरे में राधा-कृष्ण की युगल उपासना सखी-भाव से प्रसारित थी; यह संप्रदाय 'सखी संप्रदाय' के नाम से अभिहित हुआ ।

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३६७.

वल्लभाचार्य और उनका संप्रदाय

विक्रम की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक वैष्णव-भक्ति का आन्दोलन व्याप्त हुआ था, जिसके प्रमुख प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य थे। उनका जन्म संवत् १५३५ (सन् १४७८ ई०) में हुआ। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट थे, जो भारद्वाज गोत्र के तैलंग ब्राह्मण थे और आंध्र राज्य में गोदावरी तटवर्ती कांकरवाड़ नामक स्थान में निवास करते थे। उनका परिवार `वेलनाट' अथवा `वल्लनाडु' नाम से प्रसिद्ध है। उनकी माता इल्लम्मागारु थीं। काशी में उनका लालन-पालन हुआ। वे बचपन से ही बड़े होशियार और प्रतिभावान् थे। विद्याध्ययन में विशेष दिलचस्पी दिखाने के कारण ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही आपने वेद, वेदांत, दर्शन और पुराणों के अध्ययन में विशेष योग्यता प्राप्त की। इस प्रकार अल्पायु में इतनी योग्यता प्राप्त करने के कारण वे शास्त्राचार्यों और पंडितों की मण्डली में भाग लेने लगे। काशी में होने वाले पंडितों की परिषद् में उनके तेज और गुण अत्यंत प्रभाव होने लगा। संवत् १५४५ में उनका अध्ययन समाप्त हो गया और उन्होंने भक्ति का मार्ग स्वीकार किया। वे शुद्धाद्वैती भक्ति-मार्ग का प्रचार समस्त भारत में करने के बाद, भारत भर की तीन बार यात्रा की। उन तीनों यात्राओं में वल्लभाचार्य ने अपने धर्म का प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने अपने धर्म-प्रचार के लिए अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की और `वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार उन्होंने कुल मिलाकर ३५ ग्रंथों का निर्माण किया। इनके बारे में मतभेद है। पं० पुरुषोत्तम पुरोहित ने आचार्यजी के अधिकाधिक ग्रंथों का नामोल्लेख करने का प्रयास करते हुए ७१ ग्रंथों की सूची प्रकाशित की है।[१] इन्होंने अधिकांश रचनाएं यात्रा के समय रचीं। उस समय माधव भट्ट नामक एक काश्मीरी पंडित उनके लिपिक का कार्य करते थे। अवकाश के समय में आचार्य जी अपने ग्रंथों को बोलकर लिखाते थे और माधव भट्ट लिखते थे। संयोगवश माधव भट्ट का असामयिक देहावसान हो गया। उस समय आचार्यजी भगवान की `सुबोधिनी' टीका की रचना कर रहे थे। माधव भट्ट के निधन का समाचार सुनकर आचार्यजी ने

---

१. श्री महाप्रभुजी के ग्रन्थ (श्री वल्लभविज्ञान, वर्ष ६, अंक १)।

कहा था — सुबोधिनी अधूरी रह गयी । भगवद् इच्छा इतनी की ही थी ।'[१] यद्यपि विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है, तो भी उनके छोटे-बड़े ३१ ग्रंथ माने जाते हैं, जिनका नाम इसप्रकार है — (१) ब्रह्मसूत्र का `अणुभाष्य' और `बृहद्भाष्य', (२) भागवत की `सुबोधिनी' टीका, (३) भागवत तत्वदीप निबंध, (४) पूर्व मीमांसा भाष्य, (५) गायत्री भाष्य, (६) पत्रावलंबन, (७) पुरुषोत्तम सहस्रनाम, (८) दशमस्कन्ध अनुक्रमणिका, (९) त्रिविध नामावली, (१०) शिक्षा श्लोक, (११-२६) षोडश ग्रंथ, [१. यमुनाष्टक, २. बालबोध, ३. सिद्धांत मुक्तावली, ४. पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद, ५. सिद्धांतरहस्य, ६. नवरत्न, ७. अंत:करण प्रबोध, ८. विवेकधैर्याश्रम, ९. कृष्णाश्रय, १०. चतु:श्लोकी, ११. भक्तिवर्धिनी, १२. जलभेद, १३. पंचपद्य, १४. संन्यास निर्णय, १५. निरोध लक्षण, १६. सेवाफल] (२७) भगवत्पीठिका, (२८) न्यायादेश, (२९) सेवाफल विवरण, (३०) प्रेमामृत तथा (३१) विविध अष्टक — १. मधुराष्टक, २. परिवृढ़ाष्टक, ३. नन्दकुमाराष्टक, ४. श्रीकृष्णाष्टक, ५. गोपीजनवल्लभाष्टक आदि ।

श्री वल्लभाचार्य ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में जिस भक्ति-मार्ग का प्रचार किया, वह `पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध है । इसे वल्लभाचार्य के नाम पर `वल्लभसंप्रदाय' भी कहा जाता है । भगवान् के अनुग्रह को `पोषण' या `पुष्टि' कहते हैं ।[२] जीव को मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय पुष्टि या भगवान् का अनुग्रह है । वल्लभसंप्रदाय में भगवान् के अनुग्रह (पोषण) को अधिक महत्व देने के कारण ही इसे `पुष्टिमार्ग' कहते हैं । अणुभाष्य में भी लिखा है कि पुष्टिमार्ग केवल अनुग्रह से ही प्राप्त होता है ।[३] इसी प्रकार पुष्टिमार्ग के बारे में सिद्धांत-मुक्तावली में यों लिखा है — 'अनुग्रह: पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति ।'[४] वल्लभाचार्य ने `पुष्टिप्रवाह मर्यादा भेद' में पुष्टिमार्ग के बारे में लिखा है —

कश्चिदेव हि भक्तो हि `योमद्भक्त' इतीरणात ।
सर्वत्रोत्कर्ष कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चय: ।।[५]

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता में माधव भट्ट की वार्ता, प्रसंग ४.
२. पोषणं तदनुग्रह: — भागवत २।१०.
३. पुष्टिमार्गो ह्यनुग्रहैकसाध्य: - अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९.
४. सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक १८.
५. षोडशग्रन्थ - पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद, पृ० २-४.

इसी प्रकार अणुभाष्य में –

> कृतिं साध्यं साधनं ज्ञानभक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते ।
> ताभ्यां विहिताभ्यां ।
> मुक्तिमर्यादा । तद्रहितानामपिस्व स्वरूप बलेन स्वप्रापणं
> पुष्टिरित्युच्यते ।।

[शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है और वहिहित साधन से भक्ति मिलती है । इन साधनों से प्राप्त की हुई मुक्ति का नाम 'मर्यादा' है । ये साधन सर्वसाध्य नहीं । अत: अपनी ही शक्ति से (स्व-स्वरूप बेलात्) प्रभु जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है ।][1]

वल्लभाचार्य के द्वारा बताये गये भक्ति-साधना-मार्ग अथवा मोक्ष-प्राप्ति के साधन तीन हैं – आधिभौतिक (कर्ममार्ग), आध्यात्मिक (ज्ञानमार्ग), परम-मार्ग (भक्तिमार्ग) । इसके साथ ही उन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति चार प्रकार की मानी है[2] – १. प्रवाह पुष्टि भक्ति, २. मर्यादा पुष्टि भक्ति, ३. पुष्टि पुष्टि भक्ति और ४. शुद्ध पुष्टि भक्ति । प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्तजन भगवान् के प्रति जो भक्ति करते हैं वह संसार में रहते हुए करते हैं; जो संसार के समस्त सुखों से विरत होकर कीर्तनादि के द्वारा भगवान् की भक्ति करते हैं उसे मार्यादा पुष्टि कहते हैं; पुष्टि भक्ति के अनुसार भक्त भक्ति-साधना में लीन रहता है और भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करता है । शुद्ध पुष्टि भक्ति के

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५१२.

२. This Pustibhakti is of four kinds (1) Parvaha Pustibhakti, (2) Maryada Pustibhakti (3) Pusti Pustibhakti (4) Suddha Pustibhakti. The first is the path of those who, while engaged in a worldly life with its me and mine, which is compared to a stream (Pravaha), do acts calculated to bring about the attainment of God. The second is of those who, with drawing their minds from worldly enjoyment, devote themselves to God by hearing discourses about him, singing his name, and such other processes. The third is of those who already enjoy God's grace are made by another grace competent to acquire knowledge useful for adoration and thus came to know all about the ways of God. The fourth is of those who through mere love devote themselves to the singing and praising of God as if it were a haunting passion.

– Collected works of Sir R.G. Bhandarkar. Vol IV p.113.

अनुसार भक्त भगवान् की लीलाओं से अपना मानसिक तादात्म्य स्थापित कर लेता है। भक्त पूर्ण रूप से भगवान पर आश्रित हो जाता है। यह पुष्टि भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। वल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी ने `पुष्टिमार्ग लक्षणानि` में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है – जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्री कृष्ण की स्वरूप-प्राप्ति में साधन है, अथवा जहां जो फल है वही साधन है, उसे `पुष्टिमार्ग` कहते हैं। जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहां देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह की अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग के सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह `पुष्टिमार्ग` कहलाता है।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि पुष्टि मार्ग में आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय - उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते हैं, तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के संपादन द्वारा की गयी है। यह तभी हो सकता है, जबकि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इसी `समर्पण` से इस मार्ग का आरंभ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अंत। बीच का मार्ग `सेवा` द्वारा प्राप्त होता है, जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है।[२]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ३८५.

२. सूरदास पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०१-१०२.

श्री वल्लभाचार्य ने भक्त को भगवान् की सेवा दो प्रकार से करने का आदेश दिया है। इनमें पहला क्रियात्मक-सेवा और दूसरा भावात्मक-सेवा। क्रियात्मक सेवा दो प्रकार की है — तनुजा और वित्तजा। भावात्मक सेवा का एक भेद है `मानसी`। `तनुजा सेवा` उसे कहते हैं जो अपने आप तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि द्वारा की गयी शारीरिक सेवा है। अपने धन-संपत्ति एवं उनसे संबंधित समस्त साधनों से की गयी सेवा को `वित्तजा` सेवा कहते हैं। लेकिन मानसी-सेवा भगवान् को अपने चित्त में स्मरण करने से ही की जाती है। मानसी सेवा का बहुत बड़ा महत्व माना गया है। इस पुष्टिमार्गीय सेवा के दो प्रकार हैं — पहला नित्योत्सव सेवा - जो प्रातःकाल से सायंकालपर्यंत की जाती है। दूसरा वर्षोत्सव सेवा है जो बारह महीनों और छहों ऋतुओं में की जाती है।

पुष्टिमार्गीय सेवा के उपर्युक्त दोनों सेवा-विधानों के तीन प्रमुख अंग हैं — शृंगार, भोग और राग। इन तीनों से बचना जीव के लिए बड़ा कठिन है। इनसे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय भगवत्सेवा है। श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के आधार पर इन धर्मों का स्पष्टीकरण किया है।[१] वल्लभाचार्य का मन्तव्य है कि भक्त को सदैव भगवान् श्रीकृष्ण को अपना रक्षक समझना चाहिए और उसी पर अपना विश्वास रखना चाहिए। भक्त में फल-प्राप्ति की इच्छा नहीं होनी चाहिए। उसे सदा यह विचार रखना है कि वह भगवान् का सेवक है। इसका उल्लेख गीता में भी किया गया है।[२] जिस प्रकार गीता में `सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज` कहा गया है[३], उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने अपने संप्रदाय में कहा है कि श्रीकृष्ण की शरण में गये बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।[४] `श्रीकृष्णः शरणं मम` मंत्र

---

१. कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।। (भागवत १०-२९-१५)

२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगो स्त्वकर्मणि ।। (श्रीमद्भगवद्गीता अ० २)

३. श्रीमद्भगवद्गीता - अ० १८.

४. तस्मात् सर्वात्मना नित्यम् श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः। (नवरत्न, श्लोक ६)।

वल्लभसंप्रदाय का मंत्र है ।

वल्लभ संप्रदाय के अनुसार भक्त पुष्टिमार्गीय भक्ति करने का अधिकारी तभी हो जाता है जब वह वल्लभसंप्रदाय में मंत्र-दीक्षा लेकर कृष्ण-सेवा करने लगता है । इस संप्रदाय की भक्ति में आदि से अंत तक प्रेम की प्रधानता है । अतः भक्ति का मार्ग शुद्ध प्रेम द्वारा की गयी सेवा का मार्ग है । आचार्यजी के अनुसार विशुद्ध प्रेम ही `शुद्ध पुष्टि` है, जिसका प्रतीक हैं गोपियां । अतः उन्होंने इन गोपियों की प्रेमात्मक साधना को ही पुष्टि-भक्ति के प्रमुख साधन के रूप में माना है ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में वैराग्य एवं संन्यास का भी विशेष स्थान है, जिसका उल्लेख आचार्यजी ने `भक्तिवर्धिनी` और `संन्यास-निर्णय` में किया है । `भक्ति वर्धिनी` में कहा गया है कि भक्ति का अधिकारी व्यक्ति घर में रहकर वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का पालन करे और मुख्य रूप से भगवान् की तनुजा-वित्तजा सेवा करता रहे । इससे उसका मन लौकिक विषयों से हट जायेगा और प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन की भक्ति-भावना दृढ़ हो जायगी । इस प्रकार का अभ्यास करने से जब वह प्रेमलक्षणा भक्ति की उच्च अवस्था को [illegible] पहुंच जाय, तब वह चाहे तो घर को छोड़कर संन्यास भी ले सकता है; किन्तु फिर भी उसे निष्क्रिय न होकर सत्संग और प्रभु-सेवा में लगा रहना चाहिए ।[१] इसी प्रकार `संन्यास-निर्णय` में यों कहा गया है — `संन्यास का अर्थ है सर्वस्व त्याग, किन्तु देहधारी जीव के लिए यह संभव नहीं है । यदि पुत्र-कलत्रादि का गृह-बन्धन प्रभु के प्रेम की प्राप्ति में बाधक होता हो तो संन्यास लिया जा सकता है; किन्तु उसमें दंड-कमंडलु धारण करने जैसे बाह्य वेश को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । भक्तिमार्गीय संन्यास-साधन संन्यास नहीं है, वरन् फलात्मक संन्यास है, अर्थात् अतिशय विरक्ति होने पर उसे उन समस्त फलों की आकांक्षा को भी त्याग देना चाहिए, जो उच्चकोटि के भक्त को प्रभु की कृपा से प्राप्त हो सकते हैं । भक्तिमार्गीय संन्यासी सब

---

१. व्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास : प्रभुदयाल मीतल, पृ० २३१.

और से मन हटा कर प्रभु के विरहानंद में लीन हो जाता है ।[१] वल्लभाचार्यजी अपने जीवन के अंतिम समय में स्वयं साधु हो गये थे ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का दूसरा पक्ष है, सिद्धांत या दार्शनिक पक्ष, जिसमें ब्रह्म, जीव, जगत्, संसार, मोक्ष आदि का विवेचन होता है । वल्लभ-मतानुसार उसे शुद्धाद्वैत सिद्धांत कहा गया है । `शुद्धाद्वैत मार्तण्ड` में `शुद्ध` का अर्थ `माया-संबंधरहित` किया गया है । वल्लभाचार्य ने शंकर के `अद्वैत` से भिन्नता दिखाने के लिए ही `अद्वैत` के साथ शुद्ध शब्द जोड़ दिया । शंकर ने अद्वैत में माया-शबलित-ब्रह्म को जगत का कारण माना है । पर वल्लभ ने माया से अलिप्त नितांत शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है ।[२]

श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त का सार आधे श्लोक में ही बतलाते हुए कहा गया है — "ब्रह्म सत्यं जगत सत्यं, अंशो जीवो हि नापर: ।" अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है और जीव भगवान् का अंश है, वह परब्रह्म नहीं है । वल्लभ-सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म सत,चित् और आनन्द स्वरूप है । वह सर्वशक्तिमान, व्यापक, स्वतंत्र, सर्वज्ञ और सर्वगुणसम्पन्न है । शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म के तीन भेद हैं — (१) आधिदैविक ब्रह्म — पुरुषोत्तम, (२) आध्यात्मिक ब्रह्म — अक्षरब्रह्म, (३) आधिभौतिक ब्रह्म — जगत् रूपी परब्रह्म ।

लीलानायक भगवान स्वयं जगत् के रूप में फैला हुआ है । इससे जगत् सत्य है । ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य । जब कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य है । आचार्यजी ने जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध एक लपेटे गये वस्त्र से दिखाया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म का आविर्भाव जगत् के रूप में होता है और तिरोभाव की अवस्था में केवल ब्रह्म ही रह जाता है ।

जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जीव और जगत् भी सत्य है । जीव और ब्रह्म में अभेदत्व है । जिस प्रकार ब्रह्म स्वयं सत्य है, उसी प्रकार जीव भी सत्य है । इनमें अन्तर भी है । ब्रह्म अंशी है और जीव केवल उसका अंश है ।

---

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास : प्रभुदयाल मीतल, पृ० २३९.
२. माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै: ।
   कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।। (शुद्धाद्वैत मार्तण्ड - २८) ।

वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव तीन प्रकार के हैं— शुद्ध, संसारी और मुक्त । इन तीनों अवस्थाओं में जीव भगवद् भजन करने का अधिकारी है । शुद्धावस्था में जीवों में आनन्दात्मक ऐश्वर्यादि भागवत धर्मों की स्थिति रहती है । इससे जीव ब्रह्म रूप होता है । संसारी अवस्था में भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है और उस समय उनमें तिरोहित आनन्द के अंशों का प्रादुर्भाव हो जाता है । और मुक्तावस्था में जीव भगवद् अनुग्रह से भगवान् की शरण में आता है और माया के भ्रम-जाल से उसकी मुक्ति हो जाती है ।

वल्लभ के मतानुसार जगत् नित्य और सत्य है । वह परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है । वल्लभ [illegible] जगत् और संसार को भिन्न मानते हैं । जगत् ब्रह्मरूप होने से सत्य है, पर संसार मायाग्रस्त होने के कारण असत्य है । सृष्टि का अनादि प्रवाह `जगत्` है, जो नित्य पदार्थ है । मायाग्रस्त संसार का नाश ज्ञान के उदय होने पर संभव है । इस प्रकार श्री वल्लभाचार्यजी के सिद्धान्तानुसार माया का कोई अस्तित्व नहीं और वह ब्रह्माधिकार में रहती है । अतः उनके मतानुसार निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग श्रेष्ठ है ।

श्री वल्लभाचार्य के देहावसान के बाद उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथजी उनकी गद्दी पर बैठे और संप्रदाय के प्रचार के लिए अनेक प्रयत्न किये । श्री विट्ठलनाथ जी ने पुष्टिमार्गीय संप्रदाय को और भी पुष्ट करने के लिए सं० १६०२ में अपने पिता श्री वल्लभाचार्यजी के चार शिष्यों — कुम्भनदास, सूरदास, कृष्णदास और परमानन्ददास — और अपने चार शिष्यों — गोविन्ददास, नन्ददास, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास — को लेकर अष्टछाप की स्थापना की । ये आठ शिष्य पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के आधार स्तंभ हैं । इन आठों शिष्यों में सूरदासजी का स्थान ही सर्व श्रेष्ठ और वरिष्ठ है, जो पुष्टिमार्ग के जहाज हैं । उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित पुष्टिमार्गीय संप्रदाय को अपने साहित्य का आधार बनाया । इस प्रकार वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गीय संप्रदाय हिन्दी-प्रदेश में फैल गया और ब्रज-प्रदेश में इसका अधिक प्रचार हुआ ।

चैतन्य संप्रदाय

महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित वल्लभसंप्रदाय के पश्चात् ब्रज के

कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में चैतन्य संप्रदाय अधिक महत्वपूर्ण है। चैतन्यदेव की प्रेरणा ने समस्त उत्तरभारत को, खासकर गौड़ अर्थात् प्राचीन बंगाल को, भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया। महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रचारित यह संप्रदाय 'चैतन्य संप्रदाय' या 'चैतन्य मत' के नाम पर जाना जाता है। उनका जन्मस्थान गौड़प्रदेश होने और वहाँ इसका प्रसार होने के कारण इसे 'गौड़ीय संप्रदाय' भी कहा जाता है। श्री माध्वाचार्य द्वारा संस्थापित 'ब्रह्म संप्रदाय' अथवा 'माध्व संप्रदाय' की परंपरा में विकसित यह संप्रदाय 'माध्व गौडेश्वर संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

महाप्रभु चैतन्य का जन्म बंगाल के नदिया (शांतिपुर) नामक स्थान में सन् १४८५ ई० में हुआ। बचपन में इनका नाम विश्वंभर अथवा निमाई था। वे गौर वर्ण के थे, अत: इनका नाम गौरांग भी पड़ा। बड़े होने पर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और उनका नाम 'कृष्ण चैतन्य' हुआ और बाद में 'महाप्रभु चैतन्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

श्री महाप्रभु चैतन्य बड़े मेधावी और प्रतिभाशाली थे। यद्यपि १८ वर्ष की उम्र में वे शादी करके गृहस्थ जीवन बिताने लगे, तो भी इस समय उनका मुख्य कार्य गंभीर और गहन अध्ययन और अध्यापन था। उन्होंने तर्कशास्त्र में निपुणता प्राप्त की। छोटी अवस्था में ही उन्होंने एक पाठशाला स्थापित कर अनेक छात्रों को विद्या प्रदान की। वे शास्त्रों में इतने निपुण और पटु थे कि दूर-दूर के ब्राह्मण उनकी पाठशाला में आकर पढ़ने लगे। एक बार सं० १५६२ में जब चैतन्य प्रभु अपने स्वर्गीय पिता के श्राद्ध और पिण्डदान के लिए गया धाम गये तब वहाँ उन्होंने श्री माधवेन्द्र पुरी के शिष्य श्री ईश्वर पुरी से भेंट की। कहा जाता है कि चैतन्यदेव ईश्वरपुरी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और वहीं संन्यास लेने का संकल्प लेकर, लौटने पर घर-बार त्याग किया। इनमें बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। इनके विचार बदल गए। उन्होंने कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण और कीर्तन को एकमात्र साधन बतलाकर इन्होंने वर्ण-व्यवस्था को व्यर्थ बतलाया। इस नवीन विचारधारा के समर्थक और सहयोगी इनके शिष्य नित्यानन्द थे, जिन्हें वे भाई के समान मानते थे। ये पहले घर में कीर्तन-भजन

करते थे और प्रेम में मस्त होकर नाच करते थे। इनकी आँखों से प्रेमाश्रु की अविरल धारा बहा करती थी।[१]

चैतन्यदेव ने संवत् १५६६ में संन्यास की दीक्षा ली। संन्यासी होने पर वे सर्वप्रथम जगन्नाथपुरी गये और वहाँ उन्होंने सुविख्यात न्यायशास्त्री वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य को अपनी निपुणता दिखायी। इसके बाद ८ वर्ष तक लगातार तीर्थ यात्रा की। वे दक्षिण भारत में, विशेषकर तमिल प्रदेश के वैष्णव क्षेत्रों में, भी गये।[२] उन्होंने अपनी यात्रा में भक्तकवि आलवारों की विशिष्ट रचनाओं का परिचय प्राप्त किया। श्री टी. एन. गांगुली ने लिखा है कि चैतन्य नम्मालवार के जन्म-स्थान 'आलवार तिरुनगरी' में जाकर उनके पाद-संग्रहों की हस्तलिखित प्रतियां अपने साथ ले आये।[३] उनकी यह यात्रा संवत् १५७१ तक हुई थी।

श्री चैतन्यदेव ने संवत् १५७३ में व्रज की ओर प्रस्थान किया। उस समय वहाँ दिल्ली के सुल्तान सिकंदर लोदी के मजहबी अत्याचारों के कारण जनता भय और आतंक से त्रस्त थी; किन्तु उन्हें कोई भय नहीं हुआ। उन्होंने मथुरा के विश्रामघाट में स्नान किया और निर्भयतापूर्वक भगवान् का दर्शन किया। भगवान् की दर्शन-वेला में उन्होंने हरिनाम-कीर्तन का आलाप करते हुए नृत्य किया। कृष्णदास कविराज ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है —

मथुरा आसिया कैल विश्रान्त तीर्थ स्नान।
जन्म स्थाने केशव देखि, करिला प्रणाम।
प्रेमानन्द नाचे गाये, सघन हुंकार।
प्रभु प्रेमावेश देखि लोके चमत्कार।[४]

---

१. वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, डा० म. मुहम्मद, पृ० ३७३.

२. "He visited all the Shrines of Tamil country and also Canjeepuram, SriRangam, Madurai, Siyali, Kumbakonam and Tanjore". - Sri Chaitanya Mahaprabhu, Tritavada Bhikshu, Bhakti Pradipa Tirtha p.79.

३. द लाइफ आव् श्री गौरांग : श्री टी. एन. गांगुली, पृ० ४५ (भगवद्विषयम्, पृ० ४१ से उद्धृत)।

४. श्री चैतन्यचरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १७, पयार १५७-१५८.

भक्ति काव्य को उनकी देन महान थी । रसखान की रचनाओं की सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से तुलना बहुत थोड़े भक्त-कवियों से की जा सकती है ।

रहीम और उनकी रचनाएं

मुगल बादशाह अकबर के दरबार के श्रेष्ठ कवियों में अब्दुर्रहीम खानखाना का महत्वपूर्ण स्थान है । इनकी रचनाओं के बारे में विभिन्न मत हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने रहीम के दस ग्रंथों की ओर संकेत किया है ।[१] ये ग्रंथ हैं — रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रास पंचाध्यायी, नगरशोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये, रहीम काव्य और खेटकौतुकम् । डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार रहीम दोहावली, बरवै नायिका, मदनाष्टक, रास पंचाध्यायी और शृंगार सोरठ प्रसिद्ध हैं ।[२]

रहीम के पदों में संगीतात्मकता है और काव्यात्मकता भी । इनके पदों में भाव और भाषा दोनों सुन्दर हैं ।

राम-भक्ति-काव्य-धारा

मर्यादोपासना शाखा के प्रमुख कवि

राम-भक्ति काव्य-धारा के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि-कुलचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के लिए महती देन है । उन्होंने रामानन्द द्वारा संचालित वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन को हिन्दी प्रदेश में सर्वाधिक लोकप्रिय बनाया ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मुख्य रूप से बारह ग्रंथों की रचना की है । इनमें रामचरितमानस, विनयपत्रिका, दोहावली, कवितावली तथा गीतावली बड़े

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास आ० रामचन्द्र शुक्लजी, पृ० २१०.
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (चतुर्थ संस्करण) : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६००.

ग्रंथ हैं और रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपनी, श्रीकृष्णगीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे ग्रंथ हैं। तुलसीदासजी के इन बारह ग्रंथों में रामचरितमानस कितनी सर्वप्रिय है, यह सभी जानते हैं। मानस के विविध प्रकार के संस्करण निकले हैं। उसी प्रकार उनके किसी अन्य ग्रंथ के संस्करण नहीं निकले हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि `मानस` गोस्वामीजी की सबसे बड़ी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है।

मानस वास्तव में राम का उत्कृष्ट चरित-गान है। यह मानव-जीवन का महाकाव्य है। इस उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना करके उन्होंने जन-समाज में राम-राज्य का महान सन्देश पहुँचाया है।

तुलसीदासजी ने मानस में शांत रस को सर्वाधिक प्रमुखता दी है, लेकिन शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र आदि रसों का कहीं-कहीं उल्लेख है। इसकी भाषा अवधी है। इसमें दोहा, चौपाई आदि विविध छन्दों का सुन्दर समन्वय है।

रामचरितमानस गोस्वामीजी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है और इसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में इस ग्रंथ का प्रचार है। इसके द्वारा भारतीय समाज के आदर्श की अब तक रक्षा हुई है। साथ ही साथ प्रेम और त्याग द्वारा समाज-संगठन का उपदेश मिला है। यह अपूर्व ग्रंथ है। विश्व-साहित्य में इसकी समता करने वाले ग्रंथ दुर्लभ हैं।[१]

मानस के अतिरिक्त उनके अन्य काव्य-ग्रंथ भी प्रमुख हैं। परन्तु उसकी जैसी कीर्ति अन्य रचनाओं को नहीं मिली। कुछ विद्वान् तो ऊपर कथित बारह ग्रंथों के अतिरिक्त उनके लिखे कई अन्य ग्रंथों का भी उल्लेख करते हैं। वैष्णव भक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो मानस और विनयपत्रिका बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी लोकनायक, समाज-सुधारक, भक्त-कवि आदि कई नामों के अधिकारी हैं और उनका महान् ग्रंथ `मानस` हिन्दी की ही नहीं, समस्त भारत की अमूल्य निधि है।

---

१. तुलसी रसायन : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ८४.

मर्यादोपासना की शाखा में महाकवि तुलसीदास के अतिरिक्त कृष्णराम, ईश्वरराम, गोस्वामी विष्णुदास आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं ।

रसिकोपासना शाखा के प्रमुख कवि

रामभक्ति काव्यधारा में रसिकोपासना का स्थान उच्चकोटि का है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति अपनी कृतियों में की, वह ऐश्वर्य प्रधान है । उनके राम लोकमर्यादा के रक्षक, लोक-विरोधी तत्वों के उन्मूलक और लोक-धर्म के संस्थापक हैं । किंतु, तुलसी की समकालीन राम-काव्यधारा में रामोपासना के एक दूसरे पक्ष के अस्तित्व के भी चिह्न मिलते हैं, जिसके दर्शन स्वयं तुलसीमें भी यत्र-तत्र हो जाते हैं । वह है रामावत संप्रदाय में माधुर्य-भक्ति का उत्कर्ष । रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक संप्रदाय विशेष तक सीमित था । सिद्धांतों की गोपनीयता के कारण उनका उपदेश केवल अन्तरंग और दीक्षित साधकों को ही दिया जाता था । अतएव उनका सारा साहित्य आचार्य पीठों के बस्तों में बंधा अप्रकाशित और अविवेचित ही पड़ा रहा है । उधर तुलसी-साहित्य के प्रचार से रामचरित के ऐश्वर्यप्रधान अथवा शुक्लजी के शब्दों में 'शील, शक्ति, सौन्दर्य' समन्वित रूप की प्रतिष्ठा लोक-व्यापक हो गई । उसके आधार पर जन-साधारण क्या, साहित्य की गतिविधि से परिचित विद्वानों तक भी यह धारणा बन गयी कि राम-काव्य का परंपरागत स्रोत एकमात्र मर्यादाबद्ध अथवा ऐश्वर्यपरक भक्ति को ही लेकर चला । माधुर्य विषयक जो रचनाएं उसमें यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं, वे अत्यंत अर्वाचीन, अश्लील और साहित्य के लिए अशोभन हैं । परन्तु अनुसंधान स्थिति का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करता है । इधर इस माधुर्यधारा का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है, उससे विदित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास की पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती रामोपासना इसी से ओतप्रोत थी । वास्तव में इस पद्धति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी समकालीन भक्ति-क्षेत्र में प्रस्तुत श्रृंगारी राम-भक्ति के एक अपवाद-से प्रतीत होते हैं । यह दूसरी बात है कि इस संप्रदाय में इतनी प्रखर प्रतिभा का कोई दूसरा कवि अवतरित नहीं हुआ जो सूर और मीरा की तरह जनसामान्य को भी इस दिव्य रस का आस्वादन करा सकता ।

परिमाण की दृष्टि से सम्पूर्ण राम-भक्ति साहित्य का दो-तिहाई से अधिक भाग रसिक भक्तों द्वारा ही विरचित मिलता है और प्राचीनता की दृष्टि से सांप्रदायिक विश्वासों के अनुसार यह कम से कम उतना पुराना है, जितना तुलसी की ऐश्वर्य प्रधान भक्ति-पद्धति । इसके विकास-सूत्रों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल विशेष के किन्हीं कारणों से इसका प्रवाह क्षीण भले ही हो गया हो, किन्तु स्रोत कभी सूखता दिखाई नहीं दिया ।[१]

अग्रदास

ये रसिक संप्रदाय के आचार्य हैं । उनकी चार रचनाओं की सूचना मिलती है — हितोपदेश उपखाणा बावनी, ध्यान मंजरी, राम ध्यान मंजरी, और कुंडलिया । इनमें ध्यान मंजरी और कुण्डलिया प्रधान हैं । इनमें ध्यानमंजरी ही सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है । अग्रदासजी की ये रचनाएं राम-भक्ति में रसिकधारा की उद्गम हैं और उन्हीं से निसृत होकर यह धारा आगे फली-फूली ।

राम-भक्ति में रसिक संप्रदाय के अन्य कवि हैं नाभादास, बालकृष्ण `बालअली`, कृपाल तथा रामप्रियशरण `प्रेमकली` । उनके आविर्भाव से हिन्दी साहित्य की रसिक परंपरा का विकास हुआ ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में उपर्युक्त विभिन्न शाखाओं के कवियों के आविर्भाव और उनकी रचनाओं से भक्ति आन्दोलन का विकास हुआ और जन-साधारण की उन्नति हुई ।

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में विभिन्न धाराओं के भक्त-कवियों का प्रादुर्भाव सामान्यत: एक ही काल में हुआ । कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी देश के कोने-कोने में फैली और उनकी यह दिव्य वाणी जिस युग में फैली उस युग को भक्ति-युग कह सकते हैं । इन महात्माओं के आविर्भाव से मध्ययुग की सामाजिक और अन्य सभी दशाएं

---

१. राम भक्ति में रसिक संप्रदाय डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ६६-६७.

अत्यंत उन्नति पर थीं और इसीलिए साहित्यकार इस युग को स्वर्ण युग के नाम से पुकारते हैं। मध्ययुग के समान किसी भी अन्य युग में इतनी प्रचुर मात्रा में साहित्यिक विभूतियां नहीं हुईं। साहित्यकार और दार्शनिक संत मानव-जीवन स्तर को उन्नत करने में दत्तचित थे। इसके लिए उन्होंने जो रास्ता स्वीकार किया, वह अलग-अलग था; पर उन सब का लक्ष्य एक ही था।

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उस युग का प्रमुख साहित्यकार चारण कवियों की भाँति राजाश्रित नहीं था। राजाओं को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने कविताएं नहीं रचीं। वे स्वतंत्र चिंतक थे, उन्होंने उस समय के संघर्ष को देखा था और जीवन से संघर्ष कर नयी राह खोलने की रीति वे जानते थे। उन्होंने जिस युग में अपना जीवन बिताया उसको एक नये तौर पर उन्नत करने का सुख-स्वप्न उनकी आँखों में था और यही उनका एकमात्र लक्ष्य था।

इसी समय भारत में कई दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ। उन्होंने एक ही विचारधारा को अपने भाग्य के अनुरूप न बनाकर तत्कालीन युग और परिस्थिति के अनुरूप अपने विचारों में निरंतर परिवर्तन करने का क्रम जारी रखा। दार्शनिकों का चिन्तन इस युग की महत्वपूर्ण देन थी। बौद्ध और जैन धर्म जनता से दूर हट गये और शंकराचार्य का नया सिद्धांत भारत में फैला। उनका मार्ग मायावाद नाम से जाना जाता है। भारत के सभी कोनों में 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' वाला सिद्धांत व्याप्त था। फिर भी देश के प्रत्येक कोने में नये रूप में नयी चेतना जागी। जन-जीवन में पुन: भगवान् अवतरित हुआ। संतों और सिद्धों द्वारा प्रसारित और प्रवर्तित भक्ति-परंपरा को कुछ महान व्यक्तियों ने आगे बढ़ाया। संतों में कबीर मुख्य हैं, जो हिन्दी काव्य-जगत के आदि संदेशवाहक हुए। रामानुजाचार्य ने राम और कृष्ण को लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित किया। भगवान् राम और कृष्ण भक्तों के रक्षक और अपने लिए करुणासागर हैं। वल्लभाचार्य और चैतन्य ने अपने संप्रदायों के द्वारा नया जीवन फूंका। इसके अतिरिक्त सूफी फकीरों ने मानव-जीवन में भगवान के प्रति आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों में समानता थी।

उन्होंने जिस प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की, उसमें उस युग के जीवन-दर्शन, दार्शनिक विचारों का प्रभाव तथा आशा और नव-जीवन का सन्देश था ।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में जिन कवियों का प्रादुर्भाव हुआ, वे उस युग के संदेशवाहक थे । वे साधक, दार्शनिक और साहित्यकार थे । उन कवियों की गणना उच्चकोटि के साहित्यकारों में की जाती है और वे किसी न किसी संप्रदाय के प्रवर्तक थे । इनमें कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि कवि लोकप्रसिद्ध हैं । वे सब निर्गुण और सगुण उपासना पद्धति या सूफी प्रेम-पद्धति के अनुगामी थे । इस युग में जो चतुर्मुखी संत, सूफी, राम और कृष्ण काव्य धारा का विकास हुआ, उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया । भारत के इस युग को इतिहास का स्वर्णिम काल निस्संदेह कहा जा सकता है । यद्यपि इन चार संप्रदायों की दार्शनिक पृष्ठभूमि, चिन्तन पद्धति, सांप्रदायिक आचार, कर्मकांड आदि बातों में अन्तर है; तो भी इनमें विलक्षण साम्य दिखायी देता है । भक्ति संबंधी सभी बातों में अपने-अपने ढंग से सभी लोग विश्वास करते हैं । सभी भक्ति संप्रदायों में व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना, इष्टदेव के प्रति अनन्य भाव, उसके नाम और रूप के प्रति आत्मीय अनुराग, उसके प्रति किसी न किसी भाव के प्रेम का सम्बन्ध, गुरु के प्रति अनन्य आस्था आदि प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं ।

इस युग के कवियों के सांप्रदायिक सिद्धांतों में कहीं-कहीं खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । प्रत्येक संप्रदाय के कवि अपने सिद्धांत और मत को समाज के अनुकूल स्थापित करते हैं । इससे एक-दूसरे की भावना और विचारधारा समाज के लिए अनुपयुक्त ठहरती है । तर्क-वितर्क की यह भावना अधिक मात्रा में कबीर की उपासना-पद्धति में दिखाई देती है । कबीर समाज-सुधारक थे और उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के बाह्याडम्बरों और कट्टरपन का विरोध किया । उनमें समाजवादी विद्रोह की सक्रिय भावना थी । लोगों में व्याप्त सामाजिक और धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करके उनमें एकता का भाव जगाना ही उनका लक्ष्य था । तुलसीदास तो समन्वयवादी कवि थे । सूफी कवि भी महान् समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर आये थे । महाकवि सूरदास ने भगवान् कृष्ण के प्रति अनन्य

आस्था रखी और उसका महान् सन्देश लोगों में प्रचलित कर दिया । उन्होंने अपने सिद्धांत और मत को युग के अनुरूप समझकर उसे अपने ढंग से कह दिया ।

भक्ति काल के कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण, काव्यसौष्ठव, भाव-पक्ष और कला-पक्ष, संगीत, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, भिन्न-भिन्न काव्य रूपों, लोकमंगल, लोकरंजन, भाषा सभी दृष्टियों से उत्तम और लोकप्रिय हैं । उस युग के साहित्यिक ग्रंथों में सामाजिक नवनिर्माण की चेतना व्यापक रूप में दिखाई देती है और उनमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं । भक्ति काव्य विश्व व्यापक, सार्वत्रिक एवं शाश्वत है । इसमें भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता, आचार-विचार आदि का सुन्दर सामंजस्य होने से वे सब उच्चकोटि के काव्य-ग्रंथ हैं । उदाहरण के लिए तुलसीकृत रामायण का समस्त भारत में वही स्थान है जो यूरोप में बाइबिल का है । वह सामाजिक जीवन एवं संस्कृति की अनुपम, प्रामाणिक काव्य-रचना है ।

भक्तिकालीन काव्य-ग्रंथों के आधार पर तत्कालीन भाषा की विविध विधाओं का परिचय होता है । भाषा-सौन्दर्य, कलात्मक और भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से अवधी और ब्रजभाषा की रचनाएं अपनी मर्यादा के अनुरूप ही थीं । अवधी भाषा का विकास इतना था कि सूफी कवियों और तुलसीदास ने उसमें सुन्दर रचनाएं कीं । भाषा के अतिरिक्त परंपरा के अनुरूप उस युग में वीर-श्रृंगार की रचनाएं होती थीं । तत्कालीन सम्राट् और सामंतों के दरबार में जो राज्याश्रित कवि थे उन्होंने वीर-श्रृंगार की कविताएं रचीं । केशव, गंग आदि इस कोटि के कवि हैं । इससे रीति-शास्त्र के प्रणयन का आरंभ हुआ ।

सबसे बड़ी विशेषता इस युग की जो दिखाई पड़ती है वह यह है कि उस युग में अनेक संप्रदाय और विचार के कवि दिखाई पड़ते हैं । यद्यपि शुक्लजी ने निर्गुण-सगुण विभाग करके निर्गुण के ज्ञान तथा प्रेम मार्ग एवं सगुण के कृष्ण तथा रामभक्ति शाखा का विधान किया है, तो भी अनेक अन्य धाराएं भी उस समय प्रचलित थीं । भारतीय प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दू-प्रभाव के सगुण उपासना वाले और मुसलमानी प्रभाव के निर्गुण उपासना वाले, जो संत और सूफी कवि हैं, आएंगे । इन कवियों ने अनेक रचनाएं कीं, जिनमें भगवान् राम और कृष्ण का प्रधान स्थान है ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य का मध्ययुग स्वर्णयुग है । इस युग का साहित्य सभी दृष्टियों से अतुलनीय है । और इनमें विचारों की उच्चता, भावनाओं और अनुभूतियों की उत्कृष्टता, काव्य की सुन्दरता, शैलियों और भाषाओं की विविधता, कल्पना की मधुरता, भारतीय संस्कृति की भास्वरता आदि का सामंजस्य है । ऐसा प्रभावशाली साहित्य देश के लिए गौरव की बात है । इन काव्य-ग्रंथों में जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता थी, इसलिए यह सुवर्ण-काल सामाजिक उत्थान का भी सुवर्ण-काल है ।

भक्ति-कालीन कवियों का सामाजिक दृष्टिकोण

यद्यपि मध्ययुग में अनेक संप्रदायवाले भक्त-कवि हुए तो भी उनके सामाजिक दृष्टिकोण में कई समानताएं थीं । संत कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण में ध्वंसात्मकता अधिकता है और उनमें सृजनात्मकता बहुत कम है । उनका एकमात्र उद्देश्य सामाजिक स्तर को बढ़ाना ही था । उन्होंने केवल आंखों देखी बातों पर विश्वास किया । कागज़ पर लिखी हुई बातों पर उन्हें चिन्ता नहीं थी । उनके समय सारा संसार अव्यवस्थित था । जाति-पांति, छुआछूत, मूर्तिपूजा आदि कई दुराचार और अन्धविश्वास समाज में व्याप्त थे । उनके विरुद्ध कबीर ने कलम उठायी थी ।

कबीर के बाद जो भक्त कवि आये उनका भी लक्ष्य समाजसुधार था । जायसी ने प्रेमाख्यानक काव्य पद्मावत में प्रेम को केन्द्र-बिन्दु बनाकर उसका सृजन किया । वास्तव में वह एक प्रेमगाथा है, साथ ही सुना जीवन-गाथा है । इसके द्वारा उन्होंने यह दिखाया है कि पद्मावती के प्रति रत्नसेन का उत्कट प्रेम नागमती के दाम्पत्य प्रेम की अवहेलना कर देता है । इन पात्रों के जीवन के सहारे जायसी ने पारिवारिक जीवन की ओर दृष्टिपात किया है । इसके अलावा उन्होंने माता, सखी एवं परिणीता पत्नी आदि के समाजनिष्ठ प्रेम का उल्लेख भी पद्मावत में किया है ।

यद्यपि महाकवि सूरदास वात्सल्य पर अधिष्ठित कवि सार्वभौम हैं तो भी उन्होंने कृष्ण-चरित्र के माध्यम से पारिवारिक-सामाजि पक्ष की ओर दृष्टि

ढाली है । उन्होंने भारतीय समाज को बहुत बड़ा महत्व देने वाले सभी संस्कारों, पर्वों और उत्सवों का उल्लेख किया है । सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के आधार पर समाज का केन्द्रबिन्दु प्रेम है । यद्यपि नन्द और यशोदा सामाजिक मर्यादा के अनुसार कृष्ण के माता और पिता नहीं हैं, तो भी कृष्ण के प्रति उनमें वात्सल्य है । सामाजिक नियमों के अनुसार कृष्ण के माता और पिता देवकी और वसुदेव हैं । इसी प्रकार गोपियों का परिणय कृष्ण के साथ नहीं हुआ, पर उनमें प्रणय तत्व की प्रधानता है । तात्पर्य यह है कि सूर की रचनाओं में आये हुए समाज में प्रेम ही सत्य है ।

सूरदास ने अपनी इच्छा के अनुसार, अपने आदर्शों के आधार पर, समाज को मोड़ दिया । इसीलिए उसे वे `गोलोक` कहते हैं । इसमें सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द और माधुर्य की प्रधानता है ।

सूर का सामाजिक दृष्टिकोण अत्याचार और अव्यवस्थित शासन से ग्रसित समाज को आनन्द की अभिव्यक्ति में मग्न कर देने वाला था । इसके लिए उन्होंने प्रेम तत्व की प्रतिष्ठा समाज में ही की ।

तुलसीदासजी ने तो सूर के समान यद्यपि समाज को प्रेममय नहीं माना है, तो भी समाज को सत्य माना है । उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचना `मानस` में समाज के सभी पहलुओं की ओर दृष्टिपात किया है । तुलसी के सामने अनीति और अत्याचार से पूरित एक समाज था । द्रोही शासन व्यवस्था थी, उसको दूर करने के लिए उन्होंने रामराज्य का महान् सन्देश दिया । राम-परिवार की सामाजिक व्यवस्था के वर्णन के समय तुलसी ने उत्कृष्ट समाज का रूप अपने समक्ष रखा । इसके द्वारा दुख और दुर्भिक्ष से भरी हुई जनता के जीवन स्तर को उच्चता की ओर अग्रसर करा देना उनका लक्ष्य था । तुलसी के समान समाज के कल्याण के इच्छुक कवि एवं समाजशास्त्री विरले ही मिलेंगे ।

इसका यही तात्पर्य है कि तत्कालीन भक्त-कवियों का सामाजिक दृष्टिकोण तथा खण्डन-मंडन के आधार एक ही थे और उन्होंने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस समय की सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया ।

भक्तिकालीन हिन्दी कवियों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक विचारों पर आगे विस्तार से विचार किया जाएगा। यहाँ उनकी रूपरेखा खींचना ही पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी-भक्तिकालीन काव्यों में वर्णित सामाजिक परिस्थितियाँ

हिन्दी का भक्तिकालीन काव्य तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा रीति-रिवाज का वृहद् चित्रण उपस्थित करता है। कबीर आदि ज्ञानमार्गी शाखा के प्रवर्तक और प्रमुख कवि, तुलसीदास एवं रामभक्ति के उन्नायक, प्रेममार्गी सूफी कविवृन्द एवं कृष्ण-भक्ति-काव्य के कवियों ने अपनी काव्य-सरिता में सहृदय जनता को आप्लावित करते हुए जन-जीवन के अनेकों पहलुओं पर परिमार्जित रूप से प्रकाश डाला है। इसलिए बड़े सौभाग्य की बात है कि हिन्दी का मध्यकालीन काव्य तत्कालीन जनता के सर्वांगीण जीवन का समुचित परिचय दे सका। काव्यात्मक कल्पना के बीच में भी यथार्थता की ओर उनकी दृष्टि तीव्र थी और परीक्षण और निरीक्षण करके अपने काव्य-विषय को किसी प्रकार आघात पहुंचाये बिना उन कवि-सार्वभौमों ने सामाजिक परिस्थितियों का जीता-जागता चित्रण प्रस्तुत किया है।

भक्तिकालीन समाज

हिन्दी साहित्य के आलोचकों के मतानुसार भक्ति-काल का आरंभ चौदहवीं शताब्दी से माना जाता है। हमारे आलोच्य युग की सामाजिक परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन तत्कालीन कवियों के काव्य में प्राप्त है। भक्ति-काल की दो मुख्य शाखाएं हैं — निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति शाखा। निर्गुण-भक्ति शाखा को ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी तथा सगुण-भक्ति शाखा को राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति में विभक्त किया गया है। यहां हम कालक्रम के अनुसार भक्तिकालीन समाज का निरीक्षण करेंगे।

भारत में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्ति-शाखा के प्रमुख कवियों का आविर्भाव मुसलमानों के आगमन के बाद ही हुआ। १२०० ई० से १५०० ई० तक देश में दो संस्कृतियों का तीव्र संघर्ष था। इस संघर्ष ने देश की आन्तरिक दुर्बलता को उभारा, फलत: जो मुसलमान लोग धन लूटने के लिए भारत में आये थे उन्होंने अपनी प्रबल शक्ति से भारत में राज्य स्थापित कर लिया।

जन-समाज में सभी दृष्टियों से अव्यवस्था थी । सामाजिक स्थिति प्रतिदिन निचले स्तर की ओर जा रही थी । तत्कालीन समाज की शोचनीय स्थिति का उल्लेख उस समय के आचार्यों और कवियों ने किया है । अपने समय के समाज की दुरवस्था, राजनैतिक उथल-पुथल, धार्मिक अस्थिरता के बारे में महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने अपनी उत्कृष्ट रचना `कृष्णाश्रय` में उल्लेख किया है । "देश म्लेच्छों से आक्रांत है । यह म्लेच्छों से दबा हुआ है, देश पाप स्थान बन गया है । सत्पुरुषों को कष्ट दिया जाता है, सम्पूर्ण लोक उनके त्रास से त्रसित है । ऐसी स्थिति में भगवान् ही रक्षक है । गंगा आदि उत्तमोत्तम तीर्थ भी दुष्टों से आक्रांत हो रहे हैं, इसलिए आधिदैविक तीर्थों का महत्व भी तिरोहित हो गया है । ऐसे समय में केवल कृष्ण ही मेरी गति है ।...... अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक ऋचाएं तथा मंत्र नष्ट हो रहे हैं । ब्रह्मचर्यादि व्रत से लोग रहित हैं । उनका अर्थ और ज्ञान तिरोहित हो गया है । इस स्थिति में केवल भगवान् कृष्ण ही मेरी गति, मेरे एकमात्र रक्षक और सहायक हैं ।[१]

इस सम्बन्ध में हमारे प्रमुख हिन्दी आलोचकों ने भी अपने-अपने मत प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट प्रकट किये हैं । छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, कुल-अकुल, ब्राह्मण-अब्राह्मण की दूषित भावनाओं के कारण संपूर्ण भारतीय समाज की शक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी । आश्चर्य की बात तो यह है कि मानव-मानव के बीच जातिगत विभाजनों एवं वर्गीकरण के कारण अशांति के होते हुए भी उनका विरोध करना तो दूर रहा, भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रंथों के

---

१. "म्लेच्छाक्रान्तेषु, देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडा व्यग्रलोकेषु, कृष्णएव गतिर्मम ।
गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतोष्विह ।
तिरोहिताधि दैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।
+ + + +
अपरिज्ञान नष्टेषु, मंत्रेष्वव्रत योगिषु ।
तिरोहितार्थ वेदेषु कृष्ण एवं गतिर्मम ।"
- सूर-दर्शन : डा० कृष्णलाल `हंस`, पृ० ११६

आधार पर उन्हें आवश्यक एवं धर्म संगत बताकर पारस्परिक अनैक्य की भावनाओं को और भी दृढ़ किया जा रहा था। पाखंडी, पापी, स्वार्थी, आडम्बर-प्रिय और धूर्त साधु-संन्यासी चारों ओर घूम घूम कर गृहस्थों को उलटे-पलटे उपदेश देते थे और उन्हें उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे।[१] अकबर के समय से पूर्व भारतवर्ष की सामाजिक दशा संतोषजनक नहीं थी, परन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि हिन्दू समाज में व्याप्त यह असंतोष की भावना केवल विदेशी सत्ता की परवशता के कारण ही नहीं थी, अपितु उसके आन्तरिक संगठन में भी ऐसी कुरीतियां घर कर गयी थीं कि उसका सारा कलेवर ही जर्जर हो गया था। रोग शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी था; जिसका उपचार सर्वप्रथम अपेक्षणीय था। पारस्परिक वैमनस्य, सांप्रदायिक कट्टरता, जातिभेद और छुआछूत का भूत हिन्दू-जनता के सिर पर बुरी तरह खेल रहा था, जिसका सम्बन्ध मुसलमानी शासन सत्ता से औचित्य-अनौचित्य की ओर से आंखें मूंद कर ही जोड़ा जा सकता है।[२] हिन्दुओं के राजनीतिक पराभव का बहुत कुछ उत्तरदायित्व उनकी सामाजिक दुरवस्था पर है। कालान्तर से हिन्दू-समाज बहुजाति, बहुधर्म संप्रदाय और वर्णों के रूप में विशृंखल होता आया था। हिन्दू-सत्ता के विनाश, धर्म-मंदिरों के विध्वंस, तीर्थों की दुर्व्यवस्था और पतन, शासकों द्वारा धर्म के तिरस्कार और अपमान के कारण उसमें नैराश्य के साथ-साथ कुछ न कुछ नैतिक पतन भी अवश्य आया और भय, प्रलोभन और अत्याचार के फलस्वरूप कुछ व्यक्तियों और जातियों का धर्म-परिवर्तन भी करना पड़ा और यह क्रम लगभग पूरे मुस्लिम शासन-काल में जारी रहा।[३] अत: भारतवर्ष में जनता का जीवन अत्यंत कष्टमय, अत्याचार-पीड़ित व निराशाजनक था और निराशाजनक था और असामाजिकता चारों ओर फैल गयी थी।

जनता में बढ़ती हुई इस विकट स्थिति में हिन्दी-साहित्य-जगत् में अनेक भक्त-कवियों का आगमन हुआ। कबीर, दादूदयाल, जायसी, सूर, तुलसी आदि

---

१. प्राचीन कवियों की काव्य-साधना : राजेन्द्रसिंह गौड़, पृ० ४.
२. सूर और उनका साहित्य डा० हरबंशलाल शर्मा, पृ० ६६.
३. सूर-मीमांसा डा० व्रजेश्वर वर्मा, पृ० ७.

विभिन्न साहित्यिक शाखाओं के भक्त-भ्रमर को तत्कालीन असामाजिकता और कुरीतियों को भोगना पड़ा। उनके समय में सामाजिक कुरीतियां, धार्मिक अन्धविश्वास और अनेक प्रकार के मिथ्या आडम्बर समाज में विद्यमान थे। सचमुच यह युग इस दृष्टि से देखने से अत्यंत अंधकारमय दिखायी देता है।[१] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसीकालीन परिस्थितियों की ओर संकेत करके कहा है -- 'जिस युग में इनका (तुलसी का) जन्म हुआ था उस युग के समाज के सामने कोई ऊंचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोगग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की संपत्ति नष्ट हो गयी या स्त्री मर गयी, संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा, वही झट संन्यासी हो गया। सारा देश नाना संप्रदायों के साधुओं से भर गया था। 'अलख' की आवाज गर्म थी, हालांकि ये 'अलख' के लखने वाले कुछ भी नहीं लख सकते थे। नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुंचे हुए महात्मा हो गये थे, उनमें आत्मविश्वास का संचार हो गया था। पर, जैसा कि साधारणत: हुआ करता है, शिक्षा और संस्कृति के अभाव में यही आत्मविश्वास दुर्वह गर्व का रूप धारण कर गया था। आध्यात्मिक साधना से दूर पड़े हुए ये गर्वमूढ़ पंडितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा कर रहे थे। परंपरा से सुविधा भोग करने की आदी ऊंची जातियां इससे चिढ़ा करती थीं। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पंडितों और ज्ञानियों का समाज के साथ कोई भी संपर्क नहीं था। सारा देश विशृंखल, परस्पर-विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का रहा था।'[२] समाज प्रति दिन पतन की ओर जा रहा था।

हमारे आलोच्य युग के इस असंतोषजनक परिस्थिति को हटाने का प्रयास तत्कालीन कवियों ने किया है। कबीर समाज-सुधारक थे। उन्होंने हिन्दू-

---

१. सूर-साहित्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४२.
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १११.

मुसलमानों में एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया; तो सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव को दूर करने के लिए एकेश्वरवाद का प्रचार किया। सूफी फकीरों ने प्रेमाख्यानक काव्यों द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में अंकुरित अमानवीयता और अन्धविश्वासों को एकदम दूर हटाना चाहा। उन्होंने अपनी काव्य-सुषमा द्वारा हिन्दू और मुसलमानों में प्रेम और सद्भावना का प्रसार किया। सूरदास ने समाज की दुरवस्था को मिटाने के उद्देश्य से `सूरसागर` की रचना कर हिन्दी-साहित्य-जगत् को आलोकित किया। इस उद्देश्य से सूफी महाकवि जायसी ने `पद्मावत` नामक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की। `पद्मावत` के अतिरिक्त कुतबन की `मृगावती`, मंझन की `मधुमालती`, उसमान की `चित्रावली` आदि अन्य प्रेमाख्यानक काव्य भी इसी लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर रचे गये हैं। सूरदास के अतिरिक्त अन्य अष्टछाप कवि सार्वभौमों ने भी सामाजिक दशा को सुधारने के लिए अनेक काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। लोकनायक तुलसीदास जी ने `रामचरित मानस` एवं अपने अन्य रामकाव्यों के द्वारा रामराज्य का महान् संदेश दिया एवं समाज-सुधार के अनेकों सिद्धांत रचे। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए अच्छे-अच्छे उपदेश भी दिये, जिससे जनता को शांति, सुख एवं संतोष मिले।

मध्ययुगीन कवियों के काव्य-ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में अशांति का वातावरण छाया हुआ था। कबीरदास ने कहा कि यह संसार सागर जल से परनिन्दा, परधन-लालसा, परस्त्री-गमन एवं दूसरों पर दोषारोपण करने में लगे रहते हैं।[१] इस संसार में सब लोग अहं की भावना के कारण विविध शरीर धारण करते हैं। इस संसार के सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं और यह दुनियां तो बाजार के समान है। इस जगत् में सब मनुष्य

---

१. पर निंदा पर धन पर दारा, पर अपवादैं सूरा।
तार्थे आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा।।
काम क्रोध माया मद मंछर, ए संतति हम मांहीं।
दया धरम ग्यान गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनैं नांहीं।।
- कबीर ग्रंथावली, प. १६१, पृ० ४५१-४५२.

अपने परिश्रम से कमाई हुई संपत्ति को खाकर आराम करते हैं और भ्रष्टाचार करते हैं ।[1] तत्कालीन सामाजिक संघर्ष के कारण हिन्दुओं का वैभव नष्ट हो गया था । इस वैभवहीनता के कारण हिन्दू जाति धीरे-धीरे पतन की ओर जा रही थी । उनकी शक्ति और महिमा नष्ट हो रही थी । हिन्दू नारियों को अपने पातिव्रत्य पर हमेशा चिंता और भय होता रहता था, क्योंकि शासक लोग विलासप्रिय थे । जायसी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना 'पद्मावत' में शासकों की विलासप्रियता की ओर संकेत किया है । जब राघव चेतन द्वारा अलाउद्दीन ने पद्मिनी नारियों का वर्णन सुना तब उसकी विषय-वासना खुल गयी और वह अपने को रोक नहीं सका । उसने राजा रत्नसेन को पत्र लिखा —

राजै पत्रि बंचावा, लिखि जो करा अनेग ।
सिंघल कै जो पद्मिनी, पैठ देहु तेहि वेग ।।[2]

विलास रूपी मदान्धता के कारण वे राजा रत्नसेन के प्रति मित्रता दिखाकर पद्मावती को अपनाने का प्रयास करते हैं । सूरदास जी ने तत्कालीन समाज का जो चित्रण किया है, वह ब्रज के ग्रामीण वातावरण से मिलता-जुलता है । इसमें पूर्ण रूप से तत्कालीन समाज के परंपरागत जीवन की झांकी मिलती है । सूरदास के समय में लोग हिंसा-मद-ममता में भूले रहते थे, प्रमाद और आलस्य में समय नष्ट करते थे, तथा मद्यपान, स्त्री संग, अभक्ष्य भक्षण में ही उनके जीवन का सुख सीमित था । स्वार्थपरता, प्रवंचना, पाखंड, दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियां फैल रही थीं । तीर्थयात्रा और सत्संग की ओर भी रुचि नहीं रह गयी थी । बहुत होता था तो लोग 'स्वामी' बन जाते थे, शरीर और वस्त्र धोकर, वेष बनाकर, तिलक-माला आदि धारण करके परनिंदा में और विषयी लोगों के बीच में जीवन बिताते थे । अंतिम समय में जब ध्यान आता था कि सारा जीवन अकारथ गंवा दिया, कुछ धर्म-कर्म नहीं किया तब निराशा का अंधकार चारों ओर से घेर लेता था ।[3] इसका वर्णन सूरदास ने सूरसागर में स्पष्ट रूप में

---

१. कबीर ग्रंथावली, प० १०२, पृ० ३६७.
२. पदमावत सार   इन्द्रचन्द्र नारंग, पृ० ६५.
३. सूरदास   ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १३१.

किया है ।[१] मुगल बादशाहों के समय समाज में जो काम-वासनाएं फल रही थीं उस ओर तुलसी ने अपनी दृष्टि डाली है । वे अधिकारी वर्ग अपने काम-काज की ओर ध्यान नहीं देते थे, परन्तु वे विषय-वासना में सदैव संलग्न होते थे ।[२] विषय लोलुपता में मग्न शासकों का और एक चित्रण देखिए —

काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि सुनत श्रवन दै भावहि ।
तिनहिं हटकि कहि हरि-कल-कीरति करन कलंक नसावहि ।।[३]

उस युग के भारतीय समाज के सामने कोई बहुत ऊंचा आदर्श नहीं था । लोग खाते-पीते थे, रोगी या नीरोग होते थे, सोते-जागते थे और चार दिन तक हंसकर या रोकर मर जाते थे । जो धार्मिक प्रवृत्ति के थे, वे दस-बीस मंदिर बनवा देते थे, यज्ञ-याग करके हजार-पांच सौ ब्राह्मण और साधुओं को भोजन खिला देते थे । ऊंचे वर्ग के लोग अपनी झूठी शान में मस्त रहते थे । इनका प्रधान कर्तव्य था - जो उस युग में धनी आदमी की शोभा समझा जाता था - विलासिता । कवि लोग विलासिता की प्रशंसा करते थे, भाट लोग उनका यह यश गाते थे और समाज की निचली श्रेणी के आदमी अपने रक्त तथा मांस को गलाकर इनकी विलासिता की आग को सदा प्रज्वलित रखने के लिए ईंधन एकत्र कर देते थे । प्रत्येक गृह कलह का अखाड़ा था, क्योंकि सम्मिलित परिवार प्रथा तब भी चल रही थी । उस समय जो जब तक कमा सकता था, चैन करता था ।[४] मुसलमानी दरबार में विषय-वासना में डूबे रहने वाले लोगों की खिल्ली उड़ाते हुए कवि रसखान ने यह बताया है कि विलास की लोलुपता में संलग्न व्यक्ति हमेशा के लिए अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है ।[५] विषय-वासना की प्रमुखता के कारण

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १८६, पृ० ६०-६१.

२. जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलिमल-साने ।
सुखन बदन प्रसंसत तिन्ह कहं, हरि ते अधिक करि माने ।।
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पांय पिराने ।
सदा मलिन पंथ के मल ज्यों, कबहुं न हृदय थिराने ।।
— विनयपत्रिका, प० २३५, पृ० ४६८.

३. वही, प० २३७, पृ० ४७०.

४. सूर-साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५.

५. रसखानि महावत रूप सलोने को मारग तें मन मोरत है ।
ग्रह काज समाज सबै कुल लाज लला ब्रजराज को तोरत है ।।
— रसखान ग्रंथावली सटीक : प्रो० देशराजसिंह भाटी, सवैया ६७, पृ० २००.

मुसलमान शासन से भारतवर्ष में दरिद्रता, अकाल, दुर्भिक्ष और अत्याचार सर्वत्र व्याप्त हो गया । समाज अत्यंत जर्जर और जटिल अवस्था में था । सब कहीं अभाव ही अभाव देखा जाता था । अभाव के कारण मनुष्य चिन्ताग्रस्त हो जाते थे । केवल मुगल बादशाह अकबर के शासन-काल में समाज की स्थिति कुछ सामान्य थी । लेकिन उसके समय भी दुर्भिक्षों से जनता में त्राहि-त्राहि मची थी । सन् १५५६ और १५७३-७४ में पड़े हुए दुर्भिक्षों में आदमी अपने ही सगे-संबंधियों को खा जाते थे । चारों ओर उजाड़ दिखाई देता था और खेत जोतने के लिए जीवित आदमी बहुत कम रह गये थे । इस प्रकार दुर्भिक्ष, अकाल और महामारी के समय जनता की रक्षा का ध्यान शासकों को बहुत कम था । समाज की व्यवस्था बड़ी बिगड़ी हुई थी और संगठन छिन्न-भिन्न था ।[१] तुलसी के समय का समाज आदर्श-विहीन, संस्कृति रहित, पथभ्रष्ट, मर्यादा-पतित तथा नितांत ह्रासोन्मुख था ।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी ने अकबर के समय पड़े इस भयानक अकाल और अराजकता को देखा और भोगा था । उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं में विशेषकर `रामचरितमानस`, `कवितावली` और `विनयपत्रिका` में इन दुर्भिक्षों और असामाजिकता का वर्णन किया है । तुलसीदास ने `विनय-पत्रिका` में इस अकाल दुर्भिक्षों का वर्णन यों किया है —

कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज ।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाज ।।
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाज ।
मोहु से कहुं कतहुं कोउ तिन्ह कह्यो कोसलराज ।।[३]

तुलसीदासजी ने `कवितावली` में तत्कालीन समाज की ओर संकेत करते हुए बताया है कि किसान को खेती करने के साधन उपलब्ध नहीं, भिखारी को भीख नहीं मिलती, न वणिक का व्यापार ही चलता है और न नौकर को नौकरी

---

१. तुलसी : उदयभानुसिंह, पृ० २७.
२. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : डा० शिवकुमार शर्मा, पृ० २१३.
३. विनयपत्रिका, पद २१९, पृ० ४४७.

मिलती है । लोग जीविकाहीन हैं और सोच एवं चिन्ताग्रस्त दशा में दुःखी हो रहे हैं । एक दूसरे से कहते हैं कि कहां जाएं और क्या करें ? इस समय दरिद्रता-रूपी रावण ने संसार को दबा रखा है ।[१] बढ़ती हुई बराजकता और दुर्भिक्षों के कारण सब कहीं कुवासनाएं और कुकर्म बढ़ गये । जनता में सद्गुण दिखाने को नहीं मिलते थे । साधारण जनता की स्थिति अत्यंत करुणाजनक और वेदनापूर्ण थी । `कवितावली` में व्यक्त समाज का एक और चित्रण देखिए—

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
　　चाकर, चपल नट, चोर-चाट, चेटकी,
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
　　अटत गहन-गन अहन अखेट की ।
ऊंचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
　　पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी ।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
　　आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की ।।[२]

उपर्युक्त छन्द से यह व्यक्त होता है कि सब लोगों को नित्य जीवन बिताने के लिए अनेक बुरे कर्म करने पड़ते थे । पेट भरने के लिए अपने बेटे-बेटी तक को भी लोग बेचते थे । इससे उस समय की सामाजिक स्थिति स्पष्ट रूप से समझ में आती है । समाज में सब का सम्मान नष्ट हो गया था । गौरवशाली, त्यागी, दानी आदि विभिन्न सद्गुणियों का समाज में सम्मान नहीं था । असामाजिकता ने

---

१. खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
　　बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
　जीविका-बिहीन लोग सीद्यमान, सोच बस,
　　कहैं एक एकनि सों, कहां जाइ का करी ? ।।
　　　— कवितावली, उत्तर०, पद ९७, पृ० ४३३.

२. वही, पद ९६, पृ० ४३१.

सबको मलिन कर दिया था ।[1] तुलसीकालीन सामाजिक दीन-दरिद्रता का और एक चित्रण देखिए –

दिन दिन दूनो देखि दारिद दुकाल दुख,
दुरित दुराज, सुख सुकृत सकोचु है ।
मांगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता भले को होत पोचु है ।[2]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने राम-काव्य में साधारण जनता की जीवन-रीति का वर्णन किया है । उनके समय नागरिकों की क्या दशा थी, इसका नग्न चित्रण देखिए –

स्वारथु अगमु, परमारथ की कहा चली,
पेट की कठिन जग जीव को जवारु है ।
चाकरी न आकरी, न खेती न बनिज-भीख,
जानत न कूर कछु किसब कबारु है ।।[3]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के उत्तरकांड में उपर्युक्त प्रकार का वर्णन किया है, जो तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण है । उत्तरकांड का यह वर्णन इतिहास प्रसिद्ध है । तुलसीदासजी ने मुसलमानों के अत्याचारों की तुलना रावण के घोर अत्याचारों से की है । रावण के राज्य-काल में देश के अन्दर सब कहीं अत्याचार ही अत्याचार हो रहा था । मुसलमान शासकों के समय जिस प्रकार का संघर्ष राज्य में हो रहा था उसी प्रकार रावण के राज्य में

---

१. बबुरे बहेरे को बनाय बाग लाइयत,
रुंधिबे को सोइ सुरतरु काटियत है,
गारी देत नीच हरिचंद हू दधीच हू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत है ।।
आप महापातकी हँसत हरिहर हू को,
आपु है अभागी भूरि भागी डाटियत है ।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत,
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियत है ।। – कविता०,उत्तर०,छंद ६६.
२. कवितावली, उत्तर०, पद ८१.
३. वही, पद ९७.

संघर्षपूर्ण वातावरण था । राज्य में प्रति दिन अत्याचार हो रहा था । लोग अन्न के बिना मरते थे । अकाल और दुर्भिक्षों में तड़पते थे । इसका चित्रण उन्हीं के शब्दों में सुनिए —

कवि बृन्द उदार दुनी न सुनी । गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी ।।
कलि बारहि बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।[१]

'मानस' के अन्त में तुलसी ने कलियुग का वर्णन करते हुए सामाजिक स्थिति का चित्रण किया है । राक्षस की तरह अकाल और अराजकता देश में फैली थी । ये दीन-दुखी और गरीब लोग देश-विदेश में घूमते-फिरते थे । देश की असामाजिकता के कारण लोग अज्ञान के अंधकार में तड़प रहे थे । उनका पारस्परिक संतोष नष्ट हो गया था । वे स्वार्थवश पशु से गये बीते हो गये थे —

कलिकाल बिहाल किए मनुजा । नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ।
नहि तोष बिचार न सीतलता । सब जाति कुजाति भये मंगता ।।[२]

तुलसीकालीन समाज की दीनता का एक और चित्र भी देखिए —

सुनु ब्यालारि कराल कलि, मल अवगुन आगार ।
गुनौ बहुत कलिकाल कर, बिनु प्रयास निस्तार ।। [३]

हमारे आलोच्य युग की सामाजिक दशा तत्कालीन काव्यों में स्पष्ट रूप से मिलती है । अधिकतर लोग गरीबी में अपना जीवन बिताते थे । दरिद्रता के कारण घरेलू जीवन कलह और वैमनस्य के बीच में चलता था । हिन्दू समाज शनैः शनैः निम्नस्तरीय हो रहा था । अधिकांश लोगों ने अपनी निर्धनता के कारण अपने को उदासीन और महत्वाकांक्षाहीन होने दिया । अधिकारी लोग हमेशा अधिक सुख-समृद्धि के इच्छुक थे । लोगों को केवल धन-संपत्ति कमाने का अधिकार था, लेकिन उससे जो कुछ मिलता था उसे भोगने वाले अमीर और शासक वर्ग

---

१. रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृ० १७५.
२. वही, पृ० १७६.
३. वही, पृ० १७७.

के लोग थे। मध्ययुग के भक्त कवियों ने देश की इस पतनोन्मुखी स्थिति को भोगा और उसका गंभीर दृष्टि से अवलोकन किया। उनके समय में लोग विषय-विकारों के पथ पर भटक रहे थे। इन भक्त-कवियों का मन इस करुणाजनक दशा को देखकर व्याकुल हो उठा, वेदना और दुःख से कांप उठा।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन समाज अत्यंत जटिल था। चारों ओर अभाव ही अभाव था। अभाव के कारण अराजकता फैली हुई थी और इस कारण लोग व्याकुल थे। इस निराशापूर्ण और करुणाजनक जीवन का कारण समझकर लोगों को उत्तेजित करने के लिए भक्त कवियों ने तीव्र प्रयत्न किया। उन्होंने भक्तिप्रधान ऐसे अनेक ग्रंथों को समाज के सामने प्रस्तुत किया, जिनसे उन्हें शांति और संतोष मिले।

समाज के दायक्रम

संसार में अति प्राचीन काल से दायक्रम जन-समाज में प्रचलित रहा है। मनुष्य धन-संपत्ति के इच्छुक हैं। जब धन-संपत्ति की अधिकता होती है तब समाज में लोलुपता भी होती है। प्रारंभिक काल में भारतवर्ष में सम्मिलित परिवार की प्रथा प्रचलित थी। परिवार का रक्षाधिकारी पिता या घर का बड़ा आदमी था। घर की देख-भाल का कार्य उसके हाथ में निहित था। पिता या घर का बड़ा आदमी बूढ़ा हो जाने पर सब प्रकार की जिम्मेदारी बड़े पुत्र को सौंप देता था। मनुस्मृति में इसका उल्लेख मिलता है —

ऊर्ध्वं पितुश्चमातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ।।[१]

मनु [redacted] के अनुसार पुत्र के बंटवारे का चतुर्थांश ही पुत्री को प्राप्त होता है। यदि वह विवाहिता नहीं है तो यह धन उसके विवाह के समय तक उस पर व्यय किया जाता है, और उसका दहेज उसके भ्राता के द्वारा व्यय किया जाता है।

---

१. मनुस्मृति, श्लोक १२७, पृ० १६६.

तदनन्तर उसको अपने पिता के घर से और आय नहीं होती । पिता या पितामह की मृत्यु के बाद पुत्र और पौत्र को उनकी संपत्ति का अधिकार है । अलबरूनी लिखता है कि 'सपिण्ड सम्बन्धियों, यथा भाइयों का अधिकार कम है और उनको केवल उसी अवस्था में दाय मिलता है जब उनसे अच्छा अधिकार रखने वाला कोई न हो । अतएव यह स्पष्ट है कि बहिन के पुत्र की अपेक्षा पुत्री के पुत्र का अधिकार अधिक है और भाई का पुत्र इन दोनों से बढ़कर अधिकार रखता है ।'[1] मध्यकालीन कवियों में तुलसीदासजी ने 'मानस' में इसी दायक्रम का वर्णन किया है । पिता के बाद बड़े पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का नियम है । राजा दशरथ अपनी वृद्धावस्था में बड़े पुत्र राम को उत्तराधिकार देने की इच्छा प्रकट करते हैं । राजा ने कुलगुरु वसिष्ठ और अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों के सान्निध्य में राम के राज्याभिषेक की तैयारी की ।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि तुलसी के समय पिता के बाद बड़ा पुत्र उत्तराधिकारी हो जाता था । आज भी यह प्रथा सत्य सिद्ध होती है ।

समाज में स्त्री का स्थान

जन्म से स्त्री-पुरुष का समान स्थान होता है । लेकिन सामाजिक नियमों की विभिन्नता से इस समानता में परिवर्तन दृष्टिगत होता है । प्राचीन समाज का अध्ययन करने से हमें यह विदित होता है कि उस युग में स्त्रियां कहीं उच्च और कहीं हीन स्थिति में देखी जा सकती हैं । समाज या कुटुम्ब में नारी की स्थिति का सर्वप्रथम आधार हो सकता है उसके व्यक्तित्व की ऊंचाई । मध्यकालीन समाज में स्त्रियों को अध्ययन और अध्यापन की प्राय: सुविधा रही है । परिणामत: स्त्रियां विदुषी बनकर अध्यापिकाएं बनतीं थीं । उनके द्वारा रचे हुए काव्य उच्चकोटि के रहे हैं ।

---

१. अलबरूनी का भारत , बारहवां परिच्छेद, पृ० ४०१.
२. सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी । बोलेउ राउ रहसि मृदुबानी ।।
नाथ रामु करिअहिं जुबराजू । कहिअ कृपा करि करिअ समाजू ।।
– रामचरितमानस, अयो०, चौं० १, पृ० ८.

हमारे आलोच्य काल के बहुत पूर्व ही नारी सौन्दर्य का प्रतीक मानी जाती थी। सौन्दर्य और विलासिता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। स्त्रियाँ परिश्रम नहीं कर सकती थीं, विशेष कर उच्च वर्ग की स्त्रियाँ। उनका विश्वास था कि परिश्रम करने से समाज में आदर, सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं होती। तुलसी का युग ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि का युग था। मध्ययुग के लोग सुख-समृद्धि के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का प्रयोग करते थे। तत्कालीन युग में नारियों की सुकुमारता ही श्रेष्ठ समझी जाती थी। तुलसीदासजी ने सीता में इस सुकुमारता का आरोप करते हुए कहा है –

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।[१]

भोग और विलास-प्रियता के लिए जिन-जिन वस्तुओं का उपयोग किया जाता था उसी प्रकार मध्यकालीन समाज में स्त्रियाँ भोग की वस्तु मानी जाती थीं। तुलसी ने सीताजी के मध्य चित्रण करके समाज को इस दूषित रीति को दूर करने के उपदेश ही दिये हैं। तुलसी ने हमेशा नारी-समाज को यह उपदेश दिया है कि मर्यादा को बनाये रखना चाहिए, जिससे समाज की उन्नति और स्त्री समाज की उन्नति हो सके।[२]

अब हम तत्कालीन नारियों की विभिन्न दशाओं का विचार करेंगे। इसके अन्तर्गत तत्कालीन नारी की दुरवस्था, सौतिया डाह, नारी धर्म और आदर्श, शिक्षा स्वातन्त्र्य, नारी निन्दा आदि बातें आती हैं।

नारी की दुरवस्था

मध्य युग में नारी की स्थिति अत्यंत शोचनीय एवं करुणाजनक थी। पति-गृह की दरिद्रता झेलते-झेलते स्त्रियाँ कर्कश हो जाती थीं। स्नायु-संस्थान के विकृत हो जाने पर उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता था; सहनशीलता एवं

---

१. रामचरितमानस - अयोध्याकांड, चौ० ३, पृ० ६०.

२. महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी।
- रामचरितमानस, किष्किन्धा कांड, चौ० ४, पृ० ८८.

विनम्रता के स्थान पर अहमन्यता एवं उच्छृंखलता आ जाती थी। फलतः पति और बच्चों का जीवन रौरव नरक की सी यातना का अनुभव करता था। प्रेम का स्वाभाविक स्रोत सूख जाने पर कपटी साधु और वंचकों का परिवार में अत्यधिक सम्मान किया जाता था। वे अवसर पाकर स्त्रियों को भगा ले जाते थे। संतों का प्रायः ऐसे ही स्त्री समाज से पाला पड़ा, जिसकी उन्होंने घोर भर्त्सना की थी। समाज में प्रचलित होने वाली इन विकट परिस्थितियों को रोकने के लिए सम्राट या शासक लोग जिम्मेदार थे। अकबर और जहांगीर के काल में इस प्रकार की कुरीतियां सर्व प्रचलित थीं। उन्होंने सर्वप्रथम समाज में समानता लाने का प्रयास किया और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अविराम परिश्रम किया।

संतों के समय खूबसूरत लड़की परिवार के लिए अभिशाप थी।[१] मुस्लिम शासक सुन्दर और रूपवती कुमारियों की ओर आकृष्ट होते थे। कभी-कभी इन कुमारियों के लिए लड़ाई तक होती थी। राजाओं और सुल्तानों के बीच ऐसे अनेक संघर्ष हुआ करते थे। इस कारण कबीर ने सुन्दरी स्त्री को यह उपदेश दिया कि शृंगार मत करो। इससे मालूम होता है कि कबीर के समय नारी एक जटिल समस्या थी। नारी के प्रति पुरुष की यह घोर आसक्ति कबीर की दृष्टि में अवांछनीय थी। इस प्रकार की बुरी वासनाओं के कारण से मनुष्य की बुद्धि और विवेक का अपहरण होता था। किसी भी प्रकार से उसकी उन्नति नहीं होती और वह स्वयं पतन की ओर जाता है। सूरदास के समय नारी की स्थिति ऐसी थी कि खाने-पहनने का अभाव न होते हुए भी सामाजिक नियंत्रण उनके लिए किसी बन्दीगृह से कम न था। अशिक्षित होने के कारण उनके जीवन में जादू-टोना, मंत्र और अंधविश्वास आदि का प्रचार था। पति की इच्छा को परमेश्वर की इच्छा मानते हुए यंत्रवत् कार्य करते रहना ही उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी। सास और ननद के व्यंग्य बाणों से आहत होकर उनके जीवन में सदैव दीनता की ही अनुभूति हो रही थी।

---

१. जाके घर नारी भली, सुन्दर ताके बैन।
जाके करकसा कलह करे दिन रैन॥ - सुन्दरदास ग्रंथावली, पद १४, पृ० ७०८.

महाकवि सूरदास के काल में नारियां पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी जा रही थीं । लोक-जीवन में सास, ननद, जिठानी और अन्य परिजनों के व्यंग्य बाणों से आहत कुलवधु चिरकाल से मर्यादा और लोक-लाज के छोहें परिच्छेद को ओढ़ती आयी है ।[१] सूरसागर में सूरदास ने नारी की इस विकट परिस्थिति का वर्णन किया है । देखिए —

सासु ननद घर त्रास दिखावैं ।
तुम कुलवधु लाज नहिं आवति, बार बार समुझावैं ।।
कब की गई न्हान तुम जमुना, यह कहि कहि रिस पावैं ।
राधा को तुम संग करति हो, ब्रज उपहास उड़ावैं ।।
वे हैं बड़े महर की बेटी, तौ ऐसी कहवावैं ।
सुनहु सूर यह उनहीं फावैं, ऐसी कहति डरावैं ।।[२]

उपर्युक्त पद्यांश से यह विदित होता है कि तत्कालीन समाज में नारियों की दशा हेय और हीन थी । नारी को सास और ननद उपेक्षा की दृष्टि से देखती थीं । इसलिए वधु के लिए घर पर रहना अत्यंत असह्य था । उसका जीवन पराधीनता का इतिहास था । उसका जीवन दुःख, बलिदान, आत्मदमन, दासता में ही व्यतीत होता था । तत्कालीन नारी की दशा देखकर `परहित सरिस धर्म नहिं भाई' के सिद्धांत को आदर्श मानकर चलने वाले तुलसीदासजी का हृदय द्रवित हो उठा । उन्होंने ईश्वर पर दोषारोपण किया । विधाता ने स्त्रियों को अधीनता की रस्सी से बांधा । परावलंबन से दब जाने पर उसे जीवन में कभी भी सुख नहीं मिलता ।[३]

इस प्रकार मध्ययुगीन समाज में स्त्रियों की दशा अत्यंत करुणापूर्ण, जटिल, संकटमय, कष्टदायक एवं अत्याचारों से ओतप्रोत थी ।

---

१. सूरसागर में लोक-जीवन   हरगुलाल, पृ० १६८.
२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६२२, पृ० ६०३.
३. कत विधि सृजीं नारि जगमाहीं । पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं ।।
मै अति प्रेम विकल महतारी । धीरजु कीन्ह कुसमे बिचारी ।।
— रामचरितमानस, बालकांड, चौ० ३, पृ० ११७.

सौतिया डाह

प्राचीन काल में भारत में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी । पुरुष एक से अधिक स्त्री से विवाह कर सकता था; लेकिन स्त्री एक से अधिक पुरुषों को स्वीकार नहीं कर सकती थी । समाज में स्त्रियों का सम्मान कम ही होता था बहुविवाह की प्रथा इसीलिए समाज में प्रचलित हुई क्योंकि स्त्री को इन्द्रिय सुख का साधन समझा जाने लगा । मुसलमान अपने धर्मग्रंथ `कुरान` के अनुसार चार पत्नियां रखने के अधिकारी हैं । बादशाह अकबर ने भी यह स्वीकार किया । उसने भी यह उपदेश किया कि अपनी प्रथम पत्नी के रहते हुए भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है । बहुविवाह की प्रथा मुसलमानों में सबसे पहले हुई, बाद में हिन्दुओं में भी इसका प्रचार हुआ ।

बहुविवाह-प्रथा के कारण ही सपत्नी की ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी । अर्थात् एक से अधिक पत्नियां होने के कारण सौतेलिन या सौतिया डाह उत्पन्न होती है । ये पत्नियाँ एक-दूसरे के प्रति झगड़ा और ईर्ष्या का भाव प्रकट करती हैं ।

मध्यकालीन समाज में बहु पत्नित्व की प्रथा स्थिर हो गयी थी । उस समय के कवियों ने सौतिया डाह का स्वरूप उनके काव्यों में चित्रित किया है । मध्ययुग के शासक-वर्ग सौन्दर्य के आराधक थे । इसलिए बहुविवाह की प्रथा उन्होंने स्वीकार की । जायसी ने `पद्मावत` में बहुपत्नित्व की प्रथा के कारण पत्नियों में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होने का स्पष्ट वर्णन किया है । केवल जायसी ने ही नहीं, बल्कि तत्कालीन अन्य भक्त-कवियों ने भी इसका उल्लेख किया है । चित्तौड़ के राजा रत्नसेन की रानी है नागमती । बाद में उसने सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती को रानी रूप में स्वीकार किया । रत्नसेन के यहाँ ये दोनों रानियां फुलवारी में जो विवाद करती हैं वह सौतिया डाह का उत्कृष्ट उदाहरण है ।[१] इसी प्रकार दोनों नायिकाएं अपने-अपने सौन्दर्य को लेकर भी झगड़ा करती हैं –

---

१. पद्मावत - जायसी व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५३७-५५३.

तोर अकेल जीतेउं का हारू । मैं जीता जग केर सिंगारू ।

\+ \+ \+ \+

पुहुप बास मलयागिरि जीतेउं परिमल अंग बसाइ ।

तूं नागिनि मौरि आसा लुबुधी मरसि कि हिरकीं आइ ।।[१]

आखिर नागमती का श्रृंगार वर्णन और आत्मप्रशंसा सुनकर पद्मावती को क्रोध आया । उसने नागमती को नागिन के समान पकड़ लिया ।[२] सूरदास ने भ्रमरगीत प्रसंग में सौतिया डाह का प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाया है । कृष्ण मथुरा चले गये और उन्होंने कुबड़ी कुब्जा को स्वीकार किया । तब गोपियों के मन में कुब्जा के प्रति ईर्ष्या का भाव जागृत हुआ । जब कृष्ण का सन्देश लेकर उद्धव ब्रज में आये तभी कुब्जा के प्रति गोपियों के ईर्ष्या-वचन फूट पड़े —

१. ऊधौ अब कछु कहत न आवै ।
सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चरम के दाम चलावै ।[३]

२. तबतैं हरि दरस नहिं दीन्हौ ।
ऊधौ हरि मथुरा कुबिजा गृह, वहैं नेम व्रत लीन्हौ ।[४]

३. प्रथम सिद्धि हमकौं हरि पठई, आयौ जोग अगाऊ ।
हमकौं जोग, भोग कुबिजा कौं, उहिं कुल यहै सुभाऊ ।।[५]

४. हमकौं जोग भोग कुबिजा कौं काके हियैं समात ।[६]

५. मधुकर आवत मन पछितायौ ।
चेरी सुनी कंस की कुबिजा, करति सौति कौ दायौ ।।[७]

---

१. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५५२.
२. वही, पृ० ५५७.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६४०, पृ० १३५६.
४. वही, पद ३६४५, पृ० १३६०.
५. वही, पद ३६७१, पृ० १३६६.
६. वही, पद ३७४६, पृ० १३८६.
७. वही, परिशिष्ट १, पद १७४, पृ० १६२७.

यहाँ उन्होंने गोवर्धन, राधाकुंड, नंदगांव, कामवन आदि लीला-स्थानों का दर्शन किया। ब्रजप्रदेश से लौटते समय उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शन किये। दोनों ने मिलन के समय धार्मिक वार्तालाप करते हुए दिव्यानन्द का अनुभव किया।[१]

ब्रज की यात्रा के उपरांत चैतन्यदेव ने अपनी तीर्थयात्रा को समाप्त कर दिया और जगन्नाथजी के सान्निध्य में १८ वर्ष तक रहे। वे अपने अन्तिम दिनों तक कृष्ण-भक्ति में इस तरह तल्लीन थे कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का गायन करते-करते उनके नेत्रों से निरंतर प्रेमाश्रुओं की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती थी। इस प्रकार ४८ वर्ष की अवस्था में, संवत् १५९० (सन् १५३३) में, इनका गोलोक-गमन हुआ।

चैतन्यदेव के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि चैतन्यमत के इतिहास में षट् गोस्वामियों का नाम सर्वप्रसिद्ध और अमर है। अत: उनकी शिष्य-परंपरा में छ: शिष्य आते हैं। इनमें रूप गोस्वामी (१४९२-१५९१ ई०) एवं सनातन गोस्वामी (१४९०-१५९१ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों ने चैतन्यदेव के सिद्धांतों का प्रस्फुटीकरण अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों में किया है। रूप गोस्वामी ने 'विदग्धमाधव नाटक', 'ललित माधव नाटक', 'हंसदूत', 'उद्धव संदेश', 'भक्ति रसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि', 'लघु भागवतामृत', 'नाटक चन्द्रिका', 'दान केली कौमुदी' और 'मथुरा माहात्म्य' आदि भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले ग्रंथों की रचना की। सनातन गोस्वामी के 'श्री हरिभक्ति विलास', 'बृहत् भागवतामृत', 'भागवत दशम स्कंध की बृहद् वैष्णव तोषिणी टीका' और 'दशम चरित' आदि ग्रंथ विशेष महत्व के हैं। चैतन्य-मत के षट्-गोस्वामी नाम से प्रचारित शिष्य-परंपरा के अन्य शिष्यों के नाम हैं — श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथदास गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी और श्री जीव गोस्वामी।

ऊपर कहा जा चुका है कि चैतन्य-मत माध्वसंप्रदाय से प्रभावित है। लेकिन

---

१. श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १६, पयार ५७-५८.

चैतन्यसंप्रदाय का दार्शनिक पक्ष माध्वाचार्य के द्वैतवाद से भिन्न है । इस संबंध में डा० सुशीलकुमार डे का कथन है कि माध्वसंप्रदाय और चैतन्यसंप्रदाय में दार्शनिक धरातल पर एकता नहीं है ।[१] चैतन्य-मत को 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहते हैं । चैतन्य-मत में स्वयं श्रीकृष्ण परम तत्व हैं । वे सच्चिदानन्द स्वरूप, अनन्त शक्ति से पूर्ण और अनादि हैं । शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद है और न अभेद ही । यह भेदाभेद सम्बन्ध 'अचिंत्य' है, अर्थात् मानव के चिन्तन के बाहर है । इसलिए यह 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है । इस सम्बन्ध में श्री रूप गोस्वामी का कहना है – 'श्री कृष्ण में अनन्त गुण हैं, वे असंख्य अप्राकृत गुणशाली और अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं और पूर्णानन्द घन उनका विग्रह है । जो ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और अमूर्त कहा गया है, वह सूर्य-तुल्य श्रीकृष्ण के प्रकाश-तुल्य है ।'[२]

चैतन्य-मत के अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि सब कुछ हैं । परब्रह्म के तीन रूप हैं – स्वयं रूप, तदेकात्म रूप और आवेश रूप । तदेकात्म रूप के दो भेद हैं – विलास रूप और स्वांश रूप । विलास रूप में परब्रह्म श्रीकृष्ण लीला विशेष के लिए प्रकट होते हैं और स्वांश रूप में भगवान् स्वयं अवतार रूप में प्रकट होते हैं, जैसे मत्स्यादि अवतार । भगवान् के तीन अवतार हैं – पुरुषावतार, गुणावतार एवं लीलावतार । पुरुषावतार ही परब्रह्म का आदि अवतार है, जिसे 'वासुदेव' कहते हैं । उसके तीन भेद हैं – संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध । प्रकृति के सत्व, रज और तम तीन गुण हैं और इसके अधिष्ठाता तीन गुणावतार हैं – विष्णु (विश्व-पालक), ब्रह्मा (सृष्टि सर्जक) एवं रुद्र (संहारक)। भगवान् के लीलावतार रामचन्द्र, बुद्ध, कल्कि आदि हैं और नारद सनकादि उनके अंशावतार हैं । परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की तीन शक्तियां हैं – अंतरंग शक्ति, बहिरंग शक्ति और तटस्थ शक्ति ।

---

१. वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल : डा० एस.के.डे, पृ० १६-२०.

२. एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता ।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्त शक्तित ।। ५० ।।

— लघु भागवतामृत, श्लोक ५०, पृ० १२४-१२५

अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान की प्रथम शक्ति चित-शक्ति या स्वरूप-शक्ति है, जो सत्, चित् तथा आनन्द युक्त है। अंतरंग शक्ति के तीन उपभेद हैं — संधिनी, संवित और ह्लादिनी। संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं। संवित शक्ति में वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। ह्लादिनी शक्ति के रूप में वे स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं और दूसरों को आनन्द का अनुभव कराते हैं। बहिरंग शक्ति के रूप में माया या जड़ शक्ति का आविर्भाव होता है। माया या जड़ शक्ति दो प्रकार की है — द्रव्य माया और गुण माया। अंतरंग शक्ति और बहिरंग शक्ति के द्वारा तटस्थ शक्ति का उद्भव है, जिसे जीव शक्ति भी कहते हैं। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय समुन्नता को पराशक्ति कहते हैं। चैतन्य-मत में अन्य वैष्णव मतों की तरह भगवान् कृष्ण की बहिरंग शक्ति से उद्भूत जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं।

भक्ति, भगवान् को अपने वश में करने का एकमात्र साधन है। जिस साधन के द्वारा परब्रह्म, परमाराध्य भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम हमें प्राप्त होता है, उसे साधन-भक्ति कहते हैं। श्री रूपगोस्वामी का कहना है — 'साधन-भक्ति उत्तमा भक्ति है और उसका साध्य अथवा लक्ष्य कृष्ण-प्रेम होता है। साधन-भक्ति द्वारा जब नित्यसिद्ध कृष्ण-प्रेम का हृदय में उदय हो जाय, तभी उसकी सफलता अथवा सिद्धि होनी चाहिए।'[1] कृष्णदास कविराज का कथन है — 'श्रवणादि भक्ति का आचरण इस साधन-भक्ति का 'स्वरूप लक्षण' है, और कृष्ण-प्रेम का प्राकट्य उसका 'तटस्थ लक्षण' है।'[2] साधन-भक्ति के वैधी-भक्ति और राग-भक्ति दो भेद हैं। 'वैधी भक्ति' उसे कहते हैं जिसमें श्रीकृष्ण के प्रति बलवती आस्था न रखकर केवल शास्त्रों की आज्ञापूर्ति के लिए उनका भजन किया जाता है। राग-भक्ति का मार्ग प्रेमा-भक्ति है, जो वैधी-भक्ति से श्रेष्ठ है।

चैतन्य संप्रदाय या गौड़ीय संप्रदाय के अनुसार 'राग भक्ति' दो प्रकार की होती है — रागात्मिक और रागानुराग। परमाराध्य और परमउपास्य

---

१. भक्तिरसामृतसिन्धु, १-२-२.

२. श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, २२ वां परिच्छेद, पयार सं० ५६.

श्री कृष्ण की माधुर्यमयी लीला पांच भावों से संबद्ध है — शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य । शांत-भाव को छोड़ कर शेष चार भावों से चैतन्य संप्रदाय में श्रीकृष्ण की प्रेम-भक्ति होती है । इनमें सबसे अधिक उत्कृष्टता माधुर्य-भाव की है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्य भावों का समावेश हो जाता है । माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की है — साधारण रति, समंजसा रति तथा समर्था रति । इन तीनों रतियों में समर्था रति सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि भक्त इसमें अपने स्वार्थ की ओर संकेत न करके केवल भगवान् के आनन्द के निमित्त ही सेवा-उपासना करता है । यह समर्था रति का भाव अपनी चरम स्थिति तक पहुंचकर `महाभाव` या `राधाभाव` का रूप प्राप्त करता है । व्रज की गोपियां इसका उत्तम उदाहरण हैं । व्रज की कुब्जा साधारण रति का उदाहरण है । रुक्मिणी और जाम्बवती समंजसा रति के लिए उत्तम दृष्टांत हैं ।

चैतन्य मतावलंबी, जो भक्ति को ही एकमात्र साधन और साध्य स्वीकार करने वाले हैं, परम्परित धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष — इन चार शास्त्रीय पुरुषार्थों के ऊपर परमस्वरूपा भक्ति को पांचवां पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं । महाप्रभु चैतन्य इस भक्ति में तल्लीन थे । `भागवत` में श्रीकृष्ण का ध्यान-कीर्तन करते-करते विह्वल होकर, पागल होकर, कभी हंसने, कभी रोने, कभी गाने और कभी नाचने का जो उल्लेख किया गया है, उसके साक्षात् ऐतिहासिक उदाहरण सारे भागवतोपरांत भक्ति-आन्दोलन में महाप्रभु चैतन्य ही हैं । इन्हीं से प्रेरणा पाकर इनके अनुयायी इस प्रेम-रस में डूबकर विक्षिप्त होते रहे और सुध-बुध खोकर एक ऐसी भक्ति-पद्धति का पथ दिखलाते रहे जिस पर चल कर लाखों भक्त भगवान् कृष्ण से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने लगे और उनके कीर्तन में पागल होकर स्वयं पर कभी राधा और कभी कृष्ण का आरोप करने लगे । इसमें भी राधा-भाव ही प्रधान था ।[१] अतः चैतन्य संप्रदाय में राधा-भाव का प्रेम ही परम भक्ति है ।

इस प्रकार चैतन्य संप्रदाय की प्रमुख विशेषताएं ये हैं —(१) कृष्ण सर्वोच्च परम तत्व है, कृष्ण ही पूर्णावतार हैं । (२) वे स्वयं भगवान् हैं और

---

१. भक्तिआन्दोलन का अध्ययन डा० रतिभानुसिंह `नाहर`, पृ० ३०३-३०४.

दूसरे उनके अंशावतार हैं । कृष्ण ही एकमात्र उपास्य हैं । (३) सबसे श्रेयस्कर भक्ति शुद्धाभक्ति है । (४) भगवान् का साक्षात्कार शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भक्ति से होता है । (५) सबसे प्रधान भक्ति माधुर्यभक्ति है । (६) ब्रज की गोपियां श्रेष्ठ हैं । (७) चैतन्य संप्रदाय के अनुसार उच्च-नीच सभी वर्णों के भक्तजन समान रूप से मोक्ष के अधिकारी हैं । (८) भागवत सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है । अन्य वैष्णव भक्तों के समान चैतन्य ने भी भक्ति के विभिन्न साधनों पर जोर दिया । चैतन्य संप्रदाय की स्थापना और इसका प्रचार एवं प्रसार इस मत के धर्मावलम्बियों की सच्चरित्रता, भक्ति-भावना, विद्वत्ता, विनम्रता और त्याग-वृत्ति के फलस्वरूप ही हुआ है । अतः चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रसारित इस संप्रदाय के कारण समाज की सभी श्रेणियों के लोगों के लिए भगवद्-भक्ति का द्वार खुला है, जिससे उनके मत का उत्तरभारत के भक्ति-आन्दोलन में महत्वपूर्ण स्थान है ।

राधावल्लभीय संप्रदाय (राधावल्लभ संप्रदाय)

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हितहरिवंशजी ने राधा-कृष्ण की युगल उपासना को लेकर ब्रजभूमि पर एक अन्य संप्रदाय का प्रचार किया, जो 'राधावल्लभ' नाम से अभिहित है । श्री हितहरिवंशजी का समय सं० १५५९ से १६०९ तक माना जाता है । ये प्रारम्भ में माध्व मतावलंबी थे और बाद में श्रीनिम्बार्क के धर्म-मार्ग के अनुकरण पर उन्होंने एक अलग भक्ति-मार्ग का प्रचार किया ।

श्री हितहरिवंश का जन्म १५५९ में मथुरा के 'बाद' नामक गांव में हुआ । इनकी जन्मतिथि के बारे में विद्वानों में मतभेद है । कुछ लोगों ने भ्रमवश अथवा किसी विशेष कारण से हितजी का जन्म संवत् १५३० मानना आरंभ किया था, जिससे इस संबंध में विवाद चल पड़ा था ।[१] राधावल्लभ संप्रदाय पर अनुसंधान करने वाले डा० विजयेन्द्र स्नातक और इस संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी भी इसी तिथि संवत् को मानते हैं ।[२]

१. श्री गोपालप्रसाद शर्मा कृत 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका, पृ० ८-९.
२. (क) राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ९२-९६.
(ख) श्री हितहरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, पृ० ३०.

अत: हितहरिवंशजी का जन्म-काल संवत् १५५९ मानने वाले ही अधिक हैं।

आरंभ से ही श्री हरिवंशजी का आकर्षण भक्ति-मार्ग की ओर हो गया था। वे भक्ति का महान् सन्देश लेकर ब्रज के अनेक ग्रामों में चले गये। भक्ति-मार्ग के प्रचार के लिए उनके बहुसंख्यक शिष्य थे। उनकी शिष्य-परंपरा का उल्लेख भक्तमाल, रसिक अनन्दमाल एवं राधावल्लभ संप्रदाय के विविध ग्रंथों में मिलता है। उनके आरंभिक शिष्य नरवाहनजी, नवलदासजी और पूरनदासजी थे। इसके अतिरिक्त प्रबोधानन्द, परमानन्द, बीठलदास, मोहनदास आदि भी उनकी शिष्य-परंपरा के अंग थे।

श्री हितहरिवंशजी ने अनेक साहित्यिक कृतियां रचकर भक्ति जगत् को आलोकित किया। उन्होंने दो संस्कृत रचना, दो ब्रजभाषा की रचना और दो पत्रों की रचना की। 'राधा सुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' उनकी संस्कृत रचनाएं हैं। ब्रजभाषा की रचनाओं में पहली 'हितचौरासी' और दूसरी 'स्फुट वाणी' है। इसके अतिरिक्त श्रीहितहरिवंशजी की रचनाओं में दो पत्रों का समावेश भी है, जो 'श्रीमुख पत्री' के नाम से अभिहित किया गया है।

श्री हितहरिवंश द्वारा संस्थापित राधावल्लभ सिद्धांत में प्रेम-लक्षणा भक्ति के उपकरणों की ही छानबीन अधिक है। इससे हितजी ने अपने संप्रदाय के लिए प्रेम-तत्वों को स्वीकार किया। यदि इसे (प्रेम तत्व) दर्शन से समन्वित करना आवश्यक समझा जाये, तो इसे 'प्रेम-दर्शन' कहा जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय में इसे 'हित' की पारिभाषिक नाम दिया गया है। इसप्रकार यह 'प्रेम-तत्व' किंवा 'हित-तत्व' ही राधावल्लभ संप्रदाय का भक्ति-सिद्धांत है। इसके संपूर्ण विवेचन के लिए हितजी ने श्री राधा-कृष्ण की निकुंज-लीलाओं के गायन रूप में अपनी सरस 'वाणी' का कथन किया है। यह 'वाणी' ही राधावल्लभ संप्रदाय की मूल सैद्धांतिक रचना मानी जाती है।[१] श्री हितहरिवंश के भक्ति-सिद्धान्त की रूपरेखा उनकी 'स्फुट वाणी' नामक

---

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास प्रभुदयाल मीतल, पृ० ३८२.

रचना में प्राप्त है ।[१]

हमने पहले ही राधावल्लभसंप्रदाय की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इसका मूलतत्व प्रेम ही है । इस संप्रदाय में इस प्रेम को ही रस की संज्ञा दी गयी है और इस रस का उद्गम राधा-कृष्ण के नित्यविहार से होता है । डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इसको संकेत करते हुए कहा कि 'सांप्रदायिक दृष्टि से 'नित्य विहार' शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्विक व्यंजना का द्योतन कराने वाला है । उसे अनिर्वचनीय रस-दशा कहा जाता है । लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य, निभृत निकुंज में प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) अविच्छिन्न भाव से — सतत, शाश्वत रति-क्रीड़ा में संलग्न रहते हैं । उनकी यह केलि-क्रीड़ा बिना किसी बाह्य या आंतरिक अंतराल के अनवरत चलती रहती है । अपनी इस केलि-क्रीड़ा से वे दर्शक-सहचरी रूप जीवात्मा को दर्शन मात्र से अमित आनन्द प्रदान करते हैं । सहचरी इस केलि को निकुंज रंध्रों से देखकर ही अपनी कृतार्थता मानती है । इस निकुंज लीला में न तो निकुंजांतर गमन संभव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही । चैतन्य, निम्बार्क, और वल्लभ संप्रदाय में वर्णनों में मान, विरह, कोप तथा निकुंजांतर गमन का वर्णन होने से उसे एकांत, विशुद्ध नित्य विहार नहीं कहा जा सकता ।..... जिस तात्विक अर्थ में आज नित्य विहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि से उसका मूलाधार श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी के 'हितचौरासी' और 'राधा सुधानिधि' नामक दो ग्रंथ ही हैं । इन्होंने नित्य विहार को सबसे पहले सूक्ष्म भावनापरक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया ।[२]

---

१. सबसौं हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम ।
श्री राधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ।।१।।
तनहिं राखि सत्संग में, मनहि प्रेमरस भेव ।
सुख चाहत 'हरिवंश हित' कृष्ण कल्पतरु सेव ।।२।।
— हितहरिवंशकृत 'स्फुटवाणी' ।

२. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक, पृ २३९-२४०

राधावल्लभ संप्रदाय में राधा-कृष्ण दोनों की उपासना की प्रधानता है। इस संप्रदाय में इन युगल मूर्तियों की समान रूप से उपासना की जाती है। इनकी उपासना के लिए श्री हित हरिवंशजी ने वृन्दावन में एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की। श्री हितजी राधा-कृष्ण की भक्ति में इतना तल्लीन थे कि उन्होंने राधा और कृष्ण की प्रेम और आनन्द लीला के ध्यान और मनन में एवं दोनों की आराधना में परमानन्द की प्राप्ति का साधन घोषित किया। अत: उन्होंने दोनों की उपासना में विशेष स्थान दिया। राधा की उपासना के बिना कृष्ण की आराधना का निषेध है और राधा के बिना कृष्ण की कल्पना नहीं है। श्री हितजी ने राधाजी को इष्टदेवी के रूप में माना है। उससे राधा की सत्ता स्वकीया-परकीया के रूप में न होकर स्वतंत्र रूप में है। श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है – 'हरिवंशजी इस प्रकार न अवतारी श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर नन्दनन्दन तथा श्री वृषभानु लीला को। वे नित्य विहारिणी श्री राधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतंत्र पराशक्तिरूपा है और वह महासुखरूपा है। वही सेव्या आराध्या है।'[१]

राधावल्लभ संप्रदाय में विश्वास करने वालों की मान्यता यह है कि वे वियोग-भावना को न अपनाकर एकमात्र शृंगार की संयोग-लीलाओं को ही अपनाते हैं। राधा-कृष्ण के नित्य-विहार के मनन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे 'परम रसमाधुरी-भाव' कहा है। राधा-कृष्ण के नित्य-विहार में वियोग का अभाव है। इसको कोई स्थान नहीं है। अत: हरिवंशजी के 'राधावल्लभ संप्रदाय' को 'रस संप्रदाय' की संज्ञा भी अनुयोज्य है।

हरिवंशी संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीहितहरिवंश के पश्चात् इसके अन्तर्गत अनेक भक्त कवियों का आगमन हुआ, जिनमें दामोदरदास (सेवकजी), हरिराम व्यास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास, कल्याण पुजारी, अनन्य अली, रसिकदास, वृन्दावनदास (चाचाजी) आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है और उनके द्वारा अनेक भक्ति-प्रधान ग्रंथों की रचना हुई।

---

१. भागवत संप्रदाय श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४४०.

हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय

ब्रजमंडल के महान संत, रसिक-भक्त और संगीताचार्य स्वामी हरिदासजी के द्वारा सोलहवीं शती में राधा-कृष्ण की युगल उपासना को लेकर एक और संप्रदाय का प्रसार हुआ जो 'सखी संप्रदाय' के नाम से अभिहित किया गया है। स्वामी हरिदास के नाम पर प्रचलित इस संप्रदाय को 'हरिदासी संप्रदाय' भी कहा गया है।

स्वामी हरिदास के स्थिति-काल के बारे में कोई निश्चित प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। विद्वानों में कई मान्यताएं हैं। इनमें से विरक्त शिष्य-परंपरा के श्री किशोरदास एवं श्री सहचरिशरणजी स्वामीजी का समय सं० १५३७ से सं० १६३२ तक मानते हैं। उनके मतानुसार स्वामीजी का जन्म सं० १५३७ की भाद्रपद शु० ८ बुधवार को हुआ था। वे २५ वर्ष की आयु तक अपने घर पर रहे थे और उसके उपरांत वे विरक्त होकर सं० १५६२ में वृन्दावन आ गये थे। उन्होंने वहाँ के निधुवन में सं० १५६७ की मार्गशीर्ष शु० ५ को श्रीबिहारीजी का प्राकट्य किया था। वे ७० वर्ष तक वृन्दावन में रहे थे और वहाँ ९५ वर्ष की आयु में सं० १६३२ में उनका देहावसान आश्विन शु० १५ को हुआ था।[१] इसके विरुद्ध श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने इस सम्बन्ध में लिखा है — 'मिराते सिकन्दरी' व 'मिराते अकबरी' नामक फारसी ग्रंथों के अनुसार स्वामीजी का जन्म सं० १५५९ की पौष शु० १३ भृगुवार को हुआ था। उनके अनुसार उक्त ग्रंथ का कुछ भाग सं० १५२६ में लिखा गया और शेष भाग सम्राट अकबर के समय में पूरा हुआ था।[२] अधिकांश लोगों का मन्तव्य यह है कि स्वामी हरिदासजी का जन्म हरिदासपुर नामक स्थान में संवत् १५५९ में हुआ था।

स्वामी हरिदासजी द्वारा स्थापित प्रस्तुत संप्रदाय में उनका उद्देश्य सखी भाव से राधा-कृष्ण की युगल उपासना का प्रचार करना था। उनकी उपासना सखी-भाव की थी और उनकी भक्ति वैराग्यमूलक माधुर्य-भाव की थी। श्री

---

१. 'निज मत सिद्धांत' का मध्य खण्ड तथा 'गुरु प्रणालिका' और 'आचार्योत्सव सूचना'।

२. श्री केलिमाल में प्रकाशित 'स्वामी जी का जीवन-चरित्र', पृ० २७.

हरिदासजी सखी-भाव से राधा-कृष्णा की युगलमूर्ति की उपासना करते थे। इससे उनके इस संप्रदाय में विशुद्ध प्रेमोपासना की प्रधानता है। प्रेम-रस की उत्कृष्टता के कारण इसे 'श्री श्यामा-कुंजविहारी' की संज्ञा दे सकते हैं। इस संप्रदाय की मान्यता यह है कि राधा-कृष्णा 'एक' होते हुए भी 'युगल स्वरूप' धारण कर अपनी दिव्य निकुंजों में 'नित्य विहार' में तल्लीन रहते हैं। इस चिरंतन लीला का सुखानुभव अंग स्वरूपा सखियां करती रहती हैं। जब भक्त भ्रमर संसार के समस्त विषयों से विरक्त होकर उन सखियों के भाव से ही प्रेमोपासना करता है, तब भक्ति-मार्ग में अग्रसर होने वाला साधक अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। भक्ति की इस उपासना पद्धति को 'सखी संप्रदाय' कह सकते हैं।

इस संप्रदाय के अनुसार, ब्रज के कृष्णोपासक भक्ति-संप्रदायों में श्रीकृष्णा-लीला के सहायक तत्व के रूप में गोपी और सखी-सहचरी की मान्यता है। कृष्णा-लीला की नित्य और नैमित्तिक अथवा अप्रकट और प्रकट दो प्रकार की भाव-भूमियां मानी गयी हैं। इन्हीं को अगोचर और गोचर भी कहा जाता है। नित्य, अप्रकट अथवा अगोचर लीला गोलोक किंवा दिव्य वृन्दावन की नित्यनिकुंजों में सतत होती रहती है। यह श्रीकृष्णा की चिरंतन लीला है। नैमित्तिक, प्रकट अथवा गोचर लीला ब्रज में होती है। यह भी कृष्णा के अवतार-काल की लीला है। सामान्यत: गोपी, सखी, सहचरी आदि शब्द समानार्थक समझे जाते हैं; किन्तु जब ब्रज के भक्ति-संप्रदायों में कृष्णा-लीला से संबंधित विभिन्न मान्यताएं प्रचलित हो गयीं और भक्ति-उपासना के क्षेत्र में उनकी विविध व्याख्याएं की जाने लगीं, तब गोपी और सखी-सहचरी के भी पृथक्-पृथक् अर्थ किये गये। उस समय श्रीकृष्णा की ब्रजलीला का सम्बन्ध गोपियों से माना जाने लगा और गोलोक किंवा दिव्य वृन्दावन की नित्यनिकुंज लीला को सखी सहचरियों से संबंधित समझा जाने लगा।[१] स्वामी हरिदास के इस सखी-संप्रदाय के अनुसार प्रिया के समस्त लीला-विलास प्रियतम के हेतु और प्रियतम के प्रिया के हेतु हैं। वे दोनों एक प्राण, दो देह हैं। अत: उनके यह

---

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास प्रभुदयाल मीतल, पृ० ४५७.

आनन्दोल्लास सखियों को प्रसन्न करने के लिए हैं । लेकिन स्वामीजी की प्रेमा भक्ति और उनकी सखी-भाव की रसोपासना से अन्य कोई भक्ति-तत्व या दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्ध नहीं रखता । स्वामी हरिदासजी की भक्ति-पद्धति का परिचय देते हुए भक्त नाभादास जी ने यों लिखा है —

> आसधीर उद्योत कर `रसिक` छाप हरिदास की ।
> जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी ।।
> अवलोकन रहे केलि सखी सुख को अधिकारी ।
> गान-कला गन्धर्व स्याम-स्यामा को तोषै ।।[१]

हरिदासजी का सखी संप्रदाय निम्बार्क संप्रदाय से भिन्न एक संप्रदाय है । डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस मान्यता के अनुकूल होकर अपनी राय प्रकट की है — 'कहा जाता है कि निम्बार्क संप्रदाय के सिद्धांतों का अनुकरण करके श्री स्वामी हरिदासजी ने अपना संप्रदाय चलाया । किन्तु सखी संप्रदाय की साधना-पद्धति में बड़ा मौलिक भेद है । स्वामी हरिदासजी के अनुसार सखी-भाव से उपासना करने का विधान है, जो निम्बार्क संप्रदाय में गृहीत नहीं होता । सखी संप्रदाय भेदाभेद सिद्धांत का भी प्रत्यक्ष रूप से कहीं मण्डन नहीं करता ।.... टट्टी संस्थान (वृन्दावन) में इस संप्रदाय की जो शिष्य-परंपरा और साहित्य उपलब्ध होता है वह भी निम्बार्क संप्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता । जुगल सरकार को आराध्य मानने पर भी सखी रूप से उसकी आराधना का विधान इस संप्रदाय में है, जो रसोपासना की दार्शनिक विशुद्धता से सर्वथा असम्पृक्त है ।'[२]

स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा के जो विरक्त संत हुए उनमें से सर्वप्रमुख आठ शिष्यों को `अष्टाचार्य` कहते हैं । वे हैं श्री विट्ठल-विपुलजी, श्री बिहारिनदासजी, श्री नागरीदासजी, श्री सरसदासजी, श्री नरहरिदासजी, श्री रसिकदासजी, श्री ललिताकिशोरीदासजी तथा श्री

---

१. वैष्णवभक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३८० से उद्धृत ।

२. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ५१-५२.

अलिसामोहिनीदास जी ।

इस प्रकार मध्ययुगीन भारत में तत्कालीन गतिविधियों को ध्यान में रखकर अनेक संप्रदाय और सिद्धान्त चलाये गये, जिन्होंने भक्ति आन्दोलन को अत्यधिक बल प्रदान किया । भक्ति-मार्ग के इन विभिन्न संप्रदायों ने तत्कालीन जनता को सान्त्वना दी । यद्यपि इन आचार्यों की उपासना की रीति और पद्धति अलग-अलग थी, तो भी सभी का उद्देश्य केवल भक्ति ही था ।

भक्ति-आन्दोलन की देन

मध्ययुगीन भारत में जो व्यापक भक्ति-आन्दोलन का प्रचार हुआ, उसका बहुमुखी प्रभाव पड़ा था । हिन्दी प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन से हिन्दी साहित्य में अनेक भक्त-कवियों का प्रादुर्भाव हुआ । इस प्रकार इन भक्त कवियों ने निराकार तथा साकार ब्रह्म को लेकर जो साहित्य-सर्जना की, उस आधार पर भक्ति-साहित्य को, साहित्य के आलोचकों ने दो धाराओं - निर्गुण धारा तथा सगुण धारा में विभक्त किया है । इन दोनों धाराओं के विकास में भक्त-कवियों का काफी महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

अब हम भक्ति-आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिन्दी में विपुल मात्रा में रचित निर्गुण और सगुण भक्ति काव्य और उसके रचयिताओं का परिचय देंगे । हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नामक दो शाखाएं और सगुण काव्यधारा की रामभक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा नामक दो शाखाएं हैं । इन विभिन्न भक्ति-काव्यधाराओं में आने वाले प्रमुख कवि और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है ।

निर्गुण भक्ति-काव्यधारा :

ज्ञानाश्रयी शाखा ।

कबीर

निर्गुण भक्ति-काव्यधारा के संत कवियों में महात्मा कबीरदास जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उनके प्रादुर्भाव ने हिन्दा साहित्य के विशेष अंग की

पूर्ति की । कबीरदास जी पहले संत थे, बाद में कवि । उन्होंने भक्ति-मार्ग के लिए जिन रचनाओं का निर्माण किया उनमें सिद्धांत का प्राधान्य है, काव्य का नहीं । उनका उद्देश्य कविता करना नहीं था, अपितु धार्मिक संदेश पहुंचाना था । उन्होंने विधिवत् कवि-कर्म का अध्ययन नहीं किया और कागद-मसी को छुआ तक नहीं । इतना होने पर भी उनका काव्य-गगरी में अपरिमित रस एकत्रित हुआ है । डा० रामकुमार वर्मा ने इसके बारे में यों कहा है – 'कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है । यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की, तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं । कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, सन्देश प्रधान है । कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है । उस संदेश को प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्यमय है ।'[१]

कबीर की संपूर्ण रचनाएं अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं । प्रो० एच.एच. विल्सन (सं० १९०३) के अनुसार कबीर की आठ रचनाएं हैं । 'कबीर बीजक' प्रामाणिक रचना है । इसके तीन भाग हैं, साखी, सबद और रमैनी । अधिकांश विद्वान कबीर की रचनाओं की संख्या ५७ से ६१ तक मानते हैं । डा० रामकुमार वर्मा ने अपने संपादित 'संत कबीर' की प्रस्तावना में इनकी संख्या पचासी बताई है । श्री वेंकटेश्वर प्रेस में छपी पुस्तकों में आदिग्रन्थ, बीजक, तथा कबीर ग्रंथावली का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

कबीरदासजी की भाषा परिपुष्ट और परिमार्जित नहीं है । कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके रमैनी, सबद और साखी नामक तीन भाग हैं । साखी के भीतर सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत का उपदेश मुख्य रूप से होता है । साखी की भाषा के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने ग्रंथ में लिखते हैं – 'साखी की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ीबोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं, जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २६७.

व्यवहार है ।[१] यद्यपि कबीर की भाषा परिष्कृत और परिमार्जित नहीं है, तो भी उसमें कहीं कहीं विलक्षणता का चमत्कार है ।

रैदास (रविदास)

रामानन्द की शिष्य-परंपरा में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इनका कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मिलता, लेकिन `बानी` के नाम से इनके फुटकल पद `संतबानी सीरीज` में संग्रहीत हैं । उनके चालीस पद तो `आदि गुरु ग्रंथ साहब` में जोड़े गये हैं ।

धर्मदास

ये कबीर के शिष्यों में एक थे । इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिनमें `सुख निधान` का बहुत ऊंचा स्थान है ।

गुरु नानक

गुरु नानक सिक्ख मत के प्रवर्तक एवं संस्थापक हैं । नानक तथा उनके पीछे के गुरुओं के द्वारा रचे गये पदों को सिक्ख धर्म के छठे गुरु अर्जुन ने संग्रहीत कर `गुरु ग्रंथ साहब` का निर्माण किया । आज तो यह ग्रंथ सिक्ख संप्रदाय का सैद्धांतिक ग्रंथ है ।

दादूदयाल

दादूदयाल सैद्धांतिक दृष्टि से कबीर-मार्ग के अनुयायी थे; लेकिन उन्होंने दादू-पंथ नामक एक प्रसिद्ध पंथ चलाया । उनकी बानी `दादूदयाल ग्रंथावली` में संकलित है । वे कबीर की साखी से मिलते-जुलते हैं । उनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है ।

सुन्दरदास

सुन्दरदास दादू के शिष्य थे, जो सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान संपन्न महात्मा थे।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८२.

उन्होंने कुल मिला कर ४२ ग्रंथों की रचना की । इनमें 'सुन्दर विलास' ही सुप्रसिद्ध है । इसमें संग्रहीत विषयों के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदीजी का मत है कि विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रंथों से संग्रहीत तत्ववाद है, जो हिन्दी कविता में नई चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सहृदयों के लिए विशेष आकर्षक नहीं है । छत्र बंध आदि प्रहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है । असल में सुन्दरदास संतों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं; फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं ।

मलूकदास

निर्गुण संत परम्परा में मलूकदास जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इन्होंने मलूक पंथ नामक पंथ चलाया । इनकी नौ पुस्तकें सर्वप्रमुख हैं । वे हैं— ज्ञानबोध, रतनखान, भक्त-बच्छावली, भक्त-विरुदावली, पुरुष विलास, दस रत्न ग्रंथ, गुरु प्रताप, अलख बानी तथा रामावतार लीला । इनकी भाषा सरल और सुव्यवस्थित है ।

प्रेमाश्रयी शाखा

हिन्दी प्रेममार्गीय कवियों में कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उस्मान, शेख नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद का नाम विशेष महत्व का है । इनमें प्रथम चार सर्वप्रमुख हैं । कुतबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', जायसी का 'पदमावत', उस्मान की 'चित्रावली' हिन्दी-साहित्य के लिए अमूल्य देन हैं ।

सूफी प्रेमाख्यानक कवियों में जायसी का स्थान हिन्दी भक्ति-साहित्य में जाज्वल्यमान है । उन्होंने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया, जिनका नाम यथाक्रम पद्मावत, आखिरीकलाम, अखरावट, सखरावत, चंपावत, इतरावत, मटकावत, चित्रावत, खुर्वानामा, मोराईनामा, मुकहरानामा, मुखरानामा, पोस्तीनामा, पुहरानामा (होलीनामा), नैनावत, स्फुट छंद, कहारनामा,

मेखरावटनामा, धनावत, सोरठ, परमार्थ जपजी हैं । इनमें पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम प्रकाशित हैं, शेष अप्रकाशित ।

जायसी ने अपने ग्रंथों में ठेठ अवधीभाषा का प्रयोग व्यापक रूप में किया है । उनका यह ग्रंथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यंत महान ग्रंथ है । इसके बारे में डा० गोविन्द त्रिगुणायत का कथन है — "जब हिन्दू और मुसलमान शासकों के मध्य दुर्भाव बढ़ता जा रहा था तब जायसी जैसे सहृदय साधक कवियों ने भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के सामंजस्य का सफल साहित्यिक प्रयास किया था । उनके इस प्रयास ने ही जनता को स्नेह और सद्भाव के एक ही सूत्र में बांध दिया था । यदि पद्मावत जैसे ग्रंथों की रचना न की गयी होती और जायसी जैसे सूफी संत न हुए होते तो भारतीय संस्कृति का इतिहास कुछ और ही हुआ होता । अतएव जायसी और उसके महान् अन्य ग्रंथ पद्मावत का तथा उसके अनुकरण पर लिखे जाने वाले अन्य प्रेमाख्यानों का बहुमुखी महत्व है ।"[१]

सगुण भक्ति-काव्य-धारा

कृष्ण-भक्ति-शाखा

हिन्दी-भक्ति-साहित्य की कृष्ण-भक्ति-शाखा के विभिन्न कवियों ने अनेक कृष्ण-भक्त काव्यों की रचना की । कहा जाता है कि अनेक कृष्ण-भक्ति संप्रदायों के द्वारा इन कवियों को काव्य-रचना का प्रोत्साहन मिला । कृष्ण-भक्ति-काव्य-धारा में अनेक संप्रदाय हैं, जिनमें वल्लभ, राधावल्लभीय, गौड़ीय, निम्बार्क और हरिदासी संप्रदाय मुख्य हैं । अब हम इन विभिन्न संप्रदायों के कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहां दे रहे हैं, जो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियां हैं ।

वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख कवि :

महाकवि सूरदास और उनकी रचनाएं —

महाकवि सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन में सूर्य के समान हैं । उनकी

---

१. जायसी का पद्मावत : काव्य और सौन्दर्य — डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २.

रचनाओं में गीतात्मकता का गुण असीम मात्रा में है । ये सब इनके जीवन-काल से लेकर अब तक के अनगिनत भक्त-भ्रमरों और साहित्यानुरागी रसिक-जनों को अपरिमित आनन्द प्रदान कर रही हैं । सूरकृत रचनाओं के बारे में आज भी अनेक मतभेद हैं । डा० हरवंशलाल शर्मा ने सूरकृत कहे जाने वाले ग्रंथों की सूची इसप्रकार दी है[1] – (१) सूरसारावली, (२) भागवत भाष्य, (३) सूर-रामायण, (४) गोवर्धनलीला (सरस लीला), (५) भंवरगीत, (६) प्राणप्यारी, (७) सूर-साठी, (८) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद, (६) एकादशी महात्म्य, (१०) साहित्यलहरी, (११) दशम स्कंध भाषा, (१२) मानलीला, (१३) नाग-लीला, (१४) दृष्टिकूट के पद, (१५) सूर-पचीसी, (१६) नल-दमयंती, (१७) सूरसागर, (१८) सूरसागर सार, (१६) राधा रस-केलि कौतूहल, (२०) दानलीला, (२१) ब्याहलो, (२२) सूरशतक, (२३) सेवाफल, (२४) हरिवंश टीका (संस्कृत), (२५) राम-जन्म। इन रचनाओं में कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं । सूरदासजी की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध और प्रमुख रचना `सूरसागर` है, जिसके द्वारा कृष्ण भक्तों को आनंद की प्राप्ति हुई । सूरदास ने भागवत की कथाओं और तत्वों से तथ्य ग्रहण करके, अपनी मोहिनी कल्पना के द्वारा उन्हें परिमार्जित और परिष्कृत करके इस महान काव्यकृति का प्रणयन किया है ।

परमानन्ददास

अष्टछाप कवियों में परमानन्ददास का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि खोजरिपोर्ट में `ध्रुवचरित्र` तथा `दानलीला` नामक रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से एकमात्र `परमानन्दसागर` ही परमानन्ददास की असंदिग्ध रचना सिद्ध होती है ।[2] मीतलजी ने इन रचनाओं के अतिरिक्त `उद्धवलीला`, परमानन्ददास के पद तथा संस्कृत रत्नमाला का भी उल्लेख किया है,[3] किन्तु न तो इनका कोई परिचय ही दिया है, और न इनकी प्रामाणिकता पर ही विचार किया है ।

---

१. `सूर और उनका साहित्य` डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ३५.
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय : भाग १, पृ० ३११.
३. अष्टछाप परिचय, पृ० १३५.

'परमानन्दसागर' में उनके पद संग्रहीत हैं, जो भगवद् भक्तों को असीमित आनन्द प्रदान कर रहे हैं। इन पदों के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है कि उक्त पदों में दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के कृष्ण के मथुरा-गमन और भ्रमरगीत तक का ही मुख्यत: वर्णन है। सूरदासजी ने तो स्वयं अपनी रचना में कहा है कि वे भागवत के अनुसार विषयों को प्रस्तुत कर रहे हैं।[१] परमानन्ददास के पदों में इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। परमानन्द-सागर का क्रम रागों के अनुसार न होकर विषय के अनुसार है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है।

नन्ददास

अष्टछाप के कवियों में इनकी गणना श्रेष्ठ है। उन्होंने अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की। नन्ददासकृत २८ या ३० ग्रंथों में अधिकतर ग्रंथ अप्रामाणिक हैं। डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार नन्ददास की १४ रचनाएं हैं।[२] वे हैं — रसमंजरी, अनेकार्थ मंजरी, मानमंजरी, दशमस्कंध, श्यामसगाई, गोवर्धन लीला, सुदामाचरित, विरहमंजरी, रूपमंजरी, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी, भंवरगीत, सिद्धांत पंचाध्यायी, पदावली। इनमें रासपंचाध्यायी और भंवरगीत ही भक्तसमुदाय और साहित्य जगत् में अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

कृष्णदास

कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्टछाप के कवि थे। कृष्णदास की प्रामाणिक रचना केवल उनके पद ही हैं। 'कीर्तन संग्रह' के तीन भागों में प्रकाशित २४८ पदों के अतिरिक्त इनके ६७६ पदों के हस्तलिखित संग्रह की दो प्रतियां - एक कांकरौली तथा एक नाथद्वारा में उपलब्ध हैं। इन स्थानों में प्राप्त अन्य संग्रहों में भी 'कृष्णदास के पद' मिलते हैं।[३] कृष्णदास भ्रमरगीत, प्रेमतत्वनिरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव वंदन, बानी, प्रेमरसराशि, हिंडोरा लीला आदि के रचयिता हैं।

---

१. अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ३११.
२. वही, भाग १, पृ० ३८८-३८९.
३. वही, भाग २, पृ० ३१५, ३२३.

कुंभनदास

ये परमानन्ददासजी के समकालीन थे । भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इनका अनन्य अनुराग था, जिसने उन्हें कवि बना दिया । नाथद्वारा के निजी पुस्तकालय में ४६७ पदों का एक संग्रह प्राप्त हुआ है और विद्याविभाग कांकरौली में १८६ पदों का, जिसका डा० दीनदयालु गुप्त ने उल्लेख किया है ।[१] कुंभनदासकृत ग्रंथों के तौर पर 'दानलीला' और 'स्यामसगाई' का उल्लेख प्राप्त है ।

चतुर्भुजदास

ये गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य और कुम्भनदास के पुत्र थे । अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान विशेष उल्लेखनीय है । ये द्वादशयश, भक्तिप्रताप तथा हितजू को मंगल के रचनाकार थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने फुटकल पदों का संग्रह किया है ।

छीतस्वामी

ये भी गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य हैं, जो अष्टछाप के कवियों के अन्तर्गत आते हैं । इनके कुछ पदों का संग्रह मिलता है । कुल मिलाकर २१० पद संकलित किये गये हैं । इनमें ६७ पद वर्षोत्सव से सम्बन्धित हैं, १०६ पद नित्यलीला से सम्बन्धित हैं और ३८ पद अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित हैं ।

गोविन्दस्वामी

अष्टछाप के कवियों में और गोस्वामी विट्ठलनाथजी की शिष्य-परंपरा में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने भगवद् भक्तों के लिए ५७६ पदों का निर्माण किया, जिन्हें वर्षोत्सव, नित्यक्रम, और प्रकीर्ण नामक शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग १, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २६४-२६५.

राधावल्लभ संप्रदाय के प्रमुख कवि

श्री दामोदरदासजी (सेवकजी)

राधावल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्यों में श्री सेवकजी का स्थान सर्वोपरि है। उनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे। उनके `राधावल्लभ भक्तमाल` में बीस शिष्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें सर्वश्री रसिकदास, द्वारकादास, पुष्करदास, श्यामशाह कुंवर, मोहनदास, माधुरीदास, प्राणनाथ और संतदास का नाम उल्लेखनीय है। `राधावल्लभ भक्तमाल`[1], `भक्तनामावली`[2] जैसे सांप्रदायिक ग्रंथों में इनकी स्तुति की गयी है। सेवकजी के जीवनवृत्त के बारे में भगवत-मुदित ने तथा उत्तमदास ने अपने `रसिक अनन्यमाल` और प्रियादास ने अपने `सेवकचरित` में विस्तार से वर्णन किया है।

हरिराम व्यास

इनका पूरा नाम हरिराम शुक्ल था। `व्यास` तो उनकी उपाधि थी। नाभादास के भक्तमाल, भगवत्मुदित के रसिक अनन्यमाल तथा उत्तमदास के रसिकमाल में इनका विस्तार से परिचय मिलता है। हरिराम व्यासजी उच्चकोटि के कवि और दार्शनिक दोनों थे। वे संस्कृत में निपुण थे। उन्होंने संस्कृत में दो ग्रंथ लिखे हैं – `नवरत्न`, `स्वधर्मपद्धति`। इस प्रकार हरिराम व्यास का नाम राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्यों में विशेष उल्लेखनीय है।

ध्रुवदास

ध्रुवदास राधावल्लभ संप्रदाय के कवियों में विख्यात हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है – `राधावल्लभ संप्रदाय के भक्त-कवियों में सांप्रदायिक

---

१. सेवक सम सेवक नहीं, धर्मिन मांझ प्रधान।

- `राधावल्लभ भक्तमाल`, पृ० २५२.

२. सेवकजी सम को करै भजन सरोवर हंस।
मन वच कं धरि एक व्रत गाये श्री हरिवंश ।।
- `भक्तनामावली`।

सिद्धांतों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदासजी की वाणी में उपलब्ध होता है, वैसा अन्य किसी महानुभाव की वाणी में नहीं । ध्रुवदासजी ने राधावल्लभीय भक्ति-तत्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हितहरिवंशजी की भक्ति-पद्धति के भाष्यकार थे ।"[१]

ध्रुवदास निरंतर अपनी इष्टदेवता श्रीराधा से वरदान प्राप्त होने पर पद-रचना करने लगे । उन्होंने कुल मिलाकर ४२ कृतियों की रचना की, जो 'ब्यालीसलीला' के नाम से संकलित मिलती है । इनके अतिरिक्त उनके १०३ फुटकल पद भी उपलब्ध हैं, जो ब्रजभाषा में हैं । वे सब काव्यात्मक हैं, केवल 'सिद्धांत विचारलीला' नामक एक ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य में है ।

गौड़ीय संप्रदाय के प्रमुख कवि

गदाधर भट्ट और उनकी रचनाएं –

चैतन्य संप्रदाय के कवियों में इनका नाम सर्वोपरि है । वे राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे और गौड़ीय संप्रदाय के प्रसारक चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे । इन्होंने प्रधानतः पदों की ही रचना की । उनकी 'मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट की' नामक रचना में पदों के अलावा कुछ संस्कृत के गीत और वृन्दावन की महिमा में रचे ५४ रोला छन्दों का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है । 'योगपीठ' गदाधर भट्ट की वाणी का एक भाग है ।

भट्ट जी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे । इसलिए उनकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत गर्भित है । आलोचक रामचन्द्र शुक्लजी का कथन है – "संस्कृत के धुरंधर पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था । इनका पदविन्यास बहुत ही सुन्दर है ।"[२]

---

१. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य – डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ४२६.

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२२.

सूरदास मदनमोहन :

इनका पर्याय नाम `सूरध्वज` था । ये मदनमोहन के अनन्य उपासक थे । अपने नाम के साथ इष्ट-आराध्य की घनिष्ठता स्थापित करने से इनका नाम `सूरदास मदनमोहन` के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

सूरदास मदनमोहन के अनेक पदों का उल्लेख कीर्तन संग्रहों में मिलता है । उनका नाम सूरदास होने पर महाकवि सूरदास के `सूरसागर` में उनके कुछ पद घुल-मिल गये हैं, पर उनके समस्त पदों में सूरदास मदनमोहन की छाप उपलब्ध है।

रामराय और उनकी रचनाएं :

ये महाप्रभु चैतन्यदेव के अनुगामी माने जाते हैं । ये `आदिवाणी` और `गीतगोविन्द भाषा` नामक दो ब्रजभाषा की रचनाओं के रचयिता हैं । इनकी भाषा परिमार्जित और परिनिष्ठित है और शैली अत्यंत प्रौढ़ है ।

सखी संप्रदाय के प्रमुख कवि

श्री विट्ठलविपुलदेव जी :

स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय के अष्टाचार्यों में श्री विट्ठलविपुलदेवजी का नाम बहुत प्रसिद्ध है । उन्होंने स्फुट पदों में अपनी रचना की है । इनका उल्लेख `कीर्तन संग्रह` और `राग कल्पद्रुम` में मिलता है । `निम्बार्क माधुरी` में उनके ४० पदों में २६ पदों का उल्लेख प्राप्त है । इसमें राधा-कृष्ण के नित्य-विहार, क्रीड़ा, मान, दान, नोंक-झोंक आदि विषयों का सजीव वर्णन है ।

श्री बिहारिनदासजी

श्री विट्ठलविपुलदेव के बाद सखी संप्रदाय के आचार्यों में श्री बिहारिनदास जी का महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने साखी (६७३), चोकोड़ा (७१), सवैया (१५१), सिद्धांत के पद (१७६) और रस के पद (६६१) – की रचना की ।[१]

---

१. कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी संप्रदाय : शरण बिहारी गोस्वामी, पृ० ४८३.

उनकी साखी और सिद्धांत की रचनाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि उनमें संत-साहित्य की सी तेजस्विता के दर्शन होते हैं। उनकी कुछ रचनाओं में कबीरदास का-सा फक्कड़पन और फटकार भी है। उन्होंने शाक्तों की कड़े कटु शब्दों में निन्दा की है। इसके साथ ही उन्होंने अनन्य भक्ति में श्राद्ध-कर्म और तीर्थ यात्रा की तथा लोभी कथावाचकों एवं ढोंगी पंडितों की भी तीव्र आलोचना की है।

भक्ति युग के संप्रदाय मुक्त कवि

मीराबाई –

मीराबाई हिन्दी की सबसे अधिक प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवयित्री हैं। मीरा के नाम पर कई रचनाएं प्राप्त हैं। उनमें `नरसीजी रो माहेरो`, `गीत गोविन्द की टीका`, `राग गोविन्द`, `सोरठ के पद`, `मीराबाई की मलार` और `गर्बी गीता` सर्वप्रमुख हैं।

रसखान

मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि रसखान का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के लिए प्रशंसात्मक है। शिवसिंह सरोज[१], गोस्वामी राधाचरणकृत `भक्तमाल`, बाबा बेनीमाधवदासकृत `मूल गोसाईं चरित` आदि में रसखान के जीवन-वृत्त उल्लेख प्राप्त हैं। रसखान की दो रचनाएं अत्यंत महत्व की हैं – एक प्रेम-वाटिका और दूसरी सुजान-रसखान। प्रेम-वाटिका में कवि ने प्रेम की महिमा गाकर इसको ईश्वर से बढ़कर प्रधान दिखाने का प्रयास किया है। `सुजान रसखान` कवित्त और सवैये छन्द में लिखकर मुरलीधर मनमोहन और गोपी-कृष्ण के प्रेम की प्रधानता दिखायी है।

रसखान की भाषा सुन्दर और परिमार्जित ब्रजभाषा है। कृष्ण

---

१. `शिवसिंह सरोज` में लिखा है कि रसखान कवि सैयद इब्राहीम पिहानेवाले सं० १६३० वि० में हुए। ये मुसलमान थे। श्री वृन्दावन में जाकर कृष्णचन्द्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्यागकर माला-कंठी धारण किए वृन्दावन की रज में मिल गये। इनकी कविता निपट ललित माधुरी से भरी हुई है।

६. कै ले जाहु अनत ही बेचन, कै ले जहाँ विष-बेली ।।[१]

७. जोग हमको भोग कुबजहिं, कौन सिख सिखई ।[२]

८. कुबजा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग ।।[३]

९. हमकौं जोग भोग कुबिजा कौं, ऐसी समुझ तुम्हारि ।[४]

१०. भोग कुबिजा कूबरी कौ, कौन बुद्धि भई ।
सिंह भख तजि चरत तिनुका, सुनि बात नई ।[५]

इसके अतिरिक्त सूरदास की रचनाओं में सौतिया डाह के और भी अनेक सुन्दर पद मिलते हैं । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी सौतिया डाह का उल्लेख 'रामचरितमानस' के अयोध्याकांड में किया है । राम को जब युवराज बनाने की इच्छा महाराज दशरथ ने प्रकट की और उसके लिए तैयारियाँ होने लगीं तब दासी मंथरा के उपदेश से रानी कैकेयी के मन में सपत्नी की ईर्ष्या उत्पन्न होती है । उस समय कैकेयी का वचन देखिए —

अस अभिलाषु नगर सब काहू । कैकयसुता हृदय अति दाहू ।।
को न कुसंगति पाइ नसाई । रहै न नीच मतें चतुराई ।।[६]

राम-वनगमन का समाचार सुनकर अयोध्यावासी कहते हैं —

कबहुँ न कियहु सवति आरेसू । प्रीति प्रतीति जान सब देसू ।।
कौसल्या अब काह बिगारा । तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ।।[७]

अतः यही कहा जा सकता है कि सपत्नी की ईर्ष्या बहुपत्नित्व के कारण ही उत्पन्न होती है । मध्ययुगीन समाज में बहुपत्नित्व की प्रथा थी और इस प्रथा के कारण समाज में सपत्नी की ईर्ष्या बढ़ गयी । शासकों ने अपने विलासपूर्ण जीवन से लालायित होकर बहुपत्नित्व को स्वीकार किया ।

---

१. सूरदास और उनका भ्रमरगीत डा० श्रीनिवास शर्मा, पद ४५, पृ० १४७.
२. वही, पद ९३, पृ० १९९.
३. वही, पद १०६, पृ० २१५.
४. वही, पद ३९१०, पृ० १४२७.
५. वही, पद ३७०४, पृ० १३७५.
६. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० ४, पृ० ३९.
७. वही, चौ० ४, पृ० ७७.

नारी धर्म और उसका आदर्श

समाज में नारी का सबसे प्रमुख धर्म है पति-सेवा । हिन्दू धर्म-ग्रंथों के अनुसार कोई भी शुभ कार्य अकेले स्त्री से नहीं हो सकता । स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी समझी जाती है । नारी की साझेदारी और उपस्थिति के सिवा पुरुष समाज में कोई भी सत्कर्म नहीं कर पाता, जिसे कि पुरुष की संगिनी माना जाता है । मनुस्मृति में नारी धर्म के बारे में यों कहा गया है --

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषतम्
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।
पाणिग्रहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ।।
कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ।।[१]

मध्यकालीन सन्त कवियों ने नारी-धर्म और आदर्शों को लक्षण सहित अपने काव्यों में उद्धृत किया । संत कवियों ने पति-पत्नी का संबंध आत्मा-परमात्मा से किया है । आत्मा को नारी रूप में और परमात्मा को पति रूप में चित्रित किया है । कबीरदासजी पतिव्रता नारी का लक्षण इस प्रकार बताते हैं --

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ।।[२]

उपर्युक्त साखी से यह मालूम होता है कि पतिव्रता नारी अपने प्रियतम के प्रति इतना अनुराग प्रकट करती है कि वह अपनी आँखों में काजल नहीं लगाती, क्योंकि उसकी आँखों में परमात्मा रूपी प्रियतम बसता है । इतना ही नहीं

---

१. बीस स्मृतियां पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, (मनुस्मृति) - श्लोक ६, १०, ११ पृ० १४६.

२. कबीर-ग्रंथावली, साखी ४, पृ० १५४.

पतिव्रता नारी सुमंगली होने पर अपनी मांग में सिंदूर भरती है। कबीर ने पतिव्रता नारी का और भी लक्षण बताया है। अगर पिय को अच्छी नहीं लगती, तो पड़ोसियों को प्रसन्न करने से क्या लाभ है? सोलह शृंगार से कुछ भी फायदा नहीं। सिन्दूर, काजल आदि का उपयोग व्यर्थ ही करती है। स्नानादि से आत्मा स्वच्छ हो जाती है। अगर स्त्री शृंगार करती है तो वह उससे स्वामी को रिझाना चाहती है। जो पतिव्रता नारी है वह किसी भी प्रकार से रहे अन्तत: प्रिय की प्यारी ही होगी। कबीर कहते हैं कि सुहागिन का एकमात्र लक्षण यह है कि वह मन-मन जीवन से अपने को प्रभु की शरण में डाल देती है।[1] कबीर ने 'कबीर-दोहावली' में स्त्री-धर्म और आदर्श अथवा पतिव्रता नारी का चित्रण किया है। सौभाग्यवती स्त्री कितनी भी कुचली और कुरूपा हो, तो भी उसकी सुन्दरता कभी नष्ट नहीं होती।[2] स्त्री-धर्म के बारे में ऐसा भी कहा गया है कि पति की श्रेष्ठता पत्नी को सदैव मान्य है। पत्नी अपना पृथक् अस्तित्व न रखकर केवल उसी की या उसी के लिए हो जाना चाहती है। पत्नी की इसी अभिलाषा का उत्कर्ष उन स्थलों पर द्रष्टव्य है जहाँ वह अपना अस्तित्व मिटाकर उसकी धूलि रज और अधर धूलि प्याला होना चाहती है। जायसी ने इसका चित्रण यों किया है --

> यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
> मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहं पाउ ॥[3]

---

१. जो पै पिय के मनि नहीं भांये, तौ का पारोसनि कै हुलराये ॥ टेक ॥
   का चूरा पाइल भमकायें, कहा भयौ बिछुवा ठमकायें ॥
   का काजल स्यंदूर कै दीयें, सोलह स्यंगार कहा भयौ कीयें।
   अंजन मंजन करैं ठगौरी, का पचि मरैं निगौड़ी बौरी ॥
   जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसै हीं रहौ सो पियहि पियारी।
   तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागनि कहै कबीरा ॥
   - कबीर ग्रंथावली, पद १३६, पृ० ४१७-१८.

२. पतिवरता मैली भली काली कुचल कुरूप।
   पतिवरता के रूप पर वारूं कोटि सरूप ॥
   - कबीर दोहावली, पृ० १५.

३. पद्मावत - जायसी   व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४२६.

अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि सूरदासजी के विचारों में नारी का परम धर्म पति की सेवा करना ही है। पति चाहे किसी भी तरह का हो, अर्थात् रोगी, पापी, दुष्ट, कपटी, मूर्ख, वृद्ध - जो भी हो उसकी सेवा करना ही पत्नी का कर्तव्य है। पति को सबसे पूजनीय मानना है। कोई स्त्री बिना पति की सेवा के संसार-सागर रूपी पाप से या नरक से मुक्ति नहीं पाती।[1] सूरदास आगे बढ़कर कहते हैं कि स्त्री का परम धर्म है कि उसे पति की परमेश्वर की भाँति पूजा करनी चाहिए। देखिए पति अगर मूर्ख, लम्पट, वृद्ध, रोगी, बौना, बधिर, कुचाली, दरिद्र, घमंडी, कूठा, चोर, कुरूप, विकलांग, अंध-अधर्मी, अधम, क्रोधी एवं उन्मादी हो तो, कुलीन स्त्री उसको नहीं छोड़ती, वह पातिव्रत्य रीति को स्वीकार करती है और उसका आदर-सत्कार करती है।[2] सूरदास इसीलिए पातिव्रत्य को नारी का परम धर्म और सुखदाई मानते हैं।[3] जायसी ने नागमती और पद्मावती का चित्रण पतिव्रता और आदर्श नारी के रूप में किया है। जायसी ने 'पद्मावत' की रचना हिन्दू रीति और पद्धति के

---

१. इहिं विधि वेद-मारग सुनौ।
कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।।
कंत मानहु भव तरौगी, और नाहिं उपाइ।
ताहि तजि क्यौं विपिन आईं, कहा पायौ आइ।।
बिरध अरु बिन भागहू कौ, पतित जौ पति होइ।
जऊ मूरख होइ रोगी, तजै नाहीं जोइ।।
यहै मैं पुनि कहत तुम सौं, जगत मैं यह सार।
सूर पति-सेवा बिना क्यौं, तरौगी संसार।।

- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०१६, पृ० ४११

२. मूरख लम्पट वृद्ध और नित रोग निर्मंडित।
बौना बधिर कुचालि सदा दारिद्र घमंडित।।
कूठो चोर कुरूप बहुरि, अंगनि सौं खंडित।
अंध अधरमी, अधम रहै अति क्रुद्ध उमंडित।
'शशिनाथ' कहौ ऐसो जऊ पति न तऊ कुल तिय तजै।
उर अन्तर प्रीति बढ़ायकै रीति पतिव्रत की सजै।।

- सोमनाथ-रत्नावली, पद ४७, पृ० ३४.

३. प्रभु कह्यौ पतिव्रत करौ सुघाई। तुमकौं यहै धर्म सुखदाई।।

- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८००, पृ० ५३९.

अनुसार किया है । पद्मावती और नागमती पातिव्रत्य धर्म पर अटल रहती हैं । अलाउद्दीन द्वारा राजा रत्नसेन को छल से कैदी बनाये जाने तक वे दोनों अटल विश्वास के साथ रहती हैं । गोरा-बादल युद्ध खंड में जायसी कहते हैं कि स्त्री की भाँति कच्ची मति से पुरुष कर्म नहीं करते हैं ।[1] पतिव्रत धर्म के अन्तर्गत कवियों ने प्रेम से पति की सेवा करना, सौतों से ईर्ष्या न करना, स्वयं को दुःख देकर स्वामी को सुखी रखना, स्वामी के लिए शृंगार करना, उसकी अनुपस्थिति में शृंगार न करना, मंत्रों-यंत्रों से पति को वशीभूत करने का उपाय न करना, दूतियों से बचकर रहना तथा पति वामास में त्याग कर देना - आदि पतिव्रत धर्म के विभिन्न अंगों का वर्णन किया है ।[2] इसका जीता-जागता वर्णन उसमान की 'चित्रावली' में मिलता है ।[3]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं में नारी-धर्म और आदर्श की उद्घोषणा की है । आदर्श नारियों की एक विवरणिका 'मानस' में प्राप्त है । तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के पारिवारिक जीवन में आदर्श नारी जैसे कौशल्या, सुमित्रा, सीता आदि के चरित्रों को हमारे सम्मुख रखा । 'मानस' की महिलाओं में कौशल्या रानी एक आदर्श पत्नी, आदर्श माता एवं आदर्श सास है । वह लोलुपता से विहीन है । तुलसीदासजी ने उसके महान चरित्र को सम्मुख रखकर भारतीय नारियों को आदर्श और धर्मात्मा नारी बनने का उपदेश दिया

---

१. पुरुष न करहिं नारि मति काँची । जस नौशाबै कीन्ह न बाँची ।
- पद्मावत, व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ०

२. हिन्दी सूफी कवि और काव्य सरला शुक्ल, पृ० ६८३.

३. मैं चित लाइ करब पिउ सेवा, एक पीउ दोउ जग सुत देवा ।
मंत्र जंत्र साधब जनि कोई, सेवा एक पीउ बस होई ।
जो बस होई तौ गरब न करिये, आपु अधीन होइ मन हरिये ।
सौतिन कर ईरषा नहिं करना, साईं संग सदा जिय डरना ।
अलप मान सेवा अधिक, रिसि राखब जिउ मारि ।
जेहि घर महं से तीन गुन सोइ सोहागिन नारि ।।
- चित्रावली, उसमान, पृ० २२३.

है ।[1] तुलसीदासजी के इस वर्णन से यह मालूम होता है कि उन्होंने आदर्श और धर्मात्मा पात्रों को हेय दृष्टि से नहीं देखा । उन्होंने कौशल्याजी के समान सीताजी को भी आदर्श और पतिव्रता स्त्री माना है । सीताजी को रामचन्द्रजी पर दृढ़ अनुराग है । पतिव्रता स्त्री अपने जीवन में सब प्रकार के कष्ट झेलने को तैयार रहती है, जबकि वे अपने पति के लिए होते हैं । इसका स्पष्टीकरण हम सीताजी के चरित्र में देख सकते हैं । जब रामजी वन-गमन के लिए तैयार हो गये तब सीताजी भी वन की कठिन विपत्तियों को सहर्ष स्वीकार करती हैं और राम के साथ वन चलने को तैयार होती हैं । लेकिन राम ने उनको समझाया कि तुम्हारा धर्म परिवार की सेवा है । परन्तु सीता ने तुरंत व्यक्त किया कि पुरुष के बिना नारी का जीवन नरकतुल्य है । स्वर्ग भी उसे नरक तुल्य है ।[2]

पतिव्रता स्त्री हमेशा पति की सेवा में तत्पर रहती है । उसके जीवन में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, वे सब उसके लिए तृणातुल्य हैं । रामजी ने उससे कहा कि मार्ग अत्यंत कठिन है, रास्ते में पहाड़, वन, जंगली जानवर, किरात, राक्षस आदि से भरा है तो सीताजी का सहज सरल कथन रहा कि ये सब कठिनाइयां पति के साथ होने पर सुखद हो जायेंगी ।[3] धर्मात्मा नारी पुरुष के मंगल कार्य के लिए अपने जीवन को भी त्याग देती है । सीताजी में भोग की लालसा नहीं है, वह सुकुमारी है । लेकिन जब प्राण पति रामजी उसे वन जाने से रोकती हैं तब वह कहती है –

को प्रभु संग मोहि चितवनिहारा । सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा ।।
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुम्हहिं उचित तप मो कहुं भोगू ।।[4]

---

१. बंदौं कौसल्या दिसि प्राची । कीरति जासु सकल जगमाची ।।
- रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ४४.

तथा

कौशिल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपदकमल बिनीत ।। - वही दोहा १९८, पृ० १२४.

२. प्रानराथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर समान ।। - वही, अयो०, दो० ६४, पृ० १८.

३. भोग रोगसम भूषन भारू । जम जातना सरिस संसारू ।।
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुं सुखद कतहुं कछु नाहीं ।। वही, चौ०३, पृ०

४. वही, चौ० ४, पृ० १०१.

भारतीय समाज में विवाह के बाद पति की निस्पृह सेवा करना ही सबसे परम धर्म माना गया है । पतिव्रत धर्म के अन्तर्गत सौतों के साथ प्रेम से रहना, ईर्ष्या न करना, ननद के कटुवचन सहना, स्वयं कष्ट सहकर स्वामी को सुख पहुंचाना, पति के लिए ही शृंगार आदि करना, उसके अभाव में प्राण तक त्याग देना आदि बातों का उपदेश सूफी कवियों ने भी किया है । मधुमालती की माँ ने `गौनसंड` में उसकी विदाई के वक्त वात्सल्य सिक्त आदर्शयुक्त उपदेश दिया है –

> जौ लगि धरती गंगजल, और ससि सूर अपार ।
> तौ लगि राज सुहाग तुअं, राखौ सिरजनहार ।।[1]
>
> \+ \+ \+ \+
>
> साईं सेवा किये सुख होइ, साईं सेवा दुख जा सोई ।
> साईं सेवा करब चित लाये, जनि डोले चित दहिने बांये ।।[2]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने नारी धर्म पर एक लम्बा व्याख्यान `रामचरित मानस` के सीता-अनसूया संवाद प्रसंग में दिया है । नारी धर्म की महानता, गरिमा, उत्कृष्टता आदि का स्पष्टीकरण करते हुए धर्मात्मा नारी अनसूया ने स्वाभाविक एवं महत्वपूर्ण शब्दों में सीताजी को इस प्रकार उपदेश दिया है –

> मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ।।
> अमित दानि भर्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ।।
> धीरजु धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखि अहि चारी ।।
> वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।।
> ऐसेहु पति कर किए अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।
> एकै धर्म एक व्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ।।
> जग पतिव्रता चार विधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ।।
> उत्तम के अस बस मन मांही । सपनेहु आन पुरुष जग नांही ।।
> मध्यम परपति देखै कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।।
> धर्म विचारि समुझि कुल रहई । सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।।

---

१. मधुमालती, पृ० १५६.
२. वही, पृ० १५०-१५१.

बिनु अवसर भय ते रह जोइ । जानेहु अधम नारि जग सोई ।।
पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ।।
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ।।
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ।।
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ।।[१]

उपर्युक्त पद्यांश द्वारा तुलसीदासजी ने नारी-धर्म की ओर संकेत किया है । सनातन परंपरा के अनुसार नारी का एकमात्र कर्तव्य है पतिप्रेम और पति-सेवा ।

भारतीय जन-समाज ने पर-पुरुष को देखना तक पाप और नरकतुल्य बताया है । रामजी ने वनगमन के समय सीताजी को वन जाने से रोकने का कितना प्रयत्न किया, पर उनके सब प्रयत्न विफल रहे । अंत में सीता भी राम के साथ वन जाती हैं । राक्षस राजा रावण जब उसे हर कर ले गया तब भी वह हमेशा राम-नाम रटती रहती थी । रावण उसको सभी प्रकार की सुख-सुविधा देने को तैयार थे । लेकिन सीताजी ने अपने सतीत्व पर कलंक लाने नहीं दिया ।[२] गोस्वामी जी ने रावण की पत्नी का चरित्र-चित्रण भी उच्च आदर्श के योग्य किया है । मन्दोदरी नीति के कार्य में अति निपुण है । जब रावण सीता का हरण कर ले गया तभी से सब महाजन विशेषकर भाई, पुत्र, वृद्ध, मंत्री, साथी उन्हें समझाने लगे; लेकिन उससे उन पर कोई असर नहीं पड़ा । इसके पहले भी एक बार पत्नी मन्दोदरी ने उसे समझाया था । अब वह दूसरी बार समझाने आयी है । विषयासक्त रावण उसका उपदेश कब मानने वाला है ।

मानस में गोस्वामीजी ने तारा जैसी वानर नारी को भी उच्च आदर्श की कोटि में रखा है । उसी प्रकार वृद्ध मन्थरा का जो चित्रण किया है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । मन्थरा ने जो कुछ किया वह अपनी स्वामिनी की भलाई के लिए किया । इसी प्रकार कैकेयी भी निर्दोष है । अगर मन्थरा उसे उपदेश न देती तो वह जाने या अनजाने रामजी के वनवास की बात न सोचती । सबसे

---

१. रामचरितमानस - अरण्यकांड, चौ० ३-६, पृ० ५८८-५६०.

२. तब अनुचरी करौं प्रन मोरा । एक बार बिलोकु मम ओरा ।।
तृन धरि ओट कहति बैदेही । सुमिरि अवधपति परम सनेही ।।
- वही, सुन्दरकाण्ड, चौ० ३, पृ० ८६.

पहले वह मन्थरा की बात को इन्कार करती है । इसका तात्पर्य यही है कि अपने सभी स्त्री-पात्रों को उच्चादर्श के योग्य ही तुलसीदास ने चित्रित किया है ।

नन्ददास ने लोक-वेद की मर्यादा तोड़ना स्त्रियों के लिए उचित नहीं माना है ।[1] सूरदास ने पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष से संबंध रखने वाली स्त्रियों को कुलीन नहीं माना है । ऐसी स्त्रियों के मरने के बाद यह अनुमान किया जाता है कि उन्हें नरक ही नरक की यातना मिलेगी और जीवित रहने पर भी उन्हें कोई भला नहीं कहता ।[2] ऐसी स्त्रियों को अकुलीन की संज्ञा दी है ।[3] उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन भक्त कवियों ने नारी के धर्म और कर्तव्यों का सकाम वर्णन किया है ।

स्त्री एवं शिक्षा स्वातंत्र्य

प्राचीन काल से ही भारतीय महिलाएं शिक्षित थीं, लेकिन स्त्री-शिक्षा के मानदण्ड भिन्न थे । उच्च कुल की स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने में सुविधा थी । ग्रामीण स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा में कई कठिनाइयां थीं । अधिकांश ग्रामीण नारियाँ घर का काम और बच्चों की देख-रेख करती थीं । सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में स्त्री शिक्षा पर काफी परिवर्तन हुआ था । उस समय केवल उच्च वर्ग की नारियाँ ही शिक्षित न थीं, बल्कि निम्न वर्ग की स्त्रियां भी उस अधिकार से वंचित न थीं । वे साहित्य आदि कला में भी प्रवीण थीं । हुमायूं की बहन गुलबदन बेगम ने `हुमायूंनामा` लिखा । खानखाना की पुत्री जान बेगम ने कुरान पर टीकाएं प्रस्तुत कीं । मीराबाई, सलीमा सुलतान, नूरजहां तथा औरंगजेब की बड़ी पुत्री जेबुन्निसा उच्चकोटि की कवयित्रियां थीं । मीराबाई हिन्दी की प्रमुख कवयित्री थीं । इनके पद आज

---

१. तुम जु करी सो कोउ न करी है नवल किसोरी ।
लोक वेद की सुदृढ़ श्रृंखला तृन सम तोरी ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, दो० ६३, पृ० २५.

२. तजि भरतार और जो भजिये, सो कुलीन नहिं होइ ।
मरैं नरक, जीवत या जग में, भलो कहै नहिं कोइ ।।
- सूरसागर, दश.स्क., पद १०१७, पृ० ६११.

३. तजि भर्ता रहि जारहिं लीन । ऐसी नारि न होइ कुलीन । वही, पद १९८०, पृ० ६६८.

भी जनसाधारण की जबान पर जीवित हैं। महाराष्ट्र में रामदास स्वामी की शिष्याएं - अक्काबाई और वेनाबाई - प्रसिद्ध थीं। वे १७ वीं शताब्दी शिक्षा एवं साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

मध्यकालीन कवियों ने तत्कालीन स्त्री-शिक्षा के बारे में अपनी राय अपने उत्कृष्ट काव्यों में प्रकट की है। प्रेमाख्यानक सूफी कवियों के समय स्त्रियों को शिक्षा की सुविधा थी। अधिकांश स्त्रियां शिक्षित थीं। इसलिए समाज में वे आदर-सत्कार की पात्र थीं। जायसी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना 'पद्मावत' में स्त्री-शिक्षा का उल्लेख किया है। पद्मावती जब बारह वर्ष की आयु को प्राप्त हुई, उसे शिक्षा के लिए बैठाया गया —

पांच बरिस महं भइ सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी।
भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूं खंड के राजन्ह सुनी।
सिंघल दीप राज घर बारी। महा सुरूप दैयं औतारी।
एक पदुमिनि औ पंडित पढ़ी। दहुं केहि जोग दैयं असि गढ़ी।[1]

'पद्मावत' के नख-शिख खंड में हीरामन तोता राजा रत्नसेन से कहता है कि राजकुमारी पद्मावती सभी कलाओं में दक्ष है और वेद-शास्त्रों में अति निपुण है। वह तोता राजा से कहता है —

चतुर वेद मति सब ओहि पाहां। रिग जजु साम अथर्बन माहां।
एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह बरम्हा सिर धुना।
अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ बूझ पंडित नहिं जीता।
भासवती ब्याकरन सुरसती पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहि बान।।[2]

उपर्युक्त पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि जायसी-कालीन समाज में स्त्री-शिक्षा का विस्तृत प्रबन्ध था। यद्यपि तुलसीदास के काल में भी स्त्रियाँ शिक्षित थीं, तथापि उनको शिक्षा के लिए अधिक सुविधाएं नहीं मिलती थी।

---

१. पद्मावत - सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७६.
२. वही, पृ० १२२-१२३.

उनके काव्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके काल में नारियाँ अधिक शिक्षा प्राप्त नहीं करती थीं । वे सामान्य रूप से शिक्षित थीं । इसके अतिरिक्त माता,पिता, सास-ससुर से भी वे उचित शिक्षा पाती थीं । वे सब आदर्शपरायण एवं धर्मात्मा स्त्रियाँ थीं ।

नारी-निन्दा

भारतीय साहित्य में नारी के प्रति निन्दा अनेक स्थलों में मिलती है । भर्तृहरि ने स्त्रियों के बारे में कहा है कि वैराग्यमूलक धर्मों के उदय के साथ ही बेचारी स्त्रियों को संदेहों का भंवर, अवनियों का भवन, दु:साहसों का नगर, दोषों की अक्षय निधि, सैकड़ों कपटों वाली, स्वर्गद्वार तक विघ्न, अविश्वासों की जन्मभूमि, नरकपुरी का द्वार, माया की पेटी, ऊपर से अमृतमय और भीतर से विषमय तथा प्राणियों को बाँधने का पाश माना गया है ।[1] मनुमहाराज स्त्री-स्वातंत्र्य के विरुद्ध थे । उन्होंने कहा है –

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।।[2]

मध्ययुगीन आलोचकों और विद्वानों को स्त्रियाँ एक उलझी हुई समस्या थीं । तत्कालीन समाज में शासक लोग विलासप्रिय थे । धनी और शक्तिशाली लोग स्त्रियों को भी अन्य वस्तुओं के सदृश अमूल्य संपत्ति समझते थे । इसलिए स्त्रियों को जीवन बढ़ाने में कठिनाई हुई । वे केवल सुख-भोग या विलास की सामग्री समझी जाती थीं । कनक और कामिनी के नाम पर हमेशा युद्ध होता था । कबीर के समय में नारी के प्रति तत्कालीन जनता में जो भोग-लिप्सा थी, उसे देखकर कबीर ने स्त्रियों को निन्दा की दृष्टि से देखा । पुरुषों की इस काम-वासना का मूल कारण स्त्री है । स्त्री सर्पिणी के सदृश है । उसमें हमेशा विषय-वासना रूपी विष भरा हुआ है । यही उनका कथन था ।[3]

---

१. शृंगार शतक, भर्तृहरि, श्लोक ७६.
२. बीस स्मृतियां - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य प्रथम खंड (मनुस्मृति), श्लोक २६, पृ० १४८.
३. कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि ।
राम सनेही ऊबरे, बिषई खाये झारि ।। - कबीर ग्रंथावली, सा.सं. १, पृ०

कबीर ने स्त्री की तुलना विष और अग्नि से की है ।[१] नारी समस्त सांसारिक सुखों का जूठन है । इस सुख में मग्न होने वाले व्यक्तियों में विरले ही बच जाते हैं । वह सज्जन व्यक्तियों को भी भ्रष्ट कर देती है ।[२] कबीर ने अपने काव्य में पर-स्त्री को माया कहा है । माया भी हमेशा ईश्वर से विमुख रहती है । वह सब को असमंजस में डालती है ।

सूरदासजी ने स्त्री की निंदा नहीं की, परन्तु स्त्री-स्वातंत्र्य की ओर अपनी दृष्टि डाली है । उनके समय में स्त्रियां पुरुषों के समान हमेशा विहार नहीं कर सकती थीं । इसलिए ही वृषभानु-पत्नी राधा की बदनामी के विषय में हमेशा सोचती रहती है । बहू-बेटियों पर रोक-टोक होने पर भी गांव के किशोर और युवक यमुना पर स्नान करते, पानी भरते अथवा दधि बेचने जाते समय उनके साथ छेड़-छाड़ करने का अवसर ढूंढ लेते हैं । समाज का नैतिक जीवन बहुत कुछ अव्यवस्थित था । कृष्ण सखाओं के साथ पनघट पर स्त्रियों को छेड़ते थे, इसलिए युवतियां जल भरने नहीं आती थीं ।[३] नन्ददास के अनुसार स्त्रियां पराधीनता की प्रतीक हैं । वे इच्छानुसार विहार नहीं कर सकती थीं ।[४] यद्यपि स्त्रियां स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकती थीं, तो भी वे किसी विशेष अवसर पर, याने उत्सवों, पर्वों और समारोहों के समय बिना रोक-टोक के आया करती थीं ।

---

१. एक कनक अरु कामनीं, विष फल कीएउ पाइ ।
   देखै ही थैं विष चढ़ै, खांयें सूं मरि जाइ ।।
   + + + +
   एक कनक अरु कांमनीं, दोऊ अगनि की झाल ।
   देखें हीं तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल ।।
   - कबीरग्रंथावली, सा.सं. ११-१२, पृ० २११.

२. नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग ।
   कोइ साधु जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग ।।
   + + + +
   सुंदरि थै सूली भली, बिरला बंचै कोइ ।
   लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होय ।।
   - वही, सा.सं. १५-१६, पृ० २१२.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २०९८, पृ० १०८७-१०८८.

४. हम परबस आधीन हैं तातैं बोलत दीन ।
   जल बिनु कहि कैसें जियें पराधीन जो मीन ।।
   - नन्ददास ग्रंथावली, पद ३१, पृ० १५८.

कृष्ण जन्मोत्सव[1], गोवर्धन पूजा[2], अन्नकूट[3], दीपमालिका[4] के अवसर पर वे निर्बाध आया करती थीं।

कृष्ण-भक्त कवि रसखान ने नारी विरोधी विचारधारा का चित्र उतारा है। उनकी गोपियां कृष्ण को देखने के बाद घर को बंधन मानने लगीं।[5]

गोस्वामी तुलसीदास ने नारी को निन्दा का पात्र नहीं माना। विद्वानों का मत है कि तुलसी ने नारी जाति को आदर और श्रद्धा का पात्र माना है। तुलसीदास ने नारी निन्दा वहीं पर की है, जहां पर नारी ने धर्म-विरोधी आचरण किया है अथवा उन्होंने नारी विषयक नीति-वाक्य उद्धृत किये हैं।[6]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २०, पृ० २६५.

२-३. स्त्री गोवर्धन की पूजा कों कहत सबन सों टेरी ।।
अन्नकूट बहु भाँति बनावत रचि पकवान की ढेरी ।
नंदराय पूजत पर्वत कों लाखों गायन घेरी ।। - परमानन्दसागर, पद २५५, पृ०

४. व्रज जुवति जन मंगल गावत चौक पुरावत नंद कुमार । वही, पद २५३, पृ० ८०.

५. जा दिन ते निरख्यो नंद नंदन,
कानि तजी घर बन्धन छूट्यो ।, रसखान का अमर काव्य, पृ० ११२.

६. "तुलसी ने नारी-जाति के लिए बहुत आदर भाव प्रकट किया है। पार्वती, अनसूया, कौशल्या, सीता, ग्रामवधू आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्मपूर्ण विचारों से निर्मित हुई है। कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी-जाति की निन्दा की और ढोल गंवार की कोटि में रखा। परन्तु यदि `मानस` पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो विदित होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए जबकि नारी ने धर्म विरोधी आचरण किए।"

- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ४६४.

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की नारी निन्दा के प्रसंगों को अर्थवाद के अन्तर्गत लाकर उनके ऊपर आरोपित नारी-निन्दा के दोष के परिहार करने का प्रयास किया है। तुलसी ने युग-व्यापक विराग और तप की भावना के कारण नारी के उस रूप का विरोध किया है जो तप और निवृत्ति में बाधक है। डा० माताप्रसाद गुप्त नारी-चित्रण में तुलसी की अनुदारता स्वीकार करते हुए उसके कारण से अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।[1] मिश्रबन्धुओं का मत है कि तुलसी ने कौशल्या आदि के चरित्रों को इसीलिए सुन्दर और पवित्र बताया कि वे राम से संबंधित हैं। शेष नारियों को सहज, जड़, अपावन तथा स्वतंत्र होने के अयोग्य माना है।[2] कुछ साहित्यकारों का यह अनुमान है कि गोस्वामी जी की नारी-निंदा का कारण उनके नारी-संपर्क का अभाव है। ममतामयी जननी का मृदु वात्सल्य उनके लिए एक कल्पना मात्र थी। अपनी स्त्री द्वारा फटकार पाकर वे वैरागी हुए, अतः नारी के प्रति जो विराग-भावना उनके अन्तर में थी वह समकालीन नारी की दयनीय दशा एवं साहित्य की परंपरा से प्रेरणा पाकर पनप उठी।[3]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्राचीन वैदिक ऋषियों की भावना को प्रश्रय दिया था। यद्यपि नारी के सम्बन्ध में तुलसीदास ने जितनी भी कटु-उक्तियाँ कही हैं, वे सब पूर्व की उक्तियों का अनुगमन करती हैं; तथापि नारी के संबंध में उनकी अनुभूति और धारणा अच्छी नहीं थी, इसमें कोई संदेह नहीं। गोस्वामीजी ने जिन राक्षसियों का चित्रण किया है वे धर्म-परायणा, नीति-निपुणा और भक्त हैं। मन्दोदरी नीति-निपुणा, विदुषी; त्रिजटा भक्ति-परायणा एवं सुलोचना धर्म-प्राणा पतिव्रता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गोस्वामी

---

१. "प्रत्येक युग के कलाकार नारी-चित्रण में प्रायः उदार पाए जाते हैं। किन्तु नारी-चित्रण में तुलसीदास बेहद अनुदार हैं। यद्यपि उनकी इस अनुदारता का कारण अब तक रहस्य के गर्भ में छिपा हुआ है, पर नारी विषयक उनकी अनुदारता एक ऐसा तथ्य है जिसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।"

— तुलसीदास माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३०७.

२. तुलसीदास : उदयभानुसिंह, पृ० १५३.

३. वही, पृ० १५४.

पर स्त्रियों पर अन्याय करने का दोषारोपण करना स्वयं गोस्वामी जी के साथ अन्याय करना है । उन्होंने जहाँ स्त्रियों की निन्दा की है, वहाँ अपनी 'विरति पुष्टि के लिए ही' निन्दा की है । वास्तव में उन्होंने नारी की निन्दा की ही नहीं । स्त्रियों की अज्ञता के कारण कई प्रकार का कष्ट उठाना पड़ता है । स्त्री की अज्ञता का एक उदाहरण देखिए –

कवने अवसर का भयउ, गयउँ नारि बिस्वास ।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहिं अबिद्या नास ।।[१]

महाराज दशरथ कैकेयी पर स्पष्ट रूप से विश्वास करते हैं । इस विश्वास के कारण ही राजा दुःखी हुए । उन्होंने कैकेयी से यह स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हुए कहा –

पुनि कह राउ सुहृद जिअ जानी । प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी ।।
भामिनि भयउ तोर मन भावा । घर घर नगर अनंद बधावा ।।[२]

राजा दशरथ को नारी की ओर अटूट विश्वास था । राजा के इस दृढ़ विश्वास के कारण उन्हें प्रतिकार रूप में प्राणहानि मिली । कैकेयी के प्रति राजा दशरथ का यह कथन अत्यंत स्वाभाविक है ।

तुलसीदासजी ने उच्च से उच्च और हीन से हीन नारियों के स्वभाव का परीक्षण और निरीक्षण किया है । भक्ति के लिए अहितकर रूप में नारी उस समय अलंकार और विषय-लालसा की सामग्री मानी जाती थी । उन्होंने इससे नारी का ध्यान भक्ति की ओर दिलाने को कहा । उन्होंने नारी के प्रति पुरुषों के छल और दुष्ट प्रवृत्ति को देखा ।[३]

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दो० २९, पृ० ४८.
२. वही, चौ० १, पृ० ४४.
३. नारि बिबस नर सकल गोसाईं । नाचहिं नर मरकट की नाईं ।।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।
– रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, चौ० १, पृ० १९६.

गोस्वामीजी के कुछ नारी विषयक विरोधी विचारों को लेकर विद्वानों ने उस पर कटूक्तियां की हैं। तुलसी ने नारी विषयक इस विरोधी विचार को जनता के सामने विशेष रूप में रखा है। आवश्यकता पड़ने पर अधिकारी लोग स्त्रियों को उचित दंड देते थे। तुलसी ने नारी के प्रति उसी प्रकार के व्यवहार करने वालों का विरोध किया।[१] इससे यह विदित नहीं होता कि तुलसी ने नारी को हेय दृष्टि से देखा था। नारी क्या है? नारी का धर्म और आदर्श क्या है? नारी परम धर्म की अधिकारी है या नहीं? इन सब बातों का प्रयोग उन्होंने ध्यान में रखकर ही किया है। तुलसी ने 'रामचरित मानस' के अनेक स्थलों पर नारी विरोधी विचारों का उल्लंघन किया है। कवि की ऐसी भावना रामवनगमन प्रसंग में स्पष्ट रूप से फलकती है।[२] इसमें कवि ने कैकेयी जैसी नारी की अज्ञता की ओर संकेत किया है। राजमहल में किसी को भी यह ज्ञात नहीं था कि कैकेयी क्यों कोप-भवन में बैठी है। सचमुच राजा दशरथ को भी इसका अनुमान नहीं था।[३] इसके उत्तर के रूप में तुलसीदासजी ने प्रासंगिक रूप में कैकेयी के मुंह से ऐसी उक्तियां कहलवायीं —

> सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ ॥
> निज प्रतिबिम्बु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई ॥[४]

उपर्युक्त प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि कैकेयी जैसी स्त्रियां अपने अधिकार के लिए तर्क-वितर्क करती हैं। नारियों का स्वभाव हमेशा अज्ञता से भरा हुआ है। वह कोई भी बात नहीं जान सकती। राजा दशरथ कैकेयी पर दृढ़विश्वास रखते हैं। लेकिन उसका कापट्य राजा अंत तक नहीं समझ सके। नारी का स्वभाव समुद्र या नदी के समान अगम और अगाध है। अबला नारी भी बलवती बनने से अग्नि के समान प्रज्वलित और समुद्र के समान अगम और अगाध एवं काल के

---

१. ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥
- रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, चौ० ३, पृ० १७४.

२. नारिचरित जलनिधि अवगाहू। - वही अयो०, चौ० ४, पृ० ४४.

३. जनि अबला जिमि करुना करहू। - वही, अयो०, चौ० ४, पृ० ५८.

४. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० ४, पृ० ७४.

समान दुर्निवार हो जाती है ।[1] इससे तुलसी ने नारी की मर्यादाहीनता की ओर संकेत किया है । नारी अबला और प्रबला है । यह तुलसी ने संस्कृत की सूक्तियों को केन्द्रित करके लिखा है । स्त्रियों के अमर्यादित होने पर समाज में अनर्थ और आपत्ति होने लगती है । `मानस` रचना के समय तुलसी के मन में नारी के स्तर को ऊँचा उठाने का उद्देश्य भी था ।

रामचरितमानस के रावण-मन्दोदरी के संवाद प्रसंग में नारी-निंदा की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं । मन्दोदरी ने राम की वीरता देखकर रावण से अत्यंत विनम्रता के साथ कहा कि राम को जल्दी ही सीता को लौटा दीजिये । इतने में रावण ने स्त्रियों के आठ अवगुणों का आरोप करते हुए कहा कि नारी समस्त दु:खों, वेदनाओं और दुर्गुणों का केन्द्र है ।[2] उसे दूर करने से ही समाज की उन्नति होगी । इस प्रकार का कथन तुलसी ने नारद मुनि के मुँह से कहलवाया है । नारद में जब माया रूपी लोलुपता की प्रेरणा जागृत हुई तब उन्हें विवाह की अभिलाषा थी । तब भगवान ने उनसे कहा कि नारी माया है, कपटी है, इसलिए आप विवाह नहीं करें ।[3]

गोस्वामीजी ने दुष्ट नारी की निन्दा की है । राक्षस-कुल की स्त्रियों के बारे में शूर्पणखा-विरूपकरण प्रसंग में कहा है । रावण की बहिन शूर्पणखा एक बार पंचवटी गयी । वह दोनों राजकुमारों - राम और लक्ष्मण - को देखकर उन पर मोहित हो गयी । स्त्री सुन्दर पुरुष को देखकर मन को

---

१. का न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ।।
- रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दो० ४७, पृ० ७४.

२. नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।।
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ।।
- वही, लंकाकाण्ड, चौ० १-२, पृ० ७०६-७००.

३. अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि ।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जियँ जानि ।।
- वही, अरण्यकाण्ड, दो० ४४, पृ० ६००.

रोक नहीं सकती, वह चाहे पुत्र हो, भाई हो या पिता । वह उस प्रकार विकल हो जाती है जैसे सूर्य को देखकर सूर्यकान्तमणि द्रवीभूत हो जाता है ।[१] इससे तत्कालीन समाज की अनैतिकता, बढ़ती हुई कामवासना आदि दृष्टिगत होती है ।

गोस्वामीजी ने दोहावली में स्त्रियों के कारण अनेक लोगों की शत्रुता और मृत्यु होने की ओर संकेत किया है ।[२] उन्होंने स्त्रियों का शरीर दीपक की लौ के समान माना है ।[३] हमारे आलोच्य युग में विलासप्रियता का एकमात्र साधन स्त्री थी । स्त्रियों की इस बुरी आदत के कारण माता-पिता भी उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे ।[४] तुलसीदासजी ने नारी को काने, खोड़े, कुबड़े के समान कुटिल और वक्रबुद्धि वाली कहा है ।[५] स्त्रियां सभी बातें गुप्त रखने में अति निपुण हैं । राम की परीक्षा लेने की बात सती ने शिव से छिपा रखी । इस ओर संकेत करते हुए तुलसीदासजी नारी-स्वभाव पर व्यंग्य-बाण छोड़ते हैं ।[६] नारी जाति अधम से अधम स्वभाव वाली है ।[७] यद्यपि तुलसी ने स्त्री को

---

१. भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ।।
   होइ विकल सक मनहिं न रोकी । जिमि रविमनि द्रव रविहि विलोकी ।।
   - रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, चौ० ३, पृ० ५३६.

२. जनमपत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि ।
   दारुन बैरी मीचु के बीच बिराजति नारि ।।
   - दोहावली, दो० २६८, पृ० ६२.

३. दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग ।
   भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग ।।
   - वही, दो २६९, पृ० ६३.

४. सुत मानहि मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं ।।
   - रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृ० १७४.

५. काने खोटे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि ।
   तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसुकानि ।।
   - वही, अयोध्याकांड, दो० १४, पृ० २५.

६. सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ । देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ ।।
   - वही, बालकांड, चौ० ३, पृ० १२७

७. अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महुँ मैं अतिमन्द अघारी ।।
   - वही, अरण्यकाण्ड, चौ० २, पृ० ५८३.

कथन से अधम कहा है, तथापि वह वैदिक धर्म के प्रवचन में अयोग्य नहीं है ।[१]

मध्ययुग में मानव विराग प्रधान काम को श्रेयस्कर और महत्वपूर्ण नहीं समझते थे । विराग से च्युत होकर विषय-वासना में भाग लेने वाले व्यक्ति को तुलसीदास निन्दा की दृष्टि से देखते थे । विषय-भोग का मूल कारण स्त्री है । इसलिए उन्होंने नारी की भरसक निन्दा की । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि गोस्वामीजी ने नारी की निन्दा की तथापि वे पूर्ण रूप से नारी विरोधी नहीं थे । अगर वे नारी विरोधी होते तो राक्षसियों को धर्मपरायणा और विदुषी न चित्रित करते । यह बात मन्दोदरी के कथन से स्पष्ट होती है । असल में यही कहना ठीक होगा कि कुछ प्रसंगों पर यद्यपि गोस्वामीजी ने नारी के प्रति अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, तथापि उनकी दृष्टि ने औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं किया ।

इस प्रकार भक्तिकालीन कवियों ने तत्कालीन नारी-समाज का वर्णन स्पष्ट रूप में किया है ।

समाज में गर्हित नियम और सम्बन्ध

भारतीय समाज में परिवार और समाज का अटूट सम्बन्ध है । समाज की एक इकाई के रूप में परिवार उसकी परंपराओं, भावनाओं एवं आचार-विचारों को वर्षों से आत्मसात् करता आया है । इस नाते वह अपने सदस्यों में उनका संचार करने का एक अच्छा माध्यम सिद्ध होता है ।[२] ग्रोव्स के विचार से बच्चों का पालन-पोषण, रति संबंधी प्रवृत्तियों का नियंत्रण, सामाजिक बपौती का संग्रह आदि कार्य परिवार के मुख्य कार्य हैं ।[३] परिवार आदर्श नागरिक जीवन की

---

१. लछिमन देखत काम अनीका । रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ।।
एहि के एक परम बल नारी । तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ।।
तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ ।।
लोभ कें इच्छा दंभ बल, काम कें केवल नारि ।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहिं बिचारि ।। - रा.च.मा.,अरण्य०, चौ०३,दो०३८,पृ० ५८१.
२. रामायणकालीन समाज : डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास, पृ० १००.
३. एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशियोलोजी - ग्रोव्स, पृ० २०६-७.

प्रथम पाठशाला है। वहाँ से प्रारंभिक व्यवहारोपयोगी शिक्षा मिलने से त्याग एवं सहिष्णुता की शक्ति पर अनेकत्व में एकत्व का समावेश देखने को मिलता है। वैदिक युग के पारिवारिक जीवन पर दृष्टिपात करें तो यह मालूम होगा कि गृहस्थों का पारिवारिक जीवन अत्यंत सुखमय था। परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र कन्या, वधू आदि थे। परिवार का नायक या गृहपति पिता ही होता था। वेदकालीन परिवार के पारस्परिक संबंध और सौहार्दपूर्ण जीवन के कई प्रकार प्राप्त हैं। सहृदयता, मन में शुभ विचारों की प्रतिष्ठा, परस्पर अवैर, पारस्परिक प्रेम हम सभी कुटुम्ब के सदस्य वैसे ही करें जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति करती है। पुत्र माता-पिता के प्रति और पति पत्नी के प्रति मधुर और शांतिपूर्ण बात-चीत करें। भाई-भाई से और बहिन बहिन से द्वेष न करे। एक मति और कर्म वाले होकर सभी परस्पर मधुर भाषण करें। तुम्हारे कुटुम्ब के सभी सदस्यों के लिए हम ऐसी व्यवस्था करते हैं कि उनमें वैर न बढ़े, पर प्रेम बढ़े। वृद्धों को मान देने वाले, उत्तम मन वाले, फल प्राप्ति तक यत्न करने वाले, एक धुरी के नीचे कार्य-सम्पादन करने वाले और आगे बढ़ने वाले बनो, परस्पर विरोध न करो, प्रेमपूर्ण बातचीत करो, मैं तुम सब को मिलाकर काम करने वाला और उत्तम विचार वाला बनाता हूं।[१] इस कथन से तत्कालीन पारिवारिक आदर्श की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होती है। पिता के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र ही कुटुम्ब या परिवार का नायक बन जाता है। इसके प्रति मनु महाराज का मत है कि माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् सभी भाई मिलकर उनकी संपत्ति का बराबर विभाजन कर सकते हैं, पर अच्छा तो यह है कि छोटे भाई बड़े भाई के अधीन वैसे ही रहें. जैसे वे पिता के साथ रहते थे। जेठे पुत्र से पिता पुत्रवान होता है। पिता उसके कारण पितृ-ऋण से मुक्ति पाता है। अतएव उसे सभी स्वामित्व का अधिकार होता है।[२] भाइयों के परस्पर सम्बन्ध का परिचय मनुस्मृति में इस प्रकार मिलता है —

> पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन्यवीयसः।
> पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः।।

---

१. अथर्ववेद - ३।३०।१-५.
२. मनुस्मृति - ९।१०४-१०६.

ज्येष्ठ: पूज्य तमो लोके ज्येष्ठ: सद्भिरगर्हित: ।
ज्येष्ठ: कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुन: ।।[१]

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में भी परिवार का महत्वपूर्ण स्थान था । माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बन्धु, पुत्र-पुत्री आदि से युक्त परिवार ही संपूर्ण परिवार है । उस समय सम्मिलित परिवार या संयुक्त परिवार की प्रथा थी । बड़ा-बूढ़ा आदमी परिवार के नायक के रूप में अधिष्ठित था । परिवार में जितने ही व्यक्ति होते हैं, उन सब को परस्पर बहुत कुछ सीखना होता है, बहुत कुछ त्यागना होता है और बहुत कुछ सहना होता है । इस त्याग, ग्रहण और सहन के अनुपात में ही परिवार उन्नत समझा जाता है ।[२]

अब हम परिवार के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर दृष्टिपात करेंगे ।

माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति वात्सल्य

माता और पिता परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं । उन्हें अपने आचार्य व गुरू के समान आदर करना है, पुत्र-पुत्रियों को वे आराध्य देव हैं । इसप्रकार परिवार में पुत्र या पुत्री का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है । मनु का विचार है –

पुत्रेण लोकांजयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ।।[३]

मध्ययुग के संत कवियों के काव्यों में माता-पिता और पुत्र-पुत्री के पारस्परिक सम्बन्ध और आदर्शों का उल्लेख मिलता है । संत कवियों ने इन सम्बन्धों का विस्तृत उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है; लेकिन प्रेमाश्रयी, कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कवियों ने इन सम्बन्धों का सदाम वर्णन किया है ।

---

१. बीस स्मृतियां - (मनुस्मृति), श्लोक १३१-१३२, पृ० १६७.
२. तुलसीदास - वस्तु और शिल्प डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० ४८.
३. मनुस्मृति, श्लोक १, पृ० १३७.

जायसी ने पद्मावत में राजा रत्नसेन के प्रति माता के अतीव वात्सल्य का वर्णन किया है। हीरामन तोता द्वारा राजा रत्नसेन ने सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती का रूप-वर्णन सुना और वह जोगी बन कर सिंहल द्वीप के लिए चलने लगा। तब माँ उससे बिनती करने लगी –

बिनवै रतनसेन कै माया। माथे छत्र पाट निति पाया।
बेरसहु नव लख लच्छि पियारी। राज छाड़ि जनि होहु भिखारी।
निति चन्दन लागै जेहि देहा। सो तन देखु भरब अब खेहा।
सब दिन रहेउ करत तुम्ह भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू।
कैसे धूप सहब बिनु छाहीं। कैसे नींद परिहि भुइं माहीं।
कैसे ओढ़ब कांवरि कंथा। कैसे पाउं चलब तुम्ह पंथा।
कैसे साहब सिनहिं सिन भूखा। कैसे खाब कुरकुटा रूखा।
राजपाट दर परिगह सब तुम्ह सौं उजिआर।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अंधिआर।।[१]

इसीप्रकार 'पद्मावत' के गोरा-बादल युद्ध-यात्रा खण्ड में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। गोरा-बादल अलाउद्दीन से युद्ध करने के लिए चल पड़े। तब माता उससे कहती है –

बादिल केरि जसौवै माया। आइ गहे बादिल के पाया।
बादिल राय मोर तूं बारा। का जानसि कस होइ जुझारा।[२]

रामभक्ति के प्रमुख प्रवर्तक तुलसीदास एवं कृष्णभक्ति के प्रसारक सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास आदि ने माता-पिता की पुत्र-पुत्री के प्रति होने वाली वात्सल्य-भावना का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ किया है। मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य में जिस परिवार की अभिव्यंजना हुई है वह राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह, लोभ-त्याग आदि की सामान्य घटनाओं से संयुक्त होकर हमारे समक्ष एक हृदयग्राही परिवार की झांकी प्रस्तुत करती है। इस परिवार में

---

१. पद्मावत   सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १४६.
२. वही, पृ० ८६८.

अधिकतर पिता का महत्वपूर्ण अधिकार था। पिता परिवार का मुखिया होता था और परिवार का कोई भी सदस्य ऐसा कार्य नहीं करता था जिससे मुखिया की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। दूसरे लोगों के उपहास के डर से नन्द यशोदा से यह कहते हैं कि तुम कृष्ण को गाय चराने मत जाने दो।[1] यह एक प्रकार से हमारे मत की पुष्टि करता है। आंगन में खेलते हुए बालक कृष्ण के प्रति नन्द और यशोदा का व्यवहार देखिए --

इततैं नंद बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री।
दंपति होड़ करत आपस मैं, स्याम खिलौना कीन्हौ री।[2]

गोस्वामी तुलसीदास ने अयोध्या के राज-परिवार को आदर्श रूप में अपने समाज के सम्मुख रखा। अयोध्या में राजा दशरथ और रानियों के पुत्र-स्नेह का उल्लेख उन्होंने किया है। माता कौसल्या पुत्र राम को पकड़ने के लिए दौड़ती हैं। उसी क्षण पिता दशरथ धूल से धूसरित पुत्र को गोद में बिठा लेते हैं।[3] तुलसी ने 'गीतावली' में माता-पिता की वात्सल्य भावना का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है --

राम-सिसु गोद महामोद भरे दसरथ
कौसिलाहु ललकि लषनलाल लये हैं।
भरत सुमित्रा लये, कैकयी सत्रुसमन,
तन प्रेम-पुलक मगन मन भये हैं।।[4]

माता-पिता बच्चे के प्रथम उलटने से प्रसन्न हो जाते हैं। नन्द और यशोदा उससे प्रसन्न हो जाते हैं, वे उसे चलना सिखाते हैं।[5] बर्तन में पानी

---

१. गाइ चरावन जात न दीजै, याकौ है कह काजु।
+ + + +
सूर स्याम बन जात चरावन, हंसी करत सब लोग।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५१६, पृ० ४४०.
२. वही, पद ६८, पृ० २६५.
३. धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहंसि गोद बैठाए।
- रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० १५१.
४. गीतावली, बाल०, पद ११, पृ० ४३-४४.
५. अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ११५, पृ० ३००.

मरकर चन्द्रमा को दिखाना, उसे उसके खिलौने के रूप में देना[1], कभी-कभी मन बहलाने के लिए छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ सुनाना[2] आदि कार्य वात्सल्य-निधि माता का काम है। माता बालक को नित्य तेल लगाकर स्नान कराती है। उसके बाद सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाती है।[3] बालक कृष्ण जब वन में गाय चराने के लिए जाता है तब माता उसे षट्रस से युक्त भोजन भेजती है।[4]

इसके अलावा मध्यकाल में बच्चों के कल्याण या मंगल-कामना के रूप में मांगलिक कृत्य, जैसे व्रत और अनुष्ठान करती रहती थी। माता यशोदा दोनों बालकों — बलराम और कृष्ण — के स्वास्थ्य और सुखी जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की पूजा करती है। इनमें एक है गोवर्द्धन की पूजा, जिससे देवराज इन्द्र प्रसन्न होते हैं और उनसे दोनों पुत्रों की शुभ-कामना मांगती है।[5] गोकुल में हमेशा पुत्र की आपत्ति के अपशकुन होने के कारण नन्द और यशोदा वृन्दावन की ओर रवाना हुए।[6] उस समय माता-पिता पुत्र-पुत्री के सुख और कुशलता के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने को भी तैयार थे। घरेलू कामों में मग्न रहने पर भी यशोदा कृष्ण को पालने में झुलाती है।[7] बालक कभी-कभी आँखें मूंदता है

---

१. (मेरी माई) ऐसौ हठी, बाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन कौं माँगे चंदा।
बासन में जल धर्यौ जसोदा, हरि कौं आनि दिखावै।
रुदन करत ढूंढ़त नहिं पावत, चंद धरनि क्यौं आवै।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६२, पृ० ३२६.

२. पौढ़ौ लाल, कथा इक कहिहौं अति मीठी, स्रवननि कौं प्यारी।
यह सुनि सूर स्याम मन हरषे, पौढ़ि गए हँसि देत हुंकारी।।
- वही, पद १९७, पृ० ३३८.

३. वही, पद ४२, पृ० २६७.

४. घर ही कीन्ह इक ग्वारि बुलाइ।
छाक समग्री सब जोरि कै, वाकैं कर दै तुरत पठाई। - वही, पद ४५७, पृ० ४१७.

५. नंद महर सौं कहति जसोदा, सुरपति की पूजा बिसराई।
वाकौं कृपा पुत्र भए मेरैं, कुसल रहौ बलराम कन्हाई। - वही, पद ८११, पृ० ५५२.

६. गोकुल होत उपद्रव दिन प्रति, बसिऐ बृंदावन मैं जाई।
- वही, पद ४०२, पृ० ३६७.

७. पालना स्याम झुलावति जननी।
अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुलित मगन होति नंद घरनी।
- वही, पद ४४, पृ० २७६.

और कभी जागता है । इसका मर्मस्पर्शी वर्णन सूरदास ने यों किया है—

> जसोदा हरि पालनैं झुलावै ।
> हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै ।
> मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै ।
> तू काहैं नहिं बेगिहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै ।
> कबहुं पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुं अधर फरकावैं ।[१]

माता-पिता बच्चों की तोतली वाणी से, पहली बार उलट पड़ने से, दूध के दांतों के निकल आने से, आनन्दाप्लावित होते हैं । सूर की यशोदा भी कन्हैया के दूध के दांतों की रेखा देखकर प्रसन्न होती है ।[२] आगे चलकर जब बच्चा 'मैया, मैया' कहने लगता है तब माता का आनन्द देखने लायक है । सूरदास का कथन देखिए —

> कहन लागे मोहन मैया-मैया ।
> नंद महर सौं बाबा-बाबा, अरु हलधर सौं भैया ।[३]

'परमानन्दसागर' में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ।[४] बच्चा पहले जब चलने लायक होता है तो माता उसमें सुख पाती है । वह कमरे की देहरी पर आता है और उसे लांघने में असमर्थ होकर फिर पीछे की ओर आता है । इस प्रकार वह चलने का प्रयास करता है । बालक कृष्ण जब चलने लगे तो माता यशोदा का सुख सीमातीत हो गया । पुत्र के प्रति उसका अपार और अगाध प्रेम इससे द्रष्टव्य है —

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४३, पृ० २७६.
२. सुत-मुख देखि जसोदा फूली ।
   हरषित देखि दूध की दंतियां, प्रेममगन तन की सुधि भूली ।
   - वही, पद ८२, पृ० २८८.
३. वही, पद १५५, पृ० ३१३.
४. कहन लगे मोहन मैया मैया ।
   बाबा बाबा नंदरायसौं और हलधर सौं भैया भैया ।।
   - परमानन्दसागर, पद ७३, पृ० २५.

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी ।
जो मन मैं अभिलाष करति ही, सो देखति नँद-घरनी ।
रुनुक-झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन-हरनी ।
बैठि जात पुनि उठत तुरतहीं, सो छवि जाइ न बरनी ।[1]

नन्हे बच्चों की तोतली बोली माताओं को सुख प्रदान करने वाली होती है । बच्चों की बोली से माता-पिता अपने को भी भूल जाते हैं । कृष्ण की तोतली वाणी से यशोदा और नन्द के मन को प्रत्यानन्द का सुख मिला । बाल कृष्ण की एक तोतली बोली एवं मचलने का ढंग देखिए –

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वैहै लांबी-मोटी ।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जैहै नागिनि सी भुइं लोटी ।[2]

बालक कृष्ण को अपने साथियों के साथ खेलते-खेलते संध्या हो गयी । यह वह नहीं जानता । संध्या समय तक पुत्र को न देखने के कारण माता यशोदा विकल हो उठी । वह स्वयं जाकर पुत्र को ले आती हैं तथा स्नान कराती हैं ।[3] पुत्र वियोग से माता यशोदा विलाप करती है । यह उसके अपार पुत्र-प्रेम की ओर संकेत करता है ।[4] नन्दनन्दन कृष्ण जब वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये,

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १२३, पृ० ३०२-३०३.
२. वही, पद १७५, पृ० ३१९-३२०.
३. सांझ भई घर आवहु प्यारे ।
   दौरत कहा चोट लगिहै कहुं पुनि खेलिहौ सकारे ।
   आपुहिं जाइ बांह गहि ल्याई, खेह रही लपटाइ ।
   धूरि झारि तातौ जल ल्याई, तेल परसि अन्हवाइ । - वही, पद २२६, पृ०
४. गोपालहिं राखहु मधुबन जात ।
   लाज किए कछु काज न सरिहै, पल बीते जुग जात ।
   सुफलक सुत के संग न दीजिये, सुनौ हमारी बात ।
   गोकुल की सीमा सब जैहै, बिछुरत नंद के तात ।। - वही, पद ३९९१,
   पृ० ११६४.

तब पिता बिदाई देते हैं । उनकी वेदना-निर्भर वाणी सुनिए –

(मेरे) मोहन तुमहिं बिना नहिं जैहों ।
महरि दौरि आगे जब ऐहै, कहा ताहि मैं कैहों ।।
माखन मथि राख्यौ ह्वैहै, तुम हेत, चलौ मेरे बारे ।
निठुर भए मधुपुरी आइ कै काहैं असुरनि मारे ।।[1]

नन्द और यशोदा को पुत्र-विरह से अपार दुःख हुआ । वे पुत्र की प्रत्येक चेष्टा का स्मरण करके विलाप करते हैं । सूर ने प्रस्तुत संदर्भ का लंबा चौड़ा वर्णन किया है –

कहाँ रह्यौ मेरौ मन मोहन ।
वह मूरति जिय^त^ नहिं बिसरति, अंग अंग सब सोहन ।।
कान्ह बिना गौवें सब व्याकुल, को ल्यावै नरि दोहन ।
माखन खात खवावत ग्वालनि, सखा लिए सब गोहन ।।[2]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-वन-गमन-प्रसंग में पुत्र के प्रति माता के अपार स्नेह का स्पष्टीकरण किया है । जब श्रीरामजी वन जाने के लिए पिता से अनुमति पाकर माता के पास आते हैं तब माता उनसे कहती है कि पुत्र को माता और पिता दोनों के वचन को सहर्ष समान रूप से स्वीकार करना चाहिए ।[3] गोस्वामीजी ने सुमित्रा का चरित्र चित्रण भी आदर्श माता के रूप में किया है । सुमित्रा ने परिवार के लिए महान त्याग किया । `रामचरितमानस` में उन्होंने अपने पुत्र लक्ष्मण को जो महान उपदेश दिया, वह स्वर्ण लिपियों में लिखने योग्य है । देखिए –

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१२१, पृ० १२३४.
२. वही, पद ३१३८, पृ० १२३८.
३. जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।
   जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ।।
   – रामचरितमानस, अयो०, दो० १, पृ० ५६.

उपदेसु येहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुखु पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवारु पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ।।

\+ \+ \+

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ।।

\+ \+ \+

जौं पै सीय राम बन जाहीं । अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ।।

\+ \+ \+

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ।।[1]

माता सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण को यह उपदेश देना नहीं भूली कि पुत्र, तुम किसी प्रकार की बुरी वासना में न पड़ो, अपने भाई रामचन्द्रजी की सेवा में निरत रहो ।[2] आगे तुलसीदासजी ने कैकेयी का पुत्र-प्रेम भी दिखाया है । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद भरत के अयोध्या वापस आने पर कैकेयी आरती सजाकर उसे स्वीकार करने के लिए निकल आयी ।[3] कौसल्या माता को भी भरत के प्रति अगाध स्नेह था । भरत अयोध्या में कौसल्याजी के पास जब आये तब माता ने उन्हें स्नेह भरे वचन कहकर गोद में बिठाया ।[4] चौदह वर्ष के वन-जीवन के पश्चात् राम, सीता और लक्ष्मण के अयोध्या वापस आने की सूचना मिलते ही तीनों माताएं उन्हें देखने के लिए आकुल हो उठीं । सुमित्राजी बेटे लक्ष्मण से मिलीं, फिर राम से ।[5] इस समय कैकेयी अपने कपट व्यवहार को भी भूल गयी । वह अपनी करनी पर पश्चात्ताप करने लगी । उसका वात्सल्य एक दम राम से भेंट करने के लिए उसे

---

१. रामचरितमानस - अयो०, पृ० ११३, ११२, ११०.

२. रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुं इन्ह के बस होहू ।।
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।।
- वही, अयो०, चौ० ३, पृ० ११२.

३. सजि आरती मुदित उठि धाई । द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई ।।
- वही, अयो०, चौ० २, पृ० २२३.

४. माता भरतु गोद बैठारे । आंसु पौंछि मृदु बचन उचारे ।।
- वही, अयो०, चौ० २, पृ० २३१.

५. भेटेउ तनय सुमित्रा, राम चरन रति जानि ।
- रामचरितमानस, उत्तर०, दो० ६, पृ० १७.

उद्वेलित करता है ।[1] गीतावली में तुलसीदास ने मातृ-प्रेम की जो मार्मिक व्यंजना की है वह अत्यंत सुन्दर है ।[2] भक्तिकालीन कवियों ने माता-पिता की पुत्र-पुत्री के प्रति उत्पन्न होने वाली वात्सल्य भावना का जो वर्णन किया है वह संतुष्ट परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों का परिचायक है । इससे तत्कालीन सामाजिक सम्बन्ध का स्पष्ट परिचय हो जाता है ।

माता-पिता के प्रति संतान का आदर और भक्ति

परिवार में माता-पिता और संतान का महत्वपूर्ण स्थान है । यदि माता-पिता आदर्श की मूर्ति हैं, तो पुत्र भी आदर्शवान रहते हैं । परमात्मा या ईश्वर को छोड़कर इस संसार में माता का स्थान ही ऊँचा है । अपने धर्मशास्त्र में मनु ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया है कि अध्यापक की अपेक्षा आचार्य का दस गुना, आचार्य की अपेक्षा पिता का शत गुना और पिता की अपेक्षा माता का सहस्र गुना गौरवपूर्ण स्थान है ।[3] मध्यकालीन भक्त-कवियों में जायसी और तुलसीदास ने अपने काव्यों में आदर्श पुत्र का चित्र उतारा है । 'पद्मावत' के 'जोगी खण्ड' में आदर्श पुत्र का चित्र मिलता है । राजा रत्नसेन जोगी वेष में जब सिंघल द्वीप जाने को तैयार हुआ तब माता उसे रोकती है । उसी समय माता से वह कहता है —

> मोहि यह लोभ सुनाउ न माया । काकर सुख काकरि यह काया ।
> जौं निआन तन होइहि छारा । माँटी पोखि मरै को भारा ।
> का भूलहु एहि चंदन चोवा । बैरी जहाँ आंग के रोवाँ ।
> हाथ पाउँ सरवन औ आँखी । ये सब हाँ भरिहँ पुनि साखी ।

---

१. रामहि मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि ।।
- रामचरितमानस, उत्तर०, दो० ६, पृ० १७.

२. गीतावली, लंका०, पद १९-२०, पृ० ३७३-३७४.

३. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।
- धर्मशास्त्र, अ० २, श्लोक १४५.

सोत सोत बोलिहिं तन खेहू । कहु कैसें होइहि गति मोखू ।

जो भल होत राज औ भोगू । गोपिचन्द कस साधत जोगू ।

ओनहुं सिस्टि जौं देख परेवा । तजा राज कजरी बन सेवा ।

देखु अंत अस होइहि गुरू दीन्ह उपदेस ।

सिंघल दीप जाब मैं माता मोर अदेस ।।[1]

इसी प्रकार जब गोरा-बादल युद्ध यात्रा के लिए तैयार होते हैं तब उनकी माता युद्ध में जाने से उनको रोकती है । माता का स्नेह देख कर गोरा-बादल मां को समझाते हैं कि हम निरे बालक नहीं हैं । युद्ध में विजयी होकर लौटेंगे ।[2]

तुलसीदास की रचनाओं में तो पुत्र के आदर और भक्ति का खुलासा चित्रण मिलता है । तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के परिवार को आदर्श परिवार माना और परिवार के द्वारा राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि का मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम आदि समझाया । पं० रामचन्द्र द्विवेदी ने मातृ-भक्ति के बारे में यों कहा है कि जिस माता ने गर्भाधान से लेकर जातकर्म तक अपने उदर में हमें धारण किया, पांच वर्ष तक नाना प्रकार हमारा प्रतिपालन कर पुन: विविध भाँति की सुशिक्षा देकर आजीवन हमारा मंगल मनाया, उससे बढ़कर हमारे लिए संसार का कोई सम्बन्धी कैसे पूज्य हो सकता है ? गोस्वामी तुलसीदास ने भी कौशल्या के मुख से इसी भाव को अभिव्यक्त कराया है ।[3] वन जाने की अनुमति मांगने के लिए जब रामचन्द्रजी माता के पास पहुंचे तब माता कहने लगी –

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।[4]

रामचन्द्रजी प्रति दिन प्रात: काल उठकर माता, पिता एवं गुरू को वन्दना करते थे ।[5] यह प्राचीन भारतीय संस्कृति का महत्व है । वन जाने के लिए

---

१. पद्मावत जायसी - सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १४७.

२. वही, पृ० ८२०.

३. तुलसी-साहित्य-रत्नाकर अथवा महाकवि तुलसीदास पं० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० ५६५.

४. रामचरितमानस, अयो०, चौ० १, पृ० ८६.

५. प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरू नावहिं माथा ।।
- वही, बाल०, चौ० ४, पृ० ३५४.

जब पिता की आज्ञा मिली, तब वे माता का आदेश और आशीर्वाद लेने को जाते हैं।[१] मातृ-भक्ति के समान पितृ-भक्ति का भी संकेत तुलसी-काव्य में मिलता है। पिता के प्रति राम की एकनिष्ठता का भाव है। वे पिता दशरथ का आदेश सहर्ष स्वीकार करते हैं। पिता के प्रति उनकी अपरिमित, असीम भक्ति चित्रकूट में भरत से कहे गये वाक्यों से ज्ञात होती है –

तात ! बिचारो धौं, हौं क्यों आवौं।
तुम्ह सुचि, सुहृद, सुजान सकल विधि,
बहुत कहा कहि कहि समुझावौं ।।
निज कर खाल खैंचि या तनुतें जो पितु पग पानही करावौं।
होउं न उरिन पिता दसरथ तें, कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं ।।[२]

राम की पितृ-भक्ति का एक और संकेत वन-गमन-प्रसंग में प्राप्त होता है। राजा दशरथ राम को वन जाने के लिए कहना नहीं चाहते, पर राम सारी परिस्थिति जानकर पिता से कहते हैं –

तात कहौं कछु करौं ढिठाई। अनुचितु छमब जानि लरिकाई ।।
अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा ।।[३]

धर्मात्मा राम को चौदह वर्ष का वनवास अत्यंत तुच्छ लगता है। वे पिता दशरथ से कहते हैं –

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ।।
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ।।
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउं बेगिहिं होउ रजाई ।।[४]

---

१. धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी ।।
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहं सब भांति मोर बड़ काजू ।।
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता ।।
– रामचरितमानस, अयो०, चौ० ३-४, पृ० ८२-८३.

२. गीतावली, अयो०, पद ७२, पृ० २५२.

३. रामचरितमानस, अयो०, चौ० ३-४, पृ० ७१.

४. वही, अयो०, चौ० १-२, पृ० ७२.

रामचन्द्रजी हमेशा पिता की सेवा करने में तत्पर हैं। पिता की आज्ञा के पालन करने को ही राम अपने जीवन की परम सफलता एवं सार्थकता मानते हैं। वन जाते समय अयोध्यावासियों की राम से वन न जाने की प्रार्थना को वे नहीं मानते और पिता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझते हैं।[१] सचमुच राम ने पिता की कटु आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन किया। वन में पिता की मृत्यु का समाचार पाकर उन्होंने यथाविधि पितृ-कर्म किया। राम का जीवन ही पितृ-भक्ति के आदर्शों का महान दृष्टांत रहा।

गुरु-भक्ति

माता-पिता का जैसा महत्वपूर्ण स्थान युगों से लेकर प्रत्येक भारतीय घर में है, वैसा ही गुरु का भी है। माता-पिता पुत्रों का पालन-पोषण करते हैं, तो गुरु उनकी अज्ञता को दूर करता है और ज्ञान की दिव्य ज्योति प्रदान करता है। ज्ञानार्जन से ही मानव को सुख-शांति मिलती है और वह सभ्य बनता है। भक्तिकालीन प्रसिद्ध कवियों ने गुरु महिमा गायी है। महात्मा कबीर का कथन है कि इस संसार में गुरु के समान कोई निकट सम्बन्धी नहीं है।[२] गुरु की महिमा अनंत और अपार है।[३] अगर शिष्य को सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो उसकी शिक्षा अपूर्ण रहेगी।[४] सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त करने से ही जीवन सफल होगा।[५]

---

१. बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी।।
सोइ सब भाँति मोरि हितकारी। जेहि ते रहइ भुआल सुखारी।।
- रामचरितमानस, अयो०, चौ० ४, पृ० १२०.

२. सतगुर सवांन को सगा, सोधी सई न दाति।
हरिजी सवांन को हितू, हरिजन सई न जाति।। - कबीरग्रंथावली, सा० १, पृ० १७.

३. सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।। - वही, सा० ३, पृ० १८.

४. कबीर सतगुर नां मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगै भीष। - वही, सा० २०, पृ० १०४

५. दादूदयाल ग्रंथावली, दो० १४१, पृ० १४.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी परिवार में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान बताया है। रामचरितमानस में गुरु को विशेष आदर-सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। तुलसी ने 'मानस' में बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ गुरु की वंदना की है –

> बंदौं गुरु पद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि। महामोहतमपुंज, जासु बचन -
> -रविकरनिकर ।।[१]

गुरु को सबसे ऊंचा स्थान दिया है –

> बंदौ गुर पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
> अमिअ मूरिमय चूरन चारु। समन सकल भव रुज परिवारु ।।[२]

राजा दशरथ के परिवार के कुलगुरु वसिष्ठ हैं। गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करना शिष्यों का परम कर्तव्य है। राजा दशरथ की मृत्यु के बाद भरत मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ से आज्ञा पाकर ही राज्य-शासन करने लगे।[३] जनकपुर में पहुंचकर दोनों राजकुमार - राम और लक्ष्मण - नगर देखने चले। जाते समय विश्वामित्र मुनि की वन्दना करके ही गये।[४] धनुष-भंग के लिए जाते समय रामजी विश्वामित्र को प्रणाम करते हैं।[५] राम के राज्याभिषेक के पूर्व महाराज दशरथ की इच्छा से कुलगुरु वसिष्ठजी बुलाये गये। राम ने उनका जैसा स्वागत किया, उसमें अनुपम

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, सो० ५, पृ० ७.

२. वही, बाल०, चौ० १, पृ० ७.

३. बैठे राजसभा सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई ।।
भरत वसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे ।।
- वही, अयो०, चौ० २, पृ० २३८.

४. मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता ।।
बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ।।
- वही, बाल०, चौ० १, पृ० २१७६.

५. गुरहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा ।।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ ।।
- वही, बाल०, चौ० ३, पृ० ४३८.

गुरु-भक्ति का परिचय मिलता है। देखिए -

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा।।
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने।।
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी।।
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू।।[1]

इस प्रकार दशरथ-परिवार का सभी काम कुलगुरु की आज्ञा के अनुसार होता था। भक्तिकालीन सभी कवियों ने गुरु की महिमा गायी है। जायसी, कबीर, सूर, तुलसी सब ने गुरु को सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

बिरादरी या भ्रातृ-प्रेम

पारिवारिक जीवन में बिरादरी या भ्रातृ-प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यकाल में हिन्दू और मुसलमान दोनों में भ्रातृत्व भाव नहीं था। किन्तु बाद में परिवर्तन होने लगा। परस्पर भाईचारे का सम्बन्ध दृढ़तर हुआ और अछूतों के प्रति व्यवहार में उदारता आने लगी। १५ वीं शताब्दी में भारतीय मुसलमानों की प्रवृत्ति यही थी कि वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से मेल-मिलाप उत्पन्न करें। इस प्रवृत्ति को एक ओर हुसैन शाह आदि मुसलमानों ने और दूसरी ओर कबीर, चैतन्य, रामानन्द आदि हिन्दू साधुओं ने बहुत उत्तेजना दी।[2] सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में एवं राम-भक्ति काव्यों में बिरादरी या भ्रातृ-प्रेम का दिग्दर्शन मिलता है। 'पद्मावत' के लक्ष्मी समुद्र खण्ड में बिरादरी या भ्रातृ-प्रेम का यथार्थ चित्रण मिलता है। देखिए -

लछिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनि जिअै तोर पीऊ।
पिउ पानी होइ पौन अधारी। जस हौं तुहुं समुद्र कै बारी।[3]

समुद्र राजा की पुत्री लक्ष्मी ने पद्मावती को 'भगिनी' कहकर पहले संबोधित

---

१. रामचरितमानस, अयो०, दो० १-३, पृ० १५-१६.
२. पूर्वमध्यकालीन भारत : डा० रघुबीरसिंह, पृ० २८८.
३. पद्मावत (जायसी) : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४६७.

किया; लेकिन विदाई के अवसर पर बेटी कहकर संबोधित किया ।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं में भ्रातृ-प्रेम का विशेष वर्णन मिलता है। रामायण के नायक राम और उनके भाइयों का पारस्परिक प्रेम अगाध और असीम है। लक्ष्मण का रामचन्द्र के प्रति अगाध प्रेम है। इसलिए वह अपनी नवविवाहिता पत्नी उर्मिला तक को त्याग कर भाई राम के साथ वन जाने को प्रस्तुत होते हैं --

गुरु पितु मातु न जानउ काहू । कहउं सुभाउ नाथ पतिआहू ।।
जहं लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ।।[२]

तुलसीदासजी ने वन-गमन-प्रसंग में राम, लक्ष्मण और सीता तीनों के मर्यादापालन की ओर संकेत किया है।[३] आगे चलकर चित्रकूट-प्रसंग में राम के प्रति लक्ष्मण का असीम प्रेम दृष्टिगत होता है। जब चित्रकूट में भरत समस्त अयोध्यावासियों सहित आये तो लक्ष्मण ने सोचा कि राम से युद्ध करने आये हैं। वे भरत से क्रुद्ध हो जाते हैं।[४] भरत के प्रति राम का अनन्य प्रेम है। वे उनके चरित्र पर किसी भी प्रकार की आशंका न करते थे। भरत जब अयोध्यावासियों सहित चित्रकूट गये, तो राम ने उनके प्रति सद्व्यवहार किया।[५] इसी तरह मेघनाद की शक्ति खाकर जब लक्ष्मण मूर्छित होते हैं, तब राम अपने भ्रातृ-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं --

---

१. रतनसेनि पदुमावति सैं भेंटी । औ सखा अपनी सौं भेंटी ।
- पदुमावत, सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५१६.

२. रामचरितमानस, अयो०, चौ० २-३, पृ० १०८.

३. प्रभुपद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलति सभीता ।।
सीय राम पद अंक बराएं। लखनु चलहिं मग दाहिन लाएं ।।
- वही, अयो०, चौ० ३, पृ० १७६.

४. वही, अयो०, चौ० १-४, पृ० ३२९-३३०.

५. बरबस लिए उठाइ उर, लाये कृपानिधान ।
भरत राम की मिलन लखि, बिसरे सबहिं अपान ।।
- वही, अयो०, दो० २४०, पृ० ३४९.

जौं जनत्यों बन बंधु बिछोहू । पिता बचन मनत्यौं नहि ओहू ।।
सुत बित नारि भवन परिवारा । होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ।।
अस बिचारि जियँ जागहु ताता । मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ।।
यथा पंख बिनु खग अति दीना । मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ।।
अस मम जीवनबंधु बिनु तोही । जौं जड़ दैव जियावै मोही ।।
जैहौं अवध कवन मुंहु लाई । नारिहेतु प्रिय भाइ गंवाई ।।
बरु अपजसु सह त्यौं जगमांही । नारि हानि विसेष छति नांही ।।[1]

राम के प्रति भरत के हृदय में भी असीम प्रेम है । `मानस` के उत्तरकांड में इसका संकेत मिलता है । भरत का राम के प्रति निस्वार्थ प्रेम, स्नेह, श्रद्धा, और विनय है । जब रामचन्द्रजी के लौट आने में केवल एक ही दिन बाकी है, तो भी वह सोचते हैं कि अब वे यह अनुचित मानकर लौट आयेंगे या नहीं ।[2] तुलसी ने शत्रुघ्न के भाईपन की ओर संकेत किया है । वे सबसे छोटे हैं । अपने बड़े भाइयों के प्रति उनका स्वाभाविक स्नेह, श्रद्धा आदि प्रकट होते हैं ।[3] सूरदास ने कृष्ण और बलराम के भ्रातृत्व का सुन्दर वर्णन किया है । कभी-कभी वे झगड़ा करते हैं[4], तो भी अनुपम भ्रातृत्व का भाव दोनों में विराजमान है ।

---

१. रामचरितमानस, लंकाकांड, चौ० ३-६, पृ० ९९२-९९३.

२. गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज । नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज ।।
परे भूमि नहि उठत उठाए । बर करि कृपासिंधु उर लाए ।।
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े । नव राजीव नयन जल बाढ़े ।।
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललितपुलकावलिबनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी ।।
प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मोपहिं जाति नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ।।
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई ।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन तें भिन्न जान जो पावई ।।
अब कुशल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो ।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ।। - वही, उत्तर०, पृ० १४-

३. पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदय लगाय ।
लछिमनु भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाई ।। - वही, वही, पृ० १५.

४. बलदाऊ कहि स्याम पुकार्यो ।
आवहु बेगि चलौ घर भैए, अनहीं होत अंध्यारी ।
त्याए बोलि सखा हलधर कौं, हंसे स्याम मुख चाहि ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० ४३६, पद ६०५.

दाम्पत्य प्रेम

पति और पत्नी के पारस्परिक स्नेह से ही परिवार का कल्याण होता है। एक भारतीय ललना के हृदय में अपने पति के प्रति और एक कुल-पुरुष के हृदय में अपनी धर्मपत्नी के प्रति जो भाव विद्यमान रहता है वह वर्णनातीत है और अलौकिक है। पति-पत्नी के इन्हीं पारस्परिक भावों को दाम्पत्य-भाव कहते हैं। मध्यकालीन काव्य-ग्रंथों के मनन करने पर हमें दाम्पत्य-प्रेम का संकेत मिलता है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में दाम्पत्य प्रेम का उत्तम दिग्दर्शन मिलता है। पद्मावती के नव प्रस्फुटित प्रेम के साथ-साथ नागमती का गार्हस्थ्य परिपुष्ट प्रेम भी अत्यंत मनोहर है। पद्मावती प्रेमिका के रूप में अधिक लक्षित होती है, पर नागमती पतिप्राणा हिन्दू पत्नी के मधुर रूप में ही हमारे सामने आती है। उसे पहले पहल हम रूपगर्विता और प्रेमगर्विता के रूप में देखते हैं। ये दोनों प्रकार के गर्व दाम्पत्य-सुख के द्योतक हैं। नागमती हिन्दू पतिव्रता नारी के लिए आदर्श पतिपरायणा नारी है। जायसी ने 'पद्मावत' के 'जोगी खंड' में नागमती के पति-प्रेम का उत्तम उदाहरण दिखाया है --

> रोवैं नागमती रनिवासू। केइँ तुम्ह कंत दीन्ह बन बासू।
> अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहुं साथ होइब जोगिनी।
> कै हम लावहु अपने साथा। कै अब मारि चलहु एहि हाथा।
> तुम्ह अस बिछुरे पीउ पिरीता। जहँवा राम तहां संग सीता।
> जौं लहि जिउ संग छोड़ न काया। करिहौं सेव पखरिहौं पाया।[१]

राजा रत्नसेन का भी नागमति के प्रति अपार और उत्कट प्रेम था, लेकिन पद्मावती के अपार और अगाध प्रेम में फंस जाने के कारण उसके दाम्पत्य-प्रेम में तटस्थता आ जाती है। जब रानी नागमती रत्नसेन को सिंहलद्वीप जाने से रोकती है तब वह कहता है --

---

१. जायसीकृत पद्मावत - व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १६८.

तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी । मूरुख सो जो मतै घर नारी ।
राघौ जौं सीता संग लाई । रावन हरी कवन सिधि पाई ।[१]

जायसी ने पद्मावत में दाम्पत्य प्रेम की उत्कृष्टता दिखायी है । पद्मावती और नागमती दोनों का दाम्पत्य-प्रेम खरा उतरता है । जब रत्नसेन जोगी बन कर सिंहल-द्वीप चला गया, तब नागमती में एकनिष्ठता आ गयी । लेकिन पद्मावती-रत्नसेन का दाम्पत्य प्रेम रत्नसेन के जोगी बन जाने के उपरांत ही होता है । 'नागमती-वियोग-खंड' में दाम्पत्य-प्रेम की उत्कृष्टता का परिचय प्राप्त होता है । विरहिणी नायिका नागमती रत्नसेन की प्रतीक्षा में बैठती है ।[२] इसका जायसी ने अनुपम वर्णन किया है और विरह-शृंगार का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

सूरदासजी और तुलसीदासजी ने दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन एक दूसरी रीति से किया है । सूरसागर के नवम स्कंध में राम के वन जाते समय सीताजी से उनके साथ न जाने का कार्य-कारण सहित उपदेश मिलता है ।[३] तुलसीदासजी ने राम के मुंह से वन में होने वाली दुर्घटनाओं का लम्बा विवरण दिखाया है । लेकिन पतिपरायण सीता राम की बात मानने वाली न थी । वह उनके साथ चलने का

---

१. जायसीकृत 'पद्मावत' - व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १४१.

२. पिउ वियोग अस बाउर जीऊ । पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ ।
अधिक काम दगधै सो रामा । हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा ।।
- वही, पृ० ४१४.

३. तुम जानकी, जनकपुर जाहु ।
कहा आनि हम संग भरमिहौ, गहबर बन दुःख सिंधु अथाहु ।
तजि वह जनक-राज-भोजन-सुख, कत तृन-तलप, बिपिन-फल खाहु ।
ग्रीषम कमल-बदन कुम्हिलैहै, तजि सर निकट दूरि कित न्हाहु ।
जनि कछु प्रिया, सोच मन करिहौ, मातु-पिता-परिजन-सुख लाहु ।
तुम घर रहौ सीख मेरी सुनि, नातरु बन बसिकै पछिताहु ।
हौं पुनि मानि कर्म कृत रेखा, करिहौं तात-बचन-निरबाहु ।
सूर सत्य जो पतिव्रत राखौ, चलौ संग जनि, उतहीं जाहु ।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद ३४, पृ० १९७.

आग्रह प्रकट करती है और कहती है कि पति-वियोग के समान दूसरा दु:ख नहीं है ।[१] पति के बिना पत्नी का जीवन नरक तुल्य है ।[२] स्त्री को अपने पति-वियोग में स्वर्ग के समान सुख-भोग भी नरक तुल्य हो जाता है । वह वन में या यात्रा के अवसर पर होने वाले सब कष्टों को झेलने के लिए तैयार है । उस अवसर पर भोग की सामग्री रोग के समान दु:खदायक है ।[३] सीता राज्य-भोग को तृण के समान त्याग कर वन जाने को तैयार होती है । वन में जिसका अभाव हो उसे वह सहने के लिए तैयार है ।[४] कन्द-मूल या फल उसे अमृत का-सा आहार होगा ।[५] वन में खग, मृग परिजन के रूप में, पेड़ों की छाल निर्मल और सुन्दर वस्त्र तथा पर्णकुटी स्वर्ग और राजमहल की भाँति सुखप्रद होगी ।[६] क्योंकि सर्वत्र रामचन्द्रजी साथ रहेंगे और वही पत्नी की चिराभिलाषा होती है । विशुद्ध दाम्पत्य रति की व्यंजना तुलसी ने कवितावली में भी की है । वन जाते समय ग्राम वनिताओं ने सीताजी से पूछा कि ये दोनों तुम्हारे कौन हैं ? लेकिन सीताजी उन्हें आँखों को तिरछी कर संकेत से ही कुछ समझा कर

---

१. दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई । जेहि बिधि मोर परम हित होई ।।
मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं । पिय बियोग सम दुख जग नाहीं ।।
- रामचरितमानस, अयो०, चौ० ३-४, पृ० ६७.

२. प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुलकुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान ।।
- वही, वही, दो० ६४, पृ० ६८.

३. भोग रोगसम भूषन भारू । जम जातना सरिस संसारू ।।
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुं सुखद कतहुं कछु नाहीं ।।
- वही, वही, चौ० ३, पृ० ६८.

४. बनदेवीं बनदेव उदारा । करिहहिं सासु ससुर सम सारा ।।
कुस किसलय साथरी सुहाई । प्रभु संग मंजु मनोज तुराई ।।
- वही, वही, चौ० १, पृ० ६६.

५. कंद मूल फल अमिअ अहारू । अवध सौध सत सरिस पहारू ।।
- वही, वही, चौ० २, पृ० ६६.

६. खग मृग परिजन नगर बनु, बलकल बिमल दुकूल ।
नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल सुख मूल ।।
- वही, वही, दो० ६५, पृ० ६६.

वही ।[1] दाम्पत्य जीवन के छिपे विशेष भावों का कैसा अनुपम वर्णन है । सीताजी के समान रामजी का भी सीता के प्रति अपार और अगाध प्रेम था । मारीच को मारकर जब राम पर्णकुटी में वापस आये तो सीता को न देखकर व्याकुल हुए । वे पक्षियों, पेड़-पौधों से सीताजी को ढूंढने के लिए कहते हैं । हनुमानजी ने अशोकवाटिका में सीता से भेंट होने पर रामचन्द्रजी का उनके प्रति जो असीम प्रेम था वही पहले प्रकट किया —

जनि जननी मानहु जियँ ऊना । तुम्हते प्रेमु राम कें दूना ।[2]

रामजी के दुगुने प्रेम के अनेक उदाहरण अरण्यकांड में मिलते हैं —

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ।।
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।।[3]

राम के प्रेम को दर्शाने के लिए हनुमानजी एक और दृष्टांत सीताजी के सामने रखते हैं । ऋष्यमूक पर्वत पर वानरराज सुग्रीव ने आप का वस्त्र राम के सामने रखा तो उसे उठाकर रामचन्द्र ने हृदय से लगाया ।[4] उसी प्रकार रामचन्द्रजी

---

१. पूछति ग्राम बधू सिय सों, 'कहो सांवरो से सखि ! रावरो को है ?'
+ + + +
सुनि सुंदर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जमी भली ।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछु मुसुकाइ चली ।।
- कवितावली, अयो०, प० २१-२२, पृ० ७६-७७.

२. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, चौ० ५, पृ० ६५.

३. वही, अरण्यकाण्ड, चौ० ५, पृ० ५७३.

४. गगन पंथ देखी मैं जाता । परबस परी बहुत बिलपाता ।।
राम राम हा राम पुकारी । हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी ।
मांगा राम तुरत तेहिं दीन्हा । पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ।।
- वही, किष्किन्धाकांड, चौ० २-३, पृ० १३.

द्वारा भेजी गयी मुंदरी को देखकर सीताजी का आनन्द और भी बढ़ गया ।[१]

मध्यकाल में भी यथार्थ दाम्पत्य-प्रेम दिखाने के उद्देश्य से पति की मृत्यु के बाद पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है । हिन्दू विश्वास के अनुसार तो निस्संतान मरने पर मुक्ति नहीं होती । जिस विवाह की इतनी महिमा है, वह चिरन्तन अखण्ड सम्बन्ध क्यों न माना जाय । विवाह की चिरन्तनता और पुनीतता में ही पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म का समावेश है । इसी में अचल और नित्य वर्धमोन्मुख दाम्पत्य-प्रेम का रहस्य है । रत्नसेन के जीवन-मरण की चिरसंगिनी, इस लोक और परलोक की संगिनी नागमती और पद्मावती रत्नसेन के निधन पर उसी के साथ चिता पर बैठकर सती हो जाती है । वैवाहिक प्रेम का इससे अधिक ज्योति-पुंज आदर्श विश्व के इतिहास में नहीं मिलता । ऐसे ही आदर्श का अचल अवलम्ब है नारी-जाति पतिव्रत धर्म की कठोर तपस्या साक्षी है ।[२] देखिए नागमती और पद्मावती को राजा रत्नसेन के प्रति कितना अपार और अगाध प्रेम था । राजा के मरने पर दोनों रानियां खूब सजधज कर चिता के पास जाती हैं और सती हो जाती हैं ।[३]

---

१. तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम नाम अंकित अति सुंदर ।।
चकित चितव मुदरी पहिचानी । हरष बिषाद हृदय अकुलानी ।।
जीति को सकइ अजय रघुराई । माया ते असि रचि नहिं जाई ।।
- रामचरितमानस, सुन्दरकांड, चौ० १-२, पृ० ६२-६३.

२. भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप : डा० जगन्नाथ नलिन, पृ० १४८.

३. लै सर ऊपर खाट बिछाई । पौढ़ीं दुवौ कंत कंठ लाई ।
जियत कंत तुम्ह हम कंठ लाई । मुए कंठ नहिं छाड़हि साँई ।
औ जो गाँठि कंत तुम्ह जोरी । आदि अंत दिन्हि जाइ न छोरी ।
एहि जग काह जो आथिनिआथी । हम तुम्ह नाह दुहुं जग साथी ।
लागीं कंठ आगि दै होरी । छार भईं जरि अंग न मोरीं ।

रातीं पिय के नेह गइं सरग भएउ रतनार ।
जो रे उवा सो अंथवा रहा न कोइ संसार ।।

- पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८७४.

सास-बहू और ससुर :

सास-बहू का चिरंतन संबंध कवियों के लिए आदर्श रहा है। भक्ति-कालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी ने पारिवारिक चित्रण में सास-बहू और ससुर के सम्बन्धों का भी चित्रण किया है। पारिवारिक जीवन की पूर्णता सास-ससुर-बहू के प्रेम से ही होती है। दशरथ परिवार में चार बहुएं हैं — सीता, उर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति। सास-ससुर की सेवा करना ही बहू का धर्म और कर्तव्य है। सास को माता तुल्य और ससुर को पिता तुल्य माना गया है। सास-ससुर को भी चाहिए कि बहू से पुत्री-सा प्रेम करें। चारों बहुएं अपनी तीनों सासों और ससुर की यथोचित सेवा करती हैं। राम के वन-गमन-प्रसंग में सीताजी वन जाने को प्रस्तुत होती हैं, लेकिन माता कौशल्या का असीम वात्सल्य देखिए, वह सोचती है कि सद्गुण सम्पन्न वधू को कैसे वन जाने देगी। राजमहल के सब प्रकार के सुखों को छोड़कर कंकड़ों से युक्त वन में वह कैसे चल सकेगी —

> मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई ।।
> नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउं प्रान जानकिहिं लाई ।।
> कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ।।
> फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा ।।
> पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियं न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ।।
> जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊं। दीप बाति नहिं टारन कहऊं ।।[१]

कौशल्या के समान सीताजी को भी सभी सासों के प्रति विशेष प्रेम और अपार आदर का भाव था। वे उनकी सेवा-शुश्रूषा करती थीं। राम को वन जाते समय वह भी वन जाने को तैयार होती हैं। वह माता कौशल्या से माफी मांगती हैं और चाहती है कि उनके प्रति सदैव स्नेह का भाव बनाये रखें।[२]

---

१. रामचरितमानस - अयो०, चौ० १,२,३, पृ० ९०.

२. तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी ।।
सेवा समय दैअं बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा ।।
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू ।।
— वही, चौ० २, ३, पृ० १०३-१०४.

उर्मिला का स्वभाव और भी उत्तम है। सास-ससुर की सेवा करना परम धर्म समझ कर वह पति के साथ वन नहीं जाती। सासों के परितोष अथवा सेवा शुश्रूषा और पारिवारिक सुख-शांति के लिए वधू उर्मिला द्वारा किया गया सेवा-त्याग सबसे ऊंचा है। महाराज दशरथ का भी पुत्रवधुओं के प्रति अपार स्नेह है। वे कहते हैं –

> बधू लरिकिनि पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं।।
> \+ \+ \+ \+
> बधू सप्रेम गोद बैठारी। बार बार हिय हरषि दुलारी।।[1]

दशरथजी का पुत्रवधू सीता के प्रति असीम स्नेह है। राम के वन-गमन-प्रसंग में वे मंत्री से कहते हैं –

> जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई।।
> तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेसकिसोरी।।
> पितुगृह कबहुं कबहुं ससुरारी। रहेहु जहां रुचि होइ तुम्हारी।।
> एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा।।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह व्यक्त होता है कि मध्यकालीन समाज, विशेषकर तुलसीकालीन समाज में पारिवारिक संबंधों में शिथिलता आ रही थी। लेकिन उन्होंने अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा राम-परिवार या अयोध्या के दशरथ-परिवार की उत्कृष्टता लोगों के सम्मुख रखकर आदर्शवान् परिवार का दर्शन कराया, जहां सास-बहू और ससुर का पारस्परिक सम्बन्ध भी निहित है। इसी प्रकार कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियों ने अपनी उत्कृष्ट काव्य-सरिताओं के द्वारा समाज की दुर्दशा को दूर करने के लिए समाज के नैतिक नियम और उत्तम संबंधों का दिग्दर्शन कराया। वास्तव में उनकी रचनाओं से मध्यकालीन सामाजिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन आ गया।

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ४, पृ० ५८८; चौ० २, पृ० ५८५.
२. वही, अयोध्याकाण्ड, चौ० १-३, पृ० १२२-१२३.

मित्रता, मिलन, आतिथ्य आदि

प्राचीन काल से लेकर भारतवर्ष को स्वागत-सत्कार या आतिथ्य सेवा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मित्रता, मिलन और आतिथ्य में पारस्परिक संबंध का अनुपम अवसर आता है। अपने घर में किसी निकटतम मित्र के या किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन की सूचना तक मिलने से हमें अत्यधिक आनन्दानुभूति होती है। गृह के नायक, मित्र या अतिथि के आगमन पर अपने घर के द्वार तक जाकर ही उसका सत्कार करते हैं। अगर वह अतिथि आराध्य या विशिष्ट आदमी है तो उसका विशेष विधि से सत्कार करते हैं। वेदों में अतिथि-सेवा का विशेष महत्व बताया गया है। पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी और सदा भ्रमण करने वाले महात्मा अकस्मात् किसी गृही के द्वार पर पहुंच जाएं तो उन्हीं को अतिथि कहा जाता है। ऐसे अतिथियों का सत्कार करना प्राचीन आर्यों के परिवार में परम धर्म माना जाता था। मुगल बादशाहों ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों परंपराओं से इस अतिथि सत्कार को ग्रहण किया था। अतिथि के आने पर दरवाजे पर खड़े होकर स्वागत करना, जाते समय विदाई के लिए साथ जाना तथा मेहमान की खातिर के लिए तथा उसके आराम के लिए प्रत्येक वस्तु का ध्यान रखना, मेहमाननवाज़ी का एक अंग था। हिन्दुओं का सत्कार मुसलमानों की भांति दिखावटी नहीं होता था, वरन् अतिथि के आने से पहले घर में सजावट, लिपाई-पुताई आदि की जाती थी और अतिथि को पान-फूल भेंट में दिया जाता था। विशेष अतिथि के आने पर चबूतरा बनाकर फूलों से सजाया जाता था, मस्तक पर लगाने के लिए चन्दन तैयार किया जाता था और आरती उतारी जाती थी। गुरु के अतिथि रूप में आने पर उसके चरण धोये जाते थे, शरीर पर चन्दन लगाया जाता था, गले में फूलों की माला पहनाई जाती थी और फूलों तथा तुलसी से उसके मस्तक की पूजा होती थी। गुरु के लिए विशेष भोजन बनाकर विशेष बर्तनों में परोसकर हाथ जोड़कर भोजन कराया जाता था।[१] इस प्रकार मध्ययुग में अतिथि सत्कार के प्रचलन के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

---

१. तुलसी साहित्य रत्नाकर अथवा महाकवि तुलसीदास — पं० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० ५७५.

भक्तिकालीन समाज के आरंभिक काल में जनता के बीच भाई-चारे का संबंध नहीं था। आपस में वे लड़ते रहते थे। जहां देखो वहां संघर्ष ही संघर्ष था। अतिथियों का आदर सत्कार करने वाला नहीं था। समाज में बढ़ती हुई इस बुरी भावना को दूर करने के लिए भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्यों द्वारा सन्देश की धारा बहायी। संतकवियों के काल में समाज मित्रों का स्वीकार, अतिथियों का सत्कार और सेवा नहीं करता था। बाद में इन कवियों ने लोगों में पारस्परिक सम्बन्ध्य बढ़ाने का प्रयास किया। जायसी, सूर, तुलसी आदि कवियों के काव्यों में मित्रता, मिलन, आतिथ्य आदि सद्गुणों से जनता का पारस्परिक सम्बन्ध और व्यावहारिक दृष्टिकोण का गौरव देख सकते हैं। जायसी का एक चित्रण देखिए — राजा रत्नसेन और पद्मावती दोनों सिंघल द्वीप से रवाना हो गये। उनकी सब चीजें जहाज में रखी गयीं, राजा-रानी दोनों ने उसी जहाज में यात्रा की। लेकिन मार्ग में जलप्रपात से जहाज टुकड़े-टुकड़े हो गया। दोनों - रत्नसेन और पद्मावती - दो लकड़ी के पट्टों को पकड़ कर अलग-अलग मार्ग में बह गये। किसी को यह ज्ञात नहीं था कि वे कहां गये? इसके बाद पद्मावती समुद्र के बेटी लक्ष्मी की मित्रता में आ गयी। पद्मावती के प्रति लक्ष्मी की मित्रता दर्शनीय है —

> लछिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनि जिऊ तोर पीऊ।
> पिउ पानी होइ पौन अधारी। जस हौं तुहूं समुंद्र के बारी।
> मैं तोहि लागि लेव खटबाटू। खोजब पिर्त जहां लगि घाटू।
> हौं जेहि मिलौं तासु बड़ भागू। राज पाट औ होइ सोहागू।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम के शत्रु से भी मित्रता के व्यवहार करने का उल्लेख किया है। उन्होंने शत्रु बाली के भाई सुग्रीव को अपना मित्र बनाया और सुग्रीव के पुत्र अंगद को दूत बनाया। दूसरा शत्रु है रावण। राम ने उसके भाई

---

१. जायसीकृत पद्मावत — व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४६७.

विभीषण को अपना परम मित्र बनाया ।[१] जायसी ने समुद्र की बेटी लक्ष्मी की अनुकम्पा से रत्नसेन-पद्मावती के पुनर्मिलन का संकेत किया ।[२] राम-वन-गमन प्रसंग में सामान्य लोगों के आतिथ्य का वर्णन है । राम, लक्ष्मण, सीता - तीनों शृंगबेरपुर पहुँचे । गुह नाम निषाद को जब उनके आगमन का समाचार मिला तो वे उनसे मिलने के लिए गये ।[३] चित्रकूट में राम, लक्ष्मण, सीता तीनों का भरत तथा सारे अयोध्यावासियों से मिलन का प्रसंग है । चित्रकूट में उनके पुनर्मिलन से उन्हें आनन्द का ठिकाना न था ।[४] इसके बाद रामजी शत्रुघ्न और केवट से मिले । इसी अवसर पर भरतजी बड़े प्रेम के साथ लक्ष्मणजी से मिले ।[५] रामजी सबसे मिलने के बाद सब माताओं से मिलने गए । रामजी की ममता देखिए - वे सबसे पहले भरत की माता कैकेयी से मिले ।[६] उसके बाद फिर सब माताओं से मिले ।[७]

---

१. मीत बालि-बंधु, पूत दूत, दसकंध बंधु,
सचिव,सराध कियो सबरी जटाइ कों ।
लंक जरी जोहें जिय सोच सो विभीषण को;
कही ऐसे साहिब की सेवा न खटाइ को ? ।।

- कवितावली, पद २२, पृ० २९४.

२. पद्मावत सं० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५१६.

३. यह सुधि गुह निषाद जब पाई । मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई ।।
लिये फल मूल भेंट भरि भारा । मिलन चलेउ हियं हरषु अपारा ।।

- रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० ९, पृ० १३०.

४. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० १, पृ० ३४६.

५. मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवटु भेंटेउ राम ।
भूरि भायं भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम ।। - वही, अयो०, दो० २४१,पृ० ३

६. प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभायं भगति मति भेई ।। - वही, चौ० ४, पृ० ३

७. भेंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोधु परितोषु ।
अंबु ईस आधीन जगु, काहु न देइअ दोषु ।।

- वही, वही, दोहा २४४, पृ० ३५४.

सूरदास ने 'सुदामा-चरित' प्रसंग में मित्रता और मिलन का अद्भुत उल्लेख प्रस्तुत किया है। सुदामा और कृष्ण दोनों बचपन से ही मित्र थे। पढ़ाई खतम होते ही दोनों बिछुड़ गये। कृष्ण द्वारका के अधीश बन गये। लेकिन सुदामा की स्थिति अत्यंत करुणाजनक थी। वह अपनी निर्धनता की अवस्था में भगवान् कृष्ण से मिलने गये। कृष्ण ने दूर से ही अपने मित्र को देखा और उनका स्वागत करने के लिए सातवीं मंजिल से नीचे की ओर दौड़ पड़े। मित्रता का कैसा सुन्दर स्वरूप है![1]

अतिथि के आगमन से सब के मन में आनन्द होता है। वे सदा उसकी प्रतीक्षा में बैठते हैं। गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' के कई स्थानों पर प्रसंगानुसार अतिथि सत्कार का उल्लेख किया है। नारदजी जब हिमवान के गृह पधारे तब पर्वतराज हिमवान ने उनका जो आदर-सत्कार किया, उसका वर्णन तुलसी ने रामचरितमानस[2] और पार्वती-मंगल में[3] सुन्दर ढंग से किया है। मुनि विश्वामित्र के अयोध्या आगमन के समय राजा दशरथ ने[4], और राम-लक्ष्मण सहित जनकपुर पहुँचने पर राजा जनक ने[5] जैसा आदर-सत्कार किया उसका भी तुलसी ने वर्णन किया है। राजा जनक के यहाँ से राम-सीता के विवाह की खबर सुनाने जो शतानन्द अयोध्या गये उनका राजा दशरथ ने आदर-सत्कार किया[6]।

---

१. सूरसागर, दूसरा खण्ड, पद ४२२६-४२३३, पृ० १५३८-१५३६.

२. नारद समाचार सब पाए। कौतुकहीं गिरि गेह सिधाए।।
   सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसनु दीन्हा।।
   नारि सहित मुनि पद सिरु नावा। चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा।।
   निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना।।

   - रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० १-४, पृ० १४५-१४६.

३. पार्वतीमंगल, बरवै १०, सवैया १०, पृ० ७, २५.

४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० १-२, पृ० ३५६-३५७.

५. वही, वही, चौ० १, पृ० ३७०. जानकीमंगल, सवैया ४, पृ० १४.

६. नृप सुनि आगे आइ पूजि सनमानेउ।
   दीन्हि लान कहि कुसल राउ हरषानेउ।।

   - जानकीमंगल, बरवै ११७, पृ० ३४.

मुनिवेष धारण कर जब रामचन्द्रजी भारद्वाज महर्षि के आश्रम पहुंचे तब उन्होंने उनकी आतिथ्य-सेवा की ।[१] महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में भी उन्हें यथायोग्य सत्कार मिला ।[२] मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का आदर-सत्कार जंगली जाति, विशेषकर कोल, भील और किरात जाति के लोगों ने, भी किया । इसका वर्णन पतितोद्धारण-प्रसंग में मिलता है । इतना ही नहीं कि भरतजी का भी मुनिराज भरद्वाज ने जैसा स्वागत किया वह सराहनीय है । भरतजी के द्वारा श्रीरामजी के चरणों में प्रीति सूचक वचन सुनने के बाद मुनिराज ने भरत से कहा कि हमारा अतिथि जो आओ और कंदमूल फल जो हम खाने के लिए दें उसे परम प्रीति से स्वीकार करो ।[३]

उपर्युक्त वक्तव्यों से यह सिद्ध होता है कि मध्य युग के काव्यों में मिलना-मिलन और आतिथ्य का खूब वर्णन मिलता है । ये वर्णन प्राचीन भारतीय रीति और परिपाटी के अनुसार ही रहे हैं । जायसी का लक्ष्य प्रेम-कथा द्वारा मनुष्यों में पारस्परिक मेल-जोल बढ़ाना, सद्भावनाएं उत्पन्न करना और सांप्रदायिक संकीर्णता को मिटाना था । उनका काव्य अपनी सरसता एवं सद्भावनाओं के कारण हिन्दू-मुसलमान दोनों में समान आदर का पात्र रहा है और लगभग समस्त उत्तर भारत में प्रचलित रहा है ।[४] अन्य भक्त-कवियों ने भी जायसी के समान स्वागत-सत्कार का वर्णन किया है ।

शिष्टाचार

प्राचीन काल से लेकर भारत शिष्टाचार आदि कार्यों में अग्रगण्य रहा है । आचारानुष्ठान व शिष्टाचार से मनुष्य की सभ्यता जानी जाती है । शिष्टाचार

---

१. रामचरितमानस - अयोध्याकांड, चौ० ४, दो० १०६, चौ० १, पृ० १५७.

२. मुनिवर अतिथि प्रानप्रिय पाये । कंद मूल फल मधुर मंगाये ।।
   सिय सौमित्रि राम फल खाये । तब मुनि आसन दिये सुहाये ।।
   - वही, वही, चौ० २, पृ० १८०.

३. राम विरह व्याकुल भरतु, सानुज सहित समाज ।
   पहुनाई करि हरहु श्रमु, कहा मुदित मुनिराज ।।
   - वही, वही, दो० २१३, पृ० ३०७.

४. सूफी महाकवि जायसी जयदेव, पृ० २८.

में उत्तम मनुष्य को सम्मान या आदर प्राप्त होता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आचार ही व्यक्ति का परम धर्म है। मनु ने शिष्टाचार के लिए सुन्दर व्याख्या की है —

आचारात्फलते धर्ममाचारात्फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ।।[१]

मध्यकालीन भक्त-कवियों के काव्यों में शिष्टाचार का स्पष्ट वर्णन द्रष्टव्य है। सूरसागर में शिष्टाचार प्रदर्शन के अनेक शब्द मिलते हैं। इनमें मुख्य हैं — जुहारा[२], दण्डवत[३], पालागन[४], प्रनाम[५], नमस्कार[६], नमस्ते[७] आदि। गोस्वामी तुलसीदास के समय समाज में शिष्टाचार नाममात्र के लिए भी न था। उस समय के क्रूर यवन शासकों का प्रतिरूप था रावण का राज्य। उसका वर्णन करते हुए अपने समाज में प्रचलित अनाचार का वर्णन तुलसीदासजी ने इस प्रकार किया है —

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।।
सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई।।
नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना।।[८]

---

१. बीस स्मृतियां - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, श्लोक १७२, पृ० २६५.
२. सुर आकासबानी भई तब तहँ, यहै वेदहि है, करु जुहारा।।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद ७६, पृ० २१२.
३. जामवंत-सुग्रीव-बिभीषन करी दंडवत आइ।
- वही, वही, पद १६१, पृ० २५७.
४. ये बसिष्ट कुल-इष्ट हमारे, पालागन कहि सबनि सिखावत।
- वही, वही, पद १६७, पृ० २६६.
५. भरत-सत्रुहन कियौ प्रनाम, रघुबर तिन्ह कंठ लगायौ।
(क) - वही, वही, पद ५५, पृ० २०४.
(ख) गुरहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।।
- रामचरितमानस, बालकांड, चौ० ३, पृ० २६८.
६. तिहिं परनाम कियौ अति रुचि सौं, अरु सबहिनि कर जोरे।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३४८२, पृ० १३११.
७. तब पहिचानि आनि प्रभु कौं पुत करनि जोरि सिर नायो है।।
- वही, वही, पद ३४८१, पृ० १३११.
८. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ३-४, पृ० ११२-११३.

तुलसीदासजी ने इस प्रकार की अशिष्टता एवं अनाचार को दूर करने के लिए राम और उनके आदर्श परिवार तथा वहां के पुरवासियों के शांतिमय जीवन का चित्रण किया है । तुलसी के राम की शिष्टता देखिए —

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ।।
आयसु मांगि करहिं पुर काजा । देखि चरित हरषै मन राजा ।।[1]

राम, लक्ष्मण और मुनि विश्वामित्र - तीनों जनकराज के महलों में पहुंचे । वहां पहुंचते ही राम ने भाई लक्ष्मण के मन की गति जान ली । परम विनय के साथ राम ने गुरु से आज्ञा मांगी ।[2] तुलसीदासजी ने नमस्कार के लिए 'नाइ सिर' का प्रयोग किया है ।[3] जनकपुर में शिव-धनुष तोड़ने के लिए जाते समय रामचन्द्रजी गुरु के चरणों पर सिर नवाकर उनकी आज्ञा लेते हैं ।[4] इसी प्रकार वन जाते समय माता कौशल्या से विनम्रतापूर्वक आज्ञा लेते हैं ।[5] परशुराम-लक्ष्मण संवाद के समय दोनों क्रुद्ध हो गये, तो रामचन्द्रजी ने उन्हें शांत कर दिया ।[6] सीताजी भी वन जाते समय सहज स्वभाव से अपनी सास कौशल्या को प्रणाम करती हैं ।[7]

अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि मध्यकाल में शिष्टता के बहुरंगी रूप वर्तमान थे । इसी कारण कवियों ने अपनी काव्य-सरिताओं में शिष्टता का उच्च आदर्श दिखाया । सचमुच सदाचार का पर्याय है शिष्टाचार । सब को शिष्टता रूपी महान गुण अवश्य होना चाहिए ।

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ४, पृ० ३५४.
२. वही, वही, चौ० २-३, पृ० ३७५.
३. गुरुपद पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ।।
   - वही, वही, दो० २२५, पृ० ३८४.
४. सुनि गुर बचन चरन सिरु नावा । हरषु बिषादु न कछु उर आवा ।।
   - वही, वही, चौ० ४, पृ० ४२७.
५. रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा । मुदित मातु पद नायउ माथा ।
   - अयोध्याकाण्ड, चौ० १, पृ० ८१.
६. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ३-४, पृ० ४७१.
७. कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई । लगी मातु पद आसिष पाई ।।
   - वही, अयो०, चौ० २, पृ० १०२.

सामाजिक नियम-विधान :

हमारे आलोच्य काल के समाज में विभिन्न प्रकार के नियम प्रचलित थे। उस समय का समाज नियमों से घिरा हुआ था। नियम के नाम पर लोग आपस में लड़ाई करते रहते थे। अंधविश्वासों और अनीतियों का समाज था। विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रथायें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ही अधिक प्रचलित थीं, क्योंकि पुरुष के समान स्त्रियां स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकती थीं। समाज में वे सीमित रेखा तक चल सकती थीं। इसलिए उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयां फेलनी पड़ीं। समाज में प्रचलित इन सामाजिक प्रथाओं की ओर यहां संकेत किया जाएगा।

मध्यकाल में प्रचलित विभिन्न सामाजिक प्रथाएं निम्नलिखित हैं :—

पर्दा-प्रथा

प्राचीन काल में स्त्रियां अपनी इच्छानुसार यात्रा नहीं कर सकती थीं। नारियों के लिए आवश्यकतानुसार और परिस्थिति के अनुसार पर्दा प्रथा विद्यमान थी। आलोचकों का मत है कि मुसलमानों के आगमन से पर्दा-प्रथा भारत में शुरू हुई। मुसलमानों की मातृभूमि अरब और तुर्किस्तान में यह प्रथा पहले से प्रचलन में थी। अकबर जैसे सहृदय शासक ने भी इस नियम को जारी रखा। यदि कोई युवती गलियों एवं बाजारों में और घूंघट के बिना दिखाई दे अथवा जानबूझकर पर्दा प्रथा को तोड़े, तो उसे वेश्यालय में पहुंचा दिया जाता था। मुसलमानों के प्रभाव के कारण हिन्दुओं में भी पर्दे की प्रथा आयी। हिन्दू स्त्रियों ने पर्दे की प्रथा अपने पातिव्रत्य की सुरक्षा के लिए स्वीकार की। तत्कालीन समाज में शासक वर्ग विलासप्रिय था। शासक वर्ग का अनुकरण भी हिन्दुओं के पर्दे की प्रथा का पक्षपाती होने का एक कारण था।

पर्दा या घूंघट एक कन्या उस समय धारण करती है जब वह युवावस्था को प्राप्त होती है और यह घूंघट वृद्धावस्था आने पर मुख से उतर जाता है। मुंह को किसी कपड़े से ढंकने को 'पर्दा' कहते हैं।[१] मध्यकालीन कवियों ने

---

१. मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति : श्री उमाशंकर मेहरा, पृ० १४.

इस पर्दा प्रथा का उल्लेख अपने काव्यों में किया है । मुगलकालीन समाज में उच्च और अमीर घरों की हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों ने पर्दा प्रथा को स्वीकार किया था । जायसी, चैतन्य और विद्यापति के अनुसार बंगाल और उत्तरप्रदेश में इसका प्रचलन था । इसका उद्देश्य यह था कि स्त्री स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकती थी । किसी बाहरी पुरुष से पति अपनी पत्नी को मिलने तक नहीं देता था । भारत की सभी फैशनपरस्त (मुखाचारी) स्त्रियां अपने पति के द्वारा ध्यानपूर्वक परिरक्षित हैं, जो अपरिचितों पर अधिकार जमाने से उन्हें मना करते हैं । मुस्लिम स्त्रियों का पर्दा किसी कारणवश टूट जाने से यह निश्चित है कि उन पर विपत्तियों का पहाड़ टूटेगा । कोई भी स्त्री पर्दा टूट जाने पर जनता के समक्ष नहीं जा सकती थी ।

इसके पश्चात् इस पर्दा प्रथा में कुछ परिवर्तन आया । किसी अपरिचित व्यक्ति के आगमन पर स्त्रियां मुख और सिर साड़ी के आंचल से ढकती जाती थीं। उच्च वर्ग की स्त्रियां पर्दे को सभ्यता का सूचक मानती थीं । इसलिए वे खुशी-खुशी पर्दा धारण करती थीं । मध्यकाल में `घूंघट` प्रथा का हिन्दुओं एवं निम्न श्रेणी के मुसलमानों में खूब प्रचलन था । विद्यापति एवं मलिक मुहम्मद जायसी ने साधारण वर्ग के वेष-विधान का वर्णन करते हुए इसका उल्लेख किया है । कबीर के काल में स्त्रियां आदर-सम्मान की पात्र थीं, लेकिन उनकी स्वतंत्रता की सीमा-रेखा में पर्दा प्रथा थी । कबीर ने आध्यात्मिकता की सांकेतिक आड़ में इस प्रथा के बारे में खुल कर वर्णन किया है । एक नव वधू को आत्मा से संबोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि तू घूंघट मत काढ़ । अगर घूंघट काढ़ेगी तो अंतिम समय में तेरी रक्षा न हो सकेगी । क्या घूंघट को काढ़ने से अन्तरात्मा की आग बुझ सकी ? घूंघट धारण करने वालों की हंसी उड़ाकर कबीर कहते हैं कि जब हरि का गुण-गान गाते हुए अपना जन्म व्यतीत करती है तभी नव वधू की विजय होती है ।[1] दादूदयाल का मत है कि यह संसार माया रूपी

---

१. रहु रहु री बहुरीआ घूंघट जिनि काढ़ै । अंत की बार लहैगी न आढ़ै ।।
घूंघट काढ़ि गई तेरी आगै । उनकी गैलि तोहि जिनि लागै ।।
कहत कबीर बहू तब जीतै । हरि गुन गावत जनमु बितातै ।।
- संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ३४, पृ० १२४.

पर्दे से ढंका हुआ है और इसे दूर करना चाहिए ।[1] जायसी ने 'पद्मावत' में इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि गोरा-बादल ने युद्ध-यात्रा की तैयारी की, तब उनकी चन्द्रमुखी नववधू आकर उन्हें रोकती है, जिसने घूंघट धारण किया था ।[2]

कृष्ण-भक्त कवियों के समय में पर्दे का प्रयोग सर्वसाधारण में प्रचलित था । सूरदास[3], परमानन्ददास[4], नन्ददास[5], रसखान[6] आदि कवियों ने इस ओर संकेत किया है । सूरदास ने कहीं-कहीं पर्दा प्रथा का खण्डन किया है –

मोहन-कर तैं दोहनि लीन्ही, गो-पद बछरा जोरे ।
+ + + +
दै घूंघट पट ओट नील, हंसि, कुंवरि मुदित मुख मोरे ।
मनहुं सरद-ससि कौं मिलि दामिनि, घेरि लियौ घन घोरे ।।[7]

उपर्युक्त बातों से ज्ञात होता है कि मध्यकाल में पर्दे की प्रथा खूब प्रचलित थी । आज इसका प्रचार कम हो रहा है ।

---

१. बाबी बिहर रचाइ करि, रह्या अपरछन होइ ।
माया पट पड़दा किया ताथैं लखै न कोइ ।
- दादूदयाल ग्रंथावली, पृ० २३४.

२. पद्मावती (जायसी) सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८२३-८२४.

३. बेनी मांग, भाल बेंदी छबि, नैननि अंजन रंग ।
सूर निरखि पिय घूंघट की छबि, पुलकि न मावति अंग ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २१५३, पृ० ९५७.

४. करति जो कोट घूंघट की ओट ।
तोउ व न रहत नैन अनियारे निकसि करत हैं चोट ।।
- परमानन्दसागर, पद ८८५, पृ० ३१२.

५. घूंघट पट दियौ हुतो सु खोल्यौ बदन डहडह्यौ ।
जनु अंबर तैं अब ही निकस्यौ चंद गहगह्यौ ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, दो० ११०, पृ० १८३.

६. मिलि कै हंसि गाइ कबै रसखानि कबै ब्रजबालनि प्रेम भई ।
वह नील निचोल के घूंघट की छबि देखि धौं देखन लाज लई ।
- रसखान ग्रंथावली, पद १२८, पृ० २३८.

७. सूरसागर, पद ७३२, पृ० ५१५.

सती प्रथा

पति की मृत्यु के बाद जो पत्नी उसके साथ चिता में जल जाती है उसे 'सती' कहते हैं। सती प्रथा के अनुसार स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु के बाद उसके शव के साथ जीवित ही जल जाया करती थीं। मध्यकालीन राजपूतों में इसका अधिक प्रचार था। राजपूत स्त्रियाँ अपने वीर पति की मृत्यु के उपरांत सती हो जाती थीं। उस समय उच्च वर्ग की स्त्रियों में भी यह प्रथा अधिक मात्रा में प्रचलित थी। अलबरूनी के शब्दों में — 'पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्रियाँ दूसरा विवाह नहीं कर सकती थीं। उनके लिए दो ही रास्ते थे - या तो वे आजीवन वैधव्य व्यतीत करें या जल मरें..... । राजाओं की स्त्रियों को तो उनकी इच्छा के अनुकूल या प्रतिकूल सती होना ही पड़ता था।[१]

पहले कहा जा चुका है कि सती प्रथा का प्रचलन मुख्य रूप से मध्यकाल में राजपूत स्त्रियों में था। वे राजपूत स्त्रियाँ अपने पति के शव के साथ सती होना अभिमान की बात समझती थीं। मंत्रियों या अन्य संबंधियों द्वारा रोके जाने पर भी वे यह नहीं चाहती थीं कि उनका पति जो इस लोक में उनके साथ रहा वह अब अकेला परलोक में रहे। इसलिए वे अपने पति के साथ उसकी चिता में जल जाना अपना धर्म और कर्तव्य समझती थीं।[२] सती होने के पहले

---

१. If a wife loses her husband by death, she can not marry another man. She has only to chose between two things, either to remain a widow as long as she lives or to burn herself ...... As regards the wives of the kings, they are in the habit of burning them, whether they wish it or not.

— Alberuni's India, Pt. II, pp.155.

2. The average Rajaput Princes welcomed the opportunity to become Sati and would not allow her husband to be cremated alone. Bards, ministers and relatives would often expostulate, but withouta any success, so generally at the xxx death of almost every Rajaput king or noble man,......widows.... used to ascend the funeral pyre."

— The position of women in Hindu civilization, A.S. Altekar, pp.154.

वह एक सुहागिन की तरह साज-शृंगार करती है और धूम-धाम से श्मशान में जाती है और सती हो जाती है ।

कबीरदासजी ने सती प्रथा की ओर निषेधपूर्ण युक्ति दी है । वे कहते हैं कि बिना सत्य के नारी कैसे सती हो सकती है ? जब तक मन में स्वार्थ रहता है तब तक स्नेह का भाव नहीं रहता । कबीर उसी को सुहागिन कहते हैं, जो अपने स्वामी को तन, मन, धन और गृह सौंप देती है ।[1]

पद्मावतकार ने राजपूत स्त्रियों में प्रचलित इस सती प्रथा का वर्णन किया है । राजा रत्नसेन की मृत्यु का समाचार पाते ही दोनों रानियां — पद्मावती और नागमती सती होने का स्वाभाविक उत्साह प्रकट करती हैं । वे दोनों सुहागिन की तरह सज-धज कर आती हैं और दोनों ने राजा की चिता में कूदकर सती होने और शिवलोक की यात्रा करने का निश्चय किया ।[2] लड़ाई के दिनों में किले के भीतर ही एक विशाल चिता हर क्षण तैयार रखी जाती थी । कभी-कभी इन चिताओं में बारूद आदि विस्फोटक पदार्थों को भी भरा जाता था । जब राजपूत सिपाहियों की सामूहिक हार का समाचार किले में पहुंचता था,

---

१. बिनु सत सती होइ कैसे नारि ।
पंडित देखहु रिदै बिचारि ।
प्रीति बिना कैसे बंधै सनेहु ।
जब लग रसु तब लग नहीं नेहु ।।
\+ \+ \+ \+
तनु मनु धनु ग्रिहु सउपि सरीरु ।
सोई सुहागनि कहै कबीरु ।। — संत कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पद २३, पृ० २५.

२. नागमती पदुमावति रानीं । दुवौ महासत सती बखानीं ।
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं । औ सिवलोक परा तिन्ह डीठीं ।
\+ \+ \+ \+
चंदन अगर काढ़ि सर साजा । औ गति देइ चले लै राजा ।
बाजन बाजहिं होइ अगूता । दुवौ कंत लै चाहहिं सूता ।
\+ \+ \+ \+
जियत जो जरहि कंत की आसा । मुएं रहसि बैठहिं एक पासा ।
— पद्मावत (जायसी) - सं० श्री वा.श. अग्रवाल, पृ० ८७३.

तब सभी राजपूत स्त्रियां इन चिताओं में आग देकर सामूहिक रूप से इनमें कूद पड़ती थीं और जल मरती थीं । इस कृत्य का मूल कारण था सती प्रथा ।[१] ऐसी सामूहिक सती प्रथा का उल्लेख पद्मावत में मिलता है ।[२]

जौहर प्रथा

मध्यकालीन राजपूत जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी । राजपूत रमणियों को जब यह आशा नहीं रहती थी कि उनके पतियों को लड़ाई में विजय प्राप्त होगी तो वे सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि जलाकर अपने प्राणों की आहुति दे देती थी । यही जौहर कहलाता था ।[३] जब राजपूत युद्ध के लिए जाते हैं और युद्ध में उनकी पराजय होने की संभावना होती है तो उनकी स्त्रियां जौहर कर लेती हैं । इस कृत्य को सामूहिक आत्महत्या कहा गया है ।[४] सचमुच वे वीर नारियां आग की ज्वाला में अपना प्राणत्याग कर लेती थीं ।

मुगलकालीन समाज में सर्वत्र जौहर प्रथा का प्रचलन था । प्राचीन काल में भी जौहर प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं । रानी कर्णावती के साथ बहादुरशाह के आक्रमण के अवसर पर लगभग १३००० स्त्रियों ने जौहर किया । इसी प्रकार चित्तौड़ में जयमल और पत्ता की मृत्यु के बाद उनकी रानियां और मंत्रियों की स्त्रियां भी अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर करती हैं । जौहर करने की रीति और पद्धति के बारे में विद्वानों में मतभेद है । जौहर करने वाली स्त्री स्नान करने के बाद अपने शरीर पर चंदन आदि सुगंधित द्रव्य का लेपन करती हैं, इसके बाद अग्नि में प्रवेश करती है ।

---

१. पद्मावत में लोकतत्व — रवीन्द्र भ्रमर, पृ० २१.
२. पद्मावत (जायसीकृत) — सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८७४.
३. मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति : श्री उमाशंकर मेहरा, अ० २, पृ० ८८.

4. Jauhar, the mass suicide which Rajaputs committed rather than yield to a conqueror, the men fighting until they were slain and women throwing themselves into the flames.

— Shirreff's Padmavati, pp. 293 Foot Note.

जायसी ने इस जौहर प्रथा का उल्लेख `पद्मावत` में दो स्थलों पर किया है। प्रथम बार उस समय जब अलाउद्दीन और रत्नसेन की लड़ाई हो रही थी; रत्नसेन की हार का जब विश्वास हो गया तब दोनों रानियां जौहर करने को तैयार हो गयीं। युद्ध की भाँति यह कृत्य भी राजपूतों से संबंधित था। यह प्रथा मध्ययुगीन राजपूत स्त्रियों में विशेष रूप से प्रचलित थी। पद्मावत में एक स्थान पर जौहर प्रथा का जो वर्णन किया है उसे देखिए –

> चंदन अगर मलैगिरि काढ़ा। घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा।
> जौहर कहं साजा रनिवांसू। जेहि सत हिएं कहां तेहि आंसू।
> पुरुसन्ह खरग संभारे चंदन खेवरे देह।
> मेहरिन्ह सेंदुर मेला चहहिं भई जरि खेह।।[१]

लेकिन उपर्युक्त अवसर पर जौहर होने नहीं दिया। जायसी ने राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन से समझौता या संधि करायी, इसलिए जौहर नहीं हुआ।

पद्मावतकार ने जौहर के लिए दूसरे अवसर की योजना की। इस अवसर पर जौहर होता है। रत्नसेन और देवपाल के युद्ध में रत्नसेन मारा जाता है। लेकिन अलाउद्दीन पुन: चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। गोरा-बादल की राजपूती सेना से अलाउद्दीन का युद्ध होता है। बादल युद्ध में हार जाता है। इतने में जौहर होता है।[२]

`जौहर प्रथा` मध्ययुगीन राजपूत स्त्रियों के शौर्य और वीरता का प्रतीक माना जाता है। यह उनके प्राण-त्याग से संबंधित है। इसलिए यह प्रथा उनके जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

---

१. पद्मावत – जायसी, सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६५७.

२. जौहर भईं इस्तिरी पुरुस भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।। – वही, पृ० ८७५.

गौना प्रथा

गौना-प्रथा तभी सम्पन्न होती है जब विवाह के उपरांत कुछ वर्षों के बाद बहू पितृ-गृह से पति-गृह को लायी जाती है। कुछ हिन्दू परिवारों में गौना तुरन्त विवाह के पश्चात् होता है और कुछ में विवाह के एक, तीन या पाँच वर्ष के बाद यह रस्म पूरी की जाती है। बहुधा बहू की आयु के अनुसार गौना की तिथि शीघ्र या देर में निश्चित होती है। कुछ स्थानों पर बहू, विवाह के बाद दूसरी बार जब पति के गृह में लायी जाती है तब गौना होता है।[१] जायसी ने पद्मावत में गौना प्रथा का वर्णन दो स्थलों पर किया है। पहला वर्णन रत्नसेन-विदाई खण्ड में मिलता है। रत्नसेन की विदाई के समय पद्मावती के गौने का वर्णन किया गया है।[२] गौने के अवसर पर बहू के पिता वर को बहुत कुछ संपत्ति एवं दैनिक व्यवहार की चीजें देते हैं। इतना ही नहीं वधू को कुछ दूर तक पहुँचाते हैं। पद्मावती के जाते समय भी पिता गन्धर्वसेन ने रत्नसेन को अमूल्य और विशिष्ट वस्तुएं दीं।[३] 'पद्मावत' में गौना-प्रथा का दूसरा उल्लेख 'गोरा-बादल युद्ध यात्रा' खण्ड में मिलता है। गोरा-बादल युद्ध में

---

१. The second visit, which consists in the ceremony of going to the bride and bringing her home to her husband's house for the consummation of the marriage is called Gawna, Gavan or Gawna. - Behar Peasant life - G. Grierson, Pp.362.

२. पुनि पद्मावति सखीं बोलाईं। सुनि के गवन मिलै सब आईं।
मिलहु सखी हम तहँवां जाहीं। जहाँ जाइ फिर आवन नाहीं।
+ + +
हम तुम्ह एक मिले संग खेला। अंत बिछोउ आनि कैं मेला।
तुम्ह असि हितू संघाति पियारी। जियत जीय नहिं करौं निनारी।
कंत चलाईं का करौं आयसु जाइ न मेटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं लेहु सहेलिहु भेंटि।।
- पद्मावत : सं० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४६७.

३. लै पहुँचाई फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन औगुन दोऊ।
औ संग चला गवन सब साजा। उहै देइ पारै अस राजा।
+ + +
सहस पांति तुरियन्ह कै चली। औ सै पांति हस्ति सिंघली।
- वही, पृ० ८२१.

जाने को जब तैयार हुए उसी दिन बादल का गौना आया है।[1] उस अवसर पर गौना कर आयी हुई चन्द्रमुखी नववधू के साज-शृंगार का वर्णन जायसी ने कलात्मक ढंग से किया है।[2] जब वह चन्द्रमुखी नववधू गौना लेकर आयी तो उसके प्रियतम परदेश जाने लगे।

दहेज प्रथा

प्राचीन काल से लेकर समाज में दहेज प्रथा का प्रचार था। आज भी यह प्रथा प्रचलित है। विवाह के बाद वधू के पिता वर पक्ष को या वर के पिता को जो अमूल्य वस्तुएं और धन देते हैं उसे 'दहेज' कहते हैं। मध्ययुगीन भक्त-कवियों ने इस प्रथा का उल्लेख किया है। जायसी, सूर और तुलसी के काव्यों में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है। जायसी ने रत्नसेन-विदाई-खण्ड में[3], सूरदास ने जांबवती और सत्यभामा[4], पंच पटरानी[5], अनिरुद्ध[6], सांब-लक्ष्मना[7], वसुदेव-देवकी[8] के विवाह प्रसंगों में दहेज-प्रथा का उल्लेख किया है। तुलसीदासजी ने

---

१. बादिल गवन जूझि कहं साजा। तैसेहिं गवन आइ घर बाजा।
 - जायसीकृत पद्मावत सं० श्री वा.श.अग्रवाल, पृ० ८२

२. लिहें साथ गवने कर बारू। चन्द्रबदनि रचि कीन्ह सिंगारू।
 मांग मोति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मंजूर बांक तस जूरा।
 भौंहें धनुक टंकोरि परीखे। काजर नैन मार सर तीखे।
 घालि कचपची टीका सजा। तिलक जो देख ठाउं जिउ तजा।
 मनि कुंडल डोलहिं दुइ स्रवना। सीस धुनहिं सुनि सुनि पिय गवना।
 - वही, पृ० ८२१-८२२.

३. रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भंडार दीन्ह रथ जोती।
 परिखि सो रतन पारिखिन्ह कहा। एक एक नग सिंघलहि बट लहा।
 - वही, पृ० ४७७.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४८०६, पृ० १५१३.
५. वही, ,, ,, ४८११, पृ० १५१४.
६. वही, ,, ,, ४८१७, पृ० १५२१.
७. वही, ,, ,, ४८२७, पृ० १५२७.

८. करि बिबाहि कंस वसुदेवहिं, दुख-भंजन, सुख-माला।
 हय गय-रतन-हेम-पाटंबर, आनंद-मंगलचारा।
 - वही, वही, पद ६२२, पृ० २५६.

तो शिव-पार्वती विवाह[१] और राम-सीता के विवाह[२] के बाद दहेज के रूप में अनेक प्रकार की अमूल्य संपत्ति दिये जाने की ओर संकेत किया है । तुलसीदास ने `मानस` के अतिरिक्त रामाज्ञाप्रश्न[३] और `जानकीमंगल`[४] में भी दहेज-प्रथा का वर्णन किया है । यह रीति आज समाज की एक कुरीति है ।

दास प्रथा

प्राचीन काल से लेकर `दास` शब्द सेवकों या गुलामों के लिए प्रयुक्त होता आया है । आर्यों या देवों के प्रतिपक्षी रूप में वैदिक साहित्य में दास का संकेत मिलता है । भारत में आर्यों ने दासों को उनके कृषि और पशु-पालन आदि कार्यों में लगे रहने देकर उनकी वैश्यवृत्ति को अक्षुण्ण रहने दिया — ऐसी भावना स्वाभाविक है ।[५] मध्ययुगीन भारत में दास-प्रथा का प्रचलन खूब था । दोनों जातियों— हिन्दू और मुसलमान — में दास प्रथा थी । अमीरों और धनी लोगों के घर में दास लोग नियुक्त थे । इस कारण उनको बहुत काम नहीं था । इसलिए ये भोग-विलास में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे । मध्य युग में गाय तथा बैल की तरह दासों की बिक्री भी होती थी और उसके लिए प्रत्येक हाट लगती थी । अलाउद्दीन के समय दासों की संख्या ५०,००० थी और मुहम्मद तुगलक के समय यह संख्या और भी बढ़ गयी थी । इन दासों को

---

१. दासी दास तुरग रथ नागा । धेनु बसन मनि वस्तु बिभागा ।।
अन्न कनक भाजन भरि जाना । दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ।।

— रामचरितमानस, बालकांड, दो० ४, पृ० १६७.

२. वही, वही, पृ० ५४२, ५४३, ५५६, ५५७.

३. दाइज भयउ अनेक विधि, सुनि सिहाहिं दिसिपाल ।
सुख संपत्ति संतोषमय, सगुन सुमंगल-माल ।।

— रामाज्ञाप्रश्न, सर्ग १, सप्तक ६, दो१, पृ० १६.

४. दाइज भयउ बिबिध बिधि जाइ न सो गनि ।
दासी दास बाजि गज हेम बसन मनि । — जानकीमंगल, बरवै १५६, पृ० ४४.

५. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका : रामजी उपाध्याय, पृ० ३६.

फिरोज तुगलक ने विभिन्न कामों में लगा दिया। वास्तव में ऐसा कोई भी काम नहीं बचा था, जिसमें फिरोजशाह के गुलाम नियुक्त न हुए हों। दास-प्रथा का यह प्रचलन मुगल शासकों के काल में भी रहा। युद्ध में बन्दी बनाये गये पुरुष ही उस समय के दास थे। यहां यह कहना पड़ता है कि मध्यकाल तक भारत में दास-प्रथा हितकारी थी; लेकिन उसके उपरांत यह अत्यंत हानिकारक सिद्ध हुई।

मध्यकालीन संत-कवियों के काल में मुसलमान शासकों की विलासप्रियता के कारण दास-प्रथा अपनी चरम सीमा तक पहुंच गयी थी। अमीर और गरीब में बड़ा अन्तर था। अमीर लोग गरीबों को दास के रूप में देखते थे। गरीबों को इसलिए अपने नैतिक जीवन बिताने में भी कठिनाई हुई। इन भक्तिकालीन कवियों ने अपने काव्यों द्वारा दासों की इस करुणात्मक दशा को रोकने का प्रयत्न किया। सूफी प्रेमाख्यानक काव्य पद्मावत में धाय और पद्मावती का अटूट सम्बन्ध दिखाया गया है। पद्मावती के प्रति धाय का कितना उत्कट और अपार प्रेम है, यह पढ़ते ही मालूम होगा। पद्मावती विरह-रूपी अग्नि में तड़पती रहती है। वह धाय उसे सांत्वना देती है। पद्मावती को वह अपनी पुत्री के समान मानती है।[1] राजा रत्नसेन के राजमहल में नित्य प्रति सोलह सौ दासियां रहती हैं; वे सब सुन्दर और सुसज्जित हैं।[2]

सूरदास ने सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में दास-प्रथा की ओर संकेत किया है। मथुरा से उद्धव का आगमन हुआ। उद्धव-गोपी-संवाद में गोपियां दासी कुब्जा पर सटकती व्यंग्य बातें सुनाती हैं। गोपियों के इस व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण उक्तियों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में ऊंचे पद पर विराजमान लोग विलासप्रिय और सौन्दर्य के उपासक थे। कुब्जा राजा कंस की दासी है। गोपियां उद्धव से कहती हैं—

---

१. पद्मावत - व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १९६-१९७.

२. राजा के सोरह सौं दासीं। तिन्ह महं चुनि काढ़ीं चौरासी।
बरन बरन सारीं पहिराईं। निकसि मंदिल हुतें सेवां आईं।।
- वही, पृ० ७४१.

गोकुल की मनि त्रिभुवन नायक, दासी सौं रति जोरी ।[1]

\+ + + +

भोग भुगति दासी कौं दीन्ही, अरु सिंगार सुहाए ।[2]

\+ + + +

ऊधौ अब कछु कही न जाइ ।
रानी भई कुबरी दासी, कापै बरनी जाइ ।।[3]

\+ + +

अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी आय भजी ।[4]

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-परिवार की दासी मन्थरा को आदर्श दासी के रूप में चित्रित किया है । वह रानी कैकेयी को इसीलिए उपदेश देती है, जिससे उनका मन चंचल हो जाये ।[5] सबसे पहले दासी मंथरा की वाणी सुनकर रानी कैकेयी को क्रोध आता है और वह मंथरा को डांटने लगती है । लेकिन मंथरा के लगातार उपदेश से रानी का मन बिगड़ जाता है । मंथरा ने जो किया वह अवश्य अपनी स्वामिनी की भलाई के लिए था, लेकिन वह अयोध्या नगरी के नाश का कारण हुआ । यह वह जानती नहीं थी । दासी और स्वामिनी के निकटतम संबंध का परिचय भी इस प्रसंग से हो जाता है ।

इससे प्रकट होता है कि मध्य युग में दास-प्रथा प्रचलित थी और तत्कालीन भक्त कवियों ने अपनी अमूल्य और उत्कृष्ट रचनाओं में उनका वर्णन किया और समाज में प्रचलित इस कुरीति को रोकने का प्रयास किया ।

घरेलू चीजें

मध्य युगीन भारतीय इतिहास के पन्ने पलटने से विदित होता है कि उस समय की जनता अपने घर और घर की उपयोगी वस्तुओं को इकट्ठा करने में तत्पर

---

१. सूरसागर - दशम स्कंध, पद ३६७४, पृ० १२६७.
२. वही, वही, पद ३९५५, पृ० १४३८.
३. वही, वही, पद ४०००, पृ० १४४१.
४. सूरदास और उनका भ्रमरगीत : डा० श्रीनिवास शर्मा, पद २५५, पृ० ३८८.
५. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० २, पृ० २४.

थी । उस काल के लोग विभिन्न प्रकार की घरेलु चीजों का इस्तेमाल करते थे । यह उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति का सूचक है । यद्यपि मध्य युग हलचल और अशांति का युग था तो भी जनता अकाल और दुर्भिक्ष के अवसर पर भी अनेक प्रकार के बर्तनों एवं नित्योपयोगी वस्तुओं का उपयोग करती थी ।

भक्ति कालीन काव्य-ग्रंथों में ~~प्रयुक्त~~ निम्नलिखित घरेलु चीजों के नाम उल्लिखित हैं —

ताला-कुंजी[१], दीपक[२], पिंजरा[३], दरपन[४], दीवा[५], कलस[६], जेवड़ी[७], आरसी[८], कुआई[९], शीशी[१०], छाता[११], हथोड़ा[१२], पनिवार[१३], कंचन कलस[१४], दिया[१५], दीप[१६], पाट[१७], चंडोल[१८], लोटा[१९], कोपर[२०], आर[२१], डोरि[२२],

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० ६६; कबीर बीजक, पृ० ३३; पद्मावत, पृ० २५.
२. क.ग्रं., पृ० २३५, २८७; पद्मावत पृ० २४, १५६, ४२२; दादूदयाल ग्रंथावली, पृ० ३०, १६२, १८५; नन्ददास ग्रंथावली, पृ० ११२, ३०६.
मीरा और उनकी पदावली, पृ० १८३.
३. क.ग्रं. पृ० १३५; दा.ग्रं. पृ० २४; पद्मावत पृ० ७८, ८६; नन्ददास ग्रं० पृ० ६.
४. दादूदयाल पृ० ४७३, क.ग्रं. पृ० ३६६; पद्मावत पृ० २८, ६४२; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० २४८; परमानन्दसागर पृ० १५०, २३१.
५. क.ग्रं. पृ० १२२.
६. क.ग्रं. पृ० १४५, १४७; रामचरितमानस बालकाण्ड पृ० ४८१; ४६२; अयोध्याकांड पृ० १२; रामाज्ञाप्रश्न पृ० २२; पार्वतीमंगल पृ० ३६; २६ ; रामलला० पृ० ३; गीतावली पृ० ३४; ४२०; परमानन्द० पृ० ६४, ६८, ११५.
७. क.ग्रं. पृ० १५७, १७३.
८. वही, पृ० १७६.
९. वही, पृ० १८०.
१०. पद्मावत, पृ० १२५.
११. वही, पृ० ३६, ८६२.
१२. वही, पृ० ४३.
१३. वही, पृ० ५०.
१४. क.ग्रं. पृ० ३८७; सूरसागर पृ० १२४; परमानन्द० पृ० ७, ११६; नन्ददास ग्रं० पृ० ३८६, ३९०.
१५. पद्मावत पृ० ५६, २२२; रसखान पृ० ३०३.
१६. पद्मावत पृ० १७३; नन्ददास० पृ० २०, ३२१.
१७. पद्मावत पृ० ८६१
१८. वही, पृ० ८३१.
१९. वही, पृ० ७४३.
२०. वही, पृ० ७४३.
२१. वही, पृ० ७४३.
२२. वही, पृ० ७३७.

छत्र[1], पियाला[2], कांचु[3], कंचन[4], दियारा[5], कंचन थार[6], कनक कलस[7], कनक कोंपर[8], कनक कुर्म[9], मानिक दीप[10], घंटि[11], त्रिशूल[12], पट[13], कपड़ा[14], डंड़ी[15], कमंडल[16], उलूखल[17], कनक थार[18], सुबरन थार[19], कंचन मनि जटित थार[20], मथानी[21], कनक कटोरा[22], मटुकी[23], डंगर[24], सूली[25],

---

१. पदुमावत, पृ० ६८१.
२. वही, पृ० ६०६.
३. वही, पृ० ४५८.
४. वही, पृ० ४५८.
५. वही, पृ० २०१.
६. मानस, बालकाण्ड पृ० १८७; कवितावली, पृ० २, सूरसागर दशमस्कंध पृ० २६५; नन्ददास पृ० ३८६.
७. क.ग्रं. पृ० ३८७; मानस - बाल० पृ० ५३६; ३३४; गीतावली पृ० २२, १६६.
८. मानस - बाल० पृ० ५३६.
९. रामलला नहछू पृ० ३.
१०. मानस - बाल० पृ० ४८१; रामलला० पृ० ३.
११. ,, ,, पृ० ५०१.
१२. ,, ,, पृ० १८२.
१३. ,, ,, पृ० ५२७.
१४. ,, ,, पृ० ४८१.
१५. गीतावली पृ० १३.
१६. सूर०, अष्टम स्कंध पृ० १७८ ; परमानन्दसागर पृ० ६२.
१७. सूर० दशम स्कंध पृ० २५६, ३५६, ३७४, ३७५ ; सूरदास और उनका भ्रमरगीत - डॉ० श्रीनिवास शर्मा पृ० ३१४, ४०४; परमानन्दसागर पृ० २६, रसखान ग्रंथावली पृ० ३३६.
१८. सूरसागर, दशम स्कंध पृ० २६५, २६८, २६९.
१९. वही, पृ० २७१.
२०. वही, पृ० २६४.
२१. वही, पृ० ३०७.
२२. वही, पृ० ३१५.
२३. वही, पृ० ३५४, ३५६, ३७५, ७७३, ७७४, ८२९.
२४. सूरसागर प्रथम स्कंध पृ० ६९.
२५. सूरसागर तृतीय स्कंध पृ० १२९.

कंचन थार[1], कमोरी[2], लकुटी[3], कागद[4], मसि[5], कंबु[6], पिंजरनि[7], मुकुट[8], अनिका[9], कंचन मांट[10], पिचकारी[11], कंचन झरा[12], तरांबा[13], प्याला[14], प्याय[15], कंजीर[16], कमरिया[17], सुराही[18] आदि इनमें प्रमुख हैं ।

इन सभी घरेलू चीजों को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि तत्कालीन समाज में लोग सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी उच्च स्थान तक पहुंच गये थे । मध्यकालीन समाज में प्रचलित इन घरेलू चीजों का नमूना

---

१. परमानन्द० पृ० ३८, ८०, १०६.
२. वही पृ० ४४.
३. वही पृ० ५६, ८५, ८८; मीरा पदावली पृ० ३३६, २१४.
४. परमानन्दसागर पृ० १७६.
५. वही, पृ० १७६.
६. नन्ददास ग्रंथावली पृ० १.
७. वही, पृ० ६.
८. वही, पृ० १२.
९. वही, पृ० २३२.
१०. वही, पृ० ३३१.
११. वही, पृ० ३३३.
१२. वही, पृ० ३३८.
१३. मीराबाई और उनकी पदावली पृ० १८३.
१४. वही, पृ० २१०, २१४, २३२.
१५. वही, पृ० २२०.
१६. वही, पृ० ३३६.
१७. रसखान ग्रंथावली, पृ० ३१५.
१८. पद्मावत, पृ० ६६.

आज भी देखने को मिलता है। उनके नाम में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इन मध्यकालीन घरेलू चीजों को देखकर कला की स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है। उस समय सब लोग कला में अति निपुण थे। घरेलू चीजों की निर्माण-कला में वे प्रवीण थे।

भोजन तथा विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ

प्राचीन युग से लेकर यह परंपरा प्रचलित है कि भारतीय भोजन के मामले में स्वच्छता एवं पवित्रता को विशेष महत्व देते हैं। वे परम्परागत संस्कारों के कारण ही पवित्र रहते हैं, किसी दबाव के कारण नहीं। भोजन के पूर्व वे स्नान करते थे, उच्छिष्ट भोजन किसी को नहीं खिलाया जाता था, भोजन के बर्तन एक के बाद दूसरे को नहीं दिये जाते थे। मिट्टी और लकड़ी के बर्तन एक बार के प्रयोग के बाद प्रयुक्त नहीं होते थे। सोने, चांदी, तांबे आदि के बर्तन पवित्र माने जाते थे। मध्ययुगीन भारतीयों के विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उस समय सामान्यत: लोगों का भोजन गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, दूध, घी, गुड़ और शक्कर था। उस समय के शासकवर्ग के लोग सुख-समृद्धि का जीवन बिताते थे। वे मिष्टान्न और स्वादिष्ट भोजन करते थे। विभिन्न प्रकार के भोजन के स्वरूप और उनको पकाने की रीति का भक्ति-काल के कवियों ने वर्णन किया है। जायसी, सूर, तुलसी आदि कवियों के काव्यों में इसका लम्बा-चौड़ा वर्णन मिलता है। संत कवियों ने उस ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना जायसी, सूर, तुलसी आदि ने। प्रसंगानुसार उन्होंने अपने समकालीन समाज में प्रचलित व्यंजनों की सूची भी दी है। कबीर आदि संत कवि जीवन पद्धति को स्वीकार करते हैं और प्राणी के लिए इसी कारण भोजन की आवश्यकता मानते हैं कि परमात्मा का स्मरण-भजन करते रहने के लिए शरीर की शक्ति बनी रहे। आदि-पुरुष का नाम भोजन के स्वाद की भांति जपना चाहिए। जो मनुष्य अन्न (भोजन) का बहिष्कार करते हैं वे तीनों लोकों में अपनी मर्यादा खोते हैं। ऐसे लोग भोजन छोड़कर पाखण्ड करते हैं और संसार में अपने को दूध के आधार पर रहने वाला घोषित करते हैं। किन्तु वे गुप्त रूप से आपस में कसार (भुना हुआ

आटा, जिसमें शक्कर और मेवे मिले रहते हैं) बांट कर खाते हैं। वे नहीं जानते कि बिना अन्न के सुकाल नहीं हो सकता। अन्न को छोड़ देने से गोपाल नहीं मिलते।[१] कबीर ने हिन्दुओं को एकादशी व्रत में दूध-सिंघाड़ा खाने की चर्चा की है और पारना करने का उल्लेख भी किया है।[२]

सूफी प्रेमाख्यान कवियों ने अपने काव्यों में विभिन्न प्रकार के भोजनों की सूची दी है। जायसी के 'पद्मावत' में इसका वृहत वर्णन मिलता है। रत्नसेन-पद्मावती विवाह खण्ड में देखिए --

पहिलें भात परोसि आने। जनहु कपूर सुबास बसाने।
फा-हर मांड आए घिउ पोए। ऊजर देखि पाप गए धोए।
लुचुई पूरि सोहारीं परीं। एक ताती औ सुठि कोंवरीं।
पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे न कबहूं खाए।
खंडरा बंडि संडोई खंडी। परी एकोतर सै कठहंडी।
पुनि संधान आए बहु सांधे। दूध दही के मोरंडा बांधे।
पुनि बाउरि पछियाउरि आई। दूध दही का कहीं मिठाई।[३]

'पद्मावत' के 'बादशाह-भोज-खंड' में भी खाद्य पदार्थों की विस्तृत झांकी मिलती है। जायसी ने रत्नसेन द्वारा बादशाह की दावत का भी विशद वर्णन किया है। दावत में प्रयुक्त मांस के विभिन्न प्रकार और विविध प्रकार के शाकाहारी भोजन का परिचय पद्मावत में मिलता है। मांसाहार के लिए तरह तरह के पशु-पक्षियों को लाया जाता था और मारा जाता था।[४] दावत के लिए तैयार किये गये भोजन में विभिन्न प्रकार की मछलियों की संख्या भी उल्लेखनीय है।[५] आगे चलकर गेहूं जैसे अनाजों से तरह-तरह के पकवान, जैसे पूरी, सोहरी आदि बनाये

---

१. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ११, पृ० १७५.
२. कबीर बीजक, १०, पृ० १२१.
३. पद्मावत (जायसीकृत) - व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३२३-३२४.
४. वही, पृ० ७१०.
५. वही, पृ० ७१२.

जाने का चित्रण है ।[1] दावत के लिए सताईस प्रकार के चावलों से भात बनाने का वर्णन है ।[2] जायसी ने मांस के कई प्रकार के भोज्य पदार्थों की पाकविधि के साथ किया है ।[3]

सूरदास ने भी `सूरसागर' में ब्रज में प्रचलित विभिन्न संस्कारों तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों का परिचय दिया है । उस समय छह रसों के व्यंजनों से लोग अच्छी तरह परिचित थे । `सूरसागर' में भोज्य पदार्थों की एक लम्बी सूची मिलती है । अन्य कृष्ण भक्त कवियों के काव्यों में भी यही वर्णन मिलता है । दूध, दही, मक्खन, मिश्री, रोटी, मावे की मिठाई, सोंठ-मिर्च पड़ी प्यांसर, दही और दूध के बड़े-पकौड़ी, जलेबी, सुरमा, सक्करपारे, सेव, लड्डू, लोंग पड़े खीर-लड्डू, कपूर रस के बूरे से भरे हुए गुफा, गाल मसूरी, खसमि, घावर, मधु साने मालपुआ, खांड के रस में डूबा हुआ घेवर, खजूरी, घृत पूरी, सीरा आदि दोपहर की भोजन-सामग्री में आते हैं ।[4] नारिक, दाख, खोपरा, खीरा, केरा, आम, उख, रस, सीरा, श्रीफल, चिरौंजी, सफरी-छिउरा, खुबानी, घेवर, फेनी, सुहारी, खोवा, लड्डू, दही, मक्खन, रोटी, किसमिस, बादाम, सेव, छुहारे, पिस्ता, तरबूजा की मींग, नाना प्रकार के मेवा तथा नाना रस के मिष्टान्न कलेउ के रूप में स्वीकृत थे ।[5] दोपहर के भोजन में भी वैविध्य था । एक स्थान पर उसका वर्णन देखिए — मिठुआ, सूरन, करौंदा, बेसन, सरस मैदा की पूड़ी, खीर, खांड, घृत, लावनि, लड्डू, लापसी, खाजा, पेठा पाक, कौरी, गोंद पाक, तिनगरी, गिंदौरी, इलायची पाक, अमिरती, सरबूजा, चिराटी, पुआ, खुवा, निलावती घांवर, भात, मूंग, मसूर, उरद, चने की दाल, बाटी, मीठा तेल, चने की भाजी, बूरा, भूरा, मूंग पकौड़ , पतवारा, गुरबरा, पापड़ बरी, मिथौरी, फुलौरी,

---

१. पद्मावत (जायसीकृत) व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७१५.
२. वही, पृ० ७१५.
३. वही, पृ० [redacted].७१८-७१९.
४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८३, पृ० ३२३.
५. वही, वही, पद २११-२१२, पृ० ३३२-३३३.

कचरी, पिठौरी, मिमौना, बनकौरा, पिंडोक, चिचिंडी, सीप पिंडारू, मिंडी, चौराइ, लल्हा, पोइ, लोनिका, फांगी, सरसौं, मेथी, सोवा, पालक, बथुआ, हींग, हरद, मिर्च, अदरक, आंवला सालन, उज्ज्वल पान, कपूर और कस्तूरी दोपहर के भोजन में रखे गये थे।[१] साथ ही अन्य अनेक प्रकार के शाक, दाल आदि भी शामिल थे। खिचड़ी, मेहरी (गोपों की प्रिय वस्तु), भात, मुंग, अरहरी, कचौरा, सूरन, तोरई, सेम, सैंगरी, बैंगन का भुरता, बथा, मरसा, चौराई, सोवा, परवर टैंटी, ढेंढस, कुलफा, ककोरा, करेला, सहजना के फूल, करील के फूल, अगस्त फरी, इमली, राम तोरई, रताल, कचनार, ककड़ी, बरी-बरीठ, पानौरा, रायता, फंकौरी, इमरोरी, मुंगौड़ी, सीरी, अमृत इंडहर, कढ़ी, अजवाइन, कचौड़ी आदि का नाम यहां लिया जा सकता है।[२] गोचारण प्रसंग में छाक का उल्लेख सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। सूरसागर[३] और परमानन्दसागर[४] में इसका बड़ा लंबा वर्णन मिलता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी तत्कालीन प्रचलित भोज्य-पदार्थों का उल्लेख किया है। 'रामचरितमानस' के बालकांड में ऐसे अनेक पद्यांश मिलते हैं जिनसे उस समय के स्वादिष्ट पदार्थों का परिचय मिलता है। राम-सीता-विवाह के उपरांत हुए ज्यौनार में अनेक पदार्थों का वितरण हुआ था — सूपोदन, सुरभी सरपि, सुस्वाद पुनीत, पकसिंगे, पकसन, छह रस के रुचिर विजन, दधि ओदन, दधि बिउरा, मेवा, पकवान आदि।[५] इनके अलावा भक्तिकालीन कवियों ने जिन पदार्थों का उल्लेख किया है उनके नाम नीचे दिये जाते हैं —

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४१-३६६, पृ० ३४२-३६५.

२. वही, वही, पद १२१३, पृ० ६८६-६६०.

३. हरि जू कौं ग्वालिनि भोजन ल्याई।
   वृंदा बिपिन बिसद जमुना-तट, सुचि ज्यौनार बनाई।
   सानि-सानि दधि भात लियौ कर सुहृद सखनि कर देत।
   मध्य-गोपाल-मंडली मोहन, छाक बांटि कै लेत।
   - वही, दशम स्कंध, पद ४१६, पृ० ४०१.

४. बरी छाकहारी बार पांच आवति मध्य ब्रजराज ललाकी।
   बहु प्रकार व्यंजन परिपूरन पठवत बड़े डलाकी।
   - परमानन्दसागर, पद ६४२, पृ० २२४.

५. रामचरितमानस, बाल०, पृ० ५४६-५५१.

रोटी[१], रोटी का गुरमा[२], भात[३], धोई मूंग की दाल[४], बथुआ का साग[५], खिचड़ी[६], सत्तू[७], चबेना[८], दलिया[९], सोया[१०], खांड[११], शक्कर[१२], राब[१३], गुड़[१४], बतासा[१५], लड्डू[१६], पेड़ा[१७], जलेबी[१८], मलाई[१९], दूध[२०], मुंजि समोसा[२१], नारंग दारिं[२२], तुरंज जंभीरा[२३], खीर[२४], कटहर[२५], बड़हर[२६], नारियल[२७] दाख खजूर[२८], मसौरा[२९], मेथी[३०], टाटक[३१], कुंकुह[३२], तरकारी[३३], कुम्हड़ा[३४], लौका परवती[३५], कुंदरू[३६], खोरई[३७], सोट[३८], दूध खांड[३९], मुंगौछी मुंगौरा[४०], गुरबरी[४१], मेथौरी सिरिका[४२], सोंठि[४३], मीठ मरिच[४४], जीरा लावा[४५], हौनू लावा[४६], तुंबुरू[४७], अंबचूर[४८], लौंग[४९], लाइची[५०], संवारी[५१], डुभकौरी[५२], संधानी[५३], बरीरी[५४], खिरौंजी[५५], फुलफुरी[५६], पेठा[५७], अम्रित गुरंब गरौठा[५८], लोलड़ा[५९], हलुआ[६०], कनाई[६१], दूध-दहि[६२], मोरंड[६३], मिठाई[६४], मोतिलड्डू[६५], मांठ पेराक[६६], कुरहरी[६७], फेनी पापर[६८], अबेग[६९], घृत मिष्टान्न[७०], घृत[७१], लावनी लड्डू[७२], अमृत खांडू[७३], लुचुई[७४], लपसी[७५], घेवर[७६], खाजा[७७], पेठापाक[७८], कौरी[७९], गोंदपाक[८०], तिनगरी[८१], गिंदौरी[८२], गुंफा[८३], इलायची पाक[८४], खरबूजा[८५], खरिक[८६], दाख[८७], गरी[८८], बदाम[८९], बेसन-पूरी[९०], सुख पूरी[९१], फेनी[९२], सेव[९३], मसूर[९४], पापड़[९५], मिरिच[९६], पिंडीक[९७], चिचिंडी[९८], सरसों[९९], सोवा[१००], पान[१०१], कपूर[१०२], कस्तूरी[१०३], सीतल माखन[१०४], मलई दूध[१०५]।

१-१७. कबीर बीजक, पृ० ३३२; संतकबीर - डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १६९; कबीर ग्रंथावली - श्यामसुन्दरदास, पृ० २५२ (पद ३५); पृ० २५७ (पद १११

१८. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३९६, पृ० ३९४-३९५.

१९-२०. १-१७ के समान।

२१-६९. जायसीकृत 'पद्मावत' : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७२०-७२७.

७०-१०३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३९६, पृ० ३९४-९५.

१०४-१०५. परमानन्दसागर, पद ६०८, पृ० २१२.

सचमुच मध्ययुगीन कवियों के काव्य में खाद्य पदार्थों की बड़ी लम्बी सूची मिलती है। इससे एक प्रकार से उस समय की जनता की जीवन-रीति, पाकविद्या, भोजन के तरीके,षड्रस के भोज्य पदार्थों के स्वरूप आदि का अनुपम विधान मालूम होता है।

औषधियां और वनस्पतियां

मानव और प्रकृति का सम्बंध अनादि काल से रहा है। प्राकृतिक वस्तुओं के अन्तर्गत औषधियों और वनस्पतियों का स्थान सबसे ऊंचा है। इसके अध्ययन को वनस्पति-विज्ञान कहते हैं। हिन्दी-साहित्य के भक्ति कालीन कवियों के काव्य में मुख्यत: जिन औषधियों और वनस्पतियों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं —

केतकी[१], बौलड़ा[२], नींब (नीम)[३], बंस (बांस)[४], कंवल (कमल)[५], चंपा[६], कुन्द[७], रसबेलि[८], गुलाल[९], केरा (केला)[१०], चमेली[११], कूजा के फूल[१२], कदम्ब[१३], कोकाबेली[१४], मंदार[१५], नलिन[१६], कचूरी[१७], कुमुदिनि[१८], कुमुद[१९], कदली[२०], दारिंवा (दाड़िम)[२१], कटहर[२२], बड़हर[२३], केसर[२४], सेवती[२५], करील[२६],

---

१. कबीर ग्रंथावली पृ० २४८; पद्मावत पृ० ६८, २२८, ७४२; नन्ददास ग्रं०,पृ० १.
२. कबीर ग्रंथावली पृ० २६३.
३. वही, पृ० ३२२.
४. वही, पृ० ३२२ ; 'मानस' बालकाण्ड, पृ० ४८०.
५. दादू०ग्रं० पृ० २०४, २२६, ४२२; पद्मावत पृ० ६८, १७६, १६२, ३५६, ८६८; सूरसागर पृ० ६३७; परमानन्द० पृ० २६१; 'मानस' सुन्दरकाण्ड पृ० ६६.
६. पद्मावत पृ० ६८, ५४० ; सूरसागर पृ० ११७२.
७. वही, पृ० ६८, ५४०; वही, पृ० ११७२.
८. पद्मावत, पृ० ६८.
९. वही,पृ० ६८ ;३९४ ; सूरसागर पृ० ११७०.
१०. वही, पृ० ८०.
११. वही, पृ० ६८, ५३४; परमा० पृ० २२, २६१; सूरसागर पृ० ६३८, ११७२.
१२. पद्मावत पृ० ६८, २१४ ; सूरसागर पृ० ६३८.
१३. वही, पृ० ६८, २१४ ; नन्ददास पृ० ११, ३२६.
१४. पद्मावत पृ० ६८.

.....शेष संदर्भ अगले पृष्ठ पर.
(क्रमश:)

प्रियाल[२७], चंपा[२८], जूही [redacted][२९] , मालती[३०], नारंगवृक्ष[३१], कुसुम[३२], चन्दन वृक्ष[३३], केवड़ा[३४], सदबरग[३५], करना[३६], सुदरसन[३७], मौलसरी[३८], गुलबकावली[३९], रूपमंजरी[४०], गुनगौरी[४१], बोलसिरि[४२], सीरी[४३], कमल[४४], सदाफर[४५],

---

१५. पद्मावत, पृ० ८६; नन्द०ग्रं० पृ० ६.
१६. पद्मावत पृ० १३१; गीतावली पृ० २७५.
१७. पद्मावत पृ० ८१२.
१८. वही पृ० ६९५, ७९०, ७८६.
१९. पद्मावत पृ० ७५७; सूर० पृ० ६३७; `मानस` सुन्दर० पृ० ६६.
२०. पद्मावत पृ० ६६०; रामाज्ञाप्रश्न पृ० १४५; परमा० पृ० २००; गीतावली-उत्तरकाण्ड पृ० ४०६.
२१. पद्मावत पृ० ५४५; साहित्य लहरी पृ० ३२.
२२. पद्मावत पृ० २१२, ५४२.
२३. वही. ,, ,,
२४. वही, पृ० ५४०, ५४२. ; [redacted].
२५. वही, पृ० २१२, ५४२ ; सूरसागर पृ० ६३८.
२६. पद्मावत पृ० २२८, ५२०.
२७. वही, पृ० ५१०.
२८. वही, पृ० ४६२.
२९. वही, पृ० ४६२.
३०. वही, पृ० ३४५, ४५६ ; सूरसागर पृ० ६३७.
३१. पद्मावत पृ० ४२७.
३२. वही, पृ० ३६३ ; नन्द०ग्रं० पृ० २२, २४०; परमा० पृ० १३६; `मानस` बालकाण्ड पृ० ४४४.
३३. पद्मावत पृ० ३६५; सूरसागर पृ० ६३७.
३४. पद्मावत पृ० २१४.
३५. वही, पृ० २१४.
३६. वही, पृ० २१४.
३७. वही, पृ० २१४.
३८. वही, पृ० २१४.
३९. वही, ,, ,,
४०. वही, ,, ,,
४१. वही, ,, ,,
४२. वही, ,, ,,
४३ से ४५. पद्मावत पृ० २१२.

तुरंज[४६], जंमीरी[४७], पद्मराग फूल[४८], सरोज[४९], तरू[५०], तमाल[५१], पांडर[५२], चंपक[५३], चनार[५४], ताल[५५], पाटल[५६], फनस[५७], रसाल[५८], बट[५९], बकुल[६०], कुरव[६१], जाहि[६२], जुही[६३], सेवती[६४], मरूवा[६५], लवंगलता[६६], सारंग[६७], आम[६८], करवीर[६९], नीम[७०], पलास[७१], पीपर[७२], अंब[७३], अंबुवा[७४], कचरी[७५], निबुवा[७६], श्रीफल[७७], अंबुज[७८], इंदीवर[७९], कुसेसय[८०], जलजात[८१], तामरस[८२], वारिज[८३], राजीव[८४], सतदल[८५], अतिसी[८६], कानीवारी[८७], कनीर[८८], कनेल[८९], करना[९०], केवरा[९१], टेसू[९२], निवारी[९३], बंधूक[९४], पद्म[९५], मल्लिका[९६], तरवर[९७], नीलोत्पल[९८], वीरुध (वृक्ष)[९९], जूथिके[१००], पंकज[१०१],

---

४६ पद्मावत पृ० २१२ ४७. वही, पृ० २१२.

४८ रामचरितमानस, बालकाण्ड पृ० ४८०.

४९ वही, पृ० ४८०; परमानन्दसागर पृ० २०.

५०. गीतावली, उत्तरकांड, पृ० ३८३.

५१. वही पृ० ३८३; कवितावली पृ० ६; सूरसागर पृ० ६३७; नन्ददास पृ० १३०.

५२. गीतावली, अयो० पृ० २१८.

५३. वही, पृ० २१८; परमानन्द०, पृ० २६१; सूरसागर पृ० ६३७.

५४. गीतावली, अयो० पृ० २१८.

५५. वही, पृ० २२५; सूरसागर पृ० ६३७.

५६. वही, पृ० २२५.

५७. वही, पृ० २२५.

५८. वही, पृ० २२५. ; परमानन्दसागर पृ० ३८.

५९. सूरसागर, पृ० ६३७;

६०. गीतावली, अयो० पृ० २२५; सूरसागर पृ० ६३७.

६१. गीतावली, अयो० पृ० २२१.

६२ से ६५. सूरसागर पृ० ६३८.

६६. वही, पृ० ११७२.

६७ से ६४. साहित्य लहरी, पृ० ३२.

६५. परमानन्दसागर, पृ० १२.

६६. वही, पृ० ६६ ; नन्ददासग्रंथावली पृ० १३०.

६७. परमानन्दसागर पृ० १२२.

६८. वही, पृ० २६१; नन्ददासग्रंथावली पृ० १.; 'मानस', किष्किंधाकांड, पृ० ६८.

६९. नन्ददासग्रंथावली पृ० २.

१००. वही, पृ० ११ ;

१०१. वही, पृ० ३३८.

जाति[१०२], वल्लि[१०३], कल्पतरु[१०४], सलिल[१०५], अरविंद[१०६], सरसीरुह[१०७], राजीवदल[१०८], सरसिज[१०९], किसलय[११०], द्रुम[१११], करीर[११२], कैरव (कुमुद)[११३] आदि ।

उपर्युक्त नामों को देखकर हम यही कह सकते हैं कि भक्तिकालीन कवि गण प्रकृति की ओर कितने आकृष्ट थे और वृक्ष तथा पौधों के प्रति कैसी जानकारी रखते थे। मध्ययुगीन प्रमुख कवि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि के ग्रंथों में प्रकृति का सदाम वर्णन मिलता है। प्रकृति के प्रति इस प्रकार की आकर्षण शक्ति रहे तो मानव में उल्लास और उत्साह की लहरें उठने लगेगी। कवियों की सौन्दर्य भावना उन्हीं से पंख फैलाकर गगन विहार करती है।

विभिन्न प्रकार के सामाजिक खेल

मानव अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा मनोरंजन के लिए कई प्रकार के खेल-कूद में तत्पर रहता है। खेल-कूद सभ्य जनता के व्यायाम का तरीका है। खेल दो प्रकार के होते हैं -- सामाजिक खेल और सांस्कृतिक खेल। सामाजिक खेल वे हैं जो बच्चे या बड़े लोग नित्य प्रति खेलते हैं। इनमें दौड़ का खेल, आंख मिचौनी, चौगान, भौंरा का डोरी, माखन-लीला का खेल, गोंद लड़ी, आदि आते हैं। सांस्कृतिक खेल विशेष उत्सवों के अवसर पर खेले जाने वाले

---

१०२. नन्ददास, पृ० ११.
१०३. वही, पृ० १३०.
१०४. वही, पृ० ३. ; रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृ० ६८.
१०५. वही, पृ० २४१.
१०६. वही, पृ० १७५.
१०७. वही, पृ० १८६.
१०८. वही, पृ० २०२.
१०९. वही, पृ० २२६, २५२, २७७.
११०. वही, पृ० २४०.
१११. रसखान, पृ० १८४.
११२. वही, पृ० १६२.
११३. वही, पृ० २७६.

खेल है । दोनों प्रकार के खेल स्वास्थ्य वर्धक तथा मानसोल्लास के साधन हैं ।

अब हम मध्य युगीन समाज में प्रचलित विभिन्न सामाजिक खेलों का वर्णन करेंगे ।

दौड़ का खेल

दौड़ का खेल ब्रज का प्रसिद्ध खेल है । कृष्ण और श्रीदामा ताली बजाकर दौड़ते हैं । खिलाड़ी मैदान में खड़े हैं; दौड़ने के पहले दो टोली में खिलाड़ी विभक्त होते हैं । सूरदास ने `सूरसागर` में दौड़ के खेल का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए —

खेलत स्याम ग्वालनि संग ।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रंग ।
हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़ ।
बरजै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़ ।
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात ।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात ।
उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि ।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा, धर्यौ स्याम हंकारि ।
जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहिं ।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहिं कीन्हौ कोह ।।[१]

आँख मिचौनी का खेल :

यह खेल बच्चों के बीच में बहुत प्रचलित है । बच्चे थोड़ी देर के लिए आँख मूंद लेते हैं और इसके बाद अपने छिपे रहने वाले सखाओं को ढूंढ निकालते हैं । कृष्ण और सखाओं का यह खेल देखने लायक है । माता यशोदा की उपस्थिति में खेल आरम्भ हुआ । कृष्ण आँख मूंद लेते हैं, तो यशोदा उनके कान में यह कहती हैं

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २१३, पृ० ३३३.

कि बलराम अमुक स्थान या घर में छिपे हैं। कृष्ण को तो श्रीदामा से होड़ थी। उन्होंने निर्विरोध सब सखाओं को दूसरे स्थान पर शरण लेने को कहा। आखिर कृष्ण दौड़कर श्रीदामा को पकड़ लेते हैं और श्रीदामा को चोर बनना पड़ता है। देखिए —

हरि तब अपनी आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ-तहँ गए भगाई।
कान लागि कह्यौ जननि जसोदा, वा घर मैं बलराम।
बलदाऊ कौं आवन देहौ, श्रीदामा सौं काम।
दौरि-दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि कौ गात।
सब आए रहे सुबल श्रीदामा, हारे अब कैं तात।
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ।
दै-दै सौं हैं नंद बबा की, जननी पै लै आइ।
हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर।।[१]

चौगान का खेल

'चौगान' शब्द फारसी का है। इस खेल को अंग्रेजी में 'पोलो' कहते हैं। 'सूरसागर' में सूर ने दो बार इस खेल का उल्लेख किया है। पहली बार ब्रज में मित्र और सखाओं के साथ हुआ तथा दूसरी बार द्वारिका जाते समय

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४०, पृ० ३४२.

२. खेलन जाहु बाल सब टेरत।
यह सुनि कान्ह भए अति आतुर, द्वारैं तन फिरि हेरत।
बार-बार हरि मातहिं बूझत, कहि चौगान कहाँ है।
दधि-मथनी के पाछैं देखौ, लै मैं धर्यौ तहाँ है।
लै चौगान-बटा अपनैं कर, प्रभु आए घर बाहर।
सूर स्याम पूछत सब ग्वालनि खेलौगे किहिं ठाहर।।
— सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४३, पृ० ३४३.

घोड़ों पर चढ़ कर हुआ ।[१] परमानन्दसागर में भी चौगान के खेल का सुन्दर वर्णन मिलता है –

> गोपाल माई खेलत है चौगान ।
> ब्रज कुमार बालक संग लीने वृन्दावन मैदान ।।
> चंचल बाजि नचावत आवत होड़ लगावत पान ।
> सब ही हस्त लै गेंद चलावत करत बाबा की आन ।।
> करत न संक निसंक महाबल हरत नयन को मान ।
> 'परमानन्ददास' को ठाकुर गुन आनन्द निधान ।[२]

भौंरा चकडोरी का खेल

ब्रज की गली-गली में यह खेल खेला जाता है । माता यशोदा कृष्ण के इन खिलौनों की सदा देख-भाल करती रहती हैं । राधा और बलराम से कृष्ण को विशेष डर है । यशोदा समय का सदुपयोग करती है । कृष्ण उससे कहते हैं कि राधा सबेरे आने वाली है, वह मुरली कहीं न चुरा ले जाये । बलराम भी छली है; उस पर भी विश्वास नहीं है । अत: कृष्ण माता यशोदा से खिलौने छिपाकर रखने को कहते हैं ।[३] सूरदास ने और एक स्थान पर इस खेल का अनुपम वर्णन किया है, देखिए –

> सैंतति महरि खिलौना हरि के ।
> जननि टेव आपने सुत की, रोवत है पुनि लरिकै ।।

---

१. मन मोहन खेलत चौगान ।
 द्वारावती कोट कंचन में, रच्यौ रुचिर मैदान ।।
 + + + +
 कुंवर सबै घोड़े फेरे पै, झांकत नहिं गोपाल ।
 चलै अकेल छल बल करि जीते, सूरदास प्रभु लाल ।।
 - सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४१६८, पृ० १५९६.

२. परमानन्दसागर, पद ६५, पृ० ३२.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७१०, पृ० ५०६.

धरि चौगान, बैत, मुरली धरि, अब भौंरा चकडोरी ।
प्रेम सहित लै लै धरि राखति, यह सब मेरे कौरी ।।[१]

गेंद का खेल

यह खेल सर्वत्र बच्चों में अति प्रचलित है । गेंद का खेल ब्रज में `गेंदतड़ी` नाम से प्रसिद्ध है । यमुना के पुलिन पर कृष्णा अन्य सखाओं के साथ गेंद खेलते हैं ।

खेलत स्याम सखा लिए संग ।
इक मारत, इक रोकत गेंदहिं, इक भागत करि नाना रंग ।
मार परसपर करत आपु में, अति आनंद भए मन माहिं ।
खेलत ही में स्याम सबनि कौं, जमुना-तट कौं लीन्हे जाहिं ।
मारि भजत जो जाहि, ताहि सौ मारत, लेत आपनौ दाउ ।
सूर स्याम के गुन को जानै कहत और कछु और उपाउ ।।[२]

सूर ने कृष्णा का कालीदह में गेंद निकालने के लिए कूद पड़ने की ओर संकेत किया है ।[३] नन्ददास ने भी इसका उल्लेख किया है ।[४] आज भी बालक पास-पड़ोस की चहारदीवारी में खोये गेंद को लेने के लिए घुसते दीखते हैं । इसी का नया रूप है फुटबाल का खेल ।

पीछे से आकर आँखें बंद कर लेने का खेल

यह खेल लोक-जीवन के मनोरंजन की उत्कृष्ट सामग्री है । अपने मित्र, सखा को धीरे-धीरे पीछे से आकर आँखें बन्द कर लेते हैं और तब तक नहीं खोलते जब तक कि उससे अपना नाम न पूछ लें । एक दिन राधा दर्पण के सामने बैठकर

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७१२, पृ० ५०६.
२. वही, वही, पद ५३३, पृ० ४४४.
३. वही, वही, पद ४४४, ४४५, पृ० ५३५-५३६.
४. हरि की सी बनि बन तें आवनि गावन रस रंगी ।
हरि की सी गेंदुक रवन नवन पुनि होन त्रिभंगी ।।
— नन्ददास ग्रंथावली, दो० ३६, पृ० २३.

शृंगार कर रही थी । कृष्ण ने उस समय चुपके से पीछे आकर राधा की आँखें बन्द कर लीं । सूर ने इसका अत्यंत सुन्दर वर्णन किया है –

नागरि रही मुकुर निहारि ।
आनि औचक नैन मूंदे, कमल कर गिरधारि ।।
चौंकि चकित भई मन में, स्याम कौं जिय जानि ।
मैं डरति ही अबहिं वाकौं, मिले ताकौं आनि ।।
तबहिं तन की सुरति आई, लख्यौ तन प्रतिबिंब रहिं ।
सकुच मनहीं मन दुरावति, परस्पर मुसकाहिं ।।
समुझि मन में कहति सखियनि, बिपुल लै लै नाम ।
सूर प्रभु उर सीस परसे, बीच बेनी स्याम ।।[१]

माखन लीला

अन्य सब खेलों के समान कृष्ण सम्बन्धी एक और खेल है मक्खन चोरी की लीला । चुपके से कृष्ण पराये घर जाते हैं, मक्खन की मटुकी लेते हैं और सखाओं सहित मक्खन खाते हैं । यह कृष्ण की नित्य लीलाओं में एक थी –

सखा सहित गए माखन-चोरी ।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी ।
हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हो उतरात ।
आपुन गई कमोरी माँगन हरि पाई ह्यां घात ।
पैठे सखनि सहित घर सूनैं, दधि माखन सब खाए ।
छूछी छाड़ि मटुकिया दधि की, हँसि सब बाहिर आए ।
आइ गई कर लिए कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल ।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नंदलाल ।
कहं आए ब्रज-बालक संग लै, माखन मुख लपटान्यौ ।
खेलत तैं उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ ।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २२०२, पृ० ६६८-६६९.

भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक, निकसे ब्रज की खोरि ।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अंजोरि ।।[१]

भक्तिकालीन कवियों में कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में सामाजिक खेलों की विस्तृत झाँकी मिलती है । अन्य भक्त कवियों ने इस ओर उतना ध्यान नहीं दिया । तुलसी और जायसी ने भी खेलों का संकेत कहीं-कहीं पर किया है । मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की सब में मर्यादा दर्शाना तुलसी का काम था । परंतु कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रज की रीति और पद्धति के अनुसार उसका वर्णन किया है । ब्रज में जिस प्रकार मनोरंजन के लिए सांस्कृतिक खेलों का प्रचलन है, उसी प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी इन सामाजिक खेलों का प्रचार था इन खेलों से शरीर का स्वास्थ्य बढ़ जाता है और लोग तन्दुरुस्त बन जाते हैं । मानसोल्लास की प्राप्ति भी उनसे होती थी और इस कारण नैतिक लाभ भी होता था ।

पशु-पक्षी आदि से मानव का पारस्परिक सम्बन्ध

मानव और प्रकृति का सम्बन्ध अटूट है । युग-युग से मानव का प्रकृति के साथ भरपूर संपर्क रहा है । मानव के परंपरागत क्रमिक विकास का अनुशीलन इस बात को स्पष्ट करता है । प्रकृति की ओर मानव की आकर्षण शक्ति असीम है । प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में महादेवी वर्मा की उक्ति दर्शनीय है — "प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास है । प्रकृति की गोद में प्रथम मानव शिशु ने आँखें खोली थीं । उसी की क्रोड़ में खेलकर वह बड़ा हुआ और अंत में उसी के आलिंगनपाश में आबद्ध होकर वह चिरनिद्रा में सोता रहा । प्रकृति के अद्भुत क्रिया-कलापों से ही कदाचित् उसकी हृदयस्थ भावनाओं —आश्चर्य, विस्मय, प्रेम आदि का स्फुरण हुआ, उसी की नियमितता को देखकर ही शायद उसके मस्तिष्क में उन जिज्ञासाओं एवं रुचियों का विकास हुआ जिनकी परिणति

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २७०, पृ० ३५१.

चलकर दर्शन और विज्ञान में हुई । अध्यात्म दर्शन और भौतिकवाद - दोनों की ही दृष्टि से प्रकृति का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक के अनुसार ब्रह्म के तीनों तत्वों — सत्, चित् और आनन्द में से सत् तत्व प्रकृति और मनुष्य दोनों में विद्यमान है; दूसरे के अनुसार चेतन सृष्टि का विकास प्राकृतिक जड़ जगत् से ही हुआ — अत: दोनों ही दृष्टियों से मनुष्य का प्रकृति से सनातन सम्बन्ध है ।"[१]

प्रकृति के प्रति आकर्षण होने के कारण मानव प्रकृति के पशु-पक्षियों के निकट आने लगा । उनके सुख दु:ख से तथा जीवनयापन से वह प्रेरित एवं संवेदित होता था । आदि कवि वाल्मीकि ने आदि कविता में क्रौंच पक्षी की वेदना की उज्ज्वल शब्दों में उद्घोषणा की है ।

मध्ययुगीन भक्तकवियों ने पशु-पक्षी और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर संकेत किया है । पशु-पक्षियों के पांच वर्ग, अर्थात् जलचर, थलचर — वन्य, थलचर - पालतू, नभचर, कीट-पतंग - का उल्लेख अपने काव्यों में किया किया है । कबीर आदि संत कवियों ने विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों का सम्बन्ध और उनके नामों का उल्लेख किया है । संतों के काव्यों में पशु-पक्षियों तथा कीड़े-मकोड़ों का संदर्भ उलटबासियों, दृष्टांतों तथा रूपकों के अन्तर्गत आया है ।

मध्यकालीन भक्त कवियों के काव्य में पशु-पक्षियों के गुण-विशेष को प्रकाशित करने के लिए जो अवसर प्रयुक्त किये गये हैं, वे सचमुच अत्यंत प्रशंसनीय हैं। जायसी के 'पद्मावत' में मानव का पशु-पक्षियों के प्रति अपार स्नेह दिखलाया दिखाया गया है । पद्मावती और हीरामन तोते के बीच का सम्बन्ध स्नेह-निर्भर और अटूट है । वे दोनों वेद पाठ एक साथ करते थे । हीरामन तोता और पद्मावती के पारस्परिक सम्बन्ध का एक उदाहरण देखिए —

रानी उतर दीन्ह कै मया । जौं जिउ जाइ रहै किमि क्या ।
हीरामनि तूं प्रान परेवा । धोख न लाग करत तोहिं सेवा ।

---

१. महादेवी नया मूल्यांकन — डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, अ० ७, पृ० २३३.

तोहिं सेवा बिछुरन नहि आखाँ । पींजर हिए घालि तोहिं राखाँ ।
हौं मानुस तूं पंखि पिआरा । धरम पिरीति तहाँ को मारा ।[१]

राजा रत्नसेन का भी हीरामन तोते के प्रति अपार स्नेह था । इससे असूयालु होकर एक बार रानी नागमती ने इस तोते को मार डालने की धाय को आज्ञा दी । धाय ने उसे मारा नहीं । रात को जब राजा राजमहल में आये तो नागमती ने कहा कि पंडित सुग्गे को बिल्ली उठा ले गयी । नागमती की बात सुनकर राजा को अत्यंत दुख हुआ ।[२] सूरदास ने आलंकारिक प्रयोगों में पशु-पक्षी का सहारा लिया है । गोपियों को कृष्ण के व्यवहार से बड़ा दुख होता है । वे उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण के काले रंग का स्मरण कोयल और कौए ही दिलाते हैं ।[३] श्री कृष्ण के वियोग में गोपियां वेदना से तड़पती रहती हैं । उद्दीपन के रूप में सूरदास ने प्रकृति का वर्णन किया है; देखिए —

चातक कुल की पीर जानि कैतेउ तहाँ ते धाए ।।[४]
\+ \+ \+ \+
द्रुम किए हरित, हरषि बेलि मिलि दादुर मृतक जिवाए ।।[५]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो अपनी रचनाओं में, विशेषत: `मानस` और `गीतावली` में आर्यंत मानव और पशु-पक्षियों का पारस्परिक सम्बन्ध चित्रित किया है ।

---

१. पद्मावत (जायसीकृत) : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८७.

२. रानी सुनि बियोग तस माना । जैसें हिएं बिक्रम पछिताना ।
वह हीरामनि पंडित सुवा । जो बोलै तो अंब्रित चुवा ।
\+ \+ \+ \+
कौ परान घट आनहु मती । कै चलि होहु सुवा संग सती ।
- वही, पृ० ८६.

३. कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अंत भये उड़ि न्यारे ।
- सूरदास और उनका भ्रमरगीत : डा० मुन्शिराम शर्मा, पद २३१, पृ० ३६०.

४. वही, वही, पद ३८७, पृ० ४२७.

५. वही, वही, पद ३८४, पृ० ४३०.

रामचरितमानस के बालकाण्ड में यह लिखा है कि समाज में संत प्रकृति के मनुष्य हंस के समान होते हैं । हंस की यह विशेषता है कि वह दूध ग्रहण कर लेता है और पानी को त्याग देता है । इसी प्रकार संत [redacted] दूसरे के गुणों को देखता है और अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देता ।[1] अयोध्याकांड में कौशल्या माता का कथन पशु-पक्षियों के प्रति मानवीय संवेदना का उत्तम उदाहरण है । राम, सीता और लक्ष्मण जब वन-गमन के लिए प्रस्तुत हुए तब माता कौशल्या ने कहा कि देव सरोवर के कमल-वन में विचरण करने वाली हंसिनी क्या तलैयों में रहने योग्य है ।[2] श्री रामचन्द्रजी के वन-यात्रा के वक्त करोड़ों घोड़े, हाथी, हिरन, गाय, बैल, बकरी, पशु तथा पपीहे, मोर, कोयल, चकवे, तोते, मैना, सारस, हंस और चकोर पक्षी - सब के सब व्याकुल हो गये ।[3] राम के वन-गमन के वियोग रूपी कुरोग से सताये हुए पशु-पक्षी, मृग, घोड़े और हाथियों को देखते नहीं बनता था ।[4] जब राम, सीता और लक्ष्मण सहित चित्रकूट में जाने लगे तब वहां की मनोहारिता बढ़ गयी । लता और वृक्ष सब पुष्पित हो गये । इतना ही नहीं वृक्षों पर नीलकण्ठ, कोयल, तोते, पपीहे, चकवे और चकोर आदि अनेक पक्षी चहचहाने लगे ।[5] 'गीतावली' में इस प्रसंग का वर्णन तुलसीदासजी ने यों किया है —

---

१. तुलसीदल - अंक २, पृ० ६४.

२. सुरसर सुभग वनज वन चारी । डाबर जोगु कि हंसकुमारी ।।
- रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, चौ ३, पृ० ६२.

३. हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुरपसु चातक मोर ।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर ।।
- वही, वही, दो० ८३, पृ० १२५.

४. खग मृग हय गय जाहिं न जोएं । राम वियोग कुरोग बिगोएं ।।
- वही, वही, चौ० ४, पृ० २२२.

५. नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर ।
भांति भांति बोलहिं विहंग, श्रवन सुखद चित चोर ।।
- वही, वही, दो० १३७, पृ० १९७.

मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जल-कन घन-छाँह, छन प्रभा न भानकी ।[१]

\+ \+ \+ \+

नाचत बरहि नीके, गावत मधुप-पिक,
बोलत बिहंग, नभ-जल थलचर हैं ।।[२]

इन वर्णनों से यह व्यक्त होता है कि भक्तिकालीन कवि पक्षी-विज्ञान में भी निष्णात थे और मनुष्य के साथ उनके सम्बन्ध को वे खूब जानते थे । प्रकृति के उद्दीपन के रूप में भी कवियों ने पशु-पक्षियों का सहारा लिया है । भक्ति-कालीन काव्यग्रंथों में आये तरह-तरह के पशु-पक्षियों की नामावली देखिए --

<u>जलचर जन्तु</u>

भुअंगम[३], मछी[४], नागणी (नागिन)[५], मांछ (मछली)[६], मछिका[७], मीन[८], मच्छ[९], मेंढ़क[१०], हंस[११], मांछ[१२], मंछ[१३], जलकुटी[१४]; कच्छ[१५], दादुर[१६],

---

१. गीतावली, अयोध्याकांड, पद ४४, पृ० २१६.
२. वही, वही, पद ४५, पृ० २२१.
३. कबीर ग्रंथावली पृ० १२०, १२१, १६३, ६०४.
४. वही, पृ० १३०.
५. वही, पृ० २०६.
६. वही, पृ० २३६.
७. वही, पृ० ४०६.
८. दादू०ग्रं० पृ० ४४१, पद्मावत पृ० ६४३, सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० २७४, ४४६; सूरसागर पृ० ११२७, ४८३; नन्द०ग्रं० पृ० ५३; रसखान ग्रं० पृ० १६१; मीरां पदावली, पृ० ३१८.
९. क०ग्रं० पृ० ४४३, ५३६; परमानन्दसागर पृ० १३; नन्ददास ग्रं० पृ० १६१.
१०. पद्मावत पृ० १६८.
११. वही, पृ० १७६, ४१४; सूरसागर पृ० ११२; परमा० पृ० २०१; नन्द०ग्रं०(परिशिष्ट पृ० २८.
१२. पद्मावत पृ० ७१०.
१३. वही, ५५२; परमानन्ददास पृ० १३; नन्ददास पृ० १६१.
१४. पद्मावत पृ०८६८, ४१७; सूर० पृ ११३०, १२७६; सूरसागर और उनका भ्रमरगीत, पृ० १३२, २५१; नन्ददास पृ० १२३; मीरां और उनकी पदावली पृ० १६४, २७८.
१५. मानस, बाल० पृ० १८१; नन्ददास पृ० ५३; सूरसागर पृ० ४८३.
१६. मानस,,, पृ० १८६; पार्वतीमंगल पृ० २७; कवितावली पृ० ५३७.

मुर्गा[1], व्याल[2], मराल[3], जलचर[4], सुकवाहन (मेंढ़क)[5], कच्छप[6], मछरी[7] आदि।

थलचर — वन्य

मैगल (मस्त हाथी)[8], केहरी[9], कुंजर[10], हस्ती (हाथी)[11], स्यार (शृगाल)[12], स्यंघ (सिंह)[13], सियाल[14], सिंघ[15], हाथी[16], तुरीय (गज)[17], सार्दूर (सिंघ)[18], चीतर[19], गौन[20], गज[21], गयंद[22], बारन (हाथी)[23], करि[24],

---

१. मानस, बाल० पृ० १८१; नन्ददास पृ० ५३; सूरसागर, पृ० ४८३.
२. मानस, बाल०, पृ० १८६; पार्वतीमंगल पृ० २७; कवितावली, पृ० ५३७.
३. गीतावली, पृ० २७५; परमानन्द० पृ० ७०, नन्ददास पृ० ४५.
४. साहित्यलहरी, पृ० ६६;
५. वही, पृ० ११४.
६. सूरसागर, पृ० ३८.
७. रसखान ग्रंथावली, पृ० १६१.
८. कबीर ग्रंथावली, पृ० १६१, १८३.
९. वही, पृ० ४२० ; सूरसागर, पृ० ५१७.
१०. क०ग्रं० पृ० ४२०, ४६४; कवितावली, पृ० २२४.
११. क०ग्रं०, पृ० ५१४; पद्मावत पृ० १६३; ८६३.
१२. क०ग्रं० पृ० ५४६.
१३. वही, पृ० ५४६.
१४. दादू० पृ० १४८.
१५. पद्मावत पृ० १६१, १६३, ८५२.
१६. वही, पृ० ८४६ ; मानस (तृतीय खंड), पृ० ५८.
१७. पद्मावत पृ० ८६३.
१८. वही, पृ० ६११, ८५६.
१९. वही, पृ० ७१०.
२०. वही, पृ० ७१०.
२१. वही, पृ० ६६६ ; रसखानग्रं० पृ० १६७; मानस (बाल०), पृ० ४६६; ५०५; पार्वतीमंगल पृ० ३८; मानस (दूसरा खण्ड), पृ० २६४, (तृतीय खण्ड) पृ० ४९; कवितावली पृ० २१४, २३२; नन्ददास० पृ० १६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० १६६; सूरसागर पृ० ३, १६४.
२२. क०ग्रं०, पृ० १७१; पद्मावत पृ० ६१३, ६६७; रसखानग्रंथावली पृ० १६२.
२३. रसखान ग्रंथावली, पृ० १८४.
२४. मानस (बालकाण्ड), पृ० ४६८, सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० १०२.

सूकर[१], महिष[२], हाथिन[३], करनी (हथिनी)[४], हरि मृग (सिंह)[५], सिंह[६], द्विरद (हाथी)[७], नग रिपु मल (सिंह)[८], मृगारि[९], केसरि[१०], बराह[११] आदि ।

पशुचर – पालतू

कुत्ता[१२], हैवर (श्रेष्ठ घोड़ा)[१३], हं (हय)[१४], गै (गय)[१५], कूकर (कुत्ता)[१६], तुरंगम[१७], स्वान[१८], कुरंग[१९], मृग[२०], मंजारी[२१], कुरंगिनि[२२], घोड़ा[२३], तुरं[२४],

---

१. पार्वतीमंगल, पृ० २७.
२. वही, पृ० २७.
३. कवितावली, पृ० २२१; नन्ददास० पृ० १२७.
४. नन्ददास० पृ० १६.
५. वही, पृ० २.
६. वही, पृ० १७८; परमानन्द० पृ० १७२; सूरसागर पृ० ३४, १५१, १४६६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० १६६, २६५.
७. साहित्य लहरी, पृ० ६५.
८. वही, पृ० ५०.
९. सूरसागर, पृ० ११२, २१४, २४६.
१०. वही, पृ० २०६.
११. वही, पृ० ४७८.
१२. क०ग्रं० पृ० १५७.
१३. वही, पृ० १६४.
१४. वही, पृ० २४७.
१५. वही, पृ० २४७.
१६. वही, पृ० २६५ ; दादू० पृ० १६८.
१७. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३६६; नन्ददास० पृ० ४५.
१८. क०ग्रं० पृ० ३२८; पार्वती मंगल, पृ० २७; सूरसागर पृ० १४, २६, ११२.
१९. दादूदयाल पृ० ३०, ४६८; कवितावली पृ० २१५; नन्ददास० पृ० ४५, १२२; सूरसागर पृ० १११७, १२७४.
२०. दादू० पृ० १६४; मीरा और उनकी पदावली, पृ० १६७; मानस, बाल०, पृ० ३०१ गीतावली पृ० २७५, नन्ददास० पृ० २, १६६; सूरसागर १०६६.
२१. पद्मावत पृ० ६६, ७८.
२२. वही, पृ० १६३
२३. वही, पृ० ८६६; रसखान ग्रं० पृ० ४६१; मानस(तृतीयखंड), पृ० ५८; नन्ददास० पृ० २६
२४. पद्मावत, पृ० ८३६.

घोर[१], तुरंग[२], हरिन[३], रोझ (नील गाय)[४], लगुना (हरिन)[५], असु[६], मिरिग[७], गैया[८], धेनु[९], गाइन[१०], हय[११], गय[१२], अज[१३], गाय[१४], पसु[१५], बाजि[१६], बाज[१७], वृषभ[१८], मृगछौना[१९]आदि ।

नभचर

कुंजा[२०], कुरलिया[२१], बकवी[२२], संषम (बगमाक)[२३], सुवै (सुक)[२४],

---

१. पद्मावत पृ० ८५१, ५०६; रसखान ग्रं० पृ० ४६६; कवितावली पृ० २२१.
२. पद्मावत पृ० ८३५, ६६५; रसखान ग्रं० पृ० ४६५, ४६६; कवितावली, पृ० २१५; नन्द० पृ० ४५; सू०सा० पृ० ५३; मानस (दूसरा खण्ड), पृ० १२; पार्वतीमंगल, पृ० २७.
३. पद्मावत पृ० ७१०, नन्ददास० पृ० ४५.
४. पद्मावत, पृ० ७१०.
५. वही, पृ० ७१०.
६. वही, पृ० ६६६.
७. वही, पृ० ५५३.
८. रसखान ग्रंथावली, पृ० १८३.
९. वही, पृ० ४३, २६४; सूरसागर पृ० ४३५; पार्वतीमंगल पृ० ३७; मानस (तृतीय खण्ड), पृ० ७६; नन्ददास० पृ० २८६.
१०. रसखान ग्रं० पृ० ११७; सूरसागर, पृ० ६४.
११. रसखान ग्रं० पृ० ४६५, ४६७; पार्वती मंगल पृ० ३७; मानस(बाल०) पृ० ५०५; सूरसागर पृ० २५६, [redacted].
१२. रसखान ग्रं० पृ० ४६५; पार्वतीमंगल पृ० ३७; मानस(बाल०), पृ० ५०५; सूरसागर पृ० २५६, ७९५.
१३. पार्वती मंगल पृ० २७; मानस (तृ०सं०) पृ० ७६; साहित्य लहरी, पृ० १३०.
१४. नन्ददास० पृ० २८२; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० १८, २८९.
१५. नन्ददास० पृ० ३१६, ३२५.
१६. कवितावली पृ० २३२; मानस (दूसरा खण्ड), पृ० २६४.
१७. साहित्यलहरी, पृ० १८७.
१८. सूरसागर, पृ० ६२.
१९. वही, पृ० १५१.
२०-२२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ११७.
२३. वही, पृ० १२६.
२४. वही, पृ० २२३.

पंषी[१], पखेरू (पक्षी)[२], जंबुक (गीदड़)[३], कउआ (कौवा)[४], सारंग (चातक)[५], काग[६], बर्क[७], सुवा[८], उल्लू[९], मंजूर (मयूर)[१०], तमचुर (कुक्कुट)[११], कौड़िया[१२], राजपंखि[१३], बग[१४], कम-कन[१५], बटेर[१६], लवा[१७], मोर[१८], कबूतर[१९], गरुड़[२०], उसरबैरी[२१], बनमुर्गी[२२], वनकुकुटी[२३], जलकुकुटी[२४], चकवा[२५], कैंच[२६], पिदारे[२७],

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० २३५; दादूदयाल० पृ० १८५.
२. क०ग्रं० पृ० ३११.
३. वही, पृ० ४२०, ६००.
४. वही, पृ० ५४२.
५. वही, पृ० ५६६; मीरा और उनकी पदावली पृ० ३०६; सूरसागर पृ० ५१७; साहित्य लहरी पृ० १३१,१४८; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० ४६९.
६. दादूदयाल, पृ० १४८, पद्मावत पृ० ७०७; ४२२२; सूरसागर पृ० ११२, १०४; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ४०६.
७. पद्मावत पृ० ७२, ७१० ; सूरसागर पृ० १११, ११२५; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ४३०.
८. पद्मावत पृ० ७८, ८०, २२६; सूरसागर पृ० ११२, १०२.
९. पद्मावत पृ० ६८; पार्वतीमंगल पृ० २७; सूरसागर पृ० ३७, ९०४.
१०. पद्मावत पृ० १२६, ७६५.
११. वही, पृ० १२६, ७६५, ५५३.
१२. वही, पृ० १६३.
१३. वही, पृ० १६८.
१४. वही, पृ० ७९३, ८८४.; सूरसागर पृ० ६८०.
१५. पद्मावत पृ० ७७८.
१६. वही, पृ० ७१०.
१७. वही, पृ० ७१०.
१८. पद्मावत पृ० ७१०, ५३१; मीरा और उनकी पदावली पृ० ३०४, ३२५; मानस (तु.सं.) पृ० ५७; नन्ददास० पृ० १९, १६९; परमानन्द० पृ० ९७, १५२; सूरसागर पृ० ६३५, ११२६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० ५२८, ३३०.
१९. पद्मावत पृ० ७१०, मानस (तु.सं.), पृ० ५७.
२०. पद्मावत पृ० ७१०, सूरसागर पृ० ८१, १७२; नन्ददास पृ० ४५.
२१-२५. पद्मावत पृ० ७१०.
२६. वही, पृ० ७१०; सूरसागर पृ० ११२५.
२७. पद्मावत पृ० ७१०.

मकटा[१], ठेदी[२], सीन (कलहंस)[३], सिलारे[४], पांडुक[५], परेवा[६], कोकिल[७], पपीहा[८], पिथरि (पीलक)[९], तिलेरि[१०], चातिक[११], चात्रिक (चातक)[१२], चकवा[१३], चकोरी[१४], चकोर[१५], खंजन[१६], बानना[१७], चातक[१८], कोयल[१९],

---

१-४. पद्मावत, पृ० ७१०.
५. वही, पृ० ५३१.
६. वही, पृ० ५३१, ६०६; सूरसागर, पृ० १२७४.
७. पद्मावत पृ० ५३१, ५५३; रसखान ग्रंथावली पृ० ४८०; मानस, बाल०, पृ० ४७७, ५३२; नन्ददास० पृ० १२२, १३६; परमानन्द० पृ० १०६, १२६; सूरसागर पृ० ६३५, ७६५, ११३२; साहित्यलहरी, पृ० १०१; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ५३४, ४७४.
८. पद्मावत पृ० ५३१, मीरा और उनकी पदावली पृ० ३२५, ३२६; परमानन्द० पृ० १८७; सूरसागर पृ० ६६५, ११२४.
९. पद्मावत पृ० ४३५.
१०. वही, पृ० ४३५.
११. वही, पृ० ४२०.
१२. वही, पृ० ३८१, २६८.
१३. वही, पृ० २६८.
१४. वही, पृ० २६८; सूरसागर पृ० ५५.
१५. पद्मावत पृ० २०१, २७१; नन्ददास पृ० ३१३; परमानन्द० पृ० २०१; सूरसागर पृ० ५०२, ६३५, ६८१; साहित्यलहरी पृ० १६८; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० २४५.
१६. मीरा और उनकी पदावली पृ० १६७; रसखान ग्रंथावली पृ० २३८; परमानन्द० पृ० २०७; सूरसागर, पृ० ७६५; सूरदास और उनका भ्रमरगीत, पृ० ३३०.
१७. मीरा और उनकी पदावली, पृ० २२२.
१८. वही, पृ० २७६; नन्ददास० पृ० १७७, ३१३; परमानन्द० पृ० १८६, १८६; सूरसागर पृ० ५०२; ६८०, १४६६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ५३०, ४१६.
१९. मीरा और उनकी पदावली पृ० ३२५, ३२८.

गीध[१], कलकंठ[२], चकोई[३], कोकि[४], खग[५], सारस[६], पिक[७], सुक[८], बगुला[९], बिहंगम[१०], मोरनि[११], चक्रवाक[१२], पपैया[१३], पंछी[१४], सुक[१५], कपोत[१६], कीर[१७], पिपीलिका[१८], बिस्नु बाहन[१९], बायस[२०], सिवसुत बाहन[२१], बरही[२२], खगपति[२३], अरुन का सुत सुत[२४], काकु[२५], कोकिल[२६] आदि।

---

१. रसखान ग्रंथावली पृ० १६७.
२. मानस, बालकाण्ड पृ० ४९३.
३. कवितावली पृ० २१३.
४. श्रीकृष्ण गीतावली पृ० ३४.
५. मानस, बालकाण्ड पृ० ५०५.; मानस (तृतीय खण्ड) पृ० ४९; गीतावली पृ० २७५; परमानन्द० पृ० ९७; नन्ददास, पृ० २, ४८; सूरसागर पृ० ७९५.
६. मानस (तृतीयखण्ड) पृ० ५७; नन्ददास पृ० २८.
७. मानस (तृतीय खण्ड) पृ० ४९; नन्ददास० पृ० १७७; परमानन्द० पृ० २६७; सूरसागर, पृ० ४७८, १९९१; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ५३०, ४१९.
८. गीतावली पृ० २७५; नन्ददास पृ० १७७; सूरसागर पृ० १०८, १२८३.
९. गीतावली पृ० ४१६; सूरसागर पृ० १६०५.
१०. नन्ददास, पृ० ६, ४४, २४५.
११. वही, पृ० १९९.
१२. वही, पृ० ३०९; साहित्यलहरी पृ० १६१; सूरसागर पृ० ११२८; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० २४५.
१३. नन्ददास पृ० ३०९.
१४. वही, पृ० ३२५; परमानन्द० पृ० २९.
१५. परमानन्द० पृ० २०१.
१६. वही, पृ० २०१ ; सूरसागर पृ० ७९५; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ४०२, ३३०
१७. सूरसागर पृ० ७९५, ११२६; साहित्य लहरी पृ० ४९; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ३३०.
१८. सूरसागर पृ० ४९.
१९. साहित्य लहरी पृ० १६८.
२०. वही, पृ० १३०; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ५३०.
२१. साहित्य लहरी पृ० ७३.
२२. वही, पृ० १७३.
२३. वही, पृ० १०१.
२४. वही, पृ० ६५.
२५. सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ४७१; सूरसागर पृ० १६३४.
२६. पद्मावत पृ० ४४७, ४३५.

कीट-पतंग आदि :

पतंग[१], मीनी (मक्खी)[२], माखी (मक्खी)[३], मधुमाखी (मधुमक्खी)[४], भ्रिंग[५], भौंरा[६], भंवर[७], पतिंग[८], अलि[९], मधुप[१०], मधुकर[११], सलभ[१२], भृंग[१३], भ्रमर[१४], उडुगन[१५], कीटक[१६], भिल्ली[१७], रंभापति सुत सत्रु पिता (पतंग)[१८], मधुमाखी[१९], माखी[२०] आदि।

---

१. कबीर ग्रंथावली पृ० १०३; दादू० पृ० १८५, २४४; पद्मावत पृ० ८६, १०६; मीरा और उनकी पदावली पृ० २९०; सूरसागर पृ० ७१०, १११७.
२. कबीर ग्रंथावली पृ० २०६.
३. वही, पृ० २३३, ४८०.
४. वही, पृ० ४१२.
५. वही, पृ० ५१७ ; सूरसागर पृ० ६५४.
६. पद्मावत पृ० १७९; मानस, बाल० पृ० ४८०; परमानन्द० पृ० १२९.
७. पद्मावत पृ० १९२, ४२२; नन्ददास० पृ० १३.
८. पद्मावत पृ० ७०२, २३८;
९. वही, पृ० २७०; गीतावली पृ० २७५; नन्ददास० पृ० ५३; परमानन्द० पृ० २०६; सूरसागर पृ० ११३०, ११२६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० १३२, २७४; रसखान पृ० २८०.
१०. मीरा और उनकी पदावली पृ० १६७; मानस (तृतीय खंड) पृ० ५९; परमानन्द० पृ० ७०; सूरसागर पृ० १०९९, १२७४.
११. मानस, बाल० पृ० १९४; परमानन्द० पृ० १४८; सूरसागर पृ० १४६६; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ४७४.
१२. रामाज्ञाप्रश्न पृ० ५१.
१३. नन्ददास पृ० १२; परमानन्द० पृ० १३०; सूरसागर पृ० १६३४; सूरदास और उनका भ्रमरगीत पृ० ५२.
१४. नन्ददास० पृ० १३०.
१५. परमानन्द० पृ० १००.
१६. सूरसागर पृ० ६५४.
१७. वही, पृ० १२८३.
१८. साहित्यलहरी पृ० ८३.
१९. सूरसागर पृ० १७.
२०. वही, पृ० १३६.

भक्तिकालीन नगर और ग्राम विधान :

प्रकृति और मानव का निकटतम सम्बन्ध है । आरंभिक काल से लेकर मनुष्य में यह गुण विद्यमान है । यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण के साथ उसमें सदा कवि नगर या ग्रामों का भी चित्रण करने लगे । प्रकृति-चित्रण करने में कवि की कल्पना-शक्ति का विशेष योग रहता है ।

मध्यकालीन भक्त कवियों ने नगर और ग्रामों का चित्रण किया है । जायसी, सूर, तुलसी आदि इनमें मुख्य हैं, जिन्होंने ग्राम और नगर का वर्णन किया है । जायसी ने `पद्मावत` के आरंभ में ही सिंहल द्वीप का वर्णन किया है । सिंहल द्वीप के समान दूसरा सुन्दर द्वीप नहीं है । वह सब द्वीपों में उत्तम है ।[१] सिंहल द्वीप देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग के निकट आ गया हो । चारों ओर घनी अमराइयां हैं ।[२] तुलसी ने `मानस` में विदेह राज्य की सुन्दरता का इसी तरह उल्लेख किया है । उसका वर्णन कैसे करें ? नगर की सुन्दरता देखने वालों को ही यह मालूम होगा ।[३] किसी मांगलिक अवसर पर नगर या राज्य की सजावट और उसकी सुन्दरता और भी दर्शनीय हो जाती है । राम-सीता के विवाह का प्रसंग है । बरात का आगमन सुनकर पुरजनों ने अपने-अपने गृहों को सजा डाला । इसके बाद बाजार, गली, चौराहों और पुरद्वार को सजाया ।[४] तुलसी का लंका-वर्णन देखिए -

> कनक कोट विचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना ।
> चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना ।।
> गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै ।
> बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहि बनै ।।

---

१. सिया दीप नहि तस उजियारा । सरी दीप सरि होइ न पारा ।
जम्बू दीप कहा तस नाहीं । पव न लंक दीप परिछाहीं ।
दीप कुसस्थल आरन परा । दीप महुस्थल मानुस हरा ।
सब संसार परथमै आए सातौं दीप ।
एकौ दीप न उत्तिम सिंघल दीप समीप ।।
- पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २८.
२. वही, वही, पृ० ३६.
३. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ३६७-३६८.
४. वही, वही, पृ० ५७२, ५७३.

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं ।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं ।।
कहुं माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं ।।
करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुं दिसि रच्छहीं ।
कहुं महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं ।।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मांगलिक अवसरों पर नगर और ग्राम को सजाने का उल्लेख गीतावली में भी किया है –

गृह, अजिर, अटनि, बजार, बीथिन्ह चारु चौकें बिबिध धनी ।[२]
+ + + +
गृह, आंगन, चौहट, गली, बाजार बनाए ।
कलश, चंवर, तोरन, धुजा सुबितान तनाए ।।[३]

सिंहल गढ़ का जो वर्णन जायसी ने किया है वह भी प्रशंसनीय है । सिंहल गढ़ के ऊपर जाने से इन्द्रलोक का सुख होता है । लंका से भी यह अत्यन्त ऊंचा है । उसकी शोभा का वर्णन ही नहीं किया जा सकता ।[४] प्रत्येक राजमंदिर में फुलवारी है जो वसंत ऋतु के समान है ।[५]

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में प्रस्तुत नगर और ग्राम का वर्णन देखने से यह ज्ञात होता है कि उस समय में छोटे-छोटे भूभाग को राज्य कहते थे ।

---

१. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, पृ० ७६.
२. गीतावली, बालकाण्ड, पृ० ५, पृ० १०.
३. वही, वही, पद ६, पृ० १४.
४. पद्मावत - जायसीकृत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४७.
५. मंदिर मंदिर फुलवारी चोवा चंदन बास ।
 निसि दिन रहै बसंत जनु छह रितु बारहु मास ।
 - वही, वही, पृ० ५२.

चंदेरी[१], विदर्भ[२], मागध[३], काशी[४], मिथिला[५], कलिंग[६] तथा व्रजप्रदेश[७] उस समय के मुख्य राज्य माने जाते थे। मीराबाई ने व्रज को देश की संज्ञा प्रदान की है।[८] सूर ने व्रजप्रदेश के क्षेत्र पर विचार किया है। सूर के अनुसार व्रजप्रदेश में बारह वन हैं, जहाँ कृष्ण क्रीड़ा करते हैं —

यहि विधि कीड़त गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
मधुवन और कुमुदवन सुन्दर, बहुलावन अभिराम।
नन्दग्राम संकेत खिदर वन और काम वन धाम।
लोह वन भाट बेलवन सुन्दर भद्र वृहदवन ग्राम ।।[९]

डा० दीनदयालु गुप्त के विचार से यदि मथुरा को केन्द्र मानकर एक गोला खींचें तो ८४ कोस (१६८ मील) की परिधि का मंडल बनता है और उसके अन्तर्गत व्रज के सभी प्रसिद्ध स्थान आ जाते हैं।[१०] यह क्षेत्र आगरा या मथुरा को केन्द्र मानकर यमुना के दोनों ओर लगभग १०० मील तक फैला हुआ है। सूरदास ने व्रज और मथुरा को अलग-अलग रूप में चित्रित किया है। कृष्ण व्रजप्रदेश और वहाँ की सारी वस्तुओं को छोड़कर मथुरा जाते हैं। मथुरा से बढ़कर व्रज को ही वे महान् प्रदेश मानते हैं। इसीलिए वे व्रजवासी मथुरा को शत्रु की नगरी विचार कर उसे व्रज मंडल से बाहर मानते हैं। इन कृष्ण भक्त-कवियों ने व्रजक्षेत्र के अन्तर्गत नन्दगाँव, गोवर्धन, मधुपुरी अथवा मथुरा, वृन्दावन[११], गोकुल[१२], परासौली[१३],

---

१. राउ चंदेरी को सिसुपाल। - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४११६, पृ० १५१७.
२. नृप विदर्भ की कन्या रुक्मिनि, अनुचरि गनियै।
- नन्ददास ग्रंथावली, दो० ८५, पृ० १७२.
३. मरन सौं अधिक जु मान-भंग मागध नृप पायौ। - वही, दो० १२५, पृ० १८४.
४. पौंड्रक अरु कासी के राइ। स — सूरसागर दशम स्कंध, पद ४२०७, पृ० १५२३.
५. तब मनि डारि अक्रूर पास वह, मिथिलापुर कौं धायौ। वही, पद ४१६२, पृ० ब
६. कलिंग कौ राउ अरु रुक्म बलभद्र कौं, कपट करि सार पासा खिलाए ।।
- वही, पद ४१९७, पृ० १५१८
७. गोकुल छानि मथुरा हम छाणी छान्यों यो वृजदेस। - मीरा माधुरी, प.सं. ६६
८. वही, पद ६६.
९. सुरसारावली, छन्द १०८८, पृ० ८६.
१०. अष्टछाप और उनका वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० ४.
११. नन्ददास ग्रं० पद २२, पृ० ८५
१२. गोवर्धन गोकुल वृन्दावन नव निकुंज नित प्रति बिलसी। -परमा० पृ० ५६६, प० १६
१३. बाजन बेनु धुनि सुनि चली चपल गति परासौली के पौ। - वही, प० ६५२, पृ० २२

पिसाये, अजनौल, अमराह, कमई, करहला, सहार, मरने, नीमग्राम, कुंबेरा, मेरोली, इंदरोली, रांकोली, विसोली, सुनहरा, मानगढ़, विलावणी[१] आदि अन्यान्य ग्राम एवं नगरों का उल्लेख किया है। नागरीदास ने नन्दीश्वर, संकेत, बरसानों, राधाकुण्ड आदि कुछ स्थानों का वर्णन किया है।[२] कृष्ण की 'परमरासस्थली' पारसोली का वर्णन सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने किया है, जो अपभ्रंश में परसोली या पारसौली कहलाता है।

भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवि शहर को पुर या नगर की संज्ञा देते थे।[३] पुरों में गलियां होती थीं।[४] और उनको जाने के लिए मार्ग भी होते थे।[५] नगर के मुख्य मार्ग को राजपथ कहते थे।[६] जहाँ से चारों तरफ को मार्ग जाता था, उसे 'चौहट' (चौराहा) कहते थे।[७] नन्ददास ने 'चोवा', चंदन, वंदन आदि से संसिक्त द्वारिकापुरी की सुन्दर एवं सुथरी 'डगर' का उल्लेख किया है।[८] परमानन्ददास ने मथुरा के मार्ग को चन्दन से सिंचित बतलाया है।[९] नन्ददास ने

---

१. श्री ब्रजप्रेमानन्द सागर, पृ० ६६.

२. नंदीस्वर, बरसानो, गोकुल गांवरो।
   वंसीवट, संकेत, रमत तहं सांवरो।
   गोवर्द्धन, राधाकुंड सु जमुना बाहर। - ब्रजमाधुरीसार, पृ० १६१.

३. (क) सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० ५७८, पद ६२२; (ख) मीरा-माधुरी, प० ७०; (ग) नन्ददास ग्रन्थावली, पद २२, पृ० ३८५.

४. कोउ धाई पुर गलिन गलिन ह्वै, काम धाम बिसर्यो ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, प० ३०२६, पृ० १२०३.

५. विद्यापति-पदावली, पृ० १५३.

६. अजहु राजपथ पुरजन जागि। - वही, पृ० २०७.

७. (क) जुरे हैं कंचन-चौहटे, अपुने-अपुने टोले। - नन्द०ग्रं० पद ३८२, पृ० ३३५.
   (ख) मीरा माधुरी, पृ० ७६.

८. सुन्दर सुथरी डगर जो पुर की। चोवा चंदन बंदन दुरकी ।।
   - नन्ददास ग्रंथावली, पृ० १८७.

९. बैठे मोर मरोखा बोलत मारग सिंचित चन्दन।
   - परमानन्द सागर, पद ४६४, पृ० १६७.

'रुक्मिनी मंगल' में द्वारिका के बन-उपबन के वर्णन में लिखा है कि उन्हें देखने से भूख मिट जाती है ।[१]

आलोच्य युग में प्रत्येक घर में सभी लोग वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते थे, विशेषकर वीणा, वेनु और मृदंग की ध्वनि सभी घरों में सुनायी पड़ती रहती थी ।[२] तभी तो सुरों के साथ सुर-वनितायें रात-दिन विमानों पर आरूढ़ होकर द्वारिका के अलौकिक सौन्दर्य को देखने आती थीं तथा अपने भवनों को भूल जाती थीं ।[३] नरोत्तमदास 'अगर-मगर' की ज्योति के बीच चौपड़, बाजार, स्वर्ण महल, दुकानों की कतार, चहुं दिशि की धकापेल आदि नगरों के कोलाहल पूर्ण जीवन की ओर संकेत करते हैं ।[४]

शहरों के मुकाबले छोटी बस्तियों को आज की तरह ही गांव कहते थे ।[५] ग्रामों में पगडण्डी मार्ग की अभिघोतक मानी जाती थी ।[६] प्रत्येक ग्राम की एक सीमा होती थी ।[७] ग्रामों में आज कल भी एक ग्राम की सीमा अथवा 'सिमाना' समाप्त होते ही दूसरे ग्राम की सीमा प्रारंभ होती है । रामायण-काल की

---

१. बन उपबन के दरस भूख भाजे तिहि छिन ।
अमृत-फलन सों फले फरे सुर तरु मन लिन ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, दो० २६, पृ० १७७.

२.(क) बाजत नगर बाजने जहं तहं, औरं बाजत घरियार ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०२४, पृ० १२०२.
(ख) धाम धाम संगीत सरस गति, वीना वेनु मृदंग बजावत ।
- वही,वही, पद ४१६६, पृ० १५८६.

३. निसि दिन रहत विमान रूढ़ रुचि, सुर वनितानि संग सब आवत ।
सूर स्याम कीड़त कौतूहल, अमरनि अपनी भवन न भावत ।।
- वही, वही, पद ४१६६, पृ० १५८६.

४. अगर मगर ज्योति छाय रही चहुं दिशि, अगर अगर हाथी घोड़न को शोर है ।
चौपड़ को बन्यो है बजार पुनि सोनन के, महल दुकान की कतार चहुं ओर है ।
भीड़ भाड़ धकापेल चहुं दिशि देखियत, द्वारका ते दूनों यहां प्यादेन को जोर है
साहिबो को ठाम है, न काहू सों पिछान मेरी, बिन जाने बसे को उजाड़ मेरी पूर है ।
- कविता-कौमुदी(पहला भाग,हिन्दी),पृ० १५१.

५. जो तू नंद गांउ दिसि जेहै । - परमानन्दसागर,पद ८६५, पृ० ३१५.
तथा
.... गाम रुचै तो बसौ नंद गाम । - नन्द०ग्रं०,पद २२, पृ० ३८५.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ११११, पृ० ४५३.

७. बरसाने की सीमा, खेलत रंग रह्यौ है । - नन्द०ग्रं०,पद १०८, पृ० ३३३.

तरह[1] उन दिनों में पशु-प्रधान ग्राम को `घोष` कहते थे ।[2] उनमें पारस्परिक सम्बन्ध था । उन दिनों `महर`, `गोप`, `उपनन्द` आदि अनेक गांव के अधिकारी समझे जाते थे ।[3] आवश्यकता पड़ने पर ये लोग राजा के पास जाकर कष्ट-मोचन के लिए `गुहार` करते थे ।[4] नन्ददास ने गांव के अधिकारी व्यक्ति को `राजा` नाम से संबोधित किया है ।[5] सूर ने ग्राम में रहने वाली ग्वालिनों को `सठ`[6], `गंवारिन`[7] एवं दीनदयाल ने जाति-पांति से विहीन `कीचमति घोष` के बीच वास करने वाली गोपी को `गंवार` कहकर[8] अपने ही मत की पुष्टि की है । ये `गंवारिनें` नागरी के नागरिक व्यवहार पर

---

१. रामायणकालीन समाज डा० शांतिकुमार नाथूराम व्यास, पृ० २२५.

२. आयौं घोष बड़ौ व्योपारी । — सूरसागर, दश. स्कं., पृ० ३६६६, पृ० १४५१.

३. महर, गोप, उपनंद न राखौं सबहिनि डारौं मारि ।
- वही, वही, पद ५२६, पृ० ४४२.

४. कहां निकसि जैहे को राखै, नंद कहत बेहाल ।
+ + +
गाउं तजौं, कहुं जाउं निकसि लै, इनहीं काज पराउं ।
- वही, वही, पद ५२८, पृ० ४४२.

५. को राजा वृषभानु हैं, कित बरसानौ गाम ।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद २०, पृ० १७३.

६. अलप बयस अबला अहीरि सठ तिनहिं जोग कत सो है ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३५५१, पृ० १३३६.

७. दान देहु सब जाहु चली घर वति, कत होति गंवारिनि ।।
- वही, वही, पद १४७३, पृ० ७७१.

८. एक तो गंवारी नारी जाति पांति त विहीन लीन दोस कीच मति घोस -
-बीच वास है ।
- दीनदयाल गिरि-ग्रंथावली, पृ० ५३.

'हुठा' देखकर इठलाती है ।[१] इस प्रकार मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने नगर और ग्राम के विधान की ओर दृष्टिपात किया है । कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य भक्त-कवि भी इस कार्य में आगे हैं ।

भक्तिकालीन विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मध्यकालीन समाज में शांति और संतोष नाम मात्र के लिए भी नहीं था । शासक वर्ग की विलासपूर्ण जीवन-पद्धति और उनकी अनीति, अत्याचार और कुरीतियों से संपूर्ण समाज त्रस्त था । जनता आर्त होकर चारों ओर भटकती-फिरती थी । अकाल और दुर्भिक्षों का बोलबाला था । समाज में अनेक नियम प्रचलित थे, लेकिन उनको कोई मानता नहीं था । शासकों ने इन नियमों के बहाने हिन्दू जनता पर आघात किया ।

मध्य युग में स्त्रियाँ निन्दा की पात्र थीं । समाज में उनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था । साधारणतः अनमेलविवाह, बाल-विवाह और बहु-विवाह को प्रोत्साहन किया जाता था । परिवार में पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं थे । माँ-बाप, पुत्र-पुत्री का स्नेह सम्बन्ध नहीं था । अतिथियों के आगमन पर कोई उनका आदर-सत्कार नहीं करता था ।

समाज की यह दशा अधिक देर तक न रही । हिन्दी भक्ति-साहित्य में अनेक भक्त कवियों का पदार्पण हुआ । उन्होंने अपनी कवि-प्रतिभा से काव्य रूपी सरिता बहा कर जनता को शांति और सुख प्रदान किया । कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि कवियों का लक्ष्य था जनता की शांति, उसका सुखपूर्ण जीवन । मध्ययुग में समाज की जिन परिस्थितियों में संत कवियों का पोषण हुआ तथा जिन सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों का इनको सामना करना पड़ा, वे एक ओर तो इन संतों के व्यक्तित्व को सबल बनाने में सहायक हुईं; दूसरी ओर इन संतों ने उन परिस्थितियों को बदलने का भरसक प्रयत्न किया ।

---

१. नागरि, बिबिध बिलास तजि, बसी गवेलिनु माँहि ।
मूढ़नि मैं गनबी कितूं हूठ्यौ दै इठलांहि ।
- बिहारी रत्नाकर, दोहा ५०३.

उन्होंने अंधविश्वासों पर प्रहार किये, रूढ़िवाद का खण्डन किया, बाह्याचार को व्यर्थ सिद्ध किया और मानव-मानव में एकता तथा बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया । कबीर समाज सुधारक थे; जायसी, सूर, तुलसी आदि समाज के उन्नायक थे । इन भक्त कवियों ने भक्तिरस प्रधान अनेक काव्यग्रंथों की रचना की, जिनमें उन्होंने समाज की कुरीतियों और अत्याचारों का खण्डन करके उनके स्थान पर लोगों को सुख-शांति प्रदान करने का मार्ग ढूंढा। इन भक्त-कवियों के समसामयिक समाज का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि उन्होंने देश की इस पतनोन्मुखी स्थिति को भोगा और गंभीर दृष्टि से उसका अवलोकन किया । समाज की इस करुणाजनक दशा को देखकर वे व्याकुल हो उठे । उनका मन वेदना और दुःख से कांप उठा । उनका एकमात्र लक्ष्य जनता के इस निराशा और दुःख को दूर करना था । इस के लिए ही उन्होंने अनेक काव्य ग्रंथों का निर्माण किया । कबीर-ग्रंथावली, पद्मावत, सूरसागर, रामचरितमानस आदि इनमें सर्वप्रमुख हैं । इन कवियों की अमूल्य और उत्कृष्ट रचनाओं के पठन-पाठन से जनता में सुख-शांति रूपी अमृत धारा बही जिसका उपभोग कर जनता संतुष्ट चित्त हो गयी । उसका प्रभाव युगों तक रहा । अतः इन भक्त कवियों ने मध्ययुगीन समाज की उन्नति और उच्चता के लिए भरसक कोशिश की और जनता की सामाजिक चेतना में नवीन उद्भास प्रदान किया । एक आदर्श समाज एवं गृह के समग्र निर्माण में ये कवि और उनके काव्य-ग्रंथ उपयोगी रहे ।

o-o-o-o-o-o
o-o-o-o
o-o
o

तृतीय अध्याय

हिन्दी भक्तिकालीन काव्यधारा में वर्णित राजनीतिक परिस्थितियाँ

मध्यकालीन राजनैतिक दशा अत्यंत अव्यवस्थित थी। यह हिन्दुओं की पराधीनता का युग था। मुसलमान शासकों द्वारा राजपूत शासकों की हत्या होती रही। उनकी स्त्रियाँ सती होती थीं, विधवा होकर नहीं रहती थीं। इस प्रकार मध्यकालीन राजनीतिक चेतना सुल्तानों के रक्त-पिपासु दांव-पेंचों एवं सामन्तवादी षड्यंत्रों के सीमित क्रोड़ में ही पलती रही। विराट जन-जीवन के उन्मुक्त प्रांगणा में सांस लेने का सौभाग्य इस युग में उसे न मिल सका।[१] मध्यकालीन भारतवर्ष का इतिहास घोर अशांति एवं अनिश्चित परिस्थितियों का इतिहास है। अनेक वंशों के शासक दिल्ली के सिंहासन पर आये और वे विलासिता में लीन हो गये। राजनीतिक क्षेत्र की इस अशांति और कोलाहलपूर्ण वातावरण में अनेक भक्तजनों का उदय हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव-मंदिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता की गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[२] जन-समाज में अनेक भक्त कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने हमारी हिन्दू जनता को भक्ति का सन्देश दिया और इस उपदेश को जनता ने स्वीकार किया।

---

१. मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना - डा० केशनीप्रसाद चौरासिया, पृ० १३

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६३.

भक्तिकालीन काव्य और उसमें राजनीतिक प्रभाव

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल के प्रथम चरण से संत काव्य का सम्बन्ध माना जाता है। संत-साहित्य का आविर्भाव-काल राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का था। तब राजनीतिक सत्ता तुगलक वंश के अधिकार में थी तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक अनेक निर्गुण संत-कवियों का आविर्भाव हुआ, जिनमें कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, मलूकदास, जगजीवन साहब, भीखा साहब, बुल्ला साहब, दरिया साहब, यारी साहब तथा चरनदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियों की रचनाओं में इन पांच सौ वर्षों की परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[१] संत कवियों के प्रवर्तक के रूप में महात्मा कबीरदास जी को माना जाता है। विद्वानों और आलोचकों के अनुसार कबीरदास जी का जन्म सं० १४५५ में और निधन सं० १५७५ में हुआ। इस समय की राजनीतिक स्थिति की ओर हम दृष्टिपात करें तो सीमातीत अशांति ही दीख पड़ेगी। सब कहीं आक्रमण हो रहा था। देश छोटे राज्यों में विभक्त था और वहाँ शासक-वर्ग अपना मनमाना शासन कर रहे थे। साम्राज्य के चारों ओर हलचल मच रही थी। लोग आतंक और दु:ख से कराह रहे थे। हिन्दू-मुसलमानों के संघर्ष के कारण समाज में नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं। देश जर्जर हो रहा था। हिन्दू शासक अपनी संपूर्ण शक्ति खो चुका था। हिन्दू और मुसलमान दोनों विरोध के कारण लड़ रहे थे। मुसलमान लोग शासन करते थे। हिन्दुओं पर इससे अधिक अत्याचार हो रहा था। कबीर का जन्म ऐसे संघर्षमय वातावरण में हुआ। कबीर को अपने जीवन में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के संघर्ष का सामना करना पड़ा। उनके समय प्रांत-प्रांत के शासकों ने अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। उदाहरण के लिए बंगाल का सूबा है - वह मुहम्मद तुगलक के समय में स्वतंत्र हुआ था। बंगाल के सूबेदार ने विद्रोह करके अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। फिरोज तुगलक के समय में जौनपुर राज्य की स्थापना हुई। सन् १४०१ में एक खिलजी अमीर सूबेदार ने

---

१. हिन्दी संत साहित्य त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० १.

माल्वा को स्वतंत्र कर दिया । माल्वा का प्रथम शासक हुसंगशाह था और उसकी राजधानी मांडू थी ।

कबीर का उदय अनेक प्रकार के संघर्षों के वातावरण में हुआ । उनके चारों ओर राजनीति, धर्म, समाज आदि का जो वातावरण बना हुआ था उसी में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ । उस वातावरण के अनेक कर्मों से प्रताड़ित होकर कबीर की आंखें खुल गयीं । उन्होंने समाज को न केवल तत्कालीन राजनीति में घुटा हुआ देखा, अपितु धार्मिक रूढ़ियों और विकारों में भी दलित और गलित पाया ।[१] कबीर ने अपनी रचना में उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है । `कबीर ग्रंथावली` में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है । `कबीर [redacted] वाणी` में उतना अधिक वर्णन नहीं मिलता, जितना `कबीर ग्रंथावली` में मिलता है । लेकिन छत्रपति[२], राजा[३], धनिक[४], साधारण[५], भूपति[६], दीवान[७], सुल्तान[८] आदि का वर्णन करने में वे पूर्ण सफल हुए हैं । `कबीर वाणी` में तत्कालीन राजनीतिक अशांति का विस्तृत वर्णन मिलता है । उन्होंने अनेक बादशाहों के आक्रमण और बादशाहों के पतन का कारण भी प्रस्तुत किया है । मुसलमान बादशाह सौन्दर्य के पुजारी थे । विषय-वासना में संलग्न व्यक्ति के प्रति कबीर की उक्ति सुनिए —

कबीर मन विकरै पड़्या, गया स्वाद के साथ ।
गलका खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि ।।[९]

---

१. कबीर विमर्श डा० सरनामसिंह शर्मा, पृ० ३३.
२. कबीर ग्रंथावली, साखी ६, पृ० १६२.
३. वही, सा० ५, पृ० १६२.
४. वही, सा० ५, पृ० १६२.
५. वही, पद २४८, पृ० ४८४.
६. वही, पद २६६, पृ० ४६६.
७. वही, पद २२२, पृ० ४६६.
८. वही, स० ५, पृ० १६२.
९. वही, सा० १६, पृ० ९८१.

तत्कालीन अधिकारी लोग अपने ऐश्वर्य और वैभव पर घमण्ड करने वाले थे। वे मूर्ख और धोखेबाज थे। वे सुख-वैभव से अंधाधुंध में राम नाम का स्मरण तक नहीं करते थे। कबीरदास जी ऐसे व्यक्तियों से कहते हैं कि यह संसार क्षणभंगुर है, यहाँ अपने ऐश्वर्य पर घमण्ड करने से कोई लाभ नहीं।[१] अधिकांश मुसलमान कर्मचारी लोग विलास में निमग्न थे। हिन्दुओं के प्रति वे बड़े निर्दयी होते थे। हिन्दुओं को मारना-पीटना तो उनका प्रति दिन का काम था। इससे हिन्दू लोग मुसलमानों के बीच में रहना भी बुरा समझने लगे। वे शांति और सुख की खोज करते हुए दूर भागने लगे। हिन्दुओं के प्रति इस प्रकार की नृशंस लीला सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी।[२]

कबीर सामाजिक विषमताओं के निवारण के लिए भय, भर्त्सना और भक्ति के अस्त्र का उपयोग करते थे। मनुष्य संपत्ति और वैभव के लिए अत्याचार करते हैं। वे अपनी ऊँचाई और उच्च पदाधिकार के लिए ऐसा करते हैं; लेकिन वे यह नहीं सोचते कि उनका यह ऐश्वर्य और जीवन क्षण भर का है। वे सब परिवर्तनों की लहरों के क्षणिक बुलबुले हैं। चाहे रंक हो, धनिक हो, राजा हो या सुल्तान हो, सब का जीवन क्षणिक है। किसी का भी ऐश्वर्य या वैभव मरते समय उसके साथ नहीं जाता।[३] कबीर ने तत्कालीन ऐश्वर्यलिप्सा से प्रेरित राजनीतिकता पर तीक्ष्ण प्रहार किया है। साम्राज्य के एक ओर जनता अकाल और दुर्भिक्ष से प्रेरित थी, तो दूसरी ओर अधिकारी लोग विलासपूर्ण जीवन बिताते थे। कबीर कहते हैं कि मनुष्य को यह विचार करना है कि उसके इस क्षणभंगुर जीवन में ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन कुछ दिनों तक रहता है।

---

१. ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि।
   औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० ३, पृ० १५१.

२. वही, पद २२२, पृ० ४६६.

३. कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मंडाण।
   सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान।।
   - वही, सा० ५, पृ० १५२.

इसलिए इस संसार में प्रत्येक आदमी को घमंड या दंभ न करना चाहिए ।[१] समाज में ऐश्वर्यशाली शासक वर्ग के द्वार पर नौबत बजा करती थी एवं मस्त हाथी झूमते थे । लेकिन दरिद्र या गरीब लोग इस समय अपने जीवन यापन में अनेक प्रकार की कठिनाइयां सहते थे । दर्प और दंभ से पीड़ित जनता को कबीर ने भक्ति का संदेश दिया ।[२] उस समय की राजनीतिक स्थिति गिरी हुई थी और सुल्तानों और छत्रपतियों का घोर अत्याचार होता था । इस सम्बन्ध में कबीर का कथन है –

इक दिन ऐसा होइगा, सब सुं पड़ै बिछोह ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ।।[३]

कबीर की वाणी में तत्कालीन परिस्थितियों की सच्ची झलक मिलती है । वे बलशाली और बहादुर राणा के बारे में लिखते हैं कि वे लोग बड़े और विशाल दुर्गों का निर्माण करके अपने को सुरक्षित रखते हैं । ऐसे शासकों से कबीर यह पूछते हैं कि तुम मनुष्य शरीर रूपी गढ़ को नष्ट करने वाले यम रूपी राणा को भूल गये हो । वह यम रूपी राणा किसी भी निमिष में अपने शरीर रूपी गढ़ को नष्ट कर देगा । इसलिए तुम अपने गर्व और दंभ को छोड़कर ईश्वर का भजन करो ।[४] इसी प्रकार विषय-वासना में संलग्न शासक वर्ग से कबीर का कथन है कि यह क्षणिक है और विष तुल्य है ।[५]

---

१. कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ।।
– कबीर ग्रंथावली, सा० १, पृ० १६०.

२. जिनकै नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि ।
एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि ।।
– वही, सा० २, पृ० १६१.

३. वही, सा० ६, पृ० १६२.

४. कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार ।
जम रांणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ।। – वही, सा० ७, पृ० १६२.

५. रे सुख इब मोहि विष भरि लागा,
इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ।।टेक।। – वही, पद २७२, पृ० ४९८.

कबीर ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अपने काव्य में स्पष्ट संकेत किया है; साथ ही सांसारिक विषय-वासनाओं का भी उल्लेख किया है। कबीर के समान संत दादूदयाल ने भी राजनीतिक परिस्थितियों की ओर संकेत किया है। उन्होंने अपनी ग्रंथावली में छत्रपति, राजपाट आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[1] उन्होंने उस समय के शासकों के बारे में कहा है कि वे सौन्दर्य के पुजारी थे और अपनी अधिकारलिप्सा के लिए युद्ध करते रहते थे।[2]

अब सूफी कवियों के काव्य में उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करेंगे। जायसी सूफी कवियों में सबसे लोकप्रिय कवि हैं। उनका रचना-काल कबीर के लगभग १०० वर्ष पश्चात् है। तेरहवीं शताब्दी से साम्राज्य की स्थिति बहुत बिगड़ रही थी। कई वंशों का शासन बदला। मुसलमान बादशाह और हिन्दू राजाओं में हमेशा लड़ाई होती रहती थी; लेकिन मुसलमान शासकों की इस नृशंसता के होते हुए भी हिन्दू राजपूत राजाओं ने अपनी वीरता न छोड़ी। अधिकार लोलुपता के नाम पर संघर्ष हो रहा था। भारतीय राजनीति तलवार के अधीन थी। दिल्ली का सिंहासन उसी का होता था, जिसकी तलवार प्रबल और तीक्ष्ण होती थी।[3] मुसलमान बादशाह और हिन्दू राजपूत राजाओं के इस संघर्षपूर्ण वातावरण का प्रभाव जायसी के साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। कवि के जीवन के अंतिम दिनों तक राजनीतिक मण्डल हलचल से पूर्ण था और अपने युग की अनुकूलता के अनुसार उसने अपने साहित्य को नयी दिशा दी। तत्कालीन राजनीति का चित्र सूफी कवियों के काव्य में भी मिलता है।

---

१. कागद का माणस किया, छत्रपती सिरमौर।
   राजपाट साथै नहीं, दादू परहरि और।।
   - दादूदयाल ग्रंथावली, दो० १४५, पृ० १४४.

२. राजा राणा राव मैं, मैं बानी सिरि भांन।
   माया मोह पसारै एता सब धरती असमान।
   - वही, दो० ९८, पृ० २५३.

३. जायसीकृत का पद्मावत काव्य और सौन्दर्य — डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ७६.

सूफी महाकवि जायसी ने 'पद्मावत' में शेरशाह सूरी की प्रशंसा की है, जो दिल्ली के सिंहासन पर बाबर के बाद कुछ दिन तक आसीन हुवा—

सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू । चारिउ खंड तपइ जस भानू ।
ओही छाज छात औ पाटू । सब राजा भुइं धरहिं लिलाटू ।
जाति सूर औ खांडै सूरा । औ बुधिवंत सबइ गुन पूरा ।
सूर नवाए नवउ खंड भई । सातउ दीप दुनी सब नई ।
तहं लगि राज खरग बर लीन्हा । इस कंदर जुलकरनैं जो कीन्हा ।
हाथ सुलेमा केरि अंगूठी । जग कहं जिअन दीन्ह तेहि मूठी ।
औ अति गरु पुहुमिपति भारी । टेक पुहुमि सब सिस्टि संभारी ।[1]

उस समय हिन्दू और तुर्कों में लड़ाई हो रही थी । राज्य में कनक और कामिनी के नाम पर संघर्ष होता था । चित्तौड़ के राजा रत्नसेन सिंहल द्वीप की रानी पद्मावती को चित्तौड़ गढ़ लाया । राघव चेतन के द्वारा अलाउद्दीन ने जब उसके सौन्दर्य का वर्णन सुना तब वह पद्मिनी नारी पर अनुरक्त हो गया और चित्तौड़ गढ़ पर आक्रमण करने की ठानी ।[2] लेकिन इसके पहले बादशाह ने राजा रत्नसेन को पत्र लिखा कि सिंहल की जो पद्मिनी तुम्हारे पास है उसे मैं शीघ्र यहाँ चाहता हूं । बादशाह का पत्र पढ़कर राजा क्रुद्ध हो गया । बादशाह ने चित्तौड़ गढ़ पर हमला बोल दिया । राजा रत्नसेन ने यह सुनकर हिन्दू नामधारी सभी जातियों के राजाओं को पत्र लिखा ।[3] चित्तौड़ में राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनों में घमासान लड़ाई हुई । पहले कहा जा चुका है कि मुसलमान शासक सौन्दर्य के उपासक थे । सुन्दर और खूबसूरत रमणियों को अपने वश में करने के लिए वे युद्ध करते थे । रत्नसेन और

---

१. पद्मावत (जायसीकृत) : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३.
२. वही, वही, पृ० ३७.
३. चितउर गढ़ औ कुंभलनेरैं । साजे दुनौं जैस सुमेरैं ।
दूतन्ह आइ कहा जहं राजा । चढ़ा तुरुक आवै दर साजा ।
सुनि राजैं दौराईं पाती । हिंदू नांव जहां लगि जाती ।
चितउर हिंदुन्ह कर अस्थानू । सतुरु तुरुक हठि कीन्ह पयानू ।
— वही, वही, पृ० ५५६.

अलाउद्दीन के युद्ध में रत्नसेन तुर्कों से पद्मावती की रक्षा न कर पाएगा। जायसी ने युक्तियुक्त ढंग से दूसरी खास बात की ओर संकेत किया है कि जिससे पद्मावती तुर्कों के हाथ में न पड़ सकी।[१] कवि ने तुर्कों के मुकाबले में हिन्दू राजाओं को कितना कष्ट और विपत्तियां सहनी पड़ी हैं, इसका वर्णन किया है –

> लंका रावट बसि भई जह परा गढ़ सोइ।
> रावन लिखा जो जरै कहं किमि अजरावर होइ।।[२]

राजा रत्नसेन और बादशाह अलाउद्दीन के बीच में घोर युद्ध हुआ। जायसी ने `पद्मावत` में शत्रु के द्वारा अखाड़े की नर्तकी पर बाण चलाए जाने का उल्लेख किया है। युद्ध में राजा रत्नसेन की हार होती है; लेकिन राजा हार की बात मानने को तैयार नहीं था।[३] इससे यह ज्ञात होता है कि राजपूत राजा अपनी वीरता कभी नहीं छोड़ते थे।

हिन्दू राजा मुसलमान शासकों के अधीन थे। वे उन्हें युद्ध में आसानी से पराजित कर सकते थे। इसका उत्तम उदाहरण `पद्मावत` में द्रष्टव्य है। बादशाहों के द्वारा पराजित होने के भय से राजा घाटी की ओर चलता है। बादशाह अलाउद्दीन ने राजा रत्नसेन से कहा –

> अबु राजा सो जरै निआना। पातसाहि कै सेव न माना।
> बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना। अंत भए लंका के रवना।[४]

कवि ने बादशाह के द्वारा रुकने पर राजा के बंधन में पड़ने की निकट भविष्य में होने वाली घटना की ओर संकेत किया है। बादशाह की बढ़ती हुई

---

१. बरन बीज अस तुरुक उठाएं। ओड़ न चंद कंवल कर पाएं।
- जायसीकृत पद्मावत : व्याख्या० श्री वा.श.अग्रवाल,पृ० ६००.

२. वही, पृ० ६८४.

३. तबहुं राजा हिएं न हारा। राज पंवरि पर रचा अखारा।
सौंह साहि कहं उतरा बाझा। ऊपर नाच अखारा बाझा।
- वही, पृ० ६८७.

४. वही, पृ० ७०३.

सम्पत्ति और प्रताप के सामने हिन्दू राजा प्रसन्न न होकर कांव-कांव करते हैं।[१] इससे व्यक्त होता है कि सूफी प्रेमाख्यान के महाकवि जायसी के समय राजनीतिक परिस्थिति आंतरिक संघर्षों से युक्त थी ।

तुलसीदास ने भी अपने विभिन्न काव्य-ग्रंथों में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है । तुलसीदास प्रधानत: कथा-काव्य लेखक थे और उन्होंने राम-कथा पर काव्य रचना की । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी राजा रावण की शासन व्यवस्था को मुगलों के शासन का प्रतीक माना है । लंकाधीश रावण दुष्ट, दुराचारी और अधर्मी राजा था । उसने अपने राज्य की व्यापकता के लिए अनेक युद्ध किये । तत्कालीन राजा लोग विलास-प्रिय थे । उनकी नीति का दिग्दर्शन तुलसी ने अपनी श्रेष्ठ रचना `मानस` में इस प्रकार किया है --

> जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउं-पुर आग लावहिं ।
> नहिं हरि भगति जग्य तप ग्याना । सपनेहुं सुनिअ न बेद पुराना ।।
> बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
> हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवनि मिति ।।
> भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र ।
> मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र ।।[२]

तुलसी के समय अर्थ और काम की अभिलाषा के लिए जन-समाज का शोषण होता था । उनकी आस्था धर्म और मोक्ष में न होकर विषय-वासना में रह

---

१. जौं मन सुलज बांद सौं कसा । गहन गरासा परा मंजूसा ।
भोर होइ जौं लागै उठहिं रौर कै काग ।
मसि छूटै सब रैनि कै कागा कार्य अभाग ।।
- पद्मावत : व्याख्या० श्री वा.श.अग्रवाल, पृ० ७०६.

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० ३-४, सो० १८३, दो० १८२, पृ० ३११, ३१२, ३१३.

गयी ।[१] शासकों के बीच लूटमार, अत्याचार, अनाचार और व्यभिचार की अधिकता होने के कारण जन-जीवन का पतन हो गया । प्रजा में सौहार्द्र की भावना नाममात्र के लिए भी न थी । मुगल बादशाह अकबर के समय भारत पर दुर्भिक्ष और रोगों का प्रकोप हुआ । अराजकता के कारण शासक वर्ग का शोषण भी चरम सीमा तक पहुंच गया । जनता असमंजस में पड़ी और त्राण के लिए छटपटा रही थी ।[२]

राजनीतिक परिवर्तन की इस दशा में, अधिकार-लिप्सा और प्राप्त शक्ति के दुरुपयोग के इस अवसर पर शासन व्यवस्था में कोई मर्यादा या सीमा न रह गयी । स्वयं परिवार का एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का वध करने, उसे कैद कर लेने या उस पर अधिकार जमा लेने में नहीं हिचकिचाता था । जन-कल्याण की बात ऐसी अधिकार-लिप्सा और मार-काट की परिस्थिति में भला किसे सूझती ? मुगल शासन जनता का शोषण कर रहा था । वह भारी निर्दयता के साथ किसानों को कुचल कर सरकारी खजाना भरने में प्रयत्नशील था । वह शासन हिंसा, क्रूरता एवं निर्दयता पर आधारित था । `कवितावली` में तुलसीदासजी ने कहा है —

भूमिपाल, ब्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल,
कारन कृपाल, मैं सबै के जी की थाह ली ।[३]

लोगों को कठोर दण्ड दिया जाता था और उनका सिर उतार लेना, उन्हें फांसी पर चढ़ा देना या उनकी खाल खिंचवाकर उन्हें मरवा देना प्राय: साधारण बात हो गयी थी । राम-राज्य की उच्च भावना रखने वाले महाकवि तुलसीदासजी ने

---

१. अजहुं बिषय कहं जतन करत जद्यपि बहुबिधि डहकायो ।
पावक-काम, भोग घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो ।।
विषयहीन दुख मिलै बिपति अति, सुख सपनेहुं नहिं पायो ।
उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो ।।
— विनयपत्रिका, पद १९८, पृ० ४१५.

२. कवितावली, उत्तरकांड, पद ९७, पृ० १६३.

३. वही, वही, पद २३, पृ० ११९.

तत्कालीन नृशंसतापूर्ण या अत्याचारमयी राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में यह मर्मोद्गार सुनाया है —

> गोंड़ गवाँर नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
> साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ।।[१]

करुणा और मानवता से ओतप्रोत तुलसी का मन इस अनीतिपूर्ण व्यवहार को देखने में असमर्थ था । उन्हें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का खूब परिचय था और यही उनकी रचनाओं में प्रेरणात्मक प्रभाव डालने के लिए सहायक था । राज्य और शासन व्यवस्था में इस प्रकार के पतन के कारण जनता का समाजद्रोही कंटक बन जाना नितांत स्वाभाविक था ।[२] इतना ही नहीं, तुलसीदास ने अपने समय की पतन की पराकाष्ठा तक पहुँची हुई राजनीतिक दशा को देखा है ।

अंत में यही कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थिति दुष्कृतात्मक, अत्याचारपूर्ण और नृशंस थी । उत्तर-पश्चिम के द्वार से आने वाले यवन आक्रमणकारियों ने भारतवर्ष की भौतिक संपत्ति का अपहरण किया । ये आक्रमणकारी दस्यु इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए - उन्होंने हमारे सांस्कृतिक वैभव पर भी छापा मारा, हमारे देवस्थानों को नष्ट किया, पाठशालाएं ध्वस्त कर दीं, पुस्तकालय जला डाले और जिस प्रकार हो सका हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट करने में कुछ उठा नहीं रखा ।[३]

राम-भक्ति-काव्यों की तरह कृष्ण-भक्ति-काव्यों में भी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख मिलता है । कृष्ण-भक्ति-काव्यों का समय मुगलों के उत्थान-पतन का काल है । इस कारण इन काव्यों में अनेक प्रकार की उलट-फेर देखी जा सकती है । कृष्ण-भक्त कवियों के काव्यों में

---

१. दोहावली, दो० ५५६, पृ० १९१.

२. प्रभु तें प्रभु गन दुखद लखि प्रजहिं संभारै राउ ।
   कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ।।
   - वही, दो० ५०१, पृ० १७२.

३. गोस्वामी तुलसीदास   डा० पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० १६.

परोक्ष रूप से उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है। कृष्ण-भक्ति शाखा के आदि-कवि के रूप में महाकवि विद्यापति का स्थान सर्वश्रेष्ठ और अग्रगण्य है। उनका समय भी राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत उथल-पुथल का समय था। वह अस्तव्यस्तता और विक्षुब्धता का काल था। उत्तर भारत में मुसलमानों का प्राबल्य हो रहा था। वे अपने शासन की नींव हर मूल्य पर दृढ़ करना चाहते थे। जनता को सभी ओर से वशीभूत करने में वे केवल इच्छुक ही नहीं थे, बल्कि प्रयत्नशील भी थे। नये शासकों की शासन-व्यवस्था को अपनाने में जनता असमर्थ थी। हिन्दू राजाओं के प्रति मुसलमान बादशाहों के मन में विरोध था। हिन्दू राजा हिन्दुओं की भरपूर सहायता करने के लिए, अपने विरोधियों को पराजित करने के लिए स्वयं ही देश, धर्म और हिन्दू-जाति के नाम पर मर-मिटने को तैयार थे। लेकिन इस अवस्था में कभी जय, कभी पराजय, कभी उत्साह, कभी विषाद, कभी धर्म-परायणता के कारण मृत्यु से भी नहीं डरना, कभी बलात्कार से अधर्म की शरण लेना आदि विरोधी घटनाएं तो प्रतिदिन ही हुआ करती थीं। इस प्रकार विद्यापति-काल का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि उनका युग अशांत और विक्षोभ युक्त था। विद्यापति ने इन परिस्थितियों और तज्जन्य प्रभावों का वर्णन अपने काव्य में किया है।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास अग्रगण्य हैं। उनके प्रादुर्भाव-काल में भारत के सिंहासन पर प्रसिद्ध मुगल सम्राट अकबर आसीन था। सूरदास ने 'सूरसागर' में राजनीति के बारे में इस प्रकार कहा है --

> जनम सिरानौ अटकैं-अटकैं।
> राज-काज, सुत बित की डोरी, बिनु बिबेक फिर्यौ भटकैं। [1]

राजनीतिक स्थिति के अस्तव्यस्त होने का दूसरा कारण शासक वर्ग की विषयासक्ति थी।[2] सूरदास ने ऐसे लोगों की ओर संकेत करते हुए कहा है --

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद २९२, पृ० ९६.

२. मैं-मेरी कबहूं नहिं कीजै, कीजै पंच-सुहातौ।
   विषयासक्त रहत निसि-बासर, सुख सियरौ, दुख तातौ।
   - वही, पद ३०२, पृ० ९९.

(मन) राम-नाम-सुमिरन बिनु, बादि जनम खोयौ ।
रंक सुख कारन तैं अंत क्यौं बिगोयौ ।
साधु-संग, भक्ति बिना, तन अकार्य जाई ।
ज्वारी ज्यौं हाथ भारि, चाले छुटकाई ।
दारा-सुत, देह-गेह, संपति सुखदाई ।
इनमैं कछु नाहिं तेरौ, काल-अवधि आई ।
काम-क्रोध-लोभ-मोह-तृष्ना मन मोयौ ।
गोबिंद गुन चित बिसारि, कौन नींद सोयौ ।[१]

राजा कंस के प्रति सूर का दृष्टिकोण निम्न स्तर का था । राजा कंस ने अपनी बहिन देवकी और वसुदेव का विवाह बड़ी धूम-धाम से कराया; लेकिन इस आनंद-मंगलाचार के समय राजा के कानों में यह अनहत वाणी गूंजने लगी कि देवकी की कोख से जन्म लेने वाला शिशु ही तुम्हारी हत्या करने वाला होगा । कंस को यह सुनकर गुस्सा आ गया । वह अपनी बहिन की हत्या करने आया । उसने देवकी के प्रत्येक शिशु की हत्या कर डाली ।[२] सूर ने राजा कंस का चित्रण दुष्ट राजाओं के प्रतीक रूप में किया है । `सूरसागर` के दशम स्कंध में गोपियों के प्रति उद्धव का वचन सुनिए —

गोपी सुनहु हरि कुसलात ।
कंस नृप कौं मारि छोरे आपने पितु मात ।।
बहुत बिधि मनुहार करि, दियौ उग्रसेनहिं राज ।
नगर लोग सुखी बसत हैं, भए सुरनि के काज ।।[३]

इसमें कंस के अत्याचार का, कृष्ण के हाथ से उसकी हत्या का वर्णन है । यहां कवि सामान्य राजनीतिक जीवन की ओर दृष्टिपात करता है । अन्य कई पदों में

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ३३०, पृ० १०६.
२. वही, दशम स्कंध, पद ४, पृ० २५७-२५८.
३. वही, वही, पद ३४८६, पृ० १३२०.

भी इस ओर दृष्टिपात किया है ।[१]

'सूरसागर' में नृप कंस द्वारा नन्द से 'काली दह के तीन करोड़ कमल के पुष्प' मांगना[२], थोड़े ही निमिष में इतने अधिक पुष्प पहुंचाने में असमर्थ नन्द का परेशान होना[३], पुष्प पहुंचाने पर राजा का नन्द को 'सिरोपाव' तथा अन्यान्य गोपों की पहरावनी कराना[४], कृष्ण तथा बलराम को देखने की इच्छा प्रकट करना[५], नन्द का यह सुनकर प्रसन्न होना और यह विचारना कि राजा ने उनकी सेवा मान ली है[६] आदि बातें तत्कालीन राजनीतिक प्रवृत्ति की अभिद्योतक हैं ।

---

१. जान्यौ नन्द-सुवन को हेत ।
राजनीति की रीति सुनी हो, परत बारि पर रेत ।।
जिनके संग बिहार किए, ते जोग संदेसो देत ।
इन बातनि सोई पै भूले, जाके मन नहिं चेत ।।

- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३९६४, पृ० १४४७.

२. कंस बुलाइ दूत इक लीन्हौ ।
कालीदह के फूल मंगाए, पत्र लिखाइ ताहि कर दीन्हौ ।

- वही, वही, पद ५२३, पृ० ४४१.

३.(क) नंद सुनत मुरझाइ गए ।
पाती बांची, सुनी दूत-मुख, यह बानी सुनि चकित भए ।
बल मोहन खटकत याके मन, आजु कही यह बात ।
कालीदह के फूल कहौ, याँ, को आनै, पछितात ।
- वही, वही, पद ५२७, पृ० ४४२.

(ख) आप चढ़े ब्रज-ऊपर काल ।
कहाँ निकसि जैऐ को राखे, नंद कहत बेहाल ।
मोहिं नहीं जिय को डर नैं कुहुं, दोउ सुत कौं डरपाउं ।
गाउं तजौं, कहुं जाउं निकसि लै, इनहीं काज पराउं ।
अब उबार नहिं दीसत कतहुं, सरन राखि को लेइ ।

- वही, वही, पद ५२८, पृ० ४४२.

४. नंद कौं सिरपाय दीन्हौं, गोप सब पहिराइ । - वही, पद ५८६, पृ० ४६०.
५. वही, पद ५८६, पृ० ४६०.
६. वही, पद ५८८, पृ० ४६०-४६१.

सूरसागर के अनेक पदों में राजा[1], छत्रपति[2], नृप[3] आदि राजा के पर्याय शब्द मिलते हैं। इस प्रकार 'सूरसागर' में आंशिक राजनीति की अस्त-व्यस्त दशा ही देखने को मिलती है।

'सूरसागर' के समान भक्ति-काल में अन्य अनेकों विशिष्ट काव्य-ग्रंथ रचे गये। अब हम इनमें वर्णित राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करेंगे। इनमें सबसे प्रधान और जन-समाज में अधिक प्रचलित काव्य-ग्रंथ 'परमानन्दसागर', नन्ददास के ग्रंथ, मीराबाई की पदावली और रसखान की कवितायें हैं। 'परमानन्दसागर' में कालिह दूत कहत नृप कंस द्वारा नन्द के पास भेजना आदि वार्ता का उल्लेख मिलता है।[4] इसमें राजा[5], भूपति[6] आदि शब्द अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं।

नन्ददास लिखते हैं कि उनका काल वास्तव में एक कलियुग के समान था और कहीं भी ईश्वर के प्रति भक्ति नहीं थी।[7] सब कहीं धर्मान्धता और अत्याचार ही देखने को मिलता है। राक्षसी वृत्ति की अधिकता हो रही है। कोई ईश्वर का भजन नहीं करता।[8]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४२९०, पृ० १५५३; पद ४०५६, पृ० १४६४; पद ४२०७, पृ० १५२१; पद ४२११, पृ० १५२८.

२. वही, पद ४१८८, पृ० १५०८.

३. वही, पद ४२०१, पृ० १५२४; पद ४२१७, पृ० १५३०.

४. कालिह दूत आवन कहत है राम कृष्ण को लैन।
नन्दादिक सब ग्वाल बुलाये अपनो वार्षिक लैन।।
- परमानन्दसागर, पद ४७५, पृ० १६१.

५. वही, पद २०४, पृ० ६५; पद २०१, पृ० ६४; पद ६२६, पृ० ३३४.

६. वही, पद ४७६, पृ० १६१.

७. कलि कलेस, कलि सूरमा, कलि निषंग संग्राम।
कलि कलियुग कछु और नहिं, केवल केशव नाम।।
- नन्ददास ग्रंथावली, दो० ७, पृ० ४१.

८. खर राक्षस खर, सांप खर, खनु तीक्षन को नाम।
खर नरधम जग में सोई, जो न भजै हरि स्याम।।
- वही, दो० ६१, पृ० ५१.

मीराबाई का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब दिल्ली में लोधी वंश का शासन था। उसके बाद मुगल वंश की बुनियाद बाबर ने डाली। लेकिन चारों ओर से आक्रमण हो रहा था। उदाहरण के लिए दिल्ली अथवा गुजरात एवं मालवा की ओर से हमेशा युद्ध हो रहा था। मीराबाई के समय की राजनीतिक परिस्थिति को उतना अधिक महत्व नहीं मिलता, जितना धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से मिलता है। उसके समय उसे बहुत-सी यातनायें राज-परिवार से मिली थीं। उसे मार डालने के लिए राणाजी ने जहर का प्याला भेजा और सांप का पिटारा भेजा; लेकिन मीरा की यही धारणा थी कि भगवान कृष्ण संसार के त्रिविध तापों - दैहिक, दैविक, भौतिक - का नाश करने वाले हैं।[१] मीरा ने सांसारिक विषय-वासना में डूबे हुए साम्राज्य और शासक वर्ग की खिल्ली उड़ाई है।[२]

`रसखान ग्रंथावली` में भी राजनीतिक परिस्थितियों का दृश्य मिलता है। इनका आगमन भक्ति-काल के अंत में और रीति-काल के प्रारंभ में होता है। भारतवर्ष में मुगल सम्राट अकबर का वैभव, ऐश्वर्य, शांति, सौख्य और कलाप्रियता के लिए जिस समय प्रसिद्ध था, उस समय हिन्दी साहित्य में रसखान का अवतरण हुआ। ~~रसखान की कविताओं में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण मिलता है~~। `प्रेम-वाटिका` में उन्होंने दिल्ली के प्रभुत्व के लिए जो विप्लव देखा उसका वर्णन किया है।[३] उनके कई दोहों का अध्ययन करने से यह ज्ञात

---

१. अरे राणा पहले क्यों न बरजी, लागो गिरधारिया से प्रीत ।।टेक ।।
मार चाहे छांड़ राणा, नहीं रहूं मैं बरजी।
सगुन साहिब सुमरतां रे, मैं थांरै कोठे खटकी।
राणाजी भेज्या विष रा प्याला कर चरणामृत गटकी।
- मीराबाई और उनकी पदावली : प्रो० देशराजसिंह भाटी, पद ४२, पृ० १९९.

२. नहिं भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो ।।टेक ।।
थांरै देसां में राणा साध नहीं छै, लोग बसे सब कूड़ो।
- वही, पद ४६, पृ० २०१.

३. देखि गदर हित-साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की, ठसक छोरि रसखान ।।
- रसखान ग्रंथावली, प्रेमवाटिका, दो० ४८, पृ० ३३४.

होता है कि यह गदर दिल्ली में शासन-लिप्सा के कारण हुआ । दिल्ली में अधिकार-लिप्सा के कारण अनेक गदर हुए । रसखान के समय का निर्णय करने का प्रयास कुछ विद्वानों ने 'दिल्ली के गदर' के आधार पर किया है । श्री अमृतलाल शील ने दिल्ली की इस दुर्घटना को नादिरशाह की क्रूरता से जोड़कर रसखान का समय गोस्वामी विट्ठलनाथ से १५० वर्ष पश्चात् माना है । पर शीलजी अपने मत की स्थापना करते समय यह भूल गये हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ रसखान के दीक्षा गुरु थे । हिन्दी के कुछ अन्य विद्वानों की भांति आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने भी जहांगीर (सलीम) के पुत्र खुसरु (जन्म संवत् १६४२, मरण काल संवत् १६७८) द्वारा राज्य हड़पने की संवत् १६६२-६३ की घटना को रसखान द्वारा उल्लिखित 'दिल्ली का गदर' स्वीकार किया । कुछ अन्य विद्वानों ने अकबर की काबुल-विजय को ही 'दिल्ली का गदर' मान लिया है ।[1]

इसी प्रकार कुछ परोक्ष परामर्श भी हैं । कृष्ण के प्रति राधा ने कहा कि उसके प्रति गाली देने का क्या अधिकार है, वह तो राजा वृषभानु की पुत्री है । तुम अपने मन में सोच लो कि रास्ते में किसी से भी झगड़ा करना उचित नहीं है । वह तो यह जानती है कि राज्य का कोई उच्च अधिकारी ही वही छीनने के लिए आ सकता है । 'रसखान ग्रंथावली' में यह बात व्यंग्यात्मकता के द्वारा प्रभावोत्कर्ष के रूप में कही गयी है ।[2] राधा की ये बातें सुन कर कृष्ण उससे कहते हैं –

> तोहूं पहचानौं वृषभान हूं को जानौं नेकु,
> काहू की न शंका मानौं हौं अहीर ऐसो हौं ।
> मारि के मारि मान तोरिहौं गुमान लैहौं
> आज तोसों दान लैहौं देखिये जु कैसो हौं ।[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी भक्तिकालीन कवियों ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की विशृंखलता को अपनी आंखों से देखा और उनके काव्यों पर इसका प्रभाव हुआ है ।

---

१. रसखान ग्रंथावली, समीक्षा भाग, पृ० १५-१६.
२. वही, दानलीला, कवित्त ५, पृ० ३३८.
३. वही, वही, कवित्त ६, पृ० ३३८.

भक्तिकालीन कवि और उनका राजनीतिक आदर्श

वैदिक काल से लेकर राजत्व की प्रतिष्ठा भलीभांति हो चुकी थी। ऊपर कहा जा चुका है कि भक्ति-काल की राजनीतिक परिस्थिति अशांति और उथल-पुथल से युक्त थी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्रमुख भक्त कवियों के काव्य में तत्कालीन राजनीतिक दशा के विरुद्ध जो आदर्श और संदेश मिलता है, उसकी विस्तृत रूपरेखा मिलती है। उन्होंने युग के अनुकूल अपने साहित्य को दिशा-निर्देश दिया और जनता को सुख और शांति का संदेश प्रदान किया।

भक्ति-साहित्य की विभिन्न शाखाओं के कवियों ने अपने काव्यों में अपना राजनीतिक आदर्श प्रस्तुत किये हैं। संतों ने आध्यात्मिक बादशाह या राजा की परिकल्पना में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को प्रस्तुत किया है। इन्होंने आध्यात्मिक राजा और राजसत्ता के वर्णन में न केवल अपने युग-जीवन के प्रतीकों को ग्रहण किया है, वरन् इस प्रकार के रूपकों तथा भावाभिव्यक्तियों में इनकी आलोचना भी सन्निहित है। एक ओर आध्यात्मिक सत्ता के वर्णन के प्रसंग में उन्होंने अपनी समकालीन राजकीय शासन-व्यवस्था का विस्तृत परिचय दिया है, तो दूसरी ओर इनकी विचारधारा में आदर्श राज्य की कल्पना भी सन्निहित हो गयी है। संतों ने समसामयिक राजनीतिक चेतना की सीमाओं के अन्तर्गत आदर्श राज्य की परिकल्पना की। यही सबसे बड़ी बात है

भक्ति-काल में राजनीतिक परिस्थिति के बिगड़ जाने का सब से प्रमुख कारण शासक वर्ग की विषय-वासना थी। इन भक्त कवियों ने इन विषय-वासनाओं का खंडन- किया है। संत कवियों ने इसके विरुद्ध सशक्त वाणी प्रस्तुत की। कबीर जैसे संतों ने स्पष्ट कहा कि विषय-वासना क्षणिक और पल भर की है।

कबीर का मन्तव्य है कि सांसारिक धन क्षणिक है। इस पर गर्व करने से कोई फायदा नहीं। राजा या साहूकार अपने द्वार पर हाथी बांधकर

भवन पर सौ पताकाएं फहराने से क्या लाभ होता है ? इसलिए कबीर जैसे संतों ने कहा कि इस सांसारिक वैभव को छोड़कर प्रभु-भक्ति में संलग्न हो जाओ ।[१] कबीर ने उपदेश किया कि सांसारिक सुख में संलग्न रहने वालो ! तुम जागो और हमेशा सोता रहना उचित नहीं । तुम्हें कुछ सत्कर्म करना है । अगर सत्कर्म नहीं करोगे तो प्रभु-कृपा से चौरासी लाख योनियों में पड़ कर आवागमन के चक्र में भटकना पड़ेगा ।[२] दादूदयाल ने भी ऐसे आदर्श प्रस्तुत किये हैं ।[३]

संत कवियों के समान सूफी कवियों की रचनाओं में भी राजनीतिक आदर्श का विस्तृत वर्णन मिलता है । जायसी ने `पद्मावत` में राजनीतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया है । इन राजनीतिक आदर्शों से जनता को सुख और संतोष मिला और उन्हें ऊंचा जीवन स्तर प्राप्त हुआ । ऐसे वर्णन विरले ही मिलते हैं और वह भी प्रासंगिक । जायसी ने रत्नसेन और अलाउद्दीन की विषयासक्ति और इससे राज्य में जो आतंक होते हैं उन सब का वर्णन किया है ।[४]

---

१. रांम ! थोरे दिन कौं का धन करनां, धंधा बहुत निहाकति मरनां ।।टेक।।
कोटी धज साह हस्ती बंध राजा, क्रिपन को धन कौन काजा ।
धन के गरबि रांम नहीं जांनां, नागा ह्वै जम पै गुदरांनां ।।
कहै कबीर चेतहु रे भाई, हंस गया कछु संगि न जाई ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद ६६, पृ० ३९५.

२. जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ सोइ कब जागैगा ।
जब घर भीतर चोर पड़ैंगे, तब अंचलि किस के लागैगा ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, करि ल्यौ जे कछु करणां ।
लाख चौरासी जोनि फिरौगे, बिनां रांम की सरनां ।।
- वही, पद २४४, पृ० ४८२.

३. कछु खातां कछु खेलतां कछु सोवत दिन जाइ ।
कछु विषिया रस विलसतां, दादू गए बिलाइ ।।
+ + +
माया के संगि जे गए, ते बहुरि न आए ।
दादू माया डाकनी, इनि केते खाए ।। - दादू०ग्रं०, दो १६, २४, पृ० १२९.

४. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६१६-६७०.

तुलसी के काव्य में राजनीति का प्रभाव और आदर्श अधिकांश रूप में दिखाई पड़ता है। तुलसीदास के 'मानस' में राजनीतिक आदर्श की अनेक बातें मिलती हैं। वह सर्वप्रसिद्ध और जनसमुदाय में अधिक प्रभाव डालने वाला महाकाव्य है। तुलसीदास ने पहले पहल अयोध्यापुरी की वन्दना की है और नगरी के प्रति भक्ति-भाव प्रकट किया है --

> बंदौं अवध पुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि।।
> प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन पर प्रभुहिं न थोरी।।[1]

राजनीतिक उथल-पुथल के समय तुलसी ने इससे बचने का एक मात्र उपाय राम नाम को ही माना है। 'मानस' में तुलसीदास ने राम नाम की जो महिमा गायी है, वह देखिए --

> एकु छत्रु एकु मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।
> तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ।।[2]

राज्य के उत्तराधिकार के लिए कलह होना स्वाभाविक था। तत्कालीन राज्य-शासन के अनुसार पिता के बाद बड़े पुत्र को राज्य का अधिकार था; चाहे उसका स्वभाव अच्छा हो या बुरा, वह राज्य शासन करने योग्य माना जाता था। मुगल राज्य-काल में भी राज्य के परमाधिकार के नाम पर लड़ाई या मार-काट नित्य की बात थी। राजा दशरथ ने बड़े पुत्र राम को युवराज के पद पर अभिषिक्त करने का विचार किया, लेकिन बात बिगड़ गयी। रानी कैकेयी के हट के कारण राम को बनवास मिला और भरत को राज्य। इससे प्रजा को विरह-दुःख सहना पड़ा। राम के वन चले जाने के बाद अयोध्या-नगरी की दशा देखकर तुलसी स्वयं कहते हैं --

> जेहि भाँति सोकु कलंकु जाइ, उपाय करि कुल पाल ही।
> हठि फेरु रामहि जात बन, जनि बात दूसरि चालही।।

---

1. रामचरितमानस, बालकांड, चौ० १, पृ० ४४.
2. वही, वही, दो० २०, पृ० ५७.

जिमि भानु बिनु दिनु, प्रान तनु बिनु चंद बिनु जिमि जामिनी ।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी ।।[१]

गोस्वामी तुलसीदास यहाँ राम-कथा द्वारा नर-जाति को शिक्षा देते हैं । वे कहते हैं कि अनेक प्रकार के कर्म और अधर्म करना जनता के लिए शोकप्रद है । सचमुच उनके समय अधर्म की अधिकता थी । इसको दूर करने के लिए गोस्वामीजी कहते हैं —

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदय पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू ।।[२]

'रामचरितमानस' के समान अन्य रचनाएँ भी तुलसी की कला-पटुता के लिए अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण हैं । उनमें भी तुलसी ने राजनीतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया है । विषयासक्त व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाते हुए तुलसीदास कहते हैं कि जो विषय-रस से मुक्त होकर राम-भक्ति में संलग्न होता है वह रामजी के लिए प्रिय है ।[३] 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने विषय-वासना में हमेशा जीवन बिताने वाले लोगों को यही उपदेश किया है ।[४] सांसारिक विषय-वासनाओं में अनुरक्ति रखना अंधे कुएं में गिरने के समान है । विषय-वासना के चक्कर में पड़ने के कारण ही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति बिगड़ गयी । इस विषय-वासना के निराकरण करने से ही राज्य की उन्नति होगी

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ७८-७९.

२. वही, अरण्यकांड, पृ० ५८७.

३. जे जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेहं ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेहं ।। - दोहावली, दो० ९१, पृ० ३१

४. उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद विमुख न पैहौं ।
मन समेत या तनु के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं ।।
- विनयपत्रिका, पद १०४, पृ० २५८.

और जनता की समृद्धि होगी ।[१] तुलसीदास मानव मात्र को यही उपदेश देते हैं कि तुम सांसारिक विषय-वासना छोड़कर राम का भजन करो । विषय-वासना के कम होने से अपने को शांति मिलती है । अग्नि में घी डालने पर वह और भी भभक उठती है । इसी प्रकार अधिक विषय-भोग करने से कामाग्नि और भी अधिक बढ़ती है ।[२] तुलसीदास कहते हैं कि विषय-विकास से मुक्त होने का एक ही मार्ग है - प्रभु की भक्ति ।[३]

राम-भक्ति काव्यों के समान ही कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में भी राजनीतिक आदर्श की रूपरेखा मिलती है । `सूरसागर` में सूरदासजी कहते हैं कि काम, क्रोधादि विषय-वासनाओं में मत फंसो । वे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के लिए बाध्य थे । शासक वर्ग सौन्दर्य का पुजारी था । उसमें विषय-लोलुपता अधिक थी । इसका खंडन सूरदास ने किया है ।[४] आगे चलकर सूरदासजी कहते हैं कि आपस में वैर का भाव रखना बुरी आदत है । जो करता है सो भोगता है । हम जो करते हैं उसका फल हमें अवश्य मिलता है ।[५]

---

१. जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत विषय अनुरागे ।।
भूत-द्रोह कृत मोह-वस्य हित आपन मैं न विचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ।।
- विनयपत्रिका, पद ११७, पृ० २७७.

२. अब नाथहिं अनुराग जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुं, विषय भोग बहुत घी ते ।। - वही, पद ११८ पृ० ४१४

३. विनयपत्रिका, पद २०५, पृ० ४२७.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३२५, पृ० १०६.

५. नृप सुदच्छिन महादेव ध्यायौ ।
नाथ तुव कृपा पितु बैर लेयौ चहौं, पाइ परि बहुरि यौं कहि सुनायौ ।।
अगिनि के कुंड तैं असुर परगट भयौ, द्वारिका देस ताकौं बतायौ ।
आइ उन दुंद जब कियौ हरि पुरी मैं, चक्र ताकौ तुरत तैं भगायौ ।।
हति सुदच्छिन दई जारि बारानसी, कह्यौ तैं मोहिं तुवा क्यौं पठायौ ।
सूर के प्रभु सौं बैर जिन मन धर्यौ, आपुनौ कियौ तिन आपु पायौ ।।
- वही, दशम स्कंध, पद ४२०८, पृ० १५२४.

परमानन्ददास का कथन है कि दुष्टों को मारकर शिष्टों की रक्षा करना धर्म है। इससे राज्य की उन्नति होगी।[1] नन्ददास ने दुष्ट नृपति का हरण करने और सज्जनों की रक्षा करने की प्रार्थना अपनी रचना में की है।[2] मीराबाई कहती हैं कि यह संसार सांसारिक विषय-वासना में लीन है। मानव जीवन उसमें फंस गया है।[3] रसखान ने तत्कालीन देश-विदेश के राजाओं की खिल्ली उड़ा कर भक्ति को ही प्रथम स्थान दिया है।[4]

इस प्रकार समस्त भक्तिकालीन काव्यों पर तत्कालीन कवियों के राजनीतिक आदर्शों का प्रभाव पड़ा है, जो जन-जीवन के लिए सुखद और मंगलकारी है।

राजा के अधिकार

राज्य के अन्तर्गत राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। राजा होने के नाते उसमें कुछ विशेष अधिकार भी निहित रहते थे। राजा अपने राज्य पर आक्रमण करने वालों से देश की रक्षा करते थे। दुष्टों का नाश करके शिष्टों की रक्षा करने का अधिकार राजा में निहित था। राजा अपनी शक्ति के अनुसार राज्य को विस्तृत कर सकता था। राज्य की व्यापकता के

---

१. मारे दुष्ट पंथ सब राखे सुबस कियो ब्रज देस निवासी।
- परमानन्दसागर, पद ५७१, पृ० १७०.

२. दुष्ट नृपनि कौ हरन अबोध। बुधजन ताकौं कहत 'निरोध'।
अन्य रूप कौ त्यागन मुक्ति। निज स्वरूप की प्रापति 'मुक्ति'।।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १६०.

३. म्हाँ भावै थाँरो देसलड़ो रंगरूड़ो।। टेक।।
थाँरे देसाँ में राणा साध नहीं छे, लोग बसे सब कूड़ो।।
- मीराबाई और उनकी पदावली : प्रो० देशराजसिंह भाटी, पद ४६, पृ० २०३.

४. देस बिदेस के देखे नरेसन रीझ की कोऊ न बूझ करैगी।
तातें तिन्हें तजि जानि गिर्यो गुन सौं औगुन गांठि परैगी।
बांसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जु नैसुक ढार ढरैगी।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगी।
- रसखान ग्रंथावली : प्रो० देशराजसिंह भाटी, पृ० १६८.

साथ उसके अधिकारों की सीमा भी बढ़ती रहती थी । राजा शासन-चक्र का संचालक था । राजा को नृप, नरेश, छत्रपति, महाराज, भूपाल, भूप आदि नामों से संबोधित किया जाता था । राजा का निवास-स्थान राजधानी कहलाता था ।

मध्ययुगीन काव्यों में राजा के विभिन्न अधिकारों का वर्णन हुआ है । उस समय राजा शासन-कार्य में प्रजा को कोई महत्व नहीं देते थे; क्योंकि उस समय राजा अपनी इच्छा के अनुसार राज्य करते थे । राजा की अधिकार-लोलुपता को जनता पसंद नहीं करती थी; लेकिन उनकी इस अधिकार-प्रियता के आगे जनता को सिर झुकाना पड़ता था । इस अनीतिपूर्ण कार्य को रोकने के उद्देश्य से मध्ययुगीन कवियों ने अपनी रचनाओं में दिशा-निर्देश किया । राजा के विभिन्न अधिकारों की ओर उन्होंने संकेत किया है ।

महाकवि तुलसीदास ने अपनी उत्कृष्ट कृतियों द्वारा तत्कालीन राजाओं पर निहित विभिन्न अधिकारों का उल्लेख किया है । साथ ही आदर्श राज्य और राजा के अधिकारों का वर्णन भी किया है । यद्यपि राजा में अनेक गुण हैं और प्रजा-हित का भाव निहित है, तथापि शासन में एकाधिपत्य का रूप आ जाता है । इसलिए सच्चे शासन में प्रजा को भी अपने मत प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए । प्रजा की अनुमति ले कर राजा को सिंहासनारूढ़ उचित है । इसीलिए राजा दशरथ राम को उत्तराधिकार देने की अपनी इच्छा जन-समाज में प्रकट करते हैं —

जौं पांचहि मत लागइ नीका । करहु हरषि हियं रामहिं टीका ।।[1]

परंपरागत रूप में राजा दशरथ ने रामजी को शासन का अधिकार सौंप दिया था, फिर भी वे जन-समाज के मध्य अपनी राय प्रकट करते हैं और उनसे अनुमति लेते हैं । तुलसीदासजी प्रजातंत्र पर विश्वास रखने वाले थे । अपने समय की बढ़ती हुई राजनीति की ~~विविध~~ विभीषिकाओं को देखकर वे प्रजातंत्र का ही

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० १०.

समर्थन करना चाहते थे । उनकी दृष्टि में लोक-हित के लिए राजनीति को उन्नत, उदार, धर्म-संगत एवं न्याय-संगत होना चाहिए ।[1] केवल पंच के अनुसार राज्याधिकार की बात नहीं चलती, बल्कि राज्यसभा, युवराज-पद, पंच, राज-तिलक और मंत्री लोगों की नियुक्ति से सब जन-सम्मत के अनुसार चलना चाहिए ।

'रामचरितमानस' में वर्णित राजसभा की वार्ता को पढ़ते हुए हमें वेद-कालीन समाज की परिस्थिति की याद हो आती है । राजसभा का प्रथम दृष्टांत राजा दशरथ की सभा है । यह सभा तो राम के विवाह के बारह वर्ष के बाद हुई —

एक समय सब सहित समाजा । राजसभा रघुराज बिराजा ।।
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे । लोकप करहिं प्रीति रुख राखे ।।[2]

दूसरी राजसभा राजा दशरथ की मृत्यु के बाद हुई । उस सभा में भरत, शत्रुघ्न, कुलगुरु वसिष्ठ और अन्य अमात्य लोग विद्यमान थे ।[3] तुलसीदासजी ने रामजी के वन-गमन के बाद और राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत भरतजी का सारे अयोध्यावासियों सहित चित्रकूट जाने का उल्लेख किया है । चित्रकूट में पहुँच कर कुलगुरु वसिष्ठजी के सान्निध्य में तीन बार सभा होती है ।[4] चित्रकूट की दूसरी सभा में महर्षि वसिष्ठजी ने अयोध्यावासियों की शोकपूर्ण अवस्था की चर्चा की । तीसरी सभा तो चित्रकूट से सब लोगों के प्रस्थान के समय हुई ।[5]

---

१. गोस्वामी तुलसीदासजी का सामाजिक आदर्श — श्रीमती सुधारानी शुक्ल, पृ० १२७.

२. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० १, पृ० ५.

३. बैठे राजसभा सब जाई । पठए बोलि भरत दोउ भाई ।।
भरतु वसिष्ठ निकट बैठारे । नीति धरममय बचन उचारे ।।
— वही, चौ० २, पृ० २३९.

३. गुरु पद कमल प्रनामु करि, बैठे आयसु पाइ ।
बिप्र महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ ।
— वही, दो० २५३, पृ० ३६७.

४. भोर न्हाइ सबु जुरा समाजू । भरत भूमिसुर तेरहुति राजू ।।
भल दिन आजु जानि मन माहीं । रामु कृपाल कहत सकुचाहीं ।।
— वही, चौ० १, पृ० ४५३.

हनुमानजी जब सीताजी की तलाश करते हुए रावण की नगरी लंका में पहुंचे तब राजा रावण के अफसरों ने उनको बंदी बना लिया। हनुमानजी को बंदी बनाकर वे तमाशा देखने के लिए सभा में लाये, तब वहां सभा का समारोह हो रहा था। सभा में समस्त लंकावासी दर्शक के रूप में कौतुक देखने आये।[१] राक्षसों और वानरों की लड़ाई के अवसर पर भी रावण की राजधानी में सभा हुई। सभा में आकर बैठते समय राजा रावण ने मंदोदरी के मुंह से यह सुना कि रामजी की सेना समुद्र के उस पार आ गयी है। तभी राजा रावण ने अमात्यों से युद्ध की चर्चा की।[२] लंका नगरी में तीसरी बार राजसभा तब हुई, जब वानर सेना और राक्षसों के बीच घमासान लड़ाई हो रही थी और अंत में राक्षसों को यह शंका हुई कि वे निश्चय ही हार जाने वाले हैं। सभा में राजा और अमात्यों की बहस भी हुई।[३] मन्दोदरी रावण को कई बार समझाती है, लेकिन रावण को मतिभ्रम हो गया था। मन्दोदरी ने तो युद्ध की बात पर जीत के सम्बन्ध में आशंका प्रकट की; लेकिन मदान्ध लंकापति दशकंधर ने उसकी न मानी। वह सीधा सभा में भाग लेने के लिए चला गया।

> एहि विधि करत विनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
> सहज असंक लंकपति, सभा गयउ मदअंध ।।[४]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि कठिन या संकट के अवसर पर राजसभा में संबंधित विषयों पर विचार-विमर्श होता था और निर्णय लिया जाता था। प्रत्येक राजसभा में जनता के प्रतिनिधि उपस्थित होते थे। रावण की सभा

---

१. कपि बंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए।।
   दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई।।
   - रामचरितमानस, सुन्दरकांड, चौ० ३, पृ० १०६.

२. बैठेउ सभाँ खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई।।
   बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।।
   - वही, चौ० ४, पृ० १३६.

३. सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा।।
   कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा।।
   कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।।
   - वही, लंकाकांड, चौ० ४-५, पृ० १६५.

४. वही, लंकाकांड, दोहा १६, पृ० २११.

और सभासदों की दशा तो अत्यंत शोचनीय थी । रावण का राज्य अन्याय और अनीति के लिए प्रसिद्ध था । राम और दशरथ की राजसभा में प्रजा को अपनी इच्छा प्रकट करने का जितना अधिकार था, उतना रावण की सभा में नहीं था । राजा रावण तो डरपोक, कायर और पापपरायण था । जब अंगद अपनी राय प्रकट करने के लिए रावण की सभा में उपस्थित होते हैं, तब रावण के सभासदों की दशा देखिए –

डोलत धरनि सभासद खसे । चले भाजि भयमारुत ग्रसे ।।
गिरत संभारि उठा दसकंधर । भूतल परे मुकुट अति सुन्दर ।।[१]

मध्य युग के कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राजा के अधिकारों की ओर संकेत किया है । कृष्ण के दधि खाने एवं दधि के बर्तन को नष्ट करने पर गोपियां कंस के पास शिकायत करती हैं ।[२] इससे यह ज्ञात होता है कि जनता उस समय अपनी शिकायतों को लेकर राजा के पास आया करती थी । राजा किसी वस्तु के पक्ष-विपक्ष में निर्णय लेने में पूर्ण स्वतंत्र था । इसका उल्लेख विद्यापति ने एक स्थान पर किया है ।[३] राजा को अपने अधीनस्थ सरदारों-सामन्तों को सिरोपाव देकर सम्मानित करने का अधिकार था ।[४] सूर ने कंस द्वारा दस गांव देकर नन्द को वहाँ का सरदार बना देने की ओर संकेत किया है ।[५] मुगल बादशाह जागीर बांटने के साथ-साथ अपने राज्यकर्मचारियों को ओहदा (मनसब) भी दिया करते थे । वर्ष में दो बार इन मनसबदारों को 'खिलत' (पोशाक) दी जाती थी ।[६]

---

१. रामचरितमानस, लंकाकांड, चौ० २-३, पृ० २४१-२४२.

२. जाय पुकारूंगी कंस के आगे, न्याय करो महाराज रे ।
– मीरा माधुरी, पद ४५.

३. विद्यापति-पदावली, पृ० ४५४.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५८६, पृ० ४६०.

५. कंस कई यह लोक बड़ाई । गाउं दसक सरदार कहाई ।।
– वही, पद ८८५, पृ० ५६७.

६. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ४८७-

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मध्य युग के कवियों ने राजा के अधिकारों का जो चित्रण किया है, वह बहुत कुछ परंपरानुकूल है। फिर भी, कर उगाने, जागीर देने, विरोधियों को दण्ड देने एवं वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने के उन्हें जो अधिकार थे, उनका उपयोग वे अपनी इच्छा के अनुसार करते थे।

राजा का कर्तव्य और गुण।

राजा राज्य-शासन का संचालक है। सारी जनता की जिम्मेदारी उस पर निक्षिप्त है। अगर राजा शासन चलाने में अशक्त हो तो जनता कदापि उसका आदर नहीं करती। राजा को बलवान, सुन्दर, शांत, गंभीर, उदार, शीलवान और स्नेहपूर्ण होना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह समस्त वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करे। इसके अलावा राजा को जंगली जानवरों और पशु-पक्षियों को भी आश्रय देना चाहिए। विष्णुस्मृति के अनुसार –

> प्रजा परिपालनं वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।
> राजा च जांगलं पशव्यं शस्योपेतं देशमाश्रयेत् वैश्यशूद्र प्रायंच।
> तत्र धन्वनृमहीवारि वृक्षागिरिदुर्गाणामन्यतमं दुर्गमाश्रयेत्।[१]

राजा को चाहिए कि वह अपने ऊपर दोषारोपण करने वालों की हत्या करे। स्वराज्य और परराज्य में उसे जासूसों को भेजना चाहिए। साधु सज्जनों की रक्षा करना और दुष्ट एवं अधर्मियों का वध करना चाहिए। इतना ही नहीं, राजनीति के चार चरण जैसे – साम, दाम, दण्ड, भेद को सुरक्षा करते हुए उचित समय पर इनका प्रयोग करना चाहिए।[२] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों का उल्लेख हुआ है। जो भी वस्तु महल से बाहर जावे तथा महल में आवे उसका भली-भांति निरीक्षण करे और उसके सम्बन्ध में सारा

---

१. विष्णुस्मृति, पृ० ४४४-४४५.

२. तद्दूषकांश्च हन्यात्। स्वराष्ट्रपरराष्ट्रयोश्च चारचक्षुः स्यात्।
साधूनां पूजनं कुर्यात्। दुष्टांश्च हन्यात्।
शत्रुमित्रोदासीनमध्यमेषु सामभेददानदण्डान् यथार्हं यथाकालं प्रयुंजीत।
– वही, पृ० ४४५.

विवरण राजा को रजिस्टर में लिख कर रखना चाहिए । राजमहल के बाहर और भीतर जाने-आने वाली प्रत्येक वस्तु पर राजकीय मुहर लगानी चाहिए ।[१] मनु के अनुसार राजा का कर्तव्य था कि वह नित्य सभा में न्याय करे । राजा के साथ न्याय में सहायता करने वाले ब्राह्मण और मंत्री होते थे । राजा विनीत होकर न्याय करता था । उसके वेश और आचरण से उसकी विनय प्रकट होती थी । न्याय करते समय राजा खड़ा रहता था या बैठ जाता था । वह अपना दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठाये रहता था ।[२]

भक्ति-काल के आरंभ में राजा और प्रजा में किसी भी प्रकार का नियम-बंधन न था । उनमें पारस्परिक सम्बन्ध नहीं था । राजा अत्याचारी थे और विलास के पुजारी भी थे । उनमें न कर्तव्यपरायणता थी, न शक्ति थी, न गांभीर्य था, न उदारता थी और न अच्छे-अच्छे गुण थे । प्रजा की शांति और रक्षा करना ही राजा का कर्तव्य है । संतों का आदर्श राजा राम हैं । वे उस पर अपना सर्वस्व अर्पण करते थे और उसके नियम का पालन करते थे । उन्होंने तत्कालीन राजाओं की कर्तव्यहीनता की कटु शब्दों में निन्दा की है । सूफी महाकवि जायसी ने `पद्मावत` के `सिंहलद्वीप वर्णन खंड` में राजा के कर्तव्य और गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है —

धनि राजा अस सभा संवारी । जानहु फूलि रही फुलवारी ।
मुकुटबंध सब बैठे राजा । दर निसान नित जिन्ह के बाजा ।
रूपवंत मनि दिपै लिलाटा । माथे छात बैठ सब पाटा ।
मानहु कंवल सरोवर फूले । सभा क रूप देखि मन भूले ।
पान कपूर मेद कस्तूरी । सुगंध बास भरि रही अपूरी ।[३]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजतंत्र-शासन-प्रणाली को जनता के समक्ष रखकर राजा के कर्तव्य और गुणों पर अधिक जोर दिया है । आदर्श राजा में

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र - वाचस्पति गैरोला, पृ० ५०.
२. मनुस्मृति - ८।१-२.
३. जायसीकृत पद्मावत - व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५५.

मुख्य रूप से दो प्रकार के गुणों का होना अनिवार्य है । पहले तो राजा को धर्म-नीति पर चलना चाहिए । राजा या स्वामी को भारतीय नीतिशास्त्र जन-रक्षक (नरपति) और पृथ्वी-रक्षक (भूमिपति)और ईश्वर का अंश मानता है । राजा को धर्मशील होना चाहिए, उसे राजनीति की रक्षा करनी चाहिए, उसे शक्ति, नीति, ऐश्वर्य तथा धर्म, प्रताप, शील का निकेतन होना चाहिए और उसे वेदनीति से प्रजा का संरक्षक होना चाहिए ।[१] तुलसीदास के आदर्श भी इनसे मिलते-जुलते हैं । उन्होंने राजा के कर्तव्य और गुणों की प्रशंसा अपनी युक्ति के अनुसार 'मानस' में की है, जो अक्षरश: सत्य सिद्ध होती है । राजा अक्सर साधु, सुजान, सुशील, ईश-अंशभव और कृपालु होता है ।[२] मानसकार ने विनय के पांच भेद माने हैं — सुबाणी, भनिति, भक्ति, नति और गति । ये गुण तो अच्छे राजाओं में परिपूर्ण रूप से पाये जाते हैं । कौशलेश तो इन गुणों को धारण करते थे ।[३] राजा को समयानुकूल प्रजा की सेवा करनी चाहिए । वे तो अपने बाहु-बल से साम्राज्य की रक्षा करते हैं । राजा को धर्म, अर्थ और कामादि तीनों के पुजन का अधिकार है ।[४] उनका परम धर्म प्रजा का पालन और नीति का पालन करना है । बिना नीति के कोई राज्य संभाल नहीं सकता । जो राजा नीति नहीं जानता और अपने प्राणों के समान प्रजा का पालन नहीं करता उसकी स्थिति अत्यंत शोचनीय है ।[५] राजा का महत्व तो उसके प्रिय वचन में रहता है । हमेशा प्रजाजनों से उसे प्रिय वचन कहना चाहिए ।[६] पहले इस ओर संकेत किया कि राजा का प्रधान धर्म प्रजापालन

---

१. तुलसी : आधुनिक वातायन से — डा० रमेशकुन्तल मेघ, पृ० १०४.

२. साधु सुजान सुसील नृपाला । ईस अंसभव परम कृपाला ।।
- 'मानस', बालकांड, चौ० ४, पृ० ७२.

३. सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी । भनिति भगति नति गति पहिचानी ।।
यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ । जानि सिरोमनि कोसलराऊ ।।
- वही, चौ० ५, पृ० ७२.

४. स्ववस विस्व करि बाहु बल, निज पुर कीन्ह प्रवेसु ।
अरथ धरम कामादि सुख, सेवै समय नरेसु ।। — वही, दो० १५४, पृ० २७३.

५. सोचिअ नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ।।
- वही, अयो०, चौ० २, पृ० २४१.

६. नृपति वचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना । करहु तात पितु वचन प्रमाना ।।
- वही, अयो०, चौ० ३, पृ० २४५.

और उसके दु:खों को दूर करना है । इससे राजा को स्वर्ग में संतोष होगा, उसे पुण्य और यश प्राप्त होगा, दोष नहीं होगा ।[१]

भरत जब सिंहासनारूढ़ होने की बात का तिरस्कार करते हैं, तब मंत्री लोग हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि आप प्रजा-पालन कीजिए । राजा का परम बल मंत्री है । रामजी के लौट आने तक भरतजी से राज्य-शासन करने के लिए कुलगुरु वसिष्ठजी उपदेश देते हैं –

कीजिअ गुर आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि ।
रघुपति आएँ उचित जस, तस तब करब बहोरि ।।[२]

इससे स्पष्ट है कि राज्य में किसी का शासन अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अराजकता फैल जाएगी । तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि कलियुग में राजा हमेशा पाप में रत रहेंगे । यह सर्वमान्य तत्व है कि राजा का मुख्य काम धर्म की रक्षा करना है; परंतु पाप-परायण राजा अपने लाभ के लिए प्रजा को दंड देता है । साधारणत: दण्ड को धर्म के रूप में माना गया है; परन्तु पापी राजा के राज्य में दण्ड विडम्बना के रूप में माना जाता है ।[३] तुलसीदास ने राजा के कर्तव्यों पर अधिक जोर देते हुए कहा है कि जिसके राज्य में प्रजा दु:ख और दारिद्र्य को प्राप्त होती है उसे निश्चय ही दण्ड मिलता है ।[४]

तुलसीदासजी ने राम-राज्य को आदर्श राज्य के रूप में प्रस्तुत किया है । रामचन्द्रजी ऐसे आदर्श राजा हैं, जिन्होंने प्रजा-पालन, दुष्टों का दमन एवं सदाचार की उन्नति की । यही उत्तम राजा का कर्तव्य है । मानसकार ने रामजी के मुख से

---

१. अवसि नरेस बचन फुर करहू । पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ।
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू । तुम्ह कहुँ सुकृत सुजसु नहिं दोषू ।।
- 'मानस', अयो०, चौ० १, पृ० २४६.

२. वही, दो० १७५, पृ० २४७.

३. नृप पापपरायन धर्म नहीं । करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं ।।
- वही, उत्तरकांड, पृ० १७४.

४. जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।
- वही, अयो०, चौ० ३, पृ० १०६.

उत्तम राजा के धर्म का लक्षण कहलवाया है --

करेहु संवेहु भरत के बारे । नीति न तजिअ राजपद पाए ।।
पालेहु प्रजहिं करम मन बानी । सेएहु मातु सकल सम जानी ।।[१]

एक आदर्श राजा का गुणगान तुलसीदासजी ने 'कवितावली' के उत्तरकांड में किया है । राजा राम तो 'रूप-शीलसिंधु, गुनसिंधु, दीनों के बन्धु, दया के निधान, ज्ञानमणि और वचन और बाहुबल में शूर-वीर' हैं ।[२] राजा राम तो वीरों के शिरोमणि तथा महाराजाओं के महाराज हैं ।[३] वे परम सुजान, नीति-निपुण और धर्म-धुरन्धर हैं ।[४]

राजा को माली, सूर्य और किसान के समान नीति-निपुण होना चाहिए । राजा का एकमात्र धर्म है कि बाह्य शत्रुओं के आक्रमण से प्रजा की रक्षा करे । उसको सभी बातों में सबसे अगुवा होना चाहिए, जिस प्रकार खाने-पीने के लिए मुख काम करता है । इसका मतलब है राजा को विवेक के साथ प्रजा-पालन करना चाहिए ।[५] बिना सताये राजा को प्रजा से कर या अन्य संपत्ति वसूल करना चाहिए, जिससे उनके सौभाग्य का उदय होता है ।[६] राजा को साम, दाम, दण्ड, भेद का अनुकरण करना चाहिए । इससे प्रजा अपने हित के अनुसार जी सकती है ।[७]

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० २१५.

२. रूप सील सिंधु, गुनसिंधु, बंधु दीन को,
दया निधान, जानमनि, बीरबाहु बोल को ।
श्राद्ध कियो गीध को, सराहे फल सबरी के
सिला-साप-समन, निबाह्यो नेहु कोल को ।।
- कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १५, पृ० ११३.

३. वही, उत्तरकाण्ड, छन्द १६, पृ० ११३.

४. पालत राज यों राजा राम धरमधुरीन ।
सावधान, सुजान, सब दिन रहत नय-लयलीन ।। - गीतावली, उत्तर, पद २४, पृ० ४२८.

५. मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुं एक ।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक ।। - दोहा०, दोहा ५२२, पृ० १९

६. वही, दो० ५०८, पृ० १७४.

७. वही, दो० १७५.

तुलसीदास के समय राजा लोग कर्तव्य-पथ से च्युत और अनीति में लगे रहते थे। बुरा समय होने पर दुष्ट राजा के द्वारा प्रजा का नाश अवश्य होता था। उस समय राजा पापी होते थे और कठोर भी।[1] प्रजा उस राजा को आदर्श मानती है, जिसके हाथ में हाथ के गुण अर्थात् प्रजा की रक्षा करना और दान देना आदि हों, मन में मन के गुण अर्थात् प्रजा-वत्सलता और उदारता हो और वचन में वचन के गुण - मधुरता, सत्यता, हितवाणी का कथन - हों। राजा राम में ये सब गुण विद्यमान थे।[2]

उपर्युक्त कथनों से यह ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी राजा के कर्तव्यों से सुपरिचित थे और राम के द्वारा उनका परिचय उन्होंने दिया है।

राजा-प्रजा का पारस्परिक संबंध

राजा-प्रजा का पारस्परिक संबंध ऐसा सुदृढ़ होना चाहिए जैसे माता-पिता तथा पुत्र का होता है। लेकिन मध्यकालीन भारत की स्थिति ऐसी नहीं थी। मुस्लिम शासकों के अत्याचार के कारण शासन का चक्र बिगड़ गया था। इसलिए राजा-प्रजा में कोई सम्बन्ध नहीं था। लोदी वंश के शासकों ने अपनी प्रजा को सुरक्षा देने का प्रयास किया था; परन्तु वह शासन बहुत दिन नहीं चल सका। मुगल बादशाहों के क्रूरतापूर्ण शासन के कारण प्रजा को कोई सुख नहीं मिलता था। 'भारतीय इतिहास का मध्य युग विलासिता, हत्या, षड्यंत्र, विश्वासघात और विरोधी-वीभत्स से भरा हुआ था। षड्यंत्रों का बुरा प्रभाव राजनीति पर भी पड़ा। मुगल-काल के अमीर दिल्ली-सुल्तान की तुलना में कहीं अधिक स्वामिभक्त और राज्य के शुभचिन्तक थे। इन अमीरों के कारण मुगल राज्य की उन्नति और पतन दोनों ही हुए। अब इनका चरित्र

---

१. काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल।
   पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल।। - दोहावली, दो० ५१५, पृ० १७७.

२. कर के कर मन के मनहिं बचन बचन गुन जानि।
   भूपहि भूलि न परिहरै विजय विभूति सयानि।। - वही, दो० ५१८, पृ० १७७.

भ्रष्ट हो गया तो राज्यकार्य की ओर शासक का ध्यान कम हुआ और प्रजाहित की बात दूर रही। मुगल-काल में बादशाह का एकमात्र उद्देश्य सुखी जीवन बिताना था। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह नियम सदा लागू होता है। मध्य काल की भी यही हालत थी। मुगल बादशाहों के काल में केवल बादशाह अकबर के समय कुछ चैन था। अकबर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से देखने का प्रयत्न किया था। उसके बाद के बादशाहों ने नृशंसता का व्यवहार किया। इसलिए पुनः अन्याय तथा अत्याचार छा गया।

मध्यकाल के भक्त कवियों ने अपने समय की राजनीतिक दशा का अपनी आंखों देखा चित्रण किया है। राजा और प्रजा अपने मनमाने रास्ते पर चलते थे। इन भक्त कवियों ने इस स्थिति को दूर करने के लिए अपनी वाणी का सहारा लिया। उन्होंने जन-समाज को यह पाठ पढ़ाया कि राजा प्रजापालक और सद्गुण-संपन्न होना चाहिए। समाज के विकास और सुख एवं समृद्धि का जो मार्ग है उसका अवलंबन सभी लोग सच्चाई के साथ कर रहे हैं। राजा और प्रजा की इस सच्चाई और प्रेम भाव के कारण सभी की जो स्थिति है वही राजा का मुख्य आकर्षण है। वास्तव में राज्य प्रजा वर्ग की संपत्ति और स्वत्व है। वह एक धरोहर है जो राजा के सन्निकट सुरक्षा के भाव से धरी हुई रहती है। राजा केवल प्रबन्धक है। अयोग्य राजा अपने राज्य को आमोद-प्रमोद और विषय-सुख का साधन समझ लेते हैं। राजा को प्रजा के प्रति अहितकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। हमेशा उसकी भलाई के लिए काम करना, उसकी सुरक्षा करना उसका धर्म है। कबीर के अनुसार राज-दरबार की ओर स्वार्थी व्यक्ति इस प्रकार घूमते-फिरते-चक्कर काटते हैं जैसे हरियाई गाय डण्डा मारने पर भी बार-बार खेत पर ही जाती है।[१] संतों के समय राजा-प्रजा में सक्रिय सम्बन्ध नहीं था। प्रजा अपने कार्यों में व्यस्त रहती थी,

---

१. राज दुवारां यौं फिरैं, ज्यूं हरिहाई गाइ ।।
- कबीर ग्रंथावली, सा० ६, पृ० २०१.

उसे राज्य और राजा के बारे में कोई चिंता नहीं थी । कबीर के अनुसार इन अनचारों के राज्य में समझदार व्यक्ति (भक्त) का मरन है, क्योंकि व्यवस्था करने वालों को अपने पेट भरने से काम है ।[१] इसी प्रकार राजा-प्रजा में आपसी सम्बन्ध नहीं था । सामान्य मनुष्य को नित्य कुंआ खोद कर पानी पीना पड़ता था । प्रजा के दैनिक जीवन में उसे अपनी समस्त व्यवस्थाओं के लिए अपने सीमित साधनों से प्रयत्नशील होना पड़ता था । प्रजा के प्रति इस उपेक्षा के बारे में डा० स्टेनली लिखते हैं कि निःसंदेह देश में शहरों के जन-धन का बाहरी आक्रमणों या आन्तरिक विद्रोह से बचाने के लिए प्रबन्ध राज्य की ओर भले ही हो, किन्तु देश की साधारण जनता का अधिकांश भाग जो कृषक था, उसे बाहर का कुछ भी पता नहीं था — उसे तो नित अपना काम करने और पेट भरने से ही मतलब था ।[१अ]

राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध का अभिघोतन मध्ययुग के कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है । सूरदास कहते हैं कि राजा को प्रजा के प्रति किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं देना चाहिए ।[२] यही राजा का परम धर्म है । राजा कंस के समक्ष नन्द प्रजा के समान जाकर अपने कष्टों के निवारणार्थ 'गुहार' करते हैं ।[३] कृष्ण का स्वभाव नित्य प्रति गोपियों का दधि-घृत एवं मक्खन छीन लेने का था । इससे गोपियां केवल राजा के पास जाकर अपनी शिकायत ही नहीं करतीं, बल्कि 'कान्ह' को अपने 'हजूर' अर्थात् दरबार में बुलाने की इच्छा भी प्रकट करती हैं ।[४] सूरदास के समय राजा से भी प्रजा को भय था । इसीलिए गोकुल के लोग कंस के प्रति इतना भय मानते थे कि एक बार इन्द्र-पूजा पर विचार करने के लिए जब नन्द ने अपने अन्यान्य साथियों को बुलाया तो वे

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० ५१, २६, ७.
१अ. इण्डिया अण्डर होम रूल - डा० स्टेनली, पृ० २५२.
२. राज धरम तौ यहै सूर, जो प्रजा न जाहिं सताए ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६६२, पृ० १४४८.
३. वही, पद ५२८, पृ० ४४२.
४. जाइ सबै कंसहि गुहरावहु ।
दधि माखन घृत लेत छुड़ाए, आजु हजूर बुलावहु ।। - वही, पद १५१३, पृ० ७८

यह सोच कर कांप उठती हैं कि कहीं `कालीदह` के तीन करोड़ कमल पुष्पों की तरह कंस ने कोई और वस्तु तो नहीं मंगाई है।[1] गोपियां आपस में कहती हैं कि कृष्ण राजा हो गये हैं। अब शांत रहना है, हम तो हैं गरीब। इसका विचार मत करो क्योंकि कभी राजा से प्रजा का कोई सम्बन्ध नहीं है।[2] राजा और प्रजा के पार्थक्य के अभिव्यंजक रूप में सूरदास का यह कथन द्रष्टव्य है --

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर के, समाचार सब पाए।[3]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने वैदिक राजतंत्र की प्राचीन परंपरा को एक आदर्श राज्य का स्वरूप माना। तुलसीदास जी के समय की शासन-प्रणाली से प्रजा में असंतोष और अशांति प्रति दिन बढ़ती ही रहती थी। प्रजा की सुख-शांति के लिए राजनीति में दार्शनिकता का भी कुछ पुट होना चाहिए, साथ ही अमात्य और सचिवों में भी तितिक्षावृत्ति का होना अनिवार्य है। सुन्दर राजनीति में व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन सुसंबद्ध होना चाहिए। आदर्श जीवन राजनीति का प्रथम सोपान है। अनुचित कार्य के लिए प्रजा को रोकने का अधिकार राजनीति का मूलतत्व है। तुलसीदास इसी प्रकार की राजनीति चाहते थे।[4] मुगलों के शासन से पूर्ति प्रसरित शासन-व्यवस्था में उन्होंने प्रजा को खूब फटकारा और पीड़ित किया।

---

१. मनहीं मन सब सोच करत हैं, कंस नृपति कछु मांगि पठाए।
राज-अंस-धन जो कछु उनको, बिन मांगे हम सो दे आए।।
- वही, पद ८१५, पृ० ५५४.

२. मोहन माई। भये मथुरा-पति,
+ + + +
गोकुल-गांवके लोग गरीब हैं, वासु बराबर हीं हो उहां तो।।
बैठि रहो, समनेहु सुन्यो कहूं, राजन सों परजान को नातो।।
- देव-काव्य रत्नावली, पद १७०, पृ० १२६.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६६३, पृ० १४४७.

४. गोस्वामी तुलसीदासजी का सामाजिक आदर्श श्रीमती सुधारानी शुक्ल, पृ० ११७.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तत्कालीन राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन अपनी महान् कृतियों में कहीं-कहीं किया है। उन्होंने मुगल राज्य को सम्मुख रखकर रावण के राज्य का वर्णन किया है।[१] उस समय प्रजा मुस्लिम राजतंत्र के अन्तर्गत अत्यंत कष्टपूर्ण और असहाय जीवन बिताती थी। शासक वर्ग मानव से दानव हो गया था। इससे प्रजा का जीवन राजा रूपी राहु से अनेक प्रकार के कष्ट भेलता था। चारों ओर से अकर्मण्यता, अविवेक, अत्याचार, नृशंसता और अनीति की भीषणता हो रही थी। प्रजा का जीवन राजाओं की पाशविक वृत्ति के कारण तंग था। `मानस` में तुलसी ने इसका चित्रण इसप्रकार किया है —

> खलन्ह हृदय अति ताप बिसेसी। जरहिं सदा पर संपति देखी।।
> जहं कहुं निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई।।
> काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन।।
> बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों।।
> झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।
> बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा।।
>
> परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद।
> ते नर पावर पापमय, देह धरे मनुजाद।।[२]

तुलसीदासजी कहते हैं कि तत्कालीन शासक वर्ग प्रजा को अपना शत्रु और शोषण का साधन समझता था। दूसरों की सम्पत्ति को देखकर वे बिना आग के जलने लगते हैं।[३] तुलसी ने उन क्रूर, अशक्त राजाओं के बारे में `दोहावली`

---

१. राज करत बिनु काजहीं करहिं कुचालि कुसाज।
 तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज।।
 — दोहावली, दो० ४१६, पृ० १४३.

२. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, चौ० १-४, दो० ३६, पृ० ७४-७५.

३. पर सुख संपति देखि सुनि जरहिं जे जड़ बिनु आगि।
 तुलसी तिन के भागते चले भलाई भागि।।
 — दोहावली, दो० ३८८, पृ० १३२.

में कहा है कि जिन से प्रजा दुःखी थी ।[१] कलियुग में राजा-प्रजा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता; प्रेम के स्थान पर दण्ड, रक्षा के स्थान पर शिक्षा आदि का प्रयोग होता है ।[२]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तत्कालीन मुगल शासकों के कुटिल शासन से जनता को मुक्ति प्रदान करने के लिए राम-राज्य की कल्पना की और आदर्श राजा रामचन्द्रजी की शासन-प्रणाली की विशेषता की ओर संकेत किया । मध्यकाल की विषम परिस्थिति में जब राजनीति के आदर्श प्रायः लुप्त हो गये थे, तुलसीदासजी ने उनकी स्थापना की और लोगों का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया । उन्हें राम सदृश आदर्श राजा का प्रमाण भी मिल गया, जिनकी आदर्शपूर्ण राज्य-व्यवस्था के चित्रण के द्वारा वे अपने विचार जनता के सम्मुख रख सके । रामराज्य में प्रजा और राजा का पारस्परिक सम्बन्ध तुलसीदास जी की अमूल्य रचनाओं के द्वारा हम देख सकते हैं । राजा दशरथ और कुलगुरु वसिष्ठजी के बीच जब रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक की चर्चा हुई तो राजा दशरथ ने कहा कि रामजी सबके लिए वैसे ही प्यारे हैं जैसे हम प्यार करते हैं ।[३] रामराज्याभिषेक प्रसंग भी उल्लेखनीय है । संपूर्ण राज्य में और बाहर राज्य में तिलक की धूम मच रही थी । राजद्वार वाद्योपकरणों की ध्वनि से मुखरित थे, विशेष कर वीणा, बांसुरी और शंख की ध्वनि हो रही थी ! लेकिन, इस वक्त राजा दशरथ की स्थिति दयनीय थी । प्रजा को दर्शन देने में वे असमर्थ थे । राजा की इस विषम परिस्थिति में मंत्री सुमंत्र द्वारा प्रजा को वार्ता मिली कि रामचन्द्रजी को वनवास मिला है । इससे प्रजा में दुःख की लहर दौड़ गई । अयोध्यानगरी के सब नर-नारी विह्वल थे और वे कुटिल कैकेयी को करोड़ों गालियां देकर

---

१. राज करत बिनु काजहीं ठटहिं जे क्रूर कुठाट ।
तुलसी ते कुराज ज्यों जइहैं बारह बाट ।। - दोहावली, दो० ४१७, पृ० १४३.

२. गोंड़ गवांर नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल ।। - वही, दो० ५५६, पृ० १९१.

३. सबहि रामुप्रिय जेहि बिधि मोही । प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही ।।
- `मानस`, अयो०, दो० २, पृ० ७.

कोसने लगे ।[१]

राम, सीता और लक्ष्मण के वन-गमन का प्रसंग भी राजा-प्रजा के हृदयंगम सम्बन्ध का सूचक है । इन्हें देखकर प्रजा विकल हो जाती है, सभी के चेहरे उदास हो जाते हैं । वे तो हाथ मींच कर सिर पीटकर रोने लगे । उनके जाते समय राजद्वार पर बड़ी भीड़ हुई ।[२] वन-गमन के प्रसंग में अयोध्यावासियों को व्याकुल देखकर राम के मन में दया आयी । दु:ख के कारण वे कुछ भी कह नहीं सके । उन्होंने प्रजा को प्रेम के वश देखा ।[३]

राम, सीता और लक्ष्मण तीनों वनवास के बाद जब अयोध्या आये तो पुरवासी हर्षित हुए । उनके वियोग से उत्पन्न विपत्ति नष्ट हो गयी ।[४] राम-राज्य में प्रजा को सुख एवं शांति मिली । अल्प-मृत्यु और दुख-दारिद्र्य नहीं था । राग-द्वेष नाम मात्र को भी न था ।[५] राजा राम के सिंहासनारूढ़ होने पर तीनों लोकों में से शोक गायब हो गया । राम-राज्य के सुख का वर्णन सहस्र शेष भी नहीं कर सकते ।[६]

---

१. राजु करत येह दैव बिगोई । कीन्हेसि अस जस करै न कोई ।।
एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी । देहिं कुचालिहि कोटिक गारी ।।
- रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० ७६.

२. कर मींजहिं सिरु धुनि पछिताहीं । जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं ।।
भई बड़ि भीर भूप दरबारा । बरनि न जाइ बिषादु अपारा ।
- वही, वही, चौ० ३, पृ० ११४.

३. रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी । सदय हृदय दुखु भयउ बिसेषी ।।
करुनामय रघुनाथ गोसाईं । बेगि पाइअहिं पीर पराई ।।
- वही, वही, चौ० १, पृ० १२६.

४. प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी । जनित बियोग बिपति सब नासी ।।
प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ।।
- वही, उत्तर०, पृ० १६, चौ० २.

५. दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ।।
सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ।।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।
- वही, उत्तरकांड, चौ १, ३, पृ० ४७.

६. अवध पुरी बासिन्ह कर, सुख सम्पदा समाज ।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज ।। - वही, वही, दो०२६,
पृ० ५५.

प्रजा की अनुरक्ति ही राजा की सबसे बड़ी शक्ति है। वन-यात्रा के वक्त रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण से कहते हैं कि अगर तुम भी वन जाने को तैयार हो जाओगे तो प्रजा अत्यंत दु:खी होगी।[1] राम को वन-यात्रा की अनुमति देते समय माता कौशल्या भी प्रजा के दु:ख की बात की ओर संकेत करती है।[2] राम के हृदय में प्रजा के प्रति अगाध स्नेह था। राम के वन-गमन के बाद प्रजा का जीवन दु:खमय हो गया। वन-गमन-काल का वर्णन कवि ने सुन्दर ढंग से किया है।[3]

किसी भी घोर विपत्ति में प्रजा न राम को भूलती है और न राम प्रजा को। लंका-विजय के बाद जब रामचन्द्रजी अयोध्या वापस आये तो अयोध्यावासि की प्रसन्नता और उल्लास का ठिकाना नहीं था।[4] वापस आने के बाद रामजी छोटे-बड़े सभी से गले मिले। उन्होंने शोक संतप्त दुखिनी प्रजा के लिए सुशासन की स्थापना की।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजा राम को आदर्श राजा के रूप में चित्रित किया है। उनकी शासन प्रणाली की विशेषता बता कर उन्होंने कहा कि राजा का परम धर्म प्रजा-परिपालन ही है। आदर्श राज्य में जनता सभी प्रकार से सुखी रहती है। आदर्श राजा के सामने ऊँच-नीच की भावना नहीं रहती।

---

१. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० २, ३, पृ० १०६.

२. बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई।।
- 'मानस', अयो०, चौ० ३, पृ० १०२.

३. वही, अयो०, पृ० १२४-१२८.

४. समाचार पुरबासिन्ह पाए। नर अरु नारि हरषि सब धाए।।
दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल मूला।।
भरि भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी।।
+ + + +
आवत देखि लोग सब, कृपासिन्धु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरउ, उतरेउ भूमि बिमान।।
- वही, उत्तरकांड, पृ० १०-११.

रामचन्द्रजी ऐसे राजा थे जिनके राज्य में प्रत्येक व्यक्ति समान था। गोस्वामी जी ने इसका चित्रण इस प्रकार किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहुं एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विबेक ॥[१]

गोस्वामीजी के राम-राज्य में साम, दाम, दण्ड और भेद का पूर्ण सामंजस्य था। प्रजा के अनुरंजन के लिए रामचन्द्रजी हमेशा आदर्श नीति के साथ काम करते थे। मर्यादापुरुषोत्तम राजा राम प्रजा के अहित की कोई बात नहीं करते थे। प्रजा के हित के लिए ही उन्होंने अपनी धर्मपत्नी सीताजी का परित्याग कर दिया था। इससे ज्ञात होता है कि राजा राम कभी प्रजा के विरुद्ध नहीं गये। उनमें सर्वत्र साम्य-भावना थी। इस साम्य-भावना के कारण ही राजा-प्रजा में पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता है। प्रजा की सभी प्रकार की उन्नति का श्रेय राजा को प्राप्त होता है। प्रजा स्वयं अपने लिए ऐसे राजा की कल्पना करती है जो उसकी नीति के अनुसार चलता है। आदर्श राजा के राज्य में उसकी उदार नीति के कारण प्रजा सुखी होती है। राजा राम के राज्य को देखा इसके लिए उत्तम उदाहरण है।[२] इस प्रकार तुलसी ने राम को आदर्श राजा के रूप में चित्रित किया है। इसमें वे सफल भी सिद्ध हुए।

शासन-व्यवस्था

शासन का सन्देश राजा या समिति द्वारा दिया जाता है। राजा का शासन-व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण स्थान है; लेकिन केवल राजा ही राज्य का शासन नहीं चला सकता। वह मंत्री तथा अन्य अधिकारियों की सहायता से ही शासन चलाता है। अतः राज्य-शासन में मंत्रियों की मंत्रणा मुख्य कार्य है। प्रत्येक कार्य में राजा उनसे मत लेता है। राजा की सहायता तो ये

---

१. दोहावली, दो० ५२२, पृ० १७६.
२. 'मानस', उत्तरकाण्ड, पृ० ४७-४६.

वे ही अमात्य बन सकते हैं जो नीतिप्रिय, आचारवान् और सत्य के पुजारी होते हैं। ये अमात्य पहले युवराज, अभिजात, कुलीन, सभ्य, पुरोहित, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल (राजप्रासाद का रक्षक), प्रदेष्टा (न्यायाधीश), धर्माध्यक्ष (न्यायका अधिकारी), दंडपाल (फौजदारी अथवा पुलिस का अफसर) नगराध्यक्ष कार्यनिर्माणकृत (विविध सार्वजनिक कार्यों अथवा इमारतों का प्रबन्धक और निर्माता), कारागाराधिकारी (जेलों का अफसर), दुर्गपाल (किलों का रक्षक) आदि नामों से अभिहित होते थे।

भारत में अनेक मुसलमान राजवंश शासक के रूप में आये। ये शासक स्वेच्छाचारी थे और हिन्दू-धर्म विरोधी। उन्होंने हिन्दू जनता पर अत्याचार किये। इसलिए जनता को उनकी शासन-प्रणाली बुरी लगी। 'सुल्तान' दिल्ली सल्तनत के प्रधान का नाम था। वही सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। दिल्ली के प्रमुख सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक ने 'कुरान' के नियमों की अवहेलना करके निरंकुश नीति से शासन किया था। 'कुरान' के अनुसार शासन किया जाय, तो कोई शक्ति-संपन्न सेना नहीं रख सकता। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उन शासकों की शक्ति सैनिक बल पर निर्भर रहती थी और वे कुरान के नियमों का पालन नहीं करते थे। राज्य के केन्द्रीय शासन की सुविधा के लिए अनेकों केन्द्रीय पदाधिकारी होते थे। इनमें प्रमुख नायब, वजीर, आरिज-ए-मुमालिक, दीवान-ए-इंशा, दीवान-ए-रसालत, सद्र-उस-सुदूर, काजी-उल-कुजात, मजलिस-ए-खलवत, बरीद-ए-मुमालिक और शाही प्रबन्धक थे।

मुगलों की शासन-पद्धति पूर्ण विकसित थी। अरब और फारस की शासन प्रणाली से वह प्रभावित थी। मुगल बादशाहों की सैनिक शासन प्रणाली थी, जिससे उसका समाज की नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति से बहुत कम सम्बन्ध था। राज्य-सत्ता न बीमारियों को रोक सकती थी, न कर्मचारियों की घूसखोरी को रोक सकती थी, न कृषकों की दशा को सुधार सकती थी, न मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों में फैले व्यभिचारों को रोक सकती थी; बस उसका काम तो राजा-महाराजाओं को परास्त करना ही था। ऐसी दशा में शासन और जनता का पारस्परिक संपर्क कुछ भी नहीं था।..... यह स्वतंत्रीय सत्ता

थी, जिसका सूत्र व्यक्ति विशेष के हाथों में रहता था ।[१] इसके प्रत्येक कर्मचारी का नाम फौजली फहरिस्त में अंकित है । उसे कोई न कोई मनसब दिया जाता था, जिसके अनुसार वह कुछ निर्दिष्ट सिपाहियों का नाम मात्र का अधिनायक बना दिया जाता था और उसके आधार पर उसके वेतन और पद की श्रेष्ठता का मूल्य आंका जाता था । आधुनिक युग की भाँति उस समय न्याय संपूर्ण व्यवस्था नहीं थी । जनता को रंचमात्र का भी स्थानीय अधिकार नहीं था । निस्संदेह देश के धनी जन को बाहरी आक्रमणों या आन्तरिक विद्रोह से बचाने का प्रबंध राज्य की ओर से था, किन्तु देशवासियों का अधिकांश भाग, जो कृषक था, अपनी रक्षा स्वयं करता था ।

मुगल सम्राटों में अकबर के शासन-काल में तो जनता को एक प्रकार से शांति और सुख-सुविधा मिली हुई थी । प्रांतीय शासन में सूबेदारों की शक्ति को नियंत्रित करने के लिए पूरा प्रयत्न किया गया था, किन्तु अधिक दूरी और आवागमन के अच्छे साधनों के न होने के कारण तथा युद्धों की अधिकता के कारण सूबेदारों को पूर्ण रूप से वश में रखने में तथा प्रांतीय सरकार का यथेष्ट नियंत्रण रखने में सफलता नहीं मिलती थी । घूसखोरी का बाजार गर्म था - जिसमें अत्याचारों का प्रतिकार नहीं हो पाता था और बहुधा न्याय का गला घोंटा जाता था ।

अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में शासन-व्यवस्था में जो शिथिलता आ गई थी उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न औरंगजेब ने किया । औरंगजेब कठोर, किन्तु योग्य शासक था । फिर भी, प्रांतीय शासन-व्यवस्था अत्यंत अस्त-व्यस्त थी; क्योंकि वह २५ वर्ष से अधिक उत्तरी भारत से अनुपस्थित रहा और दक्षिण में निरंतर लड़ाई लड़ता रहा । अनेक प्रांतों में स्थानीय सरदार और जमींदार कानून और आज्ञाओं की अवहेलना करने लगे थे । इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार कमजोर पड़ गयी । इस कमजोरी का कारण यह था कि औरंगजेब एक तो सदा लड़ाई में लगा रहा

---

१. तुलसी-साहित्य और सिद्धांत यज्ञदत्त शर्मा, पृ० ३२.

और दूसरे उसने मूर्खतापूर्ण असहिष्णुता की नीति अपना रखी थी । इस प्रकार मुगलों का शासन जन-विरुद्ध शासन था । संक्षेप में कहें तो मुगलों का शासन मुख्यतया सैनिक-शासन था । अतएव उसे केन्द्रीय एकतंत्रात्मक शासन प्रणाली कह सकते हैं । इसमें राजा का वही स्थान था जो धनाढ्य नागरिक का होता है । वह प्रजा के प्रति किसी प्रकार का नैतिक बन्धन नहीं मानता था और स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि मुगल शासन सामाजिक उन्नति के प्रश्न समाज के ऊपर छोड़ कर उससे विमुख रहता था । शासन का लक्ष्य नितांत संकीर्ण और भौतिक था ।[१]

संकीर्णता की इस विकट परिस्थिति में भक्तिकाल के महान कवियों का उदय हुआ । वे तो इस प्रशासन से मुक्त थे और उनका एक मात्र उद्देश्य जनता को सुख प्रदान करना था । इसलिए उन्होंने जनता को भक्ति का संदेश दिया । उनकी अमूल्य रचनाओं में तत्कालीन कुटिल शासन-प्रणाली की झलक है । मध्ययुग की निरंकुश राज्य-सत्ता का प्रधान आधार सम्राट या बादशाह ही था, परन्तु वह शासन व्यवस्था की दृष्टि से अपनी शक्ति को मंत्रियों, सचिवों, वजीरों तथा दीवानों में विकेन्द्रित करता रहा है । प्राचीन (मध्य युग तक) हिन्दू सम्राट मंत्रिपरिषदों के माध्यम से राज्य व्यवस्था संचालित करते थे । इनकी सम्मिलित शक्ति राज्य को निरंकुश होने से भी एक सीमा तक बचाती थी । संतों के काल में मुसलमान बादशाहों की इस प्रकार की मंत्रि-परिषदें तो नहीं थीं, किन्तु राजकीय व्यवस्था की दृष्टि से वे अपने नियुक्त कर्मचारियों से सहायता लेते थे ।[२] संतों के काल में राजकर्ता विलासी जीवन को अधिक प्रधानता दे चुके थे ।[३] कबीर ने मालिक, छत्रपति और राजा का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है ।[४]

---

१. मुगल एडमिनिस्ट्रेशन : यदुनाथ सरकार, पृ० ५.
२. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि : डा० ओमप्रकाश शर्मा, पृ० ८८.
३. इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़ै बिछोह ।
   राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ । -क०ग्रं०,सा० ६, पृ० १६२.
४. तंत न जानूं मंत न जानूं, जानूं सुन्दर काया ।
   मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया ।।
   - वही, पद १२२, पृ० ४०८.

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में मध्यकालीन शासन-व्यवस्था का उल्लेख है। जायसी ने मुगल बादशाह शेरशाह की शासन प्रणाली की विस्तृत विवेचना 'पद्मावत' में की है।[१] उसी प्रकार राजा गंधर्वसेन के राज्य में जब रत्नसेन और उसकी प्रजा जोगी वेष धारण करके आये तब उन्होंने (गंधर्वसेन ने) इनकी जांच करने की आज्ञा दी। राजा गंधर्वसेन ने अपनी प्रसिद्धि के बारे में यह सुनाया कि –

मै जन्यां को भांट अभाऊ। बाएं हाथ देइ बरम्हाऊ।
को जोगी अस नगरी मोरी। जो दै सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी।
इन्द्र डरै निति नावै माथा। जिरहुन डरै सेस जेहं नाथा।
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू।
धरती डरै औ मंदर मेरू। चंद्र सूर औ गंगन कुबेरू।
मेघ डरहिं बिजुरी जेहं डीठी। कुरुम डरै धरनी जेहि पीठी।
चहौं तो सब मांगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा।[२]

जायसी ने 'पद्मावत' में यह उल्लेख किया है कि चित्तौड़ अनधिकारी व्यक्तियों का राज्य हो गया है। एक को मार कर एक राज्य का अधिकार चाहता है।[३]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'दोहावली' और 'विनयपत्रिका' में तत्कालीन दुष्ट, स्वार्थी, क्रूर, नृशंस राजाओं की कलुषित शासन-व्यवस्था की ओर संकेत किया है। उन नरेशों के शिथिल और

---

१. जायसीकृत पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३.
२. वही, पृ० ३०२.
३. राज काज औ मुई उपाराहीं। सतुरु भाइ अस कोइ हित नाहीं।
आपनि आपनी करहिं सो लीका। एकहिं मारि एक चह टीका।
भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चांद चलावहु आजू।
राज हमार जहां चलि आवा। लिखि पठाएन्हि अब होइ परावा।
उहां नियर ढीली सुल्तानू। होइहि भोर उठिहि जौं भानू।
- वही, पृ० ४६०.

क्रूर शासन से सारे देश पर बड़ा आघात पड़ा था। जहाँ प्रेम के स्थान पर ईर्ष्या और कलह, ऐक्य के स्थान पर फूट, न्याय के स्थान पर अन्याय एवं आचार के स्थान पर दुराचार होता है, वहां समाज और राष्ट्र क्षत-विक्षत हो जाता है - उसकी सामाजिकता और राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है।[१] तुलसीदास ने राजा दशरथ की शासन प्रणाली प्राचीन वैदिक राजतांत्रिक व्यवस्था का प्रतिस्वरूप माना है और तत्कालीन क्रूर नरेशों की शासन पद्धति की तुलना दुष्ट रावण के राज्य से की है। राजा दशरथ का आदर्श राज्य था। राज्य परिषद्, सभासद और मंत्री राजा की सराहना प्रत्येक बात पर करते थे। हिन्दू संविधान का यह एक कानून और नियम था कि राजा सचिव मंडल के सहयोग और स्वीकृति के बिना कार्य नहीं कर सकता था। स्मृति सूत्र विधि पुस्तक और राजनीतिक प्रबंध सभी इस सम्बन्ध में एकमत हैं। मनु उस नरेश को मूर्ख कहते हैं जो स्वयं शासनकर्ता के कार्य करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसे नरेश को अयोग्य मानते हैं।[२] कौटिल्य भी, जो राजतंत्र का सबसे बड़ा पोषक है, कहता है कि राजा राज्य संबंधी विषयों पर मंत्रिगण से विचार करे और बहुमत जिस पक्ष में हो वही कार्य करे।[३]

तुलसीदासजी ने 'मानस' में राजनीति और राज्य शासन की व्यवस्था का जीता जागता वर्णन किया है। प्राचीन राज्य-व्यवस्था और संघ-व्यवस्था का प्रत्यक्ष स्वरूप 'मानस' में मिलता है। तुलसीदासजी ने राजसभा, पंच,

---

१. तुलसी : जीवनी और विचारधारा - डा० राजाराम रस्तोगी, पृ० २४२.

२. सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत बुद्धिना।
   न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च।
   शुचिना सत्य संधेन यथाशास्त्रानु सारिणा।
   प्रणेतुं शक्यतो दण्ड: सुसहायेन धीमता।।
   - मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक सं० ३०-३१.

३. आत्यायिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रि परिषदं चाहूय ब्रूयात।
   तत्र यद् भूयिष्ठा कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात्।।
   - अर्थशास्त्र, कौटिल्य अध्याय १, अधिकरण १५.

युवराज पद, राजतिलक तथा मंत्रिपरिषद् आदि का उल्लेख किया है। वृद्धावस्था होने पर राजा दशरथ के मन में बड़े पुत्र राम को युवराज बनाने की इच्छा प्रकट होती है। वे अपने कुलगुरु वसिष्ठजी के पास जाकर अपने प्रिय पुत्र की योग्यता की प्रशंसा करते हैं। इसके उपरांत वे [redacted] पंचों की सभा बुलाते हैं।[1]

वैदिक काल की प्रथाओं के अनुसार राजा के प्रत्येक कार्य में सलाह देने के लिए मंत्री रहते थे। राजा दशरथ के कई मंत्री थे। दशरथ और मंत्रियों का सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध था। रामचन्द्रजी के राज्यतिलक का प्रसंग देखिए -

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरवं परेउ जनु पानी।।[2]

राजा का परम बल मंत्री होता है। जब रामचन्द्रजी को राज्य सुख या भोग त्याग कर वन-गमन करना पड़ा, तब राजा दशरथ का एकमात्र सहारा मंत्री सुमंत्र था। ऐसा कहा जाता है कि डूबते हुए को तिनके का सहारा महान सहारा है। राजा दशरथ के लिए मंत्री सुमंत्र सखा है, उपदेशक है और प्रेम का पात्र है।[3]

राजनीति अथवा शासन-व्यवस्था के चार चरण हैं — साम, दाम, दण्ड और भेद। लेकिन राजा रावण के राज्य में ये गुण देखने तक नहीं मिलते थे। वह तो नीति का उपेक्षक और घोर नृशंसक था। रावण जब सीताजी का अपहरण करके लंका की ओर [redacted] चला तब रास्ते में सीताजी को मालूम हुआ कि

---

१. जौं पंचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका।।
- रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० १०.

२. वही, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० १०.

३. भूप सुमंत्रु लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई।।
सहित सनेह निकट बैठारी। पूँछत राउ नयन भरि बारी।।
- वही, अयो०, चौ० १, पृ० २११.

राजा रावण ने साम, दाम, दण्ड और भेद दिखाया है ।[१] तुलसीदासजी विधर्मी राजाओं की अनीति और नृशंसता के विरोधी थे । तत्कालीन मुस्लिम शासन का यथार्थ चित्रण रावण-राज्य में मिलता है । इन शासकों की सामंतवादी मनोवृत्ति एवं कुत्सित नीति के फलस्वरूप प्रजा का जीवन तापग्रस्त और दु:खपूर्ण बना हुआ था । इसके फलस्वरूप तुलसीदासजी ने रामराज्य की कल्पना की ।[२] राजा राम के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् तीनों लोकों में शोक नहीं रहा । लोग सुख और शांति के साथ रहने लगे ।[३] तुलसीदास ने 'दोहावली' में भी राक्षसराज रावण के शासन का वर्णन करके कुशासन का परिचय दिया है ।[४] लेकिन इसके विरुद्ध राम के राज्य में प्रेम की रीति अपनी सीमा तक पहुंच चुकी थी ।[५]

तुलसीदासजी ने राजराजेश्वरों में सर्वश्रेष्ठ रामचन्द्रजी की महानता का प्रकीर्तन करते हुए उनके राज्य-शासन की और उत्कृष्टता प्रकट की है । वे तो कलियुग में सब की मनोकामना को पूर्ण करने वाले थे । राक्षसों का निग्रहण करके समाज के सघन अंधकार को दूर कर दिया । 'विनयपत्रिका' में इसका वर्णन तुलसी ने यों किया है --

> जयति राज-राजेन्द्र राजीवलोचन,
>
> राम नाम, कलि-कामतरु, साम साली ।
>
> अनय-अंभोधि-कुम्भज, निसाचर-निकर-
>
> तिमिर-घनघोर-खर-किरनमाली ।।[६]

---

१. बहुबिधि खल सीतहिं समुझावा । साम दाम भय भेद दिखावा ।।
कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी । मंदोदरी आदि सब रानी ।।
- रामचरितमानस, सुन्दरकांड, चौ० २, पृ० ८५.

२. रामराज बैठे त्रैलोका । हरषित भए गए सब सोका ।। - वही, उत्तर०, चौ० ४, पृ०

३. अवधपुरी बासिन्ह कर, सुख संपदा समाज ।
सहस सेष नहि कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज ।। - वही, वही, दो० २६, पृ०

४. दोहावली, दो० ४१६, पृ० १४३.

५. कोपें सोच न पोच कर करिअ निहोर न काज ।
तुलसी परमिति प्रीति की रीति राम कें राज ।। - वही, दो० १८६, पृ० ६६

६. विनयपत्रिका, पद ४४, पृ० १४३.

उस समय संसार में छल-कपट, अन्याय, अत्याचार, अनाचार आदि बुरी वासनाएं राजाओं पर छाती रहती थीं। 'मानस' और 'दोहावली' के अतिरिक्त तुलसी ने 'विनयपत्रिका'[1] और 'कवितावली'[2] में भी इसका उल्लेख किया है।

इस प्रकार तुलसी ने अपनी रचनाओं में रामराज्य की अर्थव्यवस्था, शिक्षा और नीति व्यवस्था तथा शासन-व्यवस्था का स्वरूप दिखाया है। गोस्वामीजी ने सुख-संपन्न राज्य की जो कल्पना की थी, उसकी रूपरेखा के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत स्पष्ट संकेत 'मानस' में किये हैं। इसी कारण आज भी रामराज्य हमारा आदर्श बना हुआ है।[3] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदासजी ने शासन प्रणाली को हमेशा के लिए दूर कर दिया और आदर्श शासन-व्यवस्था को जन-समाज के समक्ष रखा।

सरकार की नियम-व्यवस्था

राजा के बाद शासन-व्यवस्था में दूसरा स्थान मंत्री का है। बड़े-बड़े सम्राटों के अनेक छोटे-छोटे सामंत्र राजा होते थे। उन्हें महाराज या महासामंत कहते थे। प्रांतीय शासकों के पास लिखित आज्ञाएं आती थीं। आज्ञा देने वाले, आज्ञावाहक, आज्ञापालक आदि कई कर्मचारियों के सहारे नियम-व्यवस्था चलती थी। भारत में मुस्लिम शासन के समय अनेक प्रकार के नये कानून और नियम बने। जनता कानून के विरुद्ध नहीं जा सकती थी। कानून के विरुद्ध जाने वालों को न्यायाधीश दण्ड देता था। प्रधान न्यायाधीश, जो 'सद्रेजहां' कहलाता था 'काजी' की उपाधि से विभूषित होता था और सभी मसलों का फैसला करता था। मुफ्ति कानून की व्याख्या करने वाला एक पदाधिकारी

---

१. विनयपत्रिका, पद २५८, पृ० ४८७.

२. कवितावली, उत्तरकांड, पद १२, पृ० ११०.

३. गोस्वामी तुलसीदासजी का सामाजिक आदर्श — श्रीमती सुधारानी शुक्ल, पृ० १३१.

होता था ।[१] मध्यकालीन भारत में सुल्तान के बाद दूसरा उच्च स्थान मंत्री का होता था । वे अमीर होते थे और सुल्तान को शासन-कार्य में मदद करते थे । उनका अधिकार या पद उनकी संतान को दिया नहीं जाता था । लिखित नियमों के अनुसार मुकदमा चलता था । उच्च न्याय का अधिकारी शासक था । मुगल बादशाहों के कई नियम साधारण जनता के लिए भारस्वरूप थे ।

सरकार की नियम व्यवस्था का यथार्थ चित्रण तत्कालीन कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है । नियम-व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय-व्यवस्था का स्थान अत्यंत श्रेष्ठ है । न्याय का अर्थ है अदल । संतों के काव्य में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है । `अदल` शब्द का मूल रूप अरबी में मिलता है । इसका अर्थ है न्याय या इन्साफ । इसका एक और अर्थ भी है — संगतियुक्त अथवा तर्कयुक्त । इस `अदल` शब्द से `अदालत` की उत्पत्ति हुई । अदालत का अर्थ है `न्यायालय`, जहां न्याय किया जाय । `अकबरनामा` में अदल शब्द का प्रयोग शासन के व्यापक अर्थ में हुआ है । यद्यपि टोडरमल की जगह राय रामदास दीवान मुकर्रर कर दिये गये थे, मगर अदल बदस्तूर राजा टोडरमल के हाथ ही रहा ।[२] मुस्लिम काल की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय-व्यवस्था आती है । इसलिए शासक ही न्याय के परमाधिकारी थे । अनेक बार न्याय, शासन और राजस्व अर्थात् दीवानी के अधिकार और व्यवस्था भी सम्मिलित रूप से शासनाधिकारियों के हाथ में रहते आये हैं ।

संतों ने `अदल` शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में शासनाधिकार के अर्थ में किया है । उनका कथन है कि स्वामी की अदल (आथोरिटी) स्थापित होने पर सब कोई सुखी होगा, क्योंकि तुम्हारा अमल तेजोमय है ।.... ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे अधिकार को सुनकर आतंकित होते हैं । तीनों लोकों में तुम्हारी आन की दुहाई फिर गयी है और तुम्हारी साहिबी (सॉवरनीटी) में जीव (प्रजा) दुःख नहीं पाती ।[३] यहां सत्ता के पूर्ण अधिकार प्रजा पर निदिष्ट हैं।

---

१. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास एस.आर.शर्मा, पृ० २०७.
२. अकबरनामा - अबुल फज़ल, पृ० ५६.
३. धर्मदास की बानी, भाग १, पद २०, पृ० ८.

संतों के समय अदालत या न्यायालय शासन-व्यवस्था के साथ ही मिला-जुला था । कबीर कहते हैं कि जीवन रूपी अदल के समाप्त होने पर राजा यम के दूत को अपना लेखा-जोखा देता है । इसमें जीते रहते समय क्या-क्या खाया, क्या गंवाया इसका हिसाब देने के लिए दीवान (धर्मराज) ने बुलाया है । वहां अवश्य जाना पड़ता है । हरि (बादशाह) के दरबार का फ़रमान आया है । तुरंत ही दीवान के सम्मुख जाना है । अब कोई प्रार्थना या निवेदन करना है तो उसकी तैयारी करना है । इस रात को सर्व की पूर्ण व्यवस्था करना है, क्योंकि बड़े सुबह ही दीवान के सम्मुख उपस्थित होना है ।[१] यहां कबीर ने दीवान को राज्याधिकारी के अन्तर्गत भी माना है, क्योंकि मनुष्य के हिसाब-किताब का अंतिम लेनदार दीवान माना जाता है । धर्मदास ने कचहरी और अदालत का रूपक एक साथ प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार संतों का ज्ञान कचहरी में सुरति की जंजीर (न्याय की जंजीर) है और श्वेत ध्वजा (न्याय के प्रतीक के रूप में) फहराती है । वहां सहना और सिपाही भी प्रस्तुत है और खजाना भी । संतोष और ज्ञान के आधार पर विवेकपूर्ण दीवान (न्यायाधीश) आसीन है और वह काम-क्रोध को दूर कर, प्रपंचों से बचकर लोभ, मोह से बचकर क्या, शांति के आधार पर न्याय की व्यवस्था चलाता है ।[२] यहां धर्मदास ने शासन-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था को एक साथ स्वीकार किया है । यहां उनकी कचहरी न्यायालय है ।

मुस्लिम शासन के काल में बादशाह स्वयं न्याय के सर्वोच्च अधिकारी थे । दीवान या वज़ीर बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में न्याय के मुख्य अधिकारी थे । संतों ने दीवान के सम्मुख फरियाद के रूप में उपस्थित होने की कल्पना की ।[३] सार्वजनिक न्यायालयों में साधारणत: न्यायाधिकारी, सूबेदार, स्थानीय पदाधिकारी, फौजदार और कोतवाल होते थे । वास्तव में ये सभी राज्य के

---

१. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद ३, पृ० १४६.
२. धर्मदास की बानी, पद १०, पृ० ६५.
३. कुरी दिवांन दादि न लिहागें, इक बांधे इक मारे हो रांम ।।
                          - कबीर ग्रंथावली, पद २२२, पृ० ४६.

अधिकारी थे । इसका कारण एक तो यह है कि इस काल में न्याय का प्रमुख अधिकारी काजी होता था, जो मुख्यत: मुसलमानी धार्मिक कानून के अनुसार व्यवस्था देता था और मुगल सम्राटों में सार्वजनिक न्याय को धर्म से अपेक्षाकृत मुक्त करने की दृष्टि से यह कार्य काजी के अधीन नहीं रखा गया था । काजी को न्याय का अधिकारी माना गया है । कबीर ने काजी को धार्मिक शास्त्रज्ञ मानकर फटकारा है ।[१] मुस्लिम धार्मिक नियम (कुरान) के अनुसार काजी न्याय करता था । अत: संतों ने काजी को भी न्यायाधीश के रूप में चित्रित किया है । सूरदास ने भी काजी को न्याय करने वाले के रूप में देखा है ।[२]

जायसी ने 'पद्मावत' में न्यायालय और न्यायकर्त्ताओं के बारे में बताया है । बादशाह शेरशाह के न्याय का वर्णन करते हुए जायसी ने कहा है —

अदल कहौं जस प्रिथिमी होई । चाँटहि चलत न दुखवइ कोई ।
नौसेरवाँ जो आदिल कहा । साहि अदल सरि सोउ न अहा ।
अदल कीन्ह उम्मर की नाईं । भइ अहान सिगरी दुनियाईं ।
परी नाथ कोइ छुआइ न पारा । मारग मानुस सोन उछारा ।
गउव सिंघ रेंगहिं एक बाटा । दूअउ पानि पियहिं एक घाटा ।
नीर खीर छानइ दरबारा । दूध पानि सो करइ निरारा ।
धरम निआउ चलइ सत भाखा । दूबर बारिअ दुनहुं सम राखा ।[३]

तुलसीदासजी के समय या सरकार की नियम-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी, क्योंकि शासक वर्ग स्वेच्छाचारी हो गये थे । इस स्वेच्छाचारिता खण्डन करके तुलसी ने नयी व्यवस्था की स्थापना की । सरकार के विभिन्न नियम और उनकी व्यवस्थाओं का विश्लेषण भी उन्होंने किया है । सभा

---

१. काजी तैं कवन कतेब बखानी । - संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ८, पृ० ६८.

२. सूर मिलि मन जाहि जाहि सौं ताकौ कहा करै काजी ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१४८, पृ० १२४०.

३. पद्मावत : व्याख्या - श्री वा.श.अग्रवाल, पृ० १५-१६.

और समिति नामक दो संस्थाएं राजनीतिक जीवन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थीं । प्रजा भी उचित समय पर इन सभा-समितियों में सम्मिलित होती थी । एक अन्य प्रकार की सारी प्रजा की सभा आकस्मिक राजनीतिक परिस्थितियों में बिना बुलाये ही अपना मत व्यक्त करने के लिए आ जुटती थी । ऐसी प्रजा की सभाओं का जातक-साहित्य तथा रामायण और महाभारत में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है । उन सभाओं का स्वरूप सार्वजनिक होता था ।

राजा को योग्यतम कुलगुरु एवं मंत्री का सहयोग होना चाहिए । उसको लोक और वेद में अगाध श्रद्धा होनी चाहिए । राम के राज्याभिषेक में राजा दशरथ कुलगुरु वसिष्ठ को बुला लेते हैं और इसके बाद प्रजा और लोक की अपनी राय प्रकट कर देते हैं । इसीलिए राजा दशरथ राम के राज्याभिषेक के वक्त पंचायत या जनमत की राय जानने की इच्छा प्रकट करते हैं ।[1] राजा नीति में कोई वैयक्तिक अनुराग प्राय: नहीं आने देते । कैकेयी के प्रति राजा दशरथ का विशेष अनुराग था । इससे राम के राज्याभिषेक का भंग हुआ ।[2]

राजा लोग विशेष अवसर पर सभा बुलाते हैं, जिससे जनता की राय ज्ञात हो सके । भरतजी ने अपने भ्रातृ-प्रेम और भ्रातृ-वियोग- के कारण अयोध्या के सभी प्रजाजनों सहित चित्रकूट पहुंचने का निश्चय किया । चित्रकूट में तीन सभाएं हुईं । ये सभाएं रघुपति को बहुविधि समझाने के उद्देश्य से की गई थीं । इसी प्रकार राजा के आज्ञानुसार भरतजी ने बारात के चले जाने के पहले सब विभागों के अध्यक्षों को बुलाया । तुलसी के समय में किसी विशेष अवसर पर सभी को बातें समझाने की सुविधा थी ।[3]

---

१. जौं पांचहि मत लागइ नीका । करहु हरषि हियं रामहिं टीका ।।
मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी । अभिमत बिरवं परेउ जनु पानी ।।
- मानस, अयो०, दो० २, पृ० १०.

२. लोभु न रामहिं राजु कर, बहुत भरत पर प्रीति ।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउं नृपनीति ।।
- वही, दो० ३१, पृ० ५२.

३. वही, बालकांड, दो०२, पृ० ४६५.

राज्य की संकटावस्था या आपत्ति के समय सभा या समिति को बुलाना तो एक सामान्य बात थी। वानर-सेना के द्वारा लंका की दुर्दशा देखकर राक्षस राजा रावण ने तीन सभाएं बुलायी थीं। लंकादाह के बाद राजकाज बन्द हो गया। इसके उपरांत जब यह खबर मिली कि रामचन्द्रजी की सारी सेना समुद्र के उस पार आ गई है, तब इस विपत्ति को झेलने के उद्देश्य से राजा रावण ने सभा बुलायी।[१] राजा रावण ने तीन बार सभा बुलायी थी। दूसरी सभा तभी हुई जब मंत्रियों को यह बात ज्ञात हुई कि उनकी पराजय तो ज़रूर होने वाली है।[२] तीसरी सभा में रावण ने मंत्रियों से कहा कि अनेक वीर मारे गये और दल आधी सेना की मृत्यु वानरों के द्वारा हुई। इसलिए जल्दी यह विचार करना चाहिए कि अब क्या करना है ?[३] गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामराज्य की नियम-व्यवस्था के बारे में रामाज्ञाप्रश्न[४] और विनयपत्रिका[५] में बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुगीन भक्त-कवियों ने अपनी रचनाओं में सरकार की नियम-व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया है।

अधिकारीगण :

प्रशासन में अधिकारी या कर्मचारियों का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। राजा के पश्चात् शासन के सभी कार्यों में उनका स्थान है। वे राजा के साथ राजधानी में रहते हैं। केन्द्रीय शासन का अधिकार उनके अधीन रहता है। राजा का प्रमुख कार्य राज्य का संचालन करना है; लेकिन शासन के बारे में वह मंत्री-परिषद् से सलाह लेता है। जो व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों में कुशल हो उनको

---

१. बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई ॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू ॥
— तुलसीकृत 'रामचरितमानस', सुन्दरकांड, चौ० ४, पृ० ७३६

२. वही, लंकाकाण्ड, चौ० ४-५, पृ० ९६५

३. उहाँ दसानन सचिव हँकारे। सब सन कहेसि सुभट जे मारे ॥
आधा कटकु कपिन्ह संघारा। कहहु बेगि का करिअ बिचारा ॥ — वही, चौ० २, पृ० ७७१

४. रामाज्ञाप्रश्न, सर्ग ६, सप्तक ६, दो० २, पृ० १३६

५. विनयपत्रिका, पद ४४, पृ० १४३

चाहिए कि वे राजा के प्रिय एवं हितैषी व्यक्तियों के द्वारा, सत्कुलीन, बुद्धिमान एवं योग्य अमात्यों से सम्पन्न राजा का आश्रय प्राप्त करें। यदि ऐसा राजा न मिले तो योग्य व्यक्तियों की तलाश करने वाले आत्मसम्पन्न राजा का आश्रय ग्रहण करें।[1] इसलिए समझदार राजकर्मचारी को चाहिए कि सर्वप्रथम अपनी रक्षा के बारे में सोचे, क्योंकि राज्याश्रित व्यक्तियों की स्थिति आग में खेल करने से बढ़कर खतरनाक कही गयी है। क्योंकि अग्नि तो शरीर के एक अंग या पूरे शरीर को ही जलाती है, किन्तु राजा समस्त परिवार को भस्म कर सकता है; यदि अनुकूल हो गया तो सर्व सम्पन्न भी कर देता है।[2] इस प्रकार राजा को निरंकुश होने से रोकने[3] तथा शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्यान्य राज-कर्मचारियों की नियुक्ति प्राचीन काल से ही होती आयी है। ऐसे कर्मचारियों में मंत्री का पद प्रमुख माना जाता है। मनु के विचारानुसार राजा को अपने मुख्यमंत्री से अवश्य परामर्श करना चाहिए।[4]

भक्ति काल के महान् कवियों का उदय मुगल बादशाहों की शक्ति संपन्नता के समय हुआ था। मुगल बादशाह सुख-समृद्धि का जीवन बिताते थे। राज्य की भलाई की ओर उनकी रुचि न होकर सौन्दर्यानुभूति की ओर मुड़ गयी। शासक स्वेच्छाचारी थे। इसलिए साम्राज्य के कर्मचारियों के लिए वह सुदिन था। उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार राज-काज संभाला। इससे साम्राज्य की गरिमा, ऐश्वर्य, समृद्धि - सब नष्ट होने लगा। इन अधिकारियों और कर्मचारियों को जनता ने हीन दृष्टि से देखा।

लेकिन अकबर के काल में जनता को कुछ शांति मिली। अकबर ने भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं को कर्मचारी के पद पर नियुक्त किया। अकबर के ७० प्रतिशत उच्च पदाधिकारी विदेशी थे, जो प्राय: मध्य एशिया से नौकरी करने

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र   वाचस्पति गैरोला, पृ० ३१५.
२. वही, पृ० ३१७.
३. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति   डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ११६.
४. मनुस्मृति, ७।५८.

आये थे और उनमें से कुछ वहां पर एक या दो पीढ़ियों से बसे हुए थे। उनमें से बहुत से बाबर और हुमायूं के साथ आये थे और उन्होंने शाही वंश से संबंध स्थापित कर लिया था। अकबर ने हिन्दुओं के लिए भी ऊंची नौकरियां प्राप्त करने की सुविधाएं रखी थीं।[१] अकबर ने सोचा कि प्रत्येक अधिकारी के लिए सेना रखने की आवश्यकता है, क्योंकि जरूरत पड़ने पर सेना को तैयार करना उनका कर्तव्य है। अकबर ने इस प्रकार की सुविधाएं की थीं तो भी मुगल कालीन शासन भारतीय जनता के लिए कष्टदायक था। उनके अधिकारी तो अत्याचारी, दुर्गुणसम्पन्न और कर्तव्यरहित थे।

भक्तिकालीन संत कवियों ने तत्कालीन कर्मचारियों की कठोरता और राजाज्ञा का उल्लंघन करने की विस्तृत विवेचना की है। इतिहासकार इस विषय में सहमत हैं कि इन युगों में दण्ड-विधान कल्पनातीत कठोर था। सच्चाई प्रकट करने के लिए कठोर यातनाएं देना सर्वाधिक सरल उपाय समझा जाता था। चोरी, व्यभिचार एवं द्रोह के लिए मौत की सजा, अंग-प्रत्यंग को काटने की सजा दी जाती थी। कभी-कभी हाथी या सिंह जैसे पशुओं के सामने फिकवा दिया जाता था। कर्मचारी लोग किसानों के प्रति अन्याय करते थे। कर या लगान वसूल करते समय किसानों पर घोर अत्याचार करते थे। लगान वसूल करने वाले कर्मचारी बेचारे किसानों को निचोड़ डालते थे। कृषकों की प्रधान आवश्यकताओं की उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था। लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरों की भांति इन दीनों को नोचते-खसोटते थे। कितने ही अन्यायपूर्ण कर लगाये जाते थे, जिन्हें देते-देते वे परेशान रहते थे। राज्य-कर्मचारी प्रजा पर सदा दुर्व्यवहार करते थे। जब शासक निरंकुशता के साथ अनीतिपूर्ण शासन करते, तो उनके अधिकारियों के बारे में तो क्या कहना? उनके अधिकारी तो अपेक्षाकृत क्रूर तथा लूटने-खसोटने वाले होते थे। संतों ने काजी और कोतवाल की क्रूरता का उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार गीध मांस के लिए लालायित होता है, उसी प्रकार कोतवाल को धन-संपत्ति दुराशा रहती है। ऐसी स्थिति में नगर या नगरवालों की रक्षा कैसे

---

१. मुगलकालीन भारत डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० २५५.

हो सकती है।[१] इसका तात्पर्य यह है कि अगर वह दौत्रपाल अन्याय या दुराचार करता है तो उसका प्रभाव नगर की जनता पर भी पड़ता है। संत वाणियों से हमें यह ज्ञात होता है कि शासन की व्यवस्था तो राजा करते थे, फिर भी उनके अधीन में दीवान, सूबेदार, मनसबदार, जागीरदार और पुलिस के अधिकारी थे। वे ही सीधी प्रजा से संबंध रखते थे। दीवान का पद मंत्री का जैसा है। राज्य में अफसर राजा के बाद सर्वोपरि उच्च स्थान दीवान का है। कबीरदासजी ने दीवान को ही बादशाह के नीचे अंतिम फरियाद सुननेवाला स्वीकार किया है।[२] दीवान सूबेदार के समकक्ष था। उसकी गणना एक सिविल अधिकारी के रूप में थी। दीवान ही राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी था। मुगल शासकों के पास कोई स्थायी मंत्री परिषद् नहीं थी, किन्तु दूसरे अधिकारी किसी भी अर्थ में उसके सहयोगी न थे। वे निश्चित रूप से उससे निम्न श्रेणी के थे और मंत्री कहलाने की अपेक्षा सचिव कहलाते थे, क्योंकि राजाज्ञा प्राय: दीवान के द्वारा ही उन लोगों के पास पहुंचती थी। व्यावहारिक रूप में दीवान-ए-खास-ए-बख्शी, प्रधान काजी, खानसामा तथा प्रधान सेनापति भी वजीर के साथ बैठते थे। परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों के लिए दीवान ही होता था। दीवान के बारे में संतों का भी यही मत था।

राज्य के सुख-सुविधा और शांति का उत्तरदायी दीवान ही था। वही राज्य का रक्षक होता था। वह राज्य का संचालक, आय का प्रबंधकर्ता, सेना के सर्व रखवाली करने वाला आदि सभी काम करता था। सिकन्दर लोदी के समय सुल्तान का दीवान सब की जीविका के साधन का प्रबन्ध करता था, सभी को इनाम प्रदान करता था और इसी के द्वारा सारे खर्चों तथा सेना की तनख्वाह का भुगतान होता था।[३]

---

१. जो अस करै नगर कौतवालिया, मांसु पसारि गीध रखवारिया ।।
- कबीर बीजक, पृ० २७०.

२. कबीर ग्रंथावली, पद २२२, पृ० ४७०.

३. तुगलक कालीन भारत डा० अब्बास रिजवी, भाग १, पृ० १०६.

इसके अतिरिक्त दीवान धन-संपत्ति या वित्त विभाग एवं राजस्व का भी प्रमुख अधिकारी होता था। वह राज्य के आय-व्यय की संपूर्ण व्यवस्था करता था। लेकिन मुसलमान शासकों के समय इसके अधिकारों की सीमाएं भी थीं। संभवत: सर्वप्रथम अकबर ने ही शासन-व्यवस्था की सामान्य सीमा से दीवानी अर्थात् माल की व्यवस्था को अलग किया था। उसके समय राजा टोडरमल ने दीवानी की व्यवस्था का समुचित सुधार किया था, परन्तु बाद में दीवानी का कार्य रामदास को सौंपा गया और शासन-व्यवस्था का दायित्व राजा टोडरमल के पास ही रहा।[1] प्रधान दीवान के अन्तर्गत सूबों के दीवान आते थे।

सूबेदार सूबे का अधिकारी होता था। मध्य युग में शासन व्यवस्था की सुविधा के लिए राज्य को सूबों में विभाजित किया गया था। सूबेदार बादशाह की शासन-व्यवस्था का सहायक था और सैनिकों का प्रतिनिधित्व करता था। सूबेदार अपने क्षेत्र में बादशाह के समान ही शक्तिशाली होता था और बादशाह अपने विश्वास-पात्र सेनापतियों को ही प्राय: यह अधिकार प्रदान करता था। कभी-कभी अपने विश्वास-पात्र राजाओं अथवा अन्य अधिकारि (वज़ीर आदि) को भी इस पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। मुगल काल में महत्वपूर्ण सूबों की सूबेदारी का दायित्व राजकुमारों को दिया जाता था। अपनी शक्ति और स्वतंत्र सीमाओं के कारण ये सूबेदार जनता की दृष्टि में बादशाह के समान ही सत्ता के प्रतीक और वैभव-विलास के भोक्ता थे।[2] तुलसीदास अपने समय के सूबेदार के जीवन के आधार पर अपना रूपक प्रस्तुत करते हैं — सूबेदार जरबफ्त के तम्बू के नीचे मसनद पर बैठा। पंखा चंवर और मुरछल फला जा रहा था। दरबार में वाद्ययंत्र बजते थे और सुन्दर नर्तकी नाचती थीं। उसके सम्मुख चांदनी के प्रकाश के समान रोशनी फैली हुई थी। एक सेविका चोवा, चमेली और बेला के इत्र लिये खड़ी थी और दूसरी प्याले में सुस्वादु कन्द का शर्बत प्रस्तुत करती थी। इस प्रकार इस सूबेदार की तावेदारी में

---

१. अकबरनामा अबुल फज़ल, पृ० २१, ५६.

२. संत-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि डा० ओमप्रकाश शर्मा, पृ० ६०.

हिन्दू-मुसलमान सभी प्रस्तुत थे ।[1] उपर्युक्त कथन से सूबेदार के शासनाधिकार का संकेत मिलता है ।

संत काव्यों में राज्य व्यवस्था की दो पद्धतियाँ — सैनिक दृष्टि से मनसबदारी व्यवस्था और राजस्व वसूल करने की दृष्टि से जागीरदारी व्यवस्था — का संकेत और मिलता है । इसके अलावा नागरिक जीवन की शांति और सुरक्षा के लिए राज्य में पुलिस के अधिकारी नियुक्त थे । संत-साहित्य में कोतवाल का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है । कबीर के अनुसार नगरों की व्यवस्था का, विशेष कर सुख-शांति का दायित्व कोतवाल पर निर्भर रहता था ।[2] कबीर ने कोतवाल का उल्लेख प्रत्येक नगर के क्षेत्रपाल के रूप में किया है । उस पर नागरिक व्यवस्था का भी दायित्व था । अफसरों से कबीर कहते हैं कि राजा, तालुकेदार एवं अन्य छत्रपति सब मृत्यु के बाद जलकर भस्म हो जाते हैं, इसलिए अन्याय के स्थान पर ईश्वर का नाम स्मरण करना ही आवश्यक है ।[3]

तुलसीदास ने अपने समय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अन्यायपूर्ण व्यवहार का उल्लेख अपनी रचनाओं में विस्तार के साथ किया है । तुलसी के अनुसार उस समय मंत्री और कर्मचारी लोग छली और अत्याचारी थे । मुगल शासन प्रणाली के कारण धन-संपत्ति का एकमात्र अधिकारी मुसलमान हो गये । हिन्दू जनता तो जीवन हथेली पर रखकर जीवन गुजारती थी । अफसर लोग चारों ओर से उन्हें नुकसान पहुँचाते थे । राजा तो राज्य मंत्री के हाथ में सौंप कर सुख और आराम से जीवन बिताते थे । अगर मंत्री सुयोग्य नहीं होते तो देश में सुख और शांति नाम के लिए भी नहीं रहती ।[4] तुलसीदासजी सेवक के

---

१. दूलनदास की बानी, पृ० २२.

२. बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी-नगरी क्षेत्रपाल ।
- कबीर ग्रंथावली, पद ३४०, पृ० ५४०.

३. राजा राणां राव छत्रपति, जरि भये भस्म कौ कूरौ रे । - वही, पद८५, पृ० ७८

४. रैंकत राज समाज घर तन धन धरम सुबाहु ।
सांत सुसचिवन सौंपि सुख बिलसहि नितनरनाहु ।।
- दोहावली, दो० ५२१, पृ० १७८.

गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सेवक को हाथ, पैर और नेत्रों के समान होना चाहिए। उसी समय मालिक को चाहिए कि वह मुख के समान रहे। तुलसी के रामराज्य में कर्मचारी नीति से काम करने वाले और धर्म में विश्वास रखने वाले थे।[1] उसी प्रकार राजा पेट है, मंत्री जीभ है और अन्य कर्मचारी दांत हैं। जिस प्रकार दांत भोजन को पीस कर, जीभ उसका स्वाद लेकर उसे पेट में पहुंचा देते हैं; उसी प्रकार मंत्री और अन्य कर्मचारी राजा के लिए सब करते हैं और इसके बदले में राजा सब का पोषण करता है।[2] काशी के कोतवाल के रूप में कालभैरव का वर्णन करते हुए तुलसी ने उसका विचित्र परिचय दिया है।

> काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल।
> पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल ॥[3]

आतंककारी राजा के नौकर तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अत्याचारी होते हैं। तुलसी ने मुगल बादशाह और उनके कर्मचारियों की संकेत करते हुए कहते हैं –

> त्रिबिध एक बिधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट।
> सूधे टेढ़े सम विषम सब मंह बारहबाट ॥[4]

आजकल तो भीड़-भाड़ एवं उत्सव त्यौहारों के समय जो कोलाहल होता है उसे शांत करने के लिए पुलिस नियुक्त होती है। पहले बन्धु-बान्धव ही पुलिस का यह काम करते थे। सीता-स्वयंवर के समय भीड़-भाड़ हो गयी। यह देखकर राजा जनक ने जल्दी ही स्वजनों को बुलाकर सबको यथास्थान उचित आसन दिलाया

---

१. सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ ॥
- दोहावली, दो० ५२३, पृ० १७९.

२. रसना मंत्री दसन जन तोष पोष निज काज।
प्रभु कर सेन पदादिका बालक राज समाज। - वही, दो० ५२५, पृ० १८०.

३. वही, दो० ५१५, पृ० १७७.

४. वही, दो० ५००, पृ० १७२.

राजा जनक के आदर्श और सफलतापूर्ण व्यवस्था का उल्लेख तुलसी ने अपने 'मानस' में किया है ।[1] इसके साथ ही साथ तुलसी ने मुगल बादशाहों और उनके कर्मचारियों की ओर संकेत किया है । बादशाह अकबर तो कृपालु शासक था, परन्तु उसके अधिकारी और कर्मचारी छली, दगाबाज और क्रूर थे, जिसके कारण उसके शासन-काल पर धब्बा लगा ।[2] राज-समाज अर्थात् राजा के अधिकारी लोग नित्य नयी कल्पना कर अनेक प्रकार के पाप करते रहते थे ।[3]

तुलसीदास की रचनाओं में 'साहिब' शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है । उन्होंने राम की शक्तिरूपिणी सीता को 'साहिबिनी' की संज्ञा प्रदान की है ।[4] उन्होंने रासरसिक भगवान कृष्ण के लिए भी 'साहिब' शब्द का प्रयोग किया है ।[5] उन्होंने 'वैराग्यसंदीपनी' में अंतर्यामी ब्रह्म के लिए भी 'साहिब' शब्द का प्रयोग किया है ।[6] 'साहब' की लोक-मान्यता इतनी बढ़ी कि श्रेष्ठ व्यक्तियों के साथ यह शब्द जोड़ा जाने लगा, जैसे दरिया साहब, तुलसी साहब आदि । यहाँ तक कि सिक्खों का धर्म-ग्रंथ (आदि ग्रंथ) 'ग्रंथ साहब' के नाम से विख्यात हुआ । इसी तरह अनेक फारसी-अरबी शब्द उस समय के कवियों ने प्रयुक्त किये । युग धर्म से प्रभावित तुलसी, कबीर आदि ने तत्कालीन

---

१. देखी जनक भीर भै भारी । सुचि सेवक सब लिये हँकारी ।।
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ।।
- 'मानस', बालकांड, चौ० ४, पृ० ४०७.

२. कोई कहै, करत कुसाज, दगाबाज बड़ो;
कोऊ कहै, राम को गुलामु खरो खूब है ।
साधु जानैं महासाधु, खलें जानैं महाखल ।
बानी झूठी-साँची कोटि उठति हबूब ।।
- कवितावली, उत्तर०, पद १०८, पृ० १७०.

३. विनयपत्रिका, पद १३६, पृ० ११८.

४. मेरी साहिबिनी सदा सिर पर बिलसति
देबि क्यों न दास को देखाइयत पाय जू ।। -वही,वही,पद १३६,पृ० ११०

५. तउ न होत कान्ह को सो मन, साँवे साहिबहि सोहै ।
- श्रीकृष्णगीतावली, पद ३५, पृ० ४६.

६. तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं ।
- वैराग्य संदीपनी, पद २५ पृ० १२.

मुसलमान बादशाहों की सरकारी भाषा के लोक प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का बहुश: प्रयोग किया है ।

राजा और अन्य कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में भी भक्त कवियों ने कुछ लिखा है । तुलसीदास ने व्यक्त रूप में कहा है —

> नृप हित कारक सचिव सयाना । नाम धरम रुचि सुक्र समाना ।।
> सचिव समान बंधु बलबीरा । आपु प्रताप पुंज रनधीरा ।।[1]

राम और पर मंत्री सुमंत्र का प्रेम राजा-सा ही है । वे राम के राज्याभिषेक भंग होने पर शोक से विकल हो जाते हैं । वन-गमन की बात सुनकर वे और भी बेहाल हो जाते हैं ।[2]

अष्टछाप के प्रमुख प्रवर्तक सूरदास ने मंत्री को `उजीर` कहा है ।[3] उनके अनुसार मंत्री का मुख्य कर्तव्य प्रजा का कल्याण करना था ।[4] परमानन्ददास ने कृष्ण को दीवान कहा है, जिसके कर और राजस्व विभिन्न विभाग थे ।[5] परमानन्ददास ने प्रजा पर अन्य लोगों के विविध अत्याचारों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से यही लिखा है कि कर उगाहने वालों ने गोपी से `हरजा` में आंचल खोलने को कहा था ।[6] सूरदास के समय राज्य परगनों में विभक्त किया गया था और प्रत्येक परगने का अधिकारी `सिकदार` कहलाता था ।[7] डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने परगना को मुगलकालीन शासन की निम्नतम प्रशासकीय और वित्तीय

---

१. `मानस`, बालकांड, चौ० १, पृ० २७२.
२. वही, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० ६२.
३. पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ धर्म-सुधन लुट्यौ ।
   -सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद ६५, पृ० २२.
४. गुरु बसिष्ठ अरु मिलि सुमंत सौं, परजा-हेतु बिचारै ।
   - वही, नवम स्कंध, पद ५४, पृ० २०४.
५. सांचौ दिवान है री कमल नयन । - परमानन्दसागर, पद ८८०, पृ० ३०६.
६. आंचर खोलि दे हरजा कौं जन `परमानंद` गायौ ।।
   - वही, पद ४२६, पृ० १४४.
७. ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू, ताकी करत नन्हाई ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३२९, पृ० १७७.

इकाई माना है तथा उसके चार अधिकारियों में 'शिकदार' को प्रमुख माना है।[१] उस समय कोतवाल या पुलिस की नियुक्ति भी हुई थी। अकबर के समय नगरों में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए कोतवाल की नियुक्ति की जाती थी। आइने-अकबरी में कोतवालों का चोरों को पकड़ना, तौल और माप के उपकरणों को नियंत्रित रखना, रात के समय बाजारों और गलियों में पहरे का प्रबन्ध करना, किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने से रोकना आदि बहुत से महत्वपूर्ण कर्तव्य बतलाये गये हैं।[२] इसके अतिरिक्त राज्य में दूती[३], दूत[४], हरकारा[५], अन्याय परिवारक[६] आदि का उल्लेख भी मिलता है। राजा के दरबार में द्वारपाल होता था, जो नवागन्तुकों के आगमन की सूचना देता था। द्वारपाल ने ही सर्वप्रथम सुदामा के आगमन की सूचना कृष्ण को दी थी।[७] उस समय राजा को न्याय करने में सहायता देने के लिए पंच भी

---

१. मुगलकालीन भारत डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० २२५.

२. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ४६३-४

३. नन्ददास ग्रंथावली, पद १३३, पृ० ३१८.

४. कंस बुलाए दूत इक लीन्हों।
  - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५२३, पृ० ४४१.

५. देव-काव्य-रत्नावली, पद २४.

६. जाके छत्र अकास सिंघासन बसुधा अम्बर सहस अठासी।
  - परमानन्दसागर, पद ८८०, पृ० ३०६.

७. (क) चल्यौ गयौ तहं विप्र छिप्र-गति कितहुं न अटक्यौ।
  प्रभु जान द्रुतम्य, पौरिया पायनि लटक्यौ।
  - नन्ददास ग्रंथावली, दो० ४४, पृ० १७८.

 (ख) द्वारपाल चलि तहं गयौ जहां कृष्ण यदुराय।
  - कविता कौमुदी (भाग १), पृ० १४६.

हुआ करते थे ।[1] सूरदास ने न्यायमंत्री के तौर पर 'काजी' को चित्रित किया है ।[2] सूर एवं परमानन्ददास ने गुप्त रूप में चोरों को पकड़ने वाले कर्मचारियों और शत्रुओं को समझने के लिए नियुक्त आसूसों की स्थिति पर प्रकाश डाला है ।[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस समय राजा के अधीन अनेक कर्मचारी हुआ करते थे, जो प्रत्येक अलग-अलग कार्य के लिए नियुक्त किये जाते थे ।

कर या लगान

एक राज्य की आय कई प्रकार की होती है । अधिकांश आय भूमि कर से होती थी । भूमि से जो उपज मिलती है उसके छठे से लेकर दसवें भाग तक कर के रूप में लिया जाता था । किसान यह कर उपज के रूप में अदा करते थे ।

मुस्लिम शासकों के आविर्भाव काल में अधिकांश भू भाग हिन्दू सरदारों के हाथ में था । अधिकांश भू भाग अपने अधीन में रखने के कारण उन्हें बादशाहों को निश्चित रकम देनी पड़ती थी । अगर वे ठीक समय पर रकम अदा न कर पाते थे तो उन्हें जुर्माना देना पड़ता था । मुगल बादशाहों ने भूमि-कर को सबसे अधिक लाभदायक और महत्वपूर्ण समझा । तीर्थ यात्रा पर कर वसूल करने की प्रथा हुमायूं और बाबर ने शुरू की थी । इतना ही नहीं वे हिन्दुओं और मुसलमानों से जजिया और ज़कात नामक कर भी वसूल करते थे । लेकिन अकबर बादशाह के समय इस सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन हुआ । उसने जजिया और तीर्थयात्रा कर को बंद कर दिया । किन्तु औरंगजेब, जो अत्याचारी बादशाह था, उसने

---

१. अधिप न कर अपराधहु साति ।
पुरुष महते सब हमर सजाति । - विद्यापति पदावली, पृ० ४५४.

२. सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१४८, पृ० १२४०.

३. तब लगि मदन गोपाल देखन कौ जासूस गयो ।।
- परमानन्दसागर, पद ५६२, पृ० १६७.

फिर से इन करों को लगा दिया। मुगलों के इस अनीतिपूर्ण कर-वसूल करने के कारण राज्य में असामाजिकता का प्रभाव हुआ। उनके शासन के समय में जनता को इसीलिए जीवित रहना पड़ा कि मरने पर भी उन्हें कर देना पड़ता था। प्राणों का भी कर उन्हें देना पड़ता था। उसको जज़िया कहते हैं। सुल्तान अलाउद्दीन के दरबार में रहने वाले काज़ी मुगीसुद्दीन सरीखे धर्मनिष्ठ व्यक्ति को भी यह व्यवस्था स्वाभाविक और उचित जंचती थी। हिन्दुओं से ज्यादा से ज्यादा कर वसूल किया जाता था। यवन शासकों ने भी हिन्दू जनता पर `जज़िया` कर लगाया। इसके अतिरिक्त पाल टैक्स भी लागू कर दिया। जज़िया कर का आधा भाग राजकोष में जाता था। घरों और पशुओं तक पर टैक्स लगा देने का नियम था। हिन्दुओं को इतना दबा दिया गया था कि वे न घोड़ा रख सकते थे, न अच्छे वस्त्र पहिन सकते थे और न किसी प्रकार के विलास की वस्तुएं ही इस्तेमाल कर सकते थे। उनके घरों में सोने-चांदी का नामोनिशान तक न रह गया था। निर्धनता के कारण उनकी बहू-बेटियां मुसलमानों के घरों मे काम करके आजीविका कमाती थीं।[१] लगान वसूल करने वाले कर्मचारी बेचारे किसानों को निचोड़ डालते थे। कृषकों की प्रधान आवश्यकताओं की उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था। लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरों की भांति इन दीनों को नोचते-खसोटते थे। कितने ही अन्यायपूर्ण कर लगाये जाते थे, जिन्हें देते देते वे परेशान रहते थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ठीक प्रकार से कर वसूल करने के तीन प्रकार के नियम हैं — बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य। राजा को चाहिए कि वह देश, जाति तथा आचार के अनुसार नये एवं पुराने हर पदार्थ पर कर की व्यवस्था करे और उनमें जहां से नुकसान की संभावना हो उसके लिए उचित दण्ड-व्यवस्था भी करे

---

१. मुगलकालीन भारत पी.डी.गुप्ता, पृ० ५०६.
२. कौटिल्य का अर्थशास्त्र वाचस्पति गैरोला, पृ० १४१.

इसी प्रकार द्वारपाल को चाहिए कि वह नगर के प्रधान द्वार से प्रविष्ट होने वाली वस्तुओं पर उनके नियत कर का पांचवां हिस्सा टैक्स वसूल करे। हर प्रकार का कर इस ढंग से नियत करना चाहिए, जिससे देश का उपकार हो। जिन प्रदेशों में जो चीजें पैदा होती हैं उनको वहीं नहीं बेचना चाहिए।[1]

भक्तिकालीन काव्यों में भी कर या लगान की व्यवस्था का कहीं-कहीं वर्णन प्राप्त होता है। संत काव्यों में लौकिक जीवन के निरपेक्ष और परोक्ष सत्ता की रूपरेखा मिलती है। संत काव्यों का सम्बन्ध तो वाणिज्य और खेती-बाड़ी से नहीं रहा है, तो भी उनके काव्य में लौकिक जीवन का गहरा सम्बन्ध है। इसलिए सामाजिक विषयों का भी आनुषंगिक विवरण उनमें मिल जाता है। संतों ने संपूर्ण राजस्व को मुख्यतया दो रूपों में उल्लिखित किया है। पहला कर वह था जो दण्ड के रूप में लिया जाता था। करों में भी पहला वाणिज्य-व्यवसाय का कर है, जो अनेक वस्तुओं के आयात-निर्यात पर लगाया जाता था। संत कबीर ने स्पष्ट कहा है कि व्यवसाय के नाम पर कैसे अधिक कर वसूल किया जाता था —

तीनि जगाती करत रारि।
चलो बनजारा हाथ झारि॥[2]

संतों के समय अनाज, नमक, चीनी, मिश्री और अन्य खाद्य पदार्थों पर कर वसूल किया जाता था, जिसे लोग लोक-जीवन के दण्ड के रूप में समझते थे। इतना ही नहीं कि भू-भाग के लिए बहुत बड़ा अंश लगान के रूप में देना पड़ता था। लौकिक जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होने के कारण संतों ने भूमि कर अथवा लगान की अधिकता पर विरोध प्रकट किया। अनेक रूपकों में लगान वसूल करने का सांगोपांग चित्रण आया है और उससे सम्बद्ध अधिकारियों की अनीति का भी वर्णन किया है। कबीर ने कहा है कि इस प्रकार कर वसूल करना अन्याय है। लेखा मांगने पर भारी रकम निकलती है और किसानों को इससे अंत में गांव छोड़कर

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र वाचस्पति गैरोला, पृ०१४१.
२. संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद ६, पृ० २३६.

अन्यत्र जाना पड़ता है, जिससे उन्हें शांति मिल जाय ।[१] किसान मुख्यत: खेती करने वाला था, चौधरी गांव का मुखिया था तथा कभी-कभी परगना या गढ़ मुवासियों के हाथ में था जो लगान के देनदार थे । मुकद्दम भी गांव का मुखिया था जो गांव की ओर से लगान की अदायगी का उत्तरदायी था । लगान वसूल करने वाले गांव से सम्बद्ध अधिकारियों में पटवारी, आमिल और कानूनगो थे, जो किसी न किसी प्रकार कठोरतापूर्वक लगान वसूल करते थे । बख्शी भी लगान और कर से सम्बद्ध अधिकारी होता था । वस्तुत: वसूली में सहायता करने वाले कर्मचारियों में सिपाही और कारिन्दा भी हुआ करते थे । नायक (तहसीलदार) अपेक्षाकृत उच्चाधिकारी होता था, जो लगान वसूली का दायित्व वहन करता था - संभवत: इसलिए वसूली हो जाने पर इसका श्रेय उसी को प्राप्त होता था । कबीरदासजी ने गांव में किसान को पटवारी की नीति से डसा हुआ कहा है । कायस्थ पटवारी अपना हिस्सा नहीं छोड़ता ।[२] कबीर ने यह भी व्यक्त किया है कि पटवारी लगान वसूल करने वाले कर्मचारी के सामने कृषक अपने बैल प्रस्तुत करते हैं । लेकिन वह तो घूस को लेकर न्याय करके उसे मुक्त करने का स्वांग भरता है ।[३] उस समय पटवारी को कपटी, अहंकारी, झूठ बोलने वाला माना जाता था समाज में कर्मचारी के रूप में उसका आतंक था । सूरदासजी ने भी पटवारी को

---

१. संपति देखि न हरषियै, बिपति देखि न रोइ ।
   ज्यूं संपति त्यूं बिपति है, करता करै सु होइ ।।
   सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास ।
   हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद १२१, पृ० ४०७.

२. अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं,
   तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम ।। टेक ।।
   नगर एक तहां जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानां ।
   नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इंद्री कह्या न मानैं हो राम ।।
   गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।।
   - वही, पद २२२, पृ० ४६.

३. कागदकार कारकुन आगे बैल करै पटवारी ।
   कहहि कबीर सुनहु हो संतो ऐसे न्याव निनेरा ।।
   - ~~कबीर~~ बीजक, पद ६, पृ० १२२.

अहंकारी, कपटी के रूप में चित्रित किया है ।[१] लगान वसूल करने वालों में सिकदार का भी महत्वपूर्ण स्थान था ।[२]

गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं में तत्कालीन राजाओं के अनीतिपूर्ण कर-ग्रहण या लगान वसूली की ओर संकेत कई स्थानों पर है । उन्होंने राजाओं को यह उपदेश दिया है कि वे प्रजा के समक्ष न्याययुक्त व्यवहार करें और उन्हें जीवन-सुख प्रदान करें । प्रजा के लिए राजा सर्वस्व है । वे तो उन्हें मुख की भाँति हैं । इसका अर्थ यह है कि कर,पद और नयन के समान वे प्रजा के सेवक हैं और उन्हें मुख के समान प्रजा का पालन-पोषण करना है ।[३] डा० शिवकुमार शुक्ल ने तुलसी के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि राजा का एकमात्र यही धर्म है कि वह अपने राज्य के समस्त अंगों का ठीक उसी प्रकार उचित रूप से पालन-पोषण करता रहे जिस प्रकार मुख अन्न आदि के रस से शारीरिक अंगों को पुष्ट बनाता है ।[४]

राजा को प्रजा से कैसा कर ग्रहण करना चाहिए ? इसके संबंध में 'दोहावली' में सूर्य को प्रतीक रूप में रखकर तुलसी ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है । सूर्य जब ताप और जल प्रदान करता है तो किसी को यह पता नहीं होता कि यह जल कहाँ से बरसता है । पानी बरसने से पृथ्वी उपजाऊ होती है । इसी प्रकार प्रजा को बिना उपद्रव पहुँचाये राजा को उससे लगान और कर ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् राजा को प्रजा से व्यवस्थित रूप में कर वसूल करना चाहिए,जिससे दोनों की भलाई हो ।[५] राजा को प्रजा की अनुमति से दूध, मक्खन, भोजन,

---

१. अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही ।
- सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १८५, पृ० ६०.

२. बकत-बकत तोसौं पचिहारी, नेकुहुँ लाज न आई ।
व्रज-परगन-सिकदार महर, तू, ताकी करत नन्हाई ।
- वही, दशम स्कंध, पद ३२९, पृ० ३००.

३. दोहावली, दो ५२२, पृ० १७९.

४. रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन : डा० शिवकुमार शुक्ल, पृ० ४१७.

५. बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होइ ।।
- दोहावली, दो ५०८, पृ० १७४.

फल आदि का कर अनुकूल उपायों से ग्रहण करना चाहिए ।[1] वही राजा उत्तम है जो प्रजा से फसल काटते समय कर वसूल करता है, जिससे किसान आसानी से कर दे सके । दुर्भिक्ष या अराजकता पड़ने पर कर वसूल करने वाला स्वार्थी और नीच राजा है ।[2] राजा को कर उगाते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पेड़ से फल पूर्ण रूप से पक जाने पर तोड़ कर खाना अच्छा है । इसके पहले पेड़ को काटना अन्याय है । मित्र, गुरु लोग और साधु जन प्रसन्न होकर यही उपदेश देते हैं ।[3] अगर राजा प्रजावत्सल है तो प्रजा सहर्ष कर देती है ।[4] दुष्ट राजा अपनी कुनीति बरत कर कुचाल से कर ग्रहण करते हैं, जैसे कि खजूर की असंख्य शाखाएं वृक्ष में बहुतेरे कांटे बन बन कर गिर जाती हैं ।[5]

राजा को व्यवस्थित रूप में कर ग्रहण करना चाहिए । दुष्ट राजा के साथ समय के प्रतिकूल होने पर प्रजा की संपत्ति का नाश होता है ।[6] राजा को नीति करने में अत्यंत कुशल होना चाहिए जैसे कि माली, सूर्य और किसान । माली जिस प्रकार मुरझाये हुए पौधों को पानी से सींच कर तथा अनावश्यक बढ़ने वाली शाखाओं को काट-छांट कर अलग कर देता है, कमजोर पौधों की लकड़ी को सहारा देकर गिरने से बचाता है तथा उनके फल फूल का सदुपयोग करता है; जैसे किसान खेत तैयार करता है, उसमें उर्वर खाद डालता है, बीज बोता है,

---

१. सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि ।
सुप्रभु प्रजा हित लेहिं कर सामादिक अनुमानि ।।
- दोहावली, दो० ५०९, पृ० १७५

२. पाके पकए बिटप दल उत्तम मध्यम नीच ।
फल नर लहैं नरेस त्यों करि बिचार मन बीच । - वही, दो० ५१०, पृ० १७५

३. रीझि खीझि गुरु देत सिख सखा सुसाहिब साधु ।
तोरि खाइ फल होइ भल तरु काटें अपराधु ।। - वही, दो ५११, पृ० १७६

४. वही, दो ५१२, पृ० १७६

५. कंटक करि करि परत गिरि साखा सहस खजूरि ।
मरहिं कुनृप करि करि कुनय सों कुचालि भव भूरि ।। - वही, दो० ५१४, पृ० १७

६. काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल ।
पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल ।। - वही, दो० ५१५, पृ० १७७

समय समय पर जल से सींचता है, पशुओं से रक्षा करता है तथा फसल पकने पर काट कर खाता है; उसी प्रकार राजा को प्रजा-जीवन में सौभाग्य की अनुभूति कराने के बाद ही उनके शक्ति-सदुपयोग के आदर्श को प्रतिष्ठित करना चाहिए।[१]

तुलसीदासजी की 'दोहावली' में अनेक स्थलों पर कर वसूल करने के संबंध में अनेक विचार प्रस्तुत हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि तुलसी के मन में करों के सम्बन्ध में क्या विचार रहा था।

सैनिक प्रबन्ध

शासन व्यवस्था में सैनिक प्रबन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन भारत मुस्लिम शासन के अधीन में अनेक प्रकार की यातनाएं सहता था। शासक वर्ग की प्रबलता का मुख्य कारण उसका सैनिक बल था। दिल्ली के सुल्तान की सेना में मुसलमान ही अधिक थे। केन्द्र सरकार की सेना के अतिरिक्त प्रांतीय नायब सुल्तानों की भी अपनी सेनाएं होती थीं। वे प्रजा में शांति और व्यवस्था रखती थीं और नये प्रदेशों को जीतने में तथा किसी विद्रोही सामंत को शांत करने में सुल्तान की सहायता करती थीं। सेना के प्रमुख अंग पदाति, अश्वारोही और गजारोही होते थे। मुगलों की सेना के पांच विभाग थे — पैदल, घुड़सवार, तोपखाना, हाथी और जल सेना। पैदल सेना को अधिक वेतन नहीं मिलता था और इसका विशेष स्थान भी नहीं था। अन्य सब प्रकार की सेना को इससे अधिक वेतन मिलता था और उनका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था।

प्राचीन भारतीय सेना को पुरातन पारस, ग्रीस तथा रोम-साम्राज्य की सेनाओं से अधिक विकास प्राप्त था। उदाहरण के लिए सेना की पारस्परिक स्पर्धा की बात लीजिये। यह सेना दो भागों में विभक्त थी। एक भाग दुर्ग में

---

१. माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुं कबहुं कलिकाल।।
— दोहावली, दोहा ५०७, पृ० १७४.

रहता था और दूसरा सारे राज्य में बिखरा रहता था । प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय सेना पर एक अधिनायक रहता था । वह प्रांत के प्रत्येक भाग में स्थित सेना की संख्या तथा योग्यता पर ध्यान रखता था । प्रांतपाल ही सेना का वेतन और भोजनादि चलाता था ।

मुस्लिम बादशाहों के शासन-काल में सुन्दर सुसज्जित सैनिक संगठन का प्रबन्ध था । शेरशाह की सेना में अधिकतर घुड़सवार थे । सैन्य-संगठन, उसकी साज-सज्जा और उसके नियंत्रण में स्वयं शेरशाह द्वारा दिलचस्पी लेने तथा उसके साथ निकट संपर्क रखने के कारण सेना में भरती किये हुए नये रंगरूट एक वर्ष में ही कुशल सैनिक बन जाते थे । यातायात और रसद-सामग्री का प्रबन्ध सैनिकों और सेनाध्यक्षों पर छोड़ दिया जाता था ।[१]

संतों के काल में शासन-व्यवस्था में सैनिक शक्ति का विशेष स्थान था । दिल्ली के बादशाहों ने अपने साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति को स्थापित रखने के लिए एक बड़ी सेना का प्रबन्ध किया था । सैनिक शक्ति की व्यवस्था की दृष्टि से नगर, कोटों और गढ़ों का आश्रय बहुत पहले से लिया जाता रहा है । हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदलों की चतुरंगिनी सेना का विवरण भक्ति-काव्यों में है । संतों ने चतुरंगिनी सेना में कहीं-कहीं रथों का उल्लेख किया है ।[२] संत कवियों की रचनाओं में अनेक सैनिक उपकरणों के विस्तृत प्रयोग के बारे में वर्णन है । गढ़, खाई, सेना, अस्त्र-शस्त्र आदि का विवरण उन कवियों ने किया है । सेना के लिए कटक[३], फौज[४], लश्कर[५] आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है ।

---

१. मुगलकालीन भारत : डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० १९६.

२. हय गय रथ सुखपाल महूता । माया बाढ़ि करे बहु कूता ।।
तारागन पैदल समुदाई । आज्ञा लेई जहां तहां जाई ।।
चतुरंगिनी दल उज्जल देखा । भोग विराग बिचारि के लेखा ।
-भीखा साहब की बानी, महात्माओं की वाणी, बाबा रामचरनदास पद २६२, पृ० ६१.

३. तोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह,खेलि चलौ एक खेला ।
- कबीर ग्रन्थावली, पद ३११, पृ० ४२७.

४. छूटी फौज आनि गढ़ घेर्यो, उड़ि गयो गूड़र छाड़ि तर्यो । -वही,पद१६६,पृ० ३६

५. बिन लश्कर बिन फौज मुलुक में फिरी दुहाई ।
- धरमदास की बानी, भाग १, पद ११, पृ० ८.

तोपों का भी विशेष उल्लेख संतों ने किया है ।[1] भारतवर्ष में इसका प्रयोग बादशाह बाबर के समय से हुआ । कहते हैं तैमूर ने अपने आक्रमण में बन्दूक और तोप का प्रयोग भारतवर्ष में सर्वप्रथम किया था । कबीर ने पलीता, गोला और उसकी चोट से गढ़ के ढाये जाने का वर्णन परिमित रूप में किया है ।[2] इसी तरह संतों ने सैनिक व्यवस्था का सांगोपांग जो वर्णन किया है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है ।

सूफी कवियों के काव्यों में उस समय की सैनिक व्यवस्था का सुन्दर वर्णन मिलता है । जायसी ने शेरशाह सूरी के सैनिक-संगठन का उल्लेख किया है । उसकी सेना में हय, गय की अधिकता थी ।[3] जायसी ने बादशाह-चढ़ाई-खण्ड में बादशाह अलाउद्दीन की अपार सेना का वर्णन इस प्रकार किया है--

चली पंथ पैगाह सुलतानी । तीख तुरंग बांक कनकानी ।
पखरीं चली सो पांतिन्ह पांती । बरन बरन औ पांतिन्ह भांती ।
काढ़े कुमैत ढीला सभेंजी । संग कुरंग बोर दुर केंजी ।
अबलक अबरस अगज सिराजी । चौधर चाल समुंद सब ताजी ।
खुरमुज नोकिरा जरदा भले । औ अगरान बोलसिर चले ।[4]

अलाउद्दीन की सेना की विशेषता को भी जायसी ने प्रस्तुत किया है --

छोड़े गढ़ गढ़पति सब कांपे । जीउ न पेट हाथ हिय चांपे ।[5]

राजपूत राजा भी युद्ध में कभी पीछे नहीं रहे थे । क्षात्रिय धर्म की गरिमा

---

१. कबीर बीजक, पद ६६, पृ० ८४.

२. प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यान चलाया ।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया ।।
- कबीर ग्रन्थावली, पद ३५६, पृ० ५५१.

३. हय गय सैन चलइ जग पूरी । परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी ।
रेनु रइनि होइ रबिहि गरासा । मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा ।
-पद्मावत, व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १४.

४. वही, पृ० ६२६.

५. वही, पृ० ६३५.

रखने वालों में राजपूत राजाओं का विशेष स्थान है । अलाउद्दीन के आगमन की बात सुनकर राजा रत्नसेन ने चित्तौड़ में प्रत्याक्रमण की सब तैयारियां कर रखी थीं । आकाश-पाताल भी सेना के चलने से हिल रहे थे । राजा रत्नसेन ने देखा कि शाह की सेना लोहे से मढ़ी हुई आ रही थी ।[1] राजा के अश्वदल और गजदल दोनों थे । राजा रत्नसेन माथे पर मुकुट और सिर पर छत्र लगाकर युद्ध के लिए निकला था । उसके पास इतनी सेना थी कि उससे संसार अंधकारमय हो गया ।[2]

बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ तोड़ने के लिए दो प्रकार के उपाय सोचे । एक तो सुरंग लगाकर और दूसरा गरगज बांधकर तोपों से । उसके पास तोपें, फिरंगी आदि थे ।[3] जायसी का यह प्रसंग, गोरा-बादल राजा रत्नसेन को मुक्त करने के लिए सारी सेना लेकर अलाउद्दीन से युद्ध करने के लिए निकले, बहुत सुन्दर है । लेकिन अलाउद्दीन की अपार सेना थी । उसकी सेना ने चारों ओर घेरा डाल दिया ।[4] जायसी ने इस प्रकार `पद्मावत` में सैनिक सज्जा का समुचित वर्णन किया है ।

---

१. राजा राउ देखि सब चढ़ा । आउ कटक सब लोहैं मढ़ा ।
चहुं दिसिदिस्टि परी गज जूहा । स्याम घटा मेघन्ह जस रूहा ।
अरथ उरथ कछु सूझ न आवा । सरग लोह घुम्मरहिं निसावा ।

- पद्मावत (जायसीकृत) : व्याख्या० श्री वासुदेवशरणअग्रवाल, पृ० ६६२.

२. असु दल गज दल दूनौं साजे । औ घन तबल जूझ कहं बाजे ।
माथें मकुट छत्र सिर साजा । चढ़ा बजाइ इंद्र होइ राजा ।
\+ \+ \+ \+
देखि अनी राजा कै जग होइ गरुड असूझ ।
दहुं कस होइ चलत ही अंत सुरुज के जूझ ।।
- वही, पृ० ६६९-६७०.

३. छेंका गढ़ जोरा अस कीन्हा । खसिया मगर सुरंग लैं दीन्हा ।
\+ \+ \+ \+
फूटे कोट फूट जस सीसा । ओदरहि बुरुज परहिं कौसीसा ।
- वही, पृ० ६८४.

४. वही, पृ० ८५५.

मध्य युग के कृष्ण-भक्त कवियों ने भी तत्कालीन सैनिक व्यवस्था का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। विद्यापति ने सेना के सबसे ऊँचे अधिकारी को 'सेनापति' या 'दलपति' का नाम दिया है।[१] सूरदास ने इसके लिए फौजपति की संज्ञा दी।[२] राजा कंस ने अपने सेनापतियों से कहा कि मेरे नाश के लिए उत्पन्न होने वाले कृष्ण की हत्या करने का उपाय सोचो। राजा कंस की बात सुनते ही सेनापति परस्पर परामर्श करने लगे।[३] नन्ददास ने राजा के बिना दल को निरर्थक कहा है।[४] विद्यापति ने राजा द्वारा सेना को आगे बढ़ाने की ओर संकेत किया है।[५] सूरदास ने कमल-पुष्प-प्रसंग पर कंस के क्रोध से ब्रज राज्य को बचाने के लिए कृष्ण का उपदेश प्रस्तुत किया है —

तुरत कमल अब देहु पठाइ।
सुनहु तात कछु बिलँब न कीजै, कंस चढ़ै ब्रज-ऊपर धाइ।
कमल मँगाइ लिए तट-ऊपर, कोटि कमल तब दिए पठाइ।
बहुत बिनय करि पाती पठई, नृप लीजै सब पुहुप गनाइ।
तैसी मोकौं आज्ञा दीजै, बहुत धरे जल-माँफ सजाइ।
सूरदास नृप तुव प्रताप तैं, काली आपु गयौ पहुँचाइ।[६]

---

१. जौबन दलपति तोहि समर लगि। - विद्यापति-पदावली, पृ० ९८०.

२. निदरक भयौ चल्यौ ब्रज आवत, अग्र फौजपति मैन।
 - सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३३०५, पृ० १२७७.

३. मथुरापति जिय अतिहिं डरान्यौ
 + + + +
 ब्रज भीतर उपज्यौ मेरौ रिपु, मैं जानी यह बात।
 + + + + + +
 सेनापतिनि सुनाइ बात यह, नृप मन भयौ उदास।
 तथा
 नृपति बचन यह सबनि सुनायौ।
 मुहाँमुही सेनापति कीन्हीं, सकट गर्व बढ़ायौ। - वही, पद ६०-६१, पृ० २८१-

४. बिनु राजा दल कौन काम कौ। - नन्ददासग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३०.

५. विद्यापति पदावली, पृ० ९८०.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५८२, पृ० ४५८.

किसी भी राज्य पर आक्रमण करने के पूर्व दोनों राज्यों के राजाओं में पत्र-व्यवहार होता था या किसी अन्य उपाय से उसकी सूचना दी जाती थी। विद्यापति ने रूपक के सहारे त्रिवली रूपी नदी के किनारे बसे हुए नगर को दुर्गम समझ कामदेव रूपी नृप से उसे जीतने के लिए पत्र द्वारा सूचना दिलायी है।[१] सूरदास ने `सूरसारावली` में जरासन्ध के साठ अक्षौहिणी सेना लेकर कृष्ण के ऊपर आक्रमण करने[२] और जरासंध के सहायक कालयवन के पास तीन करोड़ योद्धाओं के रहने का वर्णन किया है।[३] सूर ने राम की सेना में `पदुम कोटि` सेना होने की बात कही है।[४] `सूरसागर` के प्रथम[५] और दशम[६] स्कंध में गज, अश्व, रथ एवं पायकों (पैदल सिपाहियों) से युक्त चतुरंगिणी सेना का उल्लेख किया है। इसी प्रकार तुलसीदासजी ने `मानस` के बालकाण्ड[७] और कवितावली के लंकाकांड[८] में चतुरंगिणी सेना की ओर संकेत किया है। सूरदास ने गोपियों की अंग-शोभा को काम-सेना एवं अंचल को ध्वजा कहकर यह स्पष्ट किया है कि सेना के लिए ध्वजा आवश्यक चिह्न है।[९]

---

१. त्रिवलि तरंगिनि पुर दुग्गम जानि, मनमथ पत्र पठाऊ ।
-विद्यापति पदावली, पृ० १८०.

२. तीन बीस अक्षौहनी लै दल, जरासंध तहां आयो ।
- सूरसारावली, छन्द ५८७.

३. तीन कोटि भट जवन संग लै, मथुरा पहुँचो जाय । - वही, छंद ६७१.

४. सोवत कहा लंक गढ़ भीतर, अति कै कोप दिखायो ।
पदुम कोटि जिहिं सैना सुमियत, जंतु जु एक पठायो ।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद १२५, पृ० २३४.

५. वही, प्रथम स्कंध, पद १४१, पृ० ४६.

६. वही, दशम स्कंध, पद ३३०५, पृ० १२७७.

७. सेन संग चतुरंग अपारा । अमित सुभट सब समर जुझारा ।।
सेन बिलोकि राउ हरषाना । बाजे बाजे गहगहे निसाना ।।
- मानस, बालकांड, दो० २, पृ० २७२.

८. कवितावली, लंकाकांड, पद ६, पृ० ६६.

९. मनहुं काम-सेना अंग-सोभा, अंचल ध्वज फहरावै ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४३६, पृ० ७५७.

तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के राम-रावण युद्ध प्रसंग में इस ओर अपनी ज्ञात सामग्री प्रस्तुत की है। रावण ने सीता का अपहरण किया था। इसलिए रामजी ने सेना समेत सीताजी को राक्षसों से मुक्त करने के लिए लंका में प्रवेश किया। रावण की अत्यंत शक्तिशाली सेना थी। प्राचीन भारत में सेना चतुरंगिणी होती थी। रावण की सेना अनगिनत थी और विविध रूपों से सुसज्जित थी। उसमें चतुरंगिणी की बहुत टुकड़ियां थीं, जिनमें अनेक प्रकार के वाहन, रथ तथा अन्य यान थे। बहुत से रंगों की ध्वजा-पताकायें थीं। मतवाले हाथियों के झुंड के झुंड थे जो प्रावृषमेघ से प्रतीत होते थे। रंग-बिरंगे वेश धारण किये हुए वीरों के समूह सुशोभित थे। सेना ऐसी विशाल थी कि उसकी गति से दिशाओं के हाथी हिलने लगे, समुद्र क्षुब्ध होने लगा, पर्वत डगमगाने लगे और धूल इतनी उड़ी कि सूर्य छिप गया, पवन रुक गया और पृथ्वी अकुला उठी। ढोल-नगाड़े ऐसे बजते थे मानो प्रलयकालीन मेघों का गर्जन हो रहा हो। भेरी, नफीरी, शहनाई आदि से उत्पन्न योद्धाओं को सुख देने वाला मारू राग बज जाता तथा वीर अपने-अपने बल-पौरुष का वर्णन सिंहनादपूर्वक करते थे।[१] राक्षसराज रावण की आज्ञा पाकर वे राक्षस लोग युद्ध के लिए चल निकले —

चले निसाचर आयसु मांगी। गहि कर भिंडिपाल बर सांगी।।
तोमर मुद्गर परसु प्रचंडा। सूल कृपान परिघ गिरिखंडा।।[२]

इसी तरह राम की सेना भी अवर्णनीय थी। हनुमान, अंगद, सुग्रीव के नेतृत्व में वानर-सेना पर्वत के प्रचंड खण्डों को लेकर बन्दर-भालू गढ़ के ऊपर फेंकने लगे। बन्दर-सेना की विजय हो रही थी और राक्षसों की पराजय। लेकिन दोनों सेनाएं ललकार कर लड़ती थीं। सौ बाणों के शरीर में घुस जाने से कुंभकर्ण को क्रोध आया। वह दौड़ पड़ा। उसके दौड़ने से पृथ्वी डोलने लगी, पहाड़ डगमगाने लगे।[३] दिन-ब-दिन रावण की पराजय होने लगी तो रावण अत्यंत

---

१. गोस्वामी तुलसीदास : व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य — रामदत्त भारद्वाज, पृ० १२.
२. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, चौ० ४, पृ० २५६.
३. खैंचि धनुष सरसत संधाने। छूटे तीर सरीर समाने।।
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा।।
— वही, लंकाकाण्ड, चौ० ४, पृ० ३०६.

व्याकुल हुआ। उस समय उसका पुत्र मेघनाद वहाँ आया और माया के रचे हुए रथ पर चढ़कर आकाश में चला गया। वानर-सेना यह देखकर संत्रस्त हो उठी। तो अनेक हथियार लेकर युद्ध करने लगा और अगणित बाणों की वर्षा करने लगा।[१] अंत में रावण बची-खुची सेना को लेकर युद्ध करने के लिए चल पड़ा। सैनिकों में वीर रस भर गया। दोनों ओर के वीर उग्र होकर लड़े। रावण ने अपनी सेना को विचलित देखकर कुंठित होकर रथ पर चढ़ा और अत्यंत क्रुद्ध होकर उसे दौड़ाने लगा। उसके पीछे वानर- पेड़, पत्थर और पहाड़ लेकर दौड़ पड़े और एक साथ उसके ऊपर फेंकने लगे।[२] अंत में राम-रावण के द्वन्द्व युद्ध का वर्णन तुलसी करते हैं। उसमें राम की विजय हुई और रावण की पराजय।

तुलसी ने रूपक वर्णन तथा आलंकारिक प्रयोगों में भी युद्ध तथा सैनिक सज्जा का सहारा लिया है। देखिए —

> व्यापि रहेउ संसार महुं माया कटक प्रचंड ।
> सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड ।।[३]

राक्षस-वानर-संग्राम की विस्तृत विवेचना तुलसीदासजी ने 'कवितावली' में भी की है। युद्ध की सारी तैयारियाँ करके रावण की चतुरंगिणी सेना का प्रस्थान हुआ। रावण की सेना तो उस समय सराहने योग्य थी। वानर उस सेना को देखकर किलकारियाँ मारने लगे।[४] राक्षसों के पक्ष में वीर तीर, बरछी, सेलों के समूह थे। दूसरे पक्ष के सैनिक ताड़ और तमाल के वृक्ष और

---

१. सक्ति सूल तरवारि कृपाना । अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना ।।
   डारै परसु परिघ पाषाना । लागेउ वृष्टि करै बहु बाना ।।
   - मानस, लंकाकांड, चौ० १, पृ० ३१५.

२. धाएउ परम क्रुद्ध दसकंधर । सनमुख चले हूह दै बंदर ।।
   गहिकर पादप उपल पहारा । डारेन्हि तापर एकहिं बारा ।।
   - वही, चौ० १, पृ० ३३७.

३. दोहावली, दो० २६३, पृ० ६९.

४. कवितावली, लंकाकांड, पद ३१, पृ० ८६.

पर्वतों के टुकड़े लेकर फेंकते थे। इस प्रकार दोनों के बीच में घमासान लड़ाई हुई।[१] इस युद्ध में सैनिकों ने हाथियों से हाथियों को और घोड़ों से घोड़ों को मार डाला। रथों को परस्पर टकराकर तोड़-मरोड़ कर डाल दिया। हनुमानजी की भयंकर लड़ाई से निशाचरों की सेना घबरा गयी।[२] वानरों और राक्षसों की घमासान लड़ाई से पृथ्वी पर रक्त की नदियां बहने लगीं। सैनिकों के शरीर तो उस नदी के बड़े-बड़े जल-जन्तु थे। सियार, कौए और गीध रणभूमि में हमेशा के लिए निवास करने लगे।[३] इस प्रकार तुलसीदास की रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय राज्य में सेनाओं का अच्छा संगठन था और सैनिक विभिन्न प्रकार के हथियारों का उपयोग करते थे।

दण्ड-विधान

प्राचीन काल से लेकर सभी राज्यों में दण्ड-विधान के प्रबन्ध थे। अंगच्छेद, देशनिर्वासन, जुर्माना और कारागार आदि दण्ड सर्वत्र प्रचलित थे। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन है कि लोग हाथ पकड़ कर चोर को न्यायाधीश के समीप लाते थे और कहते थे कि इसने चोरी की है। झटपट अग्नि को दहकाकर पाशु को तपाया जाता था और अभियोगी को उसे हाथ में लेना पड़ता था। यदि उसका हाथ जल जाता था तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता था। यदि नहीं जलता था तो उसे छोड़ दिया जाता था।[४] वेद कालीन न्याय-व्यवस्था कठोर कही जा सकती है। कौटुम्बिक परिधि से लेकर राजकीय परिधि तक सर्वत्र कठोर दंड का विधान था। ऋज्राश्व की आंखें उसके पिता ने केवल इसीलिए फोड़ दी थीं कि उसने प्रजा की भेड़ों को मार डाला था। पुरोहित को मृत्युदण्ड दिया जाता था, यदि वह अपने राजा के प्रति विद्रोह करता था।[५] तैत्तिरीय संहिता में विविध अपराधों के लिए अलग-अलग दंड का विधान मिलता है।[६]

---

१. सर तोमर सेलसमूह पंवारत, मारत बीर निसाचर के।
   इत तें तरु-ताल-तमाल चले, सर खंड प्रचंड महीधर के।।
   - कवितावली, लंकाकाण्ड, पद ३५, पृ० ८८.
२. वही, पद ४०, पृ० ६१.
३. वही, पद ४६, पृ० ६७-६८.
४. छान्दग्योपनिषद्, ६।१६।१.
५. वैदिक इण्डेक्स - मूल लेखक ए.ए.मेकडोनेल; अनु० रामकुमार राय, पृ० ८४.
६. तैत्तरीय संहिता, २।६।११.

प्राचीन भारत चोरों को दण्ड देने में बहुत सतर्क था। दो प्रकार के चोर माने जाते थे - प्रकाश और अप्रकाश। मनु की दृष्टि में चोरों के लिए मृत्युदण्ड ही एकमात्र उपयुक्त दंड था। केवल चोर ही नहीं, अपितु उनको भोजन, पात्र, शरण आदि देने वाले भी राजा के द्वारा दंडनीय माने जाते थे। जो सामन्त चोरों की सहायता करते थे उनको चोरों की भांति दण्ड देने का विधान था। मनु ने चोरों को सहसा दंड देने की विधि का समर्थन नहीं किया है। पहले इस बात का पूरा प्रमाण मिलना ही चाहिए कि अभियुक्त वास्तव में चोर है या नहीं? अगर चोर सिद्ध हुआ तो बिना अधिक विचार किये हुए ही उसे मरवा देना चाहिए।[१] उच्च कुल के पुरुष और स्त्रियों के अपहरण करने वालों को भी उचित दण्ड दिया जाता था।[२]

मध्ययुगीन भारत अत्याचार और अन्याय के लिए प्रसिद्ध था। मुसलमान शासक तुच्छ बातों के नाम पर हिन्दुओं को सजा देते थे। छोटी-सी बात पर सजा - यही उनका नियम था। धर्मशास्त्रियों और मुल्लाओं का प्राय: राज्य में प्रभाव रहा; किन्तु अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक उनके हाथ की कठपुतली नहीं थे। न्यायप्रिय मुहम्मद तुगलक ने तो शेख और मौलवियों को भी उनके अपराधों पर कठोर सजाएं दी थीं। व्यभिचारादि अपराध करने वालों को बड़ा कठोर दंड दिया जाता था और ऐसे अपराधों में राजकुटुम्ब के व्यक्तियों के साथ भी साधारण प्रजा की भांति व्यवहार किया जाता था। कुंवर मसऊद की माता को पत्थरों की मार से मार डाला गया था, क्योंकि व्यभिचारिणी के प्रति ऐसी ही दण्ड-व्यवस्था थी।[३]

मध्ययुग में अपराध कई प्रकार के माने जाते थे। पहले के अपराध राज्य-अपराध की कोटि में आते हैं, जिनमें विद्रोह, सिक्कों में मिलावट, दंगे, चोरी, डकैती तथा शासनाधिकारियों की हत्याएं आदि हैं। दूसरी कोटि में वे

---

१. मनुस्मृति ६।२५६।२७२.
२. वही, २।३२३.
३. मेडीवल इण्डिया - डा० ईश्वरीप्रसाद, पृ० ४७३.

अपराध आते हैं जो धार्मिक कहे जा सकते हैं और जिनका दण्ड-विधान काजी के पूर्ण अधिकार में रहता था । अपराधियों को हथकड़ी लगाकर गिरफ्तार कर ले जाने की प्रथा थी । मृत्यु दण्ड की सजा भी दण्ड-व्यवस्था में थी । सूली पर चढ़ाना या फांसी पर चढ़ाना भी बड़े अपराधों में साधारण दण्ड-विधान था । कबीर कहते हैं कि स्त्री से मृत्यु ही अच्छी है क्योंकि इसके घातक प्रभाव से कोई विरला ही बच पाता है ।[१] इसके अलावा संतों के समय अंगच्छेद, देश-निर्वासन, बदला, जुर्माना एवं कारागार का दण्ड सर्वप्रचलित था ।

जायसी ने 'पद्मावत' में अपराधी को देश से निकालने का वर्णन किया है । राजा रत्नसेन चित्तौड़ के राजा थे । उनकी राज्यसभा में अनेक ब्राह्मण लोग थे । उनमें एक राघवचेतन था । एक बार ब्राह्मण राघवचेतन ने राजा के पास जादूगरी का काम किया । उस समय राजा ने क्रुद्ध होकर आज्ञा दी कि उसे मार डाला जाये या उसे देश से निर्वासित कर दिया जाये ।[२]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं में राम-राज्य और रावण-राज्य की दण्ड-व्यवस्था का उल्लेख किया है । मुगल बादशाहों के काल में चारों ओर अत्याचार और स्वेच्छाचारिता का बोलबाला हो रहा था । राजा प्रजा को अपनी इच्छा के अनुसार कठोर से कठोर दण्ड देते थे । इनसे तुलसी भी परिचित थे । उन्होंने 'दोहावली' में इसका परिचय दिया है —

गोंड़ गवांर नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ।।[३]

तुलसीदासजी कहते हैं कि राम की दण्ड-नीति उस समय अपना प्रत्यक्ष स्वरूप दिखलाती है जिस समय वे अन्याय करने वाले राक्षसों को दण्ड देते हैं । जघन्य कार्य करने वाले बालि का वे वध करते हैं, मानवता के लिए अभिशाप

---

१. सुंदरि थै सूली भली, बिरला बंचै कोइ ।
- कबीर ग्रंथावली, सा० १६, पृ० २१२.
२. अग्या भई रिसाइ नरेसू । मारौं काढ़ निसारौं देसू ।
- पद्मावत (जायसी) : व्याख्या श्री वा.श.अग्रवाल,पृ० ५६७.
३. दोहावली, दो ५५६, पृ० १६१.

बनी हुई रावण की पैशाचिक वृत्ति का दमन करते हैं । राम की नीति, धर्मशीलता और वीरता के कारण ही सुग्रीव से मैत्री हुई थी । बालि का वध और सुग्रीव से मैत्री राम की सुनीति का परिणाम था ।[१] यद्यपि राम धर्मशील थे तो भी वे नीचों को उचित दण्ड देते थे । राजनीति के चार चरण हैं - साम, दाम, दण्ड और भेद । इनके बिना शासन-प्रबन्ध सफल नहीं हो सकता ।[२] आदर्श राज्य में,तुलसी का विचार है, दण्ड-विधान की आवश्यकता नहीं होती । यही राम के राज्य की विशेषता थी ।[३]

राज्य सुरक्षा

मध्य युग में बादशाहों ने राज्य की रक्षा के लिए और नगर की सुविधा के लिए अनेक साज-सज्जायें की थीं । राज्य को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए राज्य के चारों ओर गढ़ की रचना की जाती थी, सेना रखी जाती थी और अनेक शस्त्रास्त्रों को एकत्रित किया जाता था । यदि राज्य में ऐसी व्यवस्था न होती तो हमेशा शत्रुओं के आक्रमण की आशंका रहती ।

गढ़रचना :

मध्य युग में सैनिक शक्ति की दृष्टि से गढ़ों तथा कोटों का अधिक महत्व रहा है । इस काल में अनेक ऐसे दुर्ग थे जो अपनी सैनिक विशिष्टता के कारण देश भर में विख्यात थे । रणथम्भोर, चित्तौड़, ग्वालियर, चन्देरी, माण्डू तथा देवगिरि आदि के प्रसिद्ध गढ़ अपनी दृढ़ता और अपने सैनिक महत्व के कारण मुगलों के पूर्व ही प्रसिद्ध थे । मुगल काल में भी रोहतास, चुनार, इलाहाबाद, कालिंजर, अजमेर, आगरा, दिल्ली, लाहौर, कान्धार, काबुल, हैदराबाद तथा

---

१. गोस्वामी तुलसीदासजी का सामाजिक आदर्श — श्रीमती सुधारानी शुक्ल, पृ० १२४

२. साम दाम अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ।।
नीति धर्म के चरन सुहाए । अस जियँ जानि नाथ पहिं आए ।।
- रामचरितमानस, लंकाकांड, चौ० ५, पृ० २५५.

३. दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज ।।
- वही, उत्तरकाण्ड, दोहा २२, पृ० ४९.

औरंगाबाद आदि किलों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था । इनमें सेना की रसद, लड़ाई का सामान तथा सेना रखी जाती थी । वर्षाकाल में सेना को विश्राम देने के लिए इन दुर्गों का उपयोग किया जाता था । इनकी रक्षा के लिए खाइयां बनायी जाती थीं, जिनमें पानी भरा रहता था । किलों की दीवारों पर तोपें लगाई जाती थीं तथा तीरन्दाजों और बन्दूकचियों की सुविधा के लिए बीच-बीच में स्थान खाली किया जाता था ।[१]

मध्ययुगीन काव्य ग्रंथों में गढ़ की व्यापक चर्चा हुई है । कबीर का विचार है कि शरीर रूपी कठिन दुर्ग को जीतना बहुत कठिन है । इसमें दुहरे प्राचीर और तिहरी खाइयां हैं । इसके पांच आवरण हैं । ये पांच आवरण पांच कोष हैं अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और विज्ञानमय कोष हैं । इसके अलावा इसमें मोह, मद, मत्सर रूपी माया वास करती है । इस कठिन गढ़ का किवाड़ काम है, सुख और दुःख दरबानी कर रहे हैं और पाप और पुण्य इसके दो दरवाजे हैं । क्रोध तो प्रबल और शक्तिशाली सेनापति है । मन ही दुर्गपति है । इस दुर्गपति के आयुध इस प्रकार हैं — स्वाद ही इसका कवच है, इसका शिरस्त्राण ममता है, कुबुद्धि ही इसकी कामना है, घट के भीतर जो तृष्णा है वही इसके तीर हैं । इस कठिन दुर्ग को जीतना अत्यंत कष्टप्रद है । लेकिन कबीर ने इस गढ़ को जीतने की युक्ति जान ली है । प्रेम को पलीता बनाकर आत्मा रूपी हवाई (तोप) से ज्ञान का गोला चलाने के बाद सत्य और संतोष रूपी अस्त्रों से लड़ने से पाप और पुण्य रूपी दरवाजा तोड़ा जाता है । साधु संगति और गुरु कृपा से मन की संतुलित अवस्था होती है । ईश्वर के भय से मृत्यु रूपी भय की फांसी कट जाती है । कबीरदास कहते हैं कि इस प्रकार शरीर रूपी गढ़ के ऊपर चढ़ा जाता है और अविनाशी और अनन्त जीवन का राज्य प्राप्त किया जाता है ।[२] यहां कबीर ने रूपक शैली में गढ़-विधान का सम्यक् परिचय दिया है । कबीर उसके सब अंगों से परिचित थे । परोक्ष रूप से ही तत्कालीन किलों तथा सैनिक-सज

---

१. उत्तरमध्यकालीन भारत   डा० अवधबिहारी पाण्डेय, पृ० ३६३.

२. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद १७, पृ० २२४.

का संपूर्ण परिचय कबीर को प्राप्त था। कबीर का और एक कथन सुनिए —

एक कोस बन मिलान न मेला।
बहुतक भाँति करै फुरमाइस, है असवार अकेला ।। टेक ।।
जोरत कटक जु घेरत सब गढ़, करतब फेली फेला।
तोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ।।
कूंच मुकाम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटांना।
आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले मटी उडांना ।।
या जोगी की जुगति जु जानै, सो सतगुर का चेला।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थै तिनि सब भरम पछेला ।।[१]

सूफी काव्यों में राज्य की रक्षा के लिए निर्मित गढ़ और किलों का विस्तृत विवेचन मिलता है। 'पद्मावत' में गढ़ का जो वर्णन है वह अत्यंत सुन्दर है। सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन ने भीमाकार गढ़ का निर्माण कराया। गढ़ का वर्णन देखिए —

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौं जस लाग अकासा।
तरहिं कुरुम बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी।
+ + + +
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका ।।[२]

चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के राज्य के किले के बारे में कवि ने जो वर्णन किया है उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है —

गढ़ तस साजा जौ चाहिअ सोई। बरिस बीस लहि खाँग न होई।
बाँके चाहि बाँक सुठि कीन्हा। औ सब कोट चित्र कै लीन्हा।
खंड खंड चौखंडी संवारी। धरी बिखम गोलन्ह कै नारी।
+ + + +

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ३९६, पृ० ५२७-५२८.
२. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४७.

बिच बिच बुरुज बने चहुं फेरी । बाजै तबल ढोल औ भेरी ।
भा गढ़ गरजि सुमेरु जेउ सरग छुवै पै चाह ।
समुंद न लेखें लावे गांग सहस मुख बाह ।।[१]

राजा रत्नसेन के गढ़ की पौर आसमान तक पहुंचती है। बादशाह अलाउद्दीन ने उसके खिलाफ चारों ओर से सेतु बांधना शुरू किया।[२] राजा रत्नसेन और बादशाह चित्तौड़गढ़ की शोभा देख रहे हैं। उस गढ़ को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि गढ़ का निर्माण राज्य की रक्षा के लिए ही किया गया है। गढ़ में सात पौरियां हैं, जिनमें बांके खण्ड बने हुए हैं। प्रत्येक पौरी पर लाख-लाख द्वारपाल हैं। सब लोग आकर उनके सामने सिर झुकाते हैं और अन्दर प्रविष्ट होते हैं।[३] उन पौरियों के किवाड़ पर जो घड़ियाल बजते हैं, सोने से निर्मित हैं। सात पौरियों का रंग तो सात प्रकार का है। वह सचमुच इन्द्रपुरी के समान सुन्दर सुहावना है।[४] पौर के द्वार की चौकसी दो लाख कुंवर करते हैं। पौर के दोनों ओर वे हाथ जोड़कर खड़े हैं। महल के सब

---

१. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६५०.

२. राजें पंवरि अकास चलाई । परा बांध चहुं फेर अलाई ।
सेत बंध जस राघौ बांधा । परा फेरु भुइं भारु न कांधा ।।
- वही, पृ० ६६६.

३. पंवरि सात सातौं खंड बांकी । सातौं गढ़ि काढ़ी दे टांकी ।
\+ + + +
लख लख बैठ पंवरिया जिन्ह सौं नवहिं करोरि ।
तिन्ह सब पंवरि उघारी ठाढ़ भए कर जोरि ।।
- वही, पृ० ७३१.

४. सातहुं पंवरिन्ह कनक केवारा । सातहुं पर बाजहिं घरियारा ।
सातहुं रंग सो सातहुं पंवरी । तब तहं चढ़ी फिरैं सत भंवरी ।
\+ + + +
चढ़ा साहि चितउर गढ़ देखा । सब संसार पांव तर लेखा ।।
- वही, पृ० ७३२.

चित्र रत्नजटित हैं ।[1]

महात्मा सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी 'गढ़' या 'दुर्ग' का वर्णन किया है । राक्षस राजा रावण के दुर्ग में वज्र किवाड़ था ।[2] वह किवाड़ समुद्र जैसी गहरी 'परिखा' से घिरा हुआ था और अभेद्य था ।[3] नायिका के 'गुमान' को ब्रजनिधि ने उसका 'गढ़' कहा है ।[4] सूरदास मदनमोहन नायिका के 'मान' को 'गढ़', 'अंचल' को 'ड्योढ़ी' एवं 'वचन' को 'द्वार न खोलने वाले पौरिया' के रूप में चित्रित करने में अत्यंत समर्थ हुए हैं ।[5] आक्रमणकारी साधारणतः सारी सेना का नाश होने पर लौट जाता है ।[6] इतना ही नहीं कि नगर के विजेता वहाँ अपनी दुहाई फिरवा दिया करता है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी लंकापति रावण के दुर्घट गढ़ के वर्णन करने में अत्यंत सफल हुए हैं । बन्दरों ने जब लंका गढ़ में प्रवेश किया तब राक्षस सेना

---

१. कुँवर लाख दुइ बार अगोरे । दुहु दिसि पँवरि ठाढ़ कर जोरे ।
सारदूर दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े । गल गाजहिं जानहुँ रिसि बाढ़े ।
जावँत कहिअ चित्र कटाऊ । तावँत पँवरिन्ह लाग जराऊ ।
- पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७३४-७३५.

२. लंका गढ़ माहि आकास मारग नवौं बहुं दिसि बज्र लौ किवारा ।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद ७६, पृ० २१२.

३. वही.

४. राधे सज्यौ गुमान-गढ़ । - ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृ० २०.

५. मेरे जान वाको मान, मानगढ़ भयो । - सूरदास मदनमोहन, पद १३२.

६. तीन-बीस अक्षौहिनी लै दल, जरासंध तहाँ आयो ।
बलमोहन छिन मांझ संहारे, करि बिन बमु पठायो ।
- सूरसारावली, छंद ५९७.

अस्त्र-शस्त्र लेकर भाग गयी ।[1] बन्दरों ने पहाड़ों को लेकर गढ़ पर फेंका, जिससे जहाँ के तहाँ राक्षस मारे गये ।[2] जब मेघनाद को यह समाचार प्राप्त हुआ कि वानर सेना ने किले के अन्दर प्रवेश किया, तब उसके मन में यह विचार आया कि किले के भीतर से युद्ध करना अच्छा नहीं । इसलिए उसने किले के नीचे आकर युद्ध का डंका बजवाया ।[3]

इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि मध्य युग के राजा लोग अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सुदृढ़ गढ़ या दुर्ग का निर्माण कराते थे, जो उस समय के कवियों के लिए गढ़-वर्णन में सहायक रहे थे ।

नागरिक जीवन

नगरों तथा नागरिक संस्कार की स्थापना से नागरिकता का विकास होने लगा । नागरिकता का अर्थ है कि मनुष्य को अपने कर्तव्यों और अधिकारों का भलीभाँति ज्ञान होना । कर्तव्यों का पालन करने के लिए उसे किसी दंड के भय की आवश्यकता न हो और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए वह संघर्ष करने को भी तैयार हो । प्रत्येक नागरिक को अपने समाज के नियमों का पालन करना चाहिए ।

प्रत्येक नागरिक के कुछ कर्तव्य और अधिकार भी हैं । सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने राज्य की सुरक्षा और शांति के लिए हमेशा प्रयत्नरत रहे ।

---

१. कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ु घेरा । नगर कोलाहलु भयउ घनेरा ।।
विविधायुध धरि निसिचर धाये । गढ़ ते पर्वत सिखर ढहाये ।।
- मानस, लंकाकांड, चौ० ५, पृ० २७४.

२. ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह विविध विधि गोला चले ।
घहरात जिमि पविपात गर्जत जनु प्रलय के बादले ।।
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये ।
गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहं सो तहं निसिचर हये ।।
- वही, पृ० २७४.

३. मेघनाद सुनि स्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ ।
उतरेउ बीर दुर्ग ते, सनमुख चलेउ बजाइ ।। - वही, दो० ४६, पृ० २७४.

इसका अर्थ यही है कि यदि देश पर कोई विदेशी आक्रमण हो या देश में कोई आन्तरिक उपद्रव या उत्पात हो, तो उस समय वह बिना दुविधा में पड़े सरकार की सहायता करे; क्योंकि सरकार ही विदेशी आक्रमण का सामना और आंतरिक उपद्रव का दमन कर सकती है । प्रजातंत्र में सरकार जनता की अपनी चुनी हुई होती है । चुनने वाले नागरिक कर्त्तव्य से जब अभिज्ञ रहे तभी अच्छी सरकार की स्थापना होगी । हर प्रकार से सरकार के हाथ को मजबूत करने का प्रयत्न नागरिकों को करना चाहिए । उचित समय पर कर या लगान अदा करना, नियमों का पालन करना आदि नागरिक के अन्य कर्त्तव्यों में आते हैं ।

भारत में नागरिक व्यवहृता ने कई परिवर्तन देखे थे । मुसलमानों की अधिकार प्राप्ति से वैदिक नागरिक व्यवस्था ही डांवाडोल हो गयी । फिर भी कौटुम्बिक आचारों तथा विचारों में कुछ आघात नहीं हुआ । हिन्दू नागरिकों के स्थान-मान में यद्यपि बड़ी बाधा पहुंची तो भी उनके आंतरिक जीवन में स्थिरता बनी रही । संयुक्त परिवार एवं सहयोग धर्म, संतोष, श्रद्धा, स्नेह, विनय, त्याग आदि पर आधृत कौटुम्बिक व्यवस्था ज्यों-त्यों चल रही थी । कौटुम्बिक जीवन में मनाये जाने वाले संस्कारों-जातकर्म, नामकरण, कर्णवेध आदि का पालन किया जाता था ।

मुगल बादशाहों के शासन से प्रजा में घोर निराशा और मानसिक ग्लानि के बीज वपन कर रहे थे । सचमुच विदेशी शासन के कारण हिन्दू जनता को अधिक दुःख भोगना पड़ा था । हिन्दू समाज में निराशा के काले बादल फैल गये थे । लाखों स्त्री-पुरुष गुलाम बन गये । कई सुन्दर कन्याओं का अपहरण किया गया । मुस्लिम शासक प्रजा द्वारा कमाए धन से सुख पूर्ण जीवन बिताने लगे । उनमें दास-प्रथा थी । दासों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी । दासियां तो काम-केली का साधन थीं । लगभग ५००० से अधिक सुन्दरियां अकबर के महल में थीं । ऐसी विकराल परिस्थिति में भारतीय जनता अपनी सांसों को गिन रही थी । बर्बर तैमूर के आक्रमण ने भीषण नर-हत्या द्वारा रक्त की ऐसी नदियां बहायीं कि मानवता रो उठी । स्त्री, पुरुष, बच्चे तैमूर के सैनिकों की तलवारों के लक्ष्य बन गये । भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि

अमानुषिक कृत्यों से भारतीय नागरिकों को , विशेषत: हिन्दू नागरिकों की, रही सही प्रतिष्ठा-शक्ति सर्वस्व धूलि-धूसरित हो गयी । देश में सर्वत्र अशांति, आतंक, निर्धनता और विपन्नता का भीषण दृश्य उपस्थित हुआ । बहलोल लोदी के बाद सिकन्दर लोदी के समय इस्लाम धर्म को ग्रहण न करने के कारण प्रतिदिन १५०० हिन्दुओं का वध किया गया । इस विकट राजनीतिक अवस्था में भारतीय हिन्दू नागरिकों की सहायता करने वालों कोई नहीं था । पर उनकी सहायता के लिए कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

सचमुच भारत में ऐसा विषम समय कभी नहीं आया था । शक, हूण आदि अनेक विदेशी जातियां इससे पूर्व यहां आयी थीं और उन्होंने शासन भी किया था; परन्तु वे राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों से शीघ्र ही भारतीयता में निमग्न हो गयी थीं । इसलिए कभी प्रेम प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ी थी । मुसलमान इसके विपरीत ही सिद्ध हुए । वे भारत में आकर भी भारतीय न बन सके और सदैव यहां के निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे ।[१] मुगलों की स्थिति यह न थी । वे भारतीय होकर रहने लगे थे ।

मुस्लिम आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन जनता के जीवन पर पड़ा। धार्मिक परिवर्तन के कारण जो हिन्दू नागरिक मुसलमान हो गये उन्हें कुछ अंशों में कम अत्याचार सहना पड़ा । किन्तु उनका भी निर्बाध शोषण चलता रहा। हिन्दू अधिकारियों का स्थान सुल्तान के स्थानीय शासक ने और पंडितों का स्थान काजी, मुल्ला, शेख सैयद ने लिया । साधारण जनता के प्राण न तो बेगार से छूटे और न इन्हें समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त हो सका ।[२] तत्कालीन समाज में कपटी साधुओं की संख्या भी अधिक थी । साधु लोग कपट-वेष धारण कर पैसा छीन लेते थे और सुन्दरी स्त्रियों पर मोहित हो जाते थे ।

---

१. सूफी मत और हिन्दी साहित्य : डा० विमलकुमार जैन, पृ० २१६.

२. मध्यकालीन भारत डा० रामखेलावन पाण्डेय, पृ० १०७.

इस प्रकार वे साधारण जनता को आतंकित करते रहते थे। साधुओं का बाना धारण करने पर भी वे वैरागी नहीं बन पाते थे और पैसा बटोरने तथा काम-वासना की तृप्ति में लगे रहते थे। भिक्षा लेते समय वे सुन्दर स्त्रियों पर मोहित हो जाते थे और छल से उन्हें वशीभूत करने का प्रयत्न करते रहते थे। अपने प्रयत्नों पर सफल हो जाने पर वे फिर गृहस्थ बन जाते थे।[१]

तत्कालीन समाज की एक और दशा विचारणीय है कि समाज में हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों का खुला संघर्ष प्रारंभ हो गया था। मुसलमान तो हिन्दुओं को काफिर कहने लगे और हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ। यद्यपि अकबर ने अपनी कूटनीति से हिन्दू-मुसलमानों को एक करने का कुटिलतापूर्ण जाल बिछाया था, किन्तु वह अधिक दिनों तक चल नहीं पाया और वह पद्धति हिन्दू संस्कारों के विनाश के लिए और अधिक भयावह सिद्ध हुई।[२] हिन्दू समाज की दयनीय दशा अत्यंत निराशाजनक थी। यवनों के देश में विजयी जाति के रूप में बस जाने पर हिन्दू जनता विजित जाति होने के कारण कुछ हेयता और निराशा की भावना का अनुभव करने लगी थी। उनके नागरिक अधिकार भी छीन लिए गये। यवन बादशाहों की स्वेच्छाचारिता, अत्याचार तथा क्रूरता आदि दानवी वृत्तियों ने हिन्दू जाति को और भी हेय बना दिया। उनमें अब न तो स्वाभिमान ही रह गया और न आत्म प्रतिष्ठा की भावना रही।[३]

वातावरण अत्यंत क्षुब्ध था। जनता परस्पर विरोध की भावना रखती थी। मानव शांति और विश्राम चाहता है। जिस युग में विद्रोह होता है उसमें किसी ऐसी प्रतिभा का जन्म अवश्य होता है, जिसमें सामान्य व्यक्ति की यह अभिलाषा पूरी शक्ति के साथ प्रकट होती है और वह प्रतिभा जनता की उस अभिलाषा को सफल करने का प्रयास करती है। इसी सत्य को देखकर भारतवर्ष में अवतारवाद की कल्पना हुई थी। अवतारवाद का अर्थ है कि क्षोभ-पूर्ण युग में दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव, जो जनता को दु:ख तथा पाप से मुक्ति

---

१. संत काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप डा० बाबूराव जोशी, पृ० ५६.
२. गोस्वामी तुलसीदास - डा० पंडित सीताराम चतुर्वेदी, पृ० १६.
३. कबीर की विचारधारा : डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ७२.

दिलाता है। यद्यपि आज का युग अवतारवाद पर विश्वास नहीं करेगा तो भी इतिहास के पन्ने पलटने पर यह ज्ञात होगा कि विश्व शांति की सुरक्षा के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर इस संसार में अनेक महान व्यक्तियों का उदय हुआ है। वे आज भी हैं, उन्हें हम अवतार-पुरुष नहीं कहते; पर उनमें अवतार-पुरुष का लक्षण और विशेषता हम अवश्य देखते हैं। वे इसीलिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं कि जनता की विषमताओं को दूर करने का उपाय करें। जनता को ठीक रास्ते पर चलाने का मार्ग-निर्देश करना ही उनका कर्तव्य है। इस प्रकार के युग-पुरुषों की श्रेणी में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी अमृतमयी वाणी द्वारा जनता के मानस सागर में आनंद और शांति की तरंगें उठने लगीं।

अब हम इन महान व्यक्तियों की काव्य-रचना में वर्णित नागरिक जीवन का स्वरूप देखेंगे। कबीर का युग संघर्ष का युग था। उन्होंने जन-समाज के संघर्ष को दूर करने के लिए समानता की उद्घोषणा की। कबीर का विश्वास था कि जो निर्धन है उसमें विनम्रता का भाव उत्पन्न होता है और जो अमीर और धनी होता है उसमें विषय-वासना की अधिकता रहती है।[1] उस समय समाज अवगुणों और पापों से घिरा हुआ था। प्रभु-भक्ति को छोड़ कर संसार को दूसरा आश्रय नहीं था।[2] साधारण जनता का जीवन कष्टमय और दुःखों से भरा हुआ था। उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था। न वह बुद्धिमान, न बलवान थी। सुल्तान और शासक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। आक्रमण के समय उसका स्वरूप और प्रभाव ज्ञात होता था। वह शासक वर्ग द्वारा सतायी जाती थी। गांव के ठाकुर खेत की नाप लेते थे, कायस्थ

---

१. दीन गरीबी दीन कौं, दुंदर कौं अभिमान।
   दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम ।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० १२, पृ० २८१.

२. चंदन घसि घसि अंग लगाऊं, राम बिना दारुन दुख पाऊं।
   सत संगति मति मन करि धीरा, सहज जानि रांमहि भज कबीरा ।।
   - वही, पद ११५, पृ० ४०५.

पटवारी का हिसाब कभी होता ही नहीं था ।[1] यह संसार ताप-भय से आक्रांत हो उठा है ।[2] कपट भक्तों की हंसी उड़ाते हुए कबीर कहते हैं -

कपट की भगति करै जिन कोई ।
अंत की बेर बहुत दुख होई ।।[3]

इस प्रकार कबीर एक समाज-सुधारक के रूप में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुए । कबीर ने अपनी वाणी के सहारे एक ओर तो जनता की मूर्खता भरी बातों को प्रदर्शित किया । `जिसकी लाठी उसकी भैंस` और `अपनी अपनी ढफली अपना अपना रंग` जो उस समय चरितार्थ हो रहा था - समाप्त किया । उन्होंने अपनी प्रखर भाषा में इसका जनता के समक्ष भण्डा फोड़ किया; दूसरी ओर उन्होंने अपना एक नवीन मार्ग जनता को आकर्षित करने के लिए प्रशस्त किया ।[4] जनता एवं भारतीय नागरिक वर्ग का उद्धार करना ही कबीर का लक्ष्य था । कबीर ने विलासी यवनों को भी पतन के कगार से गिरने से बचाया । उन्होंने अपनी प्रखर वाणी से इनकी निन्दा की और उन्हें नयी दिशा का निर्देश किया ।

सूफी कवियों ने भी तत्कालीन नागरिक जीवन की दुर्दशा का नग्न चित्रण अपनी रचना में किया है । जायसी जैसे प्रेमाख्यानक कवियों के समय में जनता मुसलमान बादशाहों के अत्याचार से रुदन और क्रन्दन कर रही थी । जायसी

---

१. नगर एक तहां जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानां ।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इंद्री कह्या न मांनै हो रांम ।।
गांव कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।
+ + + +
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।
पांच किसानां भाजि गये हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद २२२, पृ० ४६६.

२. ता भै थैं मन लागौ राम तोही, करौ कृपा जिनि बिसरौ मोहीं ।। टेक ।।
जननीं जठर सह्या दुख भारी, सो संक्या नहीं गई हमारी ।।
- वही, पद २२३, पृ० ४७०.

३. वही, पद २३३, पृ० ४७५.

४. कबीर मीमांसा : कैलाशचन्द्र वार्ष्णेय, पृ० ३५.

ने 'पद्मावत' में यह बताया है कि मुसलमान बादशाहों को हिन्दुओं के प्रति अपार द्वेष था । इसी कारण से बादशाह अलाउद्दीन ने राजा रत्नसेन को छल-कपट से कैद कर डाला और अंत में उनसे भीषण युद्ध किया ।[१] हिन्दू राजाओं के प्रति जितना अन्याय किया गया, उसी तरह हिन्दू जनता के प्रति भी अत्याचार का व्यवहार किया गया ।

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भी नागरिक जीवन का स्पष्ट चित्रण किया है । ग्रामों का जीवन शहरों की अपेक्षा अत्यंत सुन्दर और सभ्य है । सूरदास ने 'सूरसागर' के द्वारा नागरिक जीवन की झांकी दिखायी है । ब्रज के लोग भोले-भाले थे । वे सीधा-सादा जीवन बिताते थे । उनका प्रधान काम गायों को चराना और दधि-दूध बेचना था । गोपियां गली-गली में दूध बेचने आया करती थीं ।[२] वृन्दावन में गायों को चराने के लिए अधिक भूमि थी । ब्रजवासियों में पारस्परिक प्रेम और अटूट सम्बन्ध था । कृष्ण के जन्म की बात सुनकर सारी गोपियां तथा सारे गोप आनन्दमग्न होकर नन्द महर के घर चले आते हैं ।[३] कृष्ण गांव भर का पुत्र था । ग्रामीणों के मेल-जोल, उल्लासपूर्ण जीवन का जो वर्णन सूरदास ने किया है, वह दर्शनीय है ।

सूरदास ने दुष्ट राजा के प्रति रूप में कंस का जो चित्रण किया है, वह अत्यंत सुन्दर है । राजा कंस ने कृष्ण की हत्या करने के लिए कपटी राक्षसी पूतना को भेजा ।[४] राजा कंस दुराचारी और नृशंस राजा था । वह तो कृष्ण को मारने के उद्देश्य से अनेक राक्षसों आदि को भेजता है । कंस की यह अनीति सुनकर नन्द डर गये ।

---

१. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६७१-६६१.
२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २२५४, २२५६, पृ० ८२७.
३. ब्रज भयौ महर कैं पूत जब यह बात सुनी ।
   सुनी आनंदे सब लोग, गोकुल नगर सुनी । - वही,वही, पद २४,पृ० २६५.
४. प्रथम कंस पूतना पठाई ।
   नंद-घरनि जहं सुत लिये बैठी, बली-बली तिहिं धामहिं आई ।
   - वही, पद ५१, पृ० २७८.

ब्रज में नर-नारी पारस्परिक प्रेम से जीवन बिताते थे। प्रत्येक काम वे मिल-जुलकर करते थे। सुरपति की पूजा के वक्त ब्रज के नर-नारी वहाँ एकत्र होते थे।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कलियुग वर्णन में तत्कालीन जन-साधारण की अनेक परिस्थितियों का उल्लेख किया है। तुलसी की अनेक रचनाओं में हम देखते हैं कि मुस्लिम राजतंत्र के अन्तर्गत प्रजा की असहायावस्था कितनी करुणापूर्ण थी। राजा की शोषक मनोवृत्ति और सामन्तवादी प्रवृत्ति ने राजा को मानव से दानव बना दिया था। प्रजा अरक्षित और निस्सहाय हो रही थी। चारों ओर अकर्मण्यता, अविवेक और असंतोष रूपी भीषणता की आग सुलग रही थी। प्रजा का जीवन पशुवत् था, वर्णसंकरता और भिखारियों की वृद्धि हो रही थी।[२] 'मानस' के कलिकाल वर्णन में उस समय के नागरिक जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। मुगल बादशाहों के समय भारत में अकाल और महामारी हुए। दुर्भिक्ष तो बार-बार पड़ते ही रहते थे। तुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय जहाँ देखो वहाँ रोग और महामारी की व्यापकता दीख पड़ती थी।[३] पुरुष स्त्रियों पर आसक्त होते थे। भोग-विलास का नग्न तांडव हो रहा था।[४] बेटी जब ब्याह के बाद ससुराल जाती है और वहाँ सुख से रहने लगती है तब अपने कुटुम्ब के लोग शत्रु दिखायी पड़ने लगते हैं।[५] कलियुग में

---

१. ब्रज-नर-नारि नंद-जसुमति सौं, कहत श्याम ये काज करो।
कुल-देवता हमारे सुरपति, तिनकों सब मिलि भेंटि धरो।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८४२, पृ० ५६०.

२. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा - डा० रामाराम रस्तोगी, पृ० २४२.

३. नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारन हीं।
- रामचरितमानस, उत्तरकांड, चौ० २, पृ० १७५.

४. नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं।।
- वही, वही, चौ० १, पृ० १६६.

५. ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुंब भये तब तें।
- मानस, उत्तरकांड, पृ० १७४.

चोर को चतुर माना जाता था। लुटेरे और खिलाड़ी का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। लोग भक्ष्य और अभक्ष्य सब कुछ खाने लगे।[१] उस समय एक कौड़ी के लिए ब्राह्मणों और गुरुजनों की हत्या कर डालते थे।[२] प्रति दिन दुष्ट और अत्याचारी राजा कुचाल पर चलते थे, इसलिए क्षत्रिय-समाज प्रजा को सताता रहता था।[३]

शासक वर्ग की अनीति के कारण नागरिक पतित हो गये। वे पाप और पाखंड रूपी नदी में तैरते रहते थे। संसार में शांति, सत्य और अच्छी रीतियाँ हमेशा के लिए समाप्त हो गयीं। सब लोग दुराचारी और कपटी हो गये। इससे नागरिक जीवन भी निराशापूर्ण हो गया।[४] तुलसीदासजी ने 'कवितावली' में भी तत्कालीन जनता की जीवन-रीति के बारे में कहा है।[५]

---

१. चोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भंडुआ भंड।
   सब भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाखंड॥
   - दोहावली, दो० ५४९, पृ० १८९.

२. कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥
   - वही, दो० ५५२, पृ० १९०.

३. राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
   \+ \+ \+ \+
   प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
   - विनयपत्रिका, पद १३९, पृ० २१८.

४. वही, पद १३९, पृ० २१८.

५. किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाट,
   चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
   पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
   अटत गहन-गन अहन अखेट की॥
   ऊँच नीच करम धरम अधरम करि,
   पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी॥
   - कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ९६, पृ० ६६.

अपनी रचनाओं में जिन प्रसंगों पर नागरिक जीवन तथा धर्म की च्युति का वर्णन तुलसी ने किया है वहाँ तुलसी के सामने अपने समय के नागरिक जीवन और धर्म ही प्रमाण रहा था । दुर्भिक्ष और महामारी के कोपों के वर्णन में, घर घर के कलह के वर्णन में समाज के बीच कपट, दारिद्र्य, दुःख, पराजय, निराशा, उदासी, छल आदि के उदय के परिचय में, सब में तुलसी का आदर्श अपने समय का जन-जीवन था ।

भक्तिकालीन कवियों में वरिष्ठ शासन की कल्पना

वरिष्ठ शासन की कल्पना कवियों की मानस तंत्रियों में तभी उठती है जब राज्य की राजनीतिक दशा अस्त-व्यस्त हो जाती है । श्रेष्ठ शासन को वरिष्ठ शासन की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । भक्तिकालीन राजनीतिक दशा अनीति और अत्याचारों से पूर्ण थी । जनता में न शांति थी, न संतोष था और न सुख । अकाल और अराजकता के कारण उसका जीवन स्तर निम्न हो गया । शासक वर्ग उसकी कमायी संपत्ति छीन लेने लगे । उनमें विलासप्रियता की अधिकता थी । भक्तिकालीन अधिकांश कवियों का समय मुगलों का समय था । जनता को किसी भी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था । सारा अधिकार बादशाहों पर निर्दिष्ट था । यद्यपि राज्य की ओर से बाहरी आक्रमणों को रोकने का पूरा प्रबन्ध था, तथापि कृषक वर्ग को अपनी रक्षा अपने आप करनी पड़ती थी । यही दशा, कुछ और गिरे रूप में, जहाँगीर के समय तक चलती रही । मुगल बादशाहों के आने के पहले तत्कालीन हिन्दू शासक परस्पर संघर्ष करके अपनी शक्ति नष्ट कर चुके थे । उनके नाश का कारण पारस्परिक वैर था । मुगलों के आधिपत्य-काल में हिन्दू शासक पूर्णतः अशक्त हो चुके थे । मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज को तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है - उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग । इतना वैषम्य और वैभिन्न्य उपस्थित हो गया था कि संपूर्ण हिन्दू और मुसलमान समाज, सामाजिक दृष्टि से एक विचित्रालय से अधिक और कुछ न था । जहाँ उच्च वर्ग अश्लील भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, मांस-मदिरा-मैथुन, जुआ और विलासपूर्ण प्रीतिभोजों

के मद में चूर था और उनका पिछलग्गू नवकाल मध्यम वर्ग इन विलासों के अभिनय में 'मेकप' करने में व्यस्त था। वहाँ निम्न वर्ग इन दोनों वर्गों की भूख शांत करने में भूखों मर रहा था। धनी उत्तरोत्तर अधिक धनी होते जा रहे थे और निर्धन भिक्षाटन को जीविका का आधार बनाते जा रहे थे। दूर से देखने वालों को मुगलों की शान-शौकत व राजधानी की चमक-दमक चकाचौंध में अवश्य डाल देती थी। किन्तु राजनीतिक महत्व के प्रमुख नगरों को छोड़कर शेष भारत में दरिद्रता का ही साम्राज्य छाया हुआ था।[१]

समाज और राज्य की ऐसी स्थिति देख कर भक्तिकाल के अवतार पुरुष कवियों ने उच्च सामाजिक व्यवस्था एवं शासन की रीति जन-मन में स्थिर रखने के लिए कविता का आश्रय लिया। इन भक्त कवियों ने अपने उत्कृष्ट ग्रंथों में उच्च वर्ग की घोर विलासिता एवं अनैतिकता तथा निम्न वर्ग की विपन्नता का यथार्थ चित्रण किया और उस स्थिति को बदलने का मार्ग निर्धारित किया। उनका काव्य लक्ष्य उच्चतम मंगलपूर्ण मानव समाज और आदर्श राज्य की स्थापना था। आदर्श समाज और आदर्श शासन के लिए वरिष्ठ शासन व्यवस्था अनिवार्य है। इन कवियों ने अपनी काव्य-सरिता के सहारे मानवता के महान धर्मों का उपदेश किया और जनता को सुख और शांति प्रदान की। इस मंगलमय समाज और राज्य का उच्चतम आदर्श तुलसी, सूर जैसे भक्त कवियों के रामराज्य और कृष्ण-राज्य की कल्पना में मिलता है। इन्होंने जहाँ एक ओर राम या कृष्ण के आदर्श राज्य की कल्पना की, वहाँ दूसरी ओर अत्याचारी रावण या कंस के अपवित्र गर्हित अनाचारपूर्ण राज्य का भी संकेत किया है। इन भक्त कवियों ने इस प्रकार भारतीय जीवन को और भारतीय जन-समाज को व्यापक आदर्श और संदेश दिया। तुलसी ने राम-राज्य की कल्पना प्रस्तुत की, सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने आदर्श राजा कृष्ण की जीवन-कथा के सहारे उच्च जीवन का आदर्श रखा। संतों ने उत्तम व्यवस्था को उद्घोषित किया।

---

१. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन डा० रतिभानुसिंह नाहर, पृ० २९५.

रामराज्य

राम-राज्य का दूसरा नाम है 'प्रजा-राज्य'। भक्तिकालीन कवियों में तुलसी ने रामराज्य की कल्पना इसीलिए की कि पठानों और मुगलों की अभारतीय संस्कृति भारत से जड़ से उखड़ जाय। अत्याचारी और धर्मान्ध मुगलों के साम्राज्य और मानसिक बुराइयों के समक्ष आदर्श राज्य की कल्पना करके तुलसी ने देश के प्रति महान कर्तव्य ही पूरा किया है। राज्यतंत्र का शुद्ध रूप है रामराज्य। वह ओटोक्रेसी या डेस्पोटिज्म से प्रभावित है। तुलसी के रामराज्य की परिभाषा विद्वानों और आलोचकों ने की है। गांधी जी का सर्वोच्च दर्शन रामराज्य का युगानुकूल रूप है। उन्होंने अपने स्वराज्य की कल्पना तुलसी के रामराज्य से की है। गांधीवाद के अनुसार समाज की व्यवस्था का आदर्श रामराज्य है। रामराज्य का लक्ष्य भी यही है कि समाज के लोगों को वैयक्तिक प्रोत्साहन और सामूहिक रूप से परमेश्वर का साक्षात्कार करने की सुविधा मिले। रामराज्य अवश्य काल्पनिक है, परन्तु वैसा ही कुछ न कुछ तो पहले था ही, यह भी हम सिद्ध कर सकते हैं। वैसे असत्य और दरिद्रता का पूरा-पूरा लोप बिल्कुल तो न पहले किसी समय हुआ और न भविष्य में कभी होना संभव है।[1] रामराज्य यानी इस दल और उस दल का नहीं, इस बात या दूसरे मत का नहीं, यह तंत्र या वह तंत्र नहीं; बल्कि प्रेम का राज्य; सबका, पंचायत का राज्य। किसी राजा का नहीं, हर श्रमिक का राज्य। वह रामराज्य जो जरूरत पड़ने पर बेहद केन्द्रित भी हो सके और यों एकदम विकेन्द्रित हो।[2] डॉ० राधाकृष्णन ने रामराज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह एक आत्मनिर्भर भारत को चाहते थे, जिसमें कि साधारण मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य के मालिक होने का अनुभव हो, जिसको (जिस भाग्य को) वह बिना किसी बाधा या अड़चन के स्वेच्छापूर्वक कोई निश्चित रूप देता है, एक ऐसा भारत जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी बुनियादी आवश्यकताएं होती हैं, जहां अमीर

---

१. गांधी साहित्य - भाग १० - गांधी विचार रत्न - भाईदयाल जैन — बापू के पत्र प्रेमा बहन के नाम, पृ० २२१.

२. अकाल पुरुष गांधी जैनेन्द्र कुमार, पृ० २३२.

और गरीब में लंघनीय दूरी नहीं होती और जहाँ शासक वर्ग जनता के नौकर होते हैं और न कि उनके मालिक जो उनके सम्मुख अपने लिए विशेष अधिकार का दावा रखते हैं।[१] अब प्रश्न यह उठता है कि रामराज्य का यह नारा कैसे आया? विद्वानों का मत है कि 'राम-स्मरण' (अर्थात् ईश्वर-चिन्तन) करते रहने से राज्याधिकारियों में प्रभुता के स्थान पर विनम्रता और मदपूर्ण स्वामित्व के स्थान पर विनीत सेवा-भाव आता रहता है। अतः 'राम' का नारा लगाने में केवल व्यक्तिगत शुद्धता के भाव की प्रधानता रहती है, जबकि 'रामराज्य' कहने में सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन की शुद्धता का भाव निहित रहता है। इसलिए सामाजिक जीवन की दृष्टि से 'रामराज्य' का ही नारा उपयुक्त है।[२] 'रामराज्य' को 'एकतंत्रात्मक' अथवा 'प्रजासत्तात्मक एकतंत्र' अथवा एक प्रकार का 'पंचायत राज्य' कहा जा सकता है। रामराज्य वास्तव में प्रजासत्तात्मक ही था, क्योंकि उसका लक्ष्य था जन-कल्याण, और उसमें वाणी और विचार के स्वातन्त्र्य के लिए सब को समान अवसर था।[३] इस प्रकार हम रामराज्य को प्रजातंत्र राज्य की संज्ञा दे सकते हैं। साम्प्रदायिक द्वेष-भाव और लड़ाई-युद्ध के विषय से रामराज्य सदा के लिए मुक्त है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण और मंगल ही इसका लक्ष्य है। इससे व्यक्ति में सहयोग, करुणा और प्रेम-भाव आदि का गुण विद्यमान रहता है।

---

१. "He wanted a self relaint India in which the common man would feel master of his destiny, which he could shape as he liked without any let or hindrance, an India in which everybody would have enough for his basic needs, in which there would be no insuperable gulf between rich and poor and in which the rulers ~~xxx~~ would be the servants of the people, and not their masters claiming exchange privilages for themselves."

— M. Gandhiji : 100 years — Dr. Radhakrishnan, Page 289-290.

२. क्रांतिकारी तुलसी   श्री नारायणसिंह, पृ० ३०१.

३. गोस्वामी तुलसीदास   व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य — रामदत्त भारद्वाज, पृ० ४४२.

रामराज्य की महानता

रामराज्य का अर्थ है `आदर्श राज्य` । यह भारतवासियों का परंपरागत विश्वास है । आदर्श राज्य केवल बाहरी कर्मों का प्रतिबन्धक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को स्पर्श करने वाला है । उसमें लोक-रक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा समाहित है । यह धर्म-राज्य है । यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है — आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है । इसमें राजा-प्रजा और राज्य का निकटतम संबंध है । इस सामंजस्य के अभाव में राज्य या राष्ट्र का नाश होता है । प्राचीन काल में राजा आदर्श थे और सर्वगुणों से विभूषित थे । इससे प्रजा सुखी और राज्य ऐश्वर्य और महत्वपूर्ण था । मानव का विकास कहाँ तक हो गया ? यह विचारणीय विषय है । मानव के संघटन का इतना विकास हो चुका है कि उसकी दृष्टि से समाज के अर्थ में व्यापकता आयी है । छोटे परिवार से लेकर विस्तृत राज्य तक का समुदाय समाज के अन्तर्गत आता है । समाज का विकास राष्ट्र तक हो चुका है । विकास के चरमोत्कर्ष के अनन्तर हो सकता है कि समाज का व्यक्ति `वसुधैवकुटुम्बकम्` का नारा लगाये ।[१]

प्राचीन काल में कई प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं । वे हैं — राजतंत्र (Monarch), गणतंत्र (Democracy, Republic), समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism), संघवाद (Federalism), और अधिनायकवाद (Dictatorship), लेकिन भारत में इस प्रकार की अनेक शासन-प्रणालियाँ प्रचलित नहीं हुई थीं । हमारे आलोच्य काल के कवियों ने प्रजामंत्रणायुक्त राजतंत्र (Monarch) को सर्वोत्तम व्यवस्था माना है और इस शासन प्रणाली को रामराज्य का नाम दिया है ।

अब हम भक्त कवियों की रचनाओं के आधार पर उनके काल्पनिक आदर्श राज्य का सिंहावलोकन कालक्रमानुसार कर सकते हैं । सबसे पहले संत कवियों का पदार्पण हुआ । संत कवियों में अग्रगण्य कबीरदासजी थे । उनके काल में जनसमूह हिन्दू और मुसलमान दो धार्मिक विमार्गों में विभक्त था । वे दोनों सदैव एक

---

१. तुलसी उदयभानुसिंह, पृ० १३६.

दूसरे से नफरत करते थे। कबीर ने सर्वप्रथम हिन्दू-मुस्लिम एकता की अनिवार्यता को अनुभव किया। दोनों धर्मों की जिस एकता और सहिष्णुता को राष्ट्रपिता गांधी ने भारतीय स्वतंत्रता और राष्ट्रनिर्माण का एक मूलमंत्र बनाया, उसका स्वप्नद्रष्टा और बीज रोपने वाला कबीर ही थे। भक्ति क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी कबीर ही मानव बन्धुत्व और समानता के सर्वप्रथम प्रतीक हैं। कबीर का एकमात्र उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता थी। कबीर की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम शासन-काल में भी प्राय: तीन शताब्दियों तक हिन्दू-मुस्लिम धर्म संबंधी अनाचार की कोई घटना नहीं मिलती।[१] संतों ने इसके लिए राम-रहीम की एकता की घोषणा की।[२]

संतों ने अपने काव्य में लौकिक राजसत्ता की निरंकुशता की ओर संकेत किया। इसका मूल कारण तत्कालीन राजनीतिक दशा और शासन प्रणाली थी। संतों ने राज्यसत्ता की अस्वीकृति की और इसके स्थान पर आध्यात्मिक राम-राज्य की परिकल्पना की। इस प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं में राम-राज्य या आदर्श राज्य की व्यंजना की है। संतों के आदर्श राम-राज्य की परिकल्पना समसामयिक राजनीतिक सीमाओं के अन्तर्गत और शासन-सत्ता पर ही आधारित है; परन्तु इस राज्य की परम सत्ता आदर्श न्याय पर ही आधारित थी। कबीर के अनुसार 'राजा राम' ही वास्तविक सम्राट हैं और उसी की व्यवस्था को स्वीकार करने का वे आग्रह भी करते हैं। अनेक राजाओं के अधिकार में विभक्त प्रपंचपूर्ण राज्य-व्यवस्था प्रजा के लिए अहितकर ही है।[३] यह परम सत्ताधारी आदर्श है, जिसका शासन सत्य और विवेक के न्याय पर आधारित है। संतों का आदर्श शासक वही है जिसने पांच तत्वों को जीता हो, अर्थात् जो अपने को सांसारिक दुर्बलताओं, कमियों और दोषों से अलग रख सकता है। उसकी आदर्श स्थिति राजाओं के बीच पंच की भाँति है, वह अन्य बादशाह को अधिकृत करने वाला बादशाह मात्र नहीं है, वरन् पंच की भांति तटस्थ होकर सबका समुचित

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २६७.
२. हमारै राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति सोई।
 - कबीर ग्रंथावली, पद ५८, पृ० ३७१.
३. कबीर बीजक, पद ४६, पृ० २०१.

नियमन करने वाला है ।[१] इस अखण्ड सत्ता के अन्तर्गत माया का कोई स्थान नहीं । इससे प्रजा-जन की रक्षा ही सहज रूप में की जा सकती है ।[२] संत 'सत्य' को इस राज्य का कोष मानते हैं । उनके अनुसार राज्य-सत्ता जिस कोष के आधार पर व्यवस्थित होनी चाहिए वह जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से संपन्न है । इसका भाव यह ग्रहण किया जा सकता है कि आदर्श राज्य-व्यवस्था धन और संपत्ति के विभाजन और वितरण के आधार पर न होकर मानवीय मूल्यों पर आधारित होनी चाहिए ।[२] राजा राम ही संतों का एकमात्र आशा केन्द्र थे । इस राजा के आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने से मनुष्य असली जीवन बिताने लगते हैं । वहां लौकिक माया का स्थान नहीं है । प्रजा स्वयं उससे मुक्त होती है । सारांश यह है कि माया संतों की दासी है । वह उनकी आज्ञा का पालन करती है ।[३] इसप्रकार संत लोग माया लोक को बाधिक मानते हैं । उन्होंने इसलिए लौकिक राज्यसत्ता की सीमाओं पर न्याय और आदर्श आध्यात्मिक राज्य की स्थापना की है ।

सूफी कवियों के काव्य में सुख और शांति से जीवन बिताने योग्य राज्य-व्यवस्था की परिकल्पना कम स्थानों पर मिलती है । जायसी ने 'पद्मावत' के स्तुतिखंड में इस आदर्श राज्य की ओर संकेत किया है । जायसी ने आरंभ में उस शक्ति सत्ता के साम्राज्य का वर्णन किया है । वे राजा सृष्टि के आदि से अंत तक राज करते हैं ।[४] जायसी ने स्तुति-खण्ड में शेरशाह की स्तुति इसलिए की है कि वे आदर्श राजा थे और नीति चलाने वाले गौरवशाली महान् राजा थे ।

---

१. जैसे माया मन रमैं, यूं जे राम रमाइ ।
   (तौ) तारा-मंडल छांड़ि करि, जहां केसो तहां जाइ ।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० २४, पृ० ११३.

२. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि - डा० ओमप्रकाश शर्मा, पृ० ६५.

३. माया दासी सन्त की, ऊंभी देइ असीस ।
   बिलसी अरु लातों छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० १०, पृ० ११२.

४. आदि सोइ बरनौं बड़ राजा । आदिहुं अंत राज जेहि छाजा ।
   सदा सरबदा राज करेई । औ जेहिं चहइ राज तेहिं देई ।
   - पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६.

उन्होंने प्रजा की संभाल पृथ्वी को टेक कर की है। इससे जायसी उनसे युग-युगों तक शासन करने की प्रार्थना करते हैं।[१]

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में ही 'राम-राज्य' का जीता-जागता वर्णन मिलता है। वैदिक राजतंत्र की प्राचीन परंपरा को तुलसी ने रामराज्य की कल्पना के लिए अपने समक्ष रखा। मानव-कल्याण के लिए उन्होंने इस पद्धति को अपनाया। तत्कालीन राजतंत्र की पतनावस्था की भयानक परिस्थिति उनकी आँखों के सामने थी, जिसके जुल्म-सितम से करोड़ों-करोड़ों जनता चीत्कार कर रही थी और मुक्ति के मार्ग की राह देख रही थी। फलत: तुलसी ने 'नाना पुराण निगमागम संमत' के आधार पर मानवशास्त्र और धर्मशास्त्र की अनुभूत परंपरा पर भारतीय आदर्शोन्मुख राजतंत्र की शाश्वत शांतिपूर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन किया और भारत जैसे पतनोन्मुख राष्ट्र की टूटती हुई व्यवस्था के संयमित करने का एक सफल प्रयत्न किया।[२] जन-जन के कल्याण के लिए उपयोगी शासन-प्रणाली का रूप तुलसी ने अपने लंबे अरसे की साधना से खोज निकाला। वही अंत में तुलसी ने रामराज्य के रूप में प्रस्तुत किया। तुलसी ने अपने काल्पनिक विचारों के अनुसार स्वतंत्र शासन प्रणाली को प्रजातंत्र शासन-प्रणाली से मिलाकर एक समन्वयात्मक शासन रीति ही रामराज्य के रूप में हमारे सामने रखी है।

तुलसीदास प्रजा के प्राणप्रिय न समझने वाले शासकों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। वे प्रजा-पक्ष के समर्थक थे। प्रजा में पारस्परिक ऐक्य ही रामराज्य की सर्वोपरि विशेषता है। इसीलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य का नाम रामराज्य रखा और आदर्श राजा का नाम राम। उनकी दृष्टि में 'प्रजा' शब्द का अर्थ है 'संतति'। तुलसीदासजी प्रजा के प्रति राजा की वात्सल्य-भावना को ही ठीक समझते हैं। वात्सल्य की भावना में स्वामित्व का दम्भ

---

१. औ अति गरू पुहुमिपति भारी। टेक पुहुमि सब सिस्टि संभारी।
दीन असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज।।
- पद्मावत : व्याख्या०श्री वा.श.अग्रवाल, पृ० १३.

२. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा — डा० राजाराम रस्तोगी, पृ० २३६.

और अलंकार आप से आप लीन हो जाते हैं । राजा के लिए प्रजा प्रिय है । राजा को उसका प्रेमी होना चाहिए । राजा भी प्रजा के लिए प्रिय हो, यह उसके कर्मों और व्यवहार पर आश्रित है । दूसरे शब्दों में तुलसी की दृष्टि में राजा के लिए प्रजा का `प्रियत्व` स्वाभाविक होना चाहिए । प्रजा में भी राजा का `प्रियत्व` हो, इसके लिए राजा को ही प्रयत्नशील होना चाहिए ।[१]

तुलसीदासजी ने अपने आदर्श रामराज्य का वर्णन विस्तार से `रामचरित मानस` के उत्तरकांड में किया है । इसके अतिरिक्त `कवितावली`, `गीतावली`, `दोहावली`, `विनयपत्रिका` आदि अन्य विशिष्ट ग्रंथों में भी रामराज्य का संकेत है । अब हम तुलसी की रचनाओं में वर्णित रामराज्य का सिंहावलोकन करें ।

`रामचरितमानस` में रामराज्य की कल्पना :

यदि हम भारतीय जीवन की आचार-संहिता के रूप में तुलसीदासजी के `रामचरितमानस` की परिकल्पना करें तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी । उस पवित्र ग्रंथ में पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का संपूर्ण दर्शन मिलता है । जब रामजी वनवास के बाद अयोध्या लौट आये तो उन्होंने `रामराज्य` नामक एक नये राज्य की स्थापना की । राजा राम और उनके राज्य की छत्रछाया में चारों ओर मंगल छा गया । जब वे अयोध्यापुरी के राजा हो गये तब तीनों लोक हर्षित हुए और सब का शोक-भय मिट गया ।[२] इससे तात्पर्य यह है कि राज्य वह उत्तम है जिससे केवल एक राष्ट्र ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व को हर्ष पहुंचे । रामराज्य से `त्रयलोक हरषित भए` - यही तुलसी ने चित्रित किया है । यदि एक की समृद्धि से दूसरे राष्ट्र आतंकित हो उठें तो वह कैसा आदर्श राज्य ! `त्रय लोक` मतलब है शासन द्वारा भौतिक समृद्धि ही बढ़ायी गयी अथवा रोटी का सवाल ही हल कर डाला गया, तो क्या हुआ जब तक कि हृदय की भावनाओं के लिए पूर्ण आनंद और विचारों की दौड़ के लिए

---

१. तुलसी उदयभानुसिंह, पृ० १३६.

२. रामराज बैठे त्रैलोका । हरषित भए गए सब सोका ।
- रामचरितमानस, उत्तरकांड, चौ० ४, पृ० ४५.

पूर्ण समाधान भी नहीं प्राप्त होता । यह है त्रैलोक्य का हर्ष । यह है 'त्रैलोका हरषित भए' का अभिप्राय ।[१] तुलसी की रामराज्य सम्बन्धी भावना कितनी विस्तृत थी, यह अनुमाननीय है ।

राजा राम के राज्य में प्रजा में पारस्परिक ऐक्य था । राजा और प्रजा में समत्व की भावना थी । राज्य में जब प्रजा में वैर या राग-द्वेष की भावना जागृत होती है तो वहाँ विषमता या समत्व की कमी होती है । तब जनता में आपसी फूट होना स्वाभाविक है । केवल राजा ही राजतंत्र में विषमता का एकमात्र कारण है । राज्य की अच्छाई और बुराई राजा के प्रताप के अनुसार चलती रहती है । अगर राजा अत्यंत प्रभावशाली और बहादुर हो और अत्याचारियों को उचित दंड दे और साधु-सज्जनों को समयानुसार सुख-शांति प्रदान करे तो वह आदर्श राजा है । रामराज्य के राजा महाप्रतापी थे ।[२] रामराज्य में प्रजा वर्णाश्रम धर्म का पालन करती थी । यह उच्च-नीच का भेद भाव न था, कर्म सम्बन्धी विराग मात्र था । सब लोग धर्माचरण का व्यवहार करते थे और मिश्रवत रहते थे । भय, शोक और रोग का अभाव होने से जनता में किसी भी प्रकार की कठिनाई न थी । सबमें संयम और सेवा की भावना विद्यमान थी । रामराज्य में जनता को उस अनर्थ नीति, कष्ट, भय, व्याधियों का अनुभव नहीं करना पड़ा, जो उन्हें मुस्लिम राज्यत्व काल में सहना पड़ा था । रामराज्य में जनता सुखी थी, स्वतंत्र थी, द्वेष भावना से दूर थी ।[३] सब में परस्पर प्रीति थी । गोस्वामीजी के शब्दों में यदि कहा जाय तो रामराज्य में प्रजा स्वधर्म के अनुसार चलती थी । प्रजा का विश्वास था कि श्रुति और नीति में निरत होने से उसे त्रिविध ताप से मुक्ति मिलेगी ।[४]

---

१. मानस माधुरी डा० बलदेवप्रसाद मिश्र , पृ० २५२.

२. बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।
- मानस, उत्तरकांड, चौ० ४, पृ० ४५.

३. वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहि भय सोक न रोग ।। - वही, दो०२०, पृ० ४६.

४. दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहि काहुहि व्यापा ।
सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ।।
- वही, चौ० १, पृ० ४६.

रामराज्य में सबको निवास की सुविधा थी और भोजन वस्त्रादि ठीक समय पर मिलता था। अल्प मृत्यु, रोग, दारिद्र्य- इन तीनों महादुखों से लोग दूर थे। वहाँ न कोई दीन था, न कोई दु:खी, न दरिद्र, न मूर्ख, न कोई कुलक्षणी था; क्योंकि शासक और शासित की नियम-बद्धता सर्वोपरि थी। मानव-जीवन के सबसे प्रधान साधन तन, मन और धन ही हैं। जब इनका अभाव होता है तब रोग, दारिद्र्य आदि का उदय होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि रामराज्य में लोगों की कैसी स्थिति थी? उनको कोई अभाव नहीं था। इस कारण उनमें अल्प मृत्यु, दु:ख, शोक नहीं था।[1] दंभी और धर्म-नाशक लोग रामराज्य के किसी भी कोने में देखने को भी नहीं मिलते थे। सब नर-नारी निर्दम्भ होकर धर्म का आचरण करते थे। कोई कपटी न था, न दोषी था। रामजी का राज्य धर्मपरायण राज्य था। घर और बाहर किसी को दु:ख नहीं था।[2] रामराज्य में अत्याचारी और धर्मान्ध लोग नहीं थे। सब उदार थे, विप्रों की सेवा-सुश्रुषा करने वाले थे। इसलिए वहाँ प्रजा शत्रु के भय से दूर थी। `यथा राजा तथा प्रजा` की उक्ति सत्य सिद्ध हुई थी। राजा ने एक नारी व्रत को स्वीकार किया था। इससे प्रजा में एक नारी व्रत का पालन होता था। आदर्श राजा के राज्य में आदर्श प्रजा का होना स्वाभाविक है।[3] रामराज्य में दण्ड-विधान का कोई प्रबन्ध नहीं था, क्योंकि सभी लोग धर्मपरायण और कर्त्तव्यनिष्ठ थे। जीवन के सर्व सुखों की प्राप्ति के कारण जनता में किसी प्रकार की चिंता न थी। राज्य सुन्दर सुचारु रूप से सुसज्जित था। किसी प्रकार का अपराध सुनने को भी नहीं मिलता था। इससे दंड केवल संन्यासियों के हाथ में ही रहा, राजनीति से हट गया।[4] रामराज्य में प्रकृति स्वयं प्रसन्न थी। प्रकृति समयानुसार अपना

---

१. अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।।
   नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।।
   - रामचरितमानस, उत्तरकांड, चौ० ३, पृ० ४७.

२. वही, उत्तरकांड, चौ० २, दो० २१, पृ० ४७-४८.

३. सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नरनारी।
   एक नारि व्रतरत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।।
   - वही, वही, चौ० ४, पृ० ४९.

४. दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
   जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज।। -वही, दो० २२, पृ० ४९.

काम करती थी। उचित समय पर वन-उपवन फूलते-फलते थे। जंगली जानवर - हाथी, सिंह और पक्षी-मृग आदि अपने-अपने सहज वैर को छोड़ कर सामंजस्य के साथ रहते थे। उस समय पृथ्वी कामधेनु के समान थी और वृक्ष कल्पतरु के समान थे। इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि पृथ्वी शस्य श्यामल और कोमल थी। प्रत्येक नदी मन्द गति से बहती थी। वे शुद्ध, सुस्वाद और शीतल जल प्रदान करती थी। समुद्र अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कभी नहीं करता था। रत्नाकर उसका नाम सत्य सिद्ध हुआ था। कमल तालाबों को अलंकृत करते थे।

रामराज्य में सारा संसार सुन्दर एवं सरस हो गया था। चन्द्रमा ने चांदनी रूपी सुधा को बिखेरकर पृथ्वी को पूर्ण कर दिया। मानव समाज को जितने ताप की जरूरत है, उतना ताप देकर सूर्यनारायण भी प्रसन्न होकर पोषण करते थे। पानी की जरूरत पड़ने पर वारिदगण जल दिया करते थे। इसलिए अतिवृष्टि या अनावृष्टि का भय नहीं था।[१]

राजा राम के महल में अनेक सेवक और दासियाँ थीं। वे सब प्रत्येक काम करने में दिलचस्पी रखते थे। उनके रहते हुए भी सीताजी घर का काम खुद करती थी और वे अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करती थीं।[२] राम की राजधानी आलीशान महल थे। वे सोने और मणि से जटित थे। आकाश तक चूमने वाले श्वेत रंग के वे घर थे। उनके ऊपर रखे हुए कलश मानो सूर्य और चन्द्र को लज्जित करते थे। खिड़कियाँ मणियों से बनी हुई थीं। मणि-दीप घर घर शोभा देते थे।[३] उस समय प्रत्येक घर मणि-दीपों से जगमगा रहे थे।

---

१. बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबितप जेतनहि काज।
   मागें बारिद देहि जल, रामचंद्र के राज।।
   - रामचरितमानस, उत्तरकांड, दो० २३, पृ० ५९.

२. जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवाबिधि गुनी।।
   निज कर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।
   - वही, चौ० ३, पृ० ५९.

३. वही, वही, चौ० २, ४, पृ० ५५-५६.

भाव यह है कि अयोध्यापुरी में सब प्रकार की समृद्धि थी। आर्थिक दशा ऊंचे स्तर पर पहुंच चुकी थी। सर्वत्र स्फटिक मणि के आंगन थे। सुवर्ण के कपाट-द्वार लगे थे।[१]

रामराज्य में कला की उन्नति हुई थी। प्रत्येक घर में चित्रशालाएं थीं। उन चित्रशालाओं में राम का चरित्र चित्रित था।[२] प्रजा ने अपने घरों की मनोहारिता के लिए लताओं और फूलों से भरी फुलवारियां लगा रखी थीं। फुलवारी की आवश्यकता पूजा के लिए और शोभा के लिए थी। इन फुलवारियों में भौंरे मधुपान करने के लिए गुंजा करते थे। बच्चों ने अनेक चिड़ियों को पाल रखा था। वे सुन्दर और मधुर स्वर में बोलती थीं। घर के ऊपर मोर, हंस, सारस और कबूतर शोभा पा रहे थे।[३] राज्य के उत्तरी भाग में सरयू नदी बहती थी। उसका जल निर्मल और पवित्र था। उसके तीर पर कीचड़ नहीं था। वह घाट अत्यंत सुन्दर था और लम्बा चौड़ा था। वहाँ घोड़े और हाथी झुण्ड के झुण्ड आकर पानी पीते थे। वहाँ पनघट सुन्दर और सुचारु रूप से बनाये गये थे। वहाँ सुन्दरी स्त्रियां स्नान करती थीं। वहाँ स्त्रियां नहाती थीं, वहां पुरुष स्नान नहीं करते थे।[४]

रामराज्य में शिक्षा की व्यवस्था समुचित थी। अनपढ़ और विद्याविहीन स्त्री-पुरुष उंगली पर गिनने को नहीं मिलते थे। शिक्षित होने के कारण जनता सभ्य और सुसंस्कृत थी। इसलिए दूसरों के प्रति अच्छा व्यवहार करते थे। समाज में ऊंचे स्तर पर काम करने वालों का आदर था और नीच काम कर सामाजिक सेवा करने वालों को स्नेह पूर्ण दृष्टि प्राप्त थी। तुलसी के राम-राज्य में ऐसी कोई छोटी-मोटी बात नहीं थी जो उनकी दृष्टि से छूट गयी हो। सब ही की ओर उन्होंने सम्यक् दृष्टि डाली थी।

---

१. मानस, उत्तरकांड, पृ० ५६.
२. चारु चित्रसाला गृह, गृह प्रति लिखे बनाइ।
   रामचरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चोराइ।। - वही, दो० २७, पृ० ५६.
३. वही, चौ० १, २, ३, पृ० ५७.
४. वही, दो० २८, चौ० १, पृ० ५८.

'कवितावली' में रामराज्य की कल्पना

तुलसीदास की 'कवितावली' के राजा राम त्रिविध ताप को दूर करने वाले हैं, रंकों पर कृपा करने वाले और राजाओं के राजा हैं।[१]

'दोहावली' में रामराज्य की कल्पना

तुलसीदास ने 'दोहावली' में भी रामराज्य की कल्पना की है। वनवास के बाद जब रामजी सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आये तब महर्षियों और सज्जनों के सान्निध्य में रामजी अयोध्या के शासक बन गये। रामराज्य सभी दृष्टियों से आदर्श राज्य था। जन-समाज धर्म-परायणता में संलग्न होने के कारण कर्तव्यनिष्ठ था। उनमें विषयासक्ति नहीं थी, न क्रोध, न द्वेष, और न दुःख। उनमें चारों पुरुषार्थ — धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सुलभ थे।[२] रामराज्य में वृक्ष कल्पवृक्ष के समान थे और भूमि कामधेनु के समान थी। अपनी इच्छा के अनुसार भोग-विलास सब को मिलता था। जनता सब प्रकार से सुखी थी और शांति से जीवन बिताती थी। केवल अपने घर में ही नहीं, वरन् वनों और जंगलों में भी उन्हें सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं।[३] राज्य की आर्थिक दशा उन्नत सीमा तक पहुंच गयी थी। सम्पत्ति का अभाव न था।

---

१. बाहिर जहान में जहानो एक भांति भयो,
बांधिबे बिबुध धेनु, रास भी केराहिए।
ऐसेउ कराल कलिकाल में कृपालु! तेरे
नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिए।।
तुलसी तिहारो मन-बचन-करम, तेहि
नाते नेह-नेमु निज ओर तें निबाहिए।
रंक के नेवाज रघुराज! राज राजनिके,
उमरि दराज महाराज, तेरी चाहिए।।
- कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ७६, पृ० १५२.

२. राम राज राजत सकल धरम निरत नर नारि।
राग न रोष न दोष दुख सुलभ पदारथ चारि।
- दोहावली, दोहा १८२, पृ० ६५.

३. राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास।
तरु सुरतरु सुरधेनु महि अभिमत भोग बिलास।। - वही, दो० १८३, पृ० ६५.

राज्य में खेती, मजदूरी, शिक्षा, व्यापार, सेवा और कारीगरी अच्छी तरह चलती थी ।[१] राज्य में दण्ड-विधान का कोई प्रबन्ध नहीं था, क्योंकि सभी लोग धर्मपरायण थे । इससे दंड केवल संन्यासियों के हाथ की लकड़ी के रूप में रह गया था ।[२] तुलसीदासजी कहते हैं कि रामराज्य में अपने मनोवांछित भोग-विलास पाकर जनता संतुष्ट थी । ऐसे राज्य में रहना भी अभिमान की बात थी । क्रोध नाम मात्र को भी किसी में नहीं था ।[३]

'गीतावली' में रामराज्य की कल्पना

वनवास के बाद राजधानी में वापस आकर रामचन्द्रजी भूपति हुए । सब लोग चारों ओर से आनन्दित हो गये । राज्य में सब तरह के पाप, क्लेश, कुलक्षण, कष्ट, कुमार्ग और कुचाल का नाश हो गया । अकाल, अराजकता, दंभ, दारुण और दुष्काल सब समाप्त हो गये । पृथ्वी अत्यंत उपजाऊ होने के कारण कामधेनु के समान थी और वृक्ष हमेशा फल और फूल से संपन्न होने के कारण कल्पतरु के समान थे । चारों ओर से भाग्य अयोध्या पर आकर रुक गया । प्रजा सब अपने अपने धर्म पर विश्वास करते थे । इस प्रकार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि तुलसी के रामराज्य को सभी दृष्टियों से आदर्श राज्य कहा जा सकता है ।[४]

'विनयपत्रिका' में रामराज्य की कल्पना

तुलसीदासजी ने 'विनयपत्रिका' में भक्ति को ही प्रमुख स्थान देना चाहा । प्रसंगवश कहीं-कहीं उसमें भी उन्होंने रामराज्य की चर्चा की है । विनयपत्रिका

---

१. खेती बनि बिद्या बनिज सेवा सिलिपि सुकाज ।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम के राज ।। -दोहावली, दो० १८४, पृ० ६५
२. वही, दोहा १८५, पृ० ६५
३. कोपि सोच न पोच कर करिअ निहोर न काज ।
तुलसी परमिति प्रीति की रीति राम के राज ।। - वही, दो० १८६, पृ० ६६
४. गीतावली, उत्तरकांड, पद १, पृ० ३८१

में उन्होंने उद्घोषित किया कि रामराज्य में राजा राम ने तीनों ताप– दैहिक, दैविक और भौतिक – को दूर कर दिया । प्रजा में उठने वाले पापों को नष्ट कर दिया । जनता शिक्षित थी । इस कारण उनमें जो बुरी वासनाएं जागती थीं उनका नाश स्वयं होता था ।[१] तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा राम भक्तवत्सल, शरणागत रक्षक, दीन उद्धारक और पतितपावन हैं ।[२] रामराज्य में राम का नाम कल्पवृक्ष के समान था और वह पूरी कामनाओं को पूर्ण करने वाला था । दरिद्रता, अकाल, दुःख, दोष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि सांसारिक आपदाओं को नष्ट करने वाला था राजा राम ।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास ने अपनी सारी मुख्य रचनाओं में अर्थात् रामचरितमानस, दोहावली, गीतावली, विनयपत्रिका में अपनी रामराज्य की कल्पना को अभिव्यक्ति दी है । तुलसीदासजी के रामराज्य के बारे में यों कहा गया है कि तुलसी सामाजिक सुराज या `रामराज्य` को एक चक्रवर्ती-राज्य से युतोपियन `धर्म-चक्र` (धर्म के साम्राज्य) में परिणत कर देता है । यहां सामाजिक मंगल की सिद्धावस्था है । इस अवस्था में त्रिवर्ग प्राप्ति के बाद सानुषिक `मोक्ष` की सिद्धि ही चरम लक्ष्य हो जाती है । इस राज्य के नियम `धर्मस्थीय` होते हैं ।[४] तुलसीदासजी के रामराज्य के वर्णन को सुनकर यह अनुमान किया जा सकता है कि वे राजा और प्रजा के समर्थक थे । क्रमशः

---

१. रघुपति-भक्ति सुलभ सुखकारी । सो त्रयताप-शोक-भय हारी ।।
+ + + +
देहि दरस-परस समागमादिक पापरासि नसावये ।।
जिनके मिले दुख सुख समान, अमानतादिक गुन भये ।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये ।।
– विनयपत्रिका, पद १३६, पृ० ३०६.

२. असमंजस मन को मिटै सो उपाय न सूझै ।
दीनबन्धु, कीजै सोइ बनि परै जो बूझै ।। – वही, पद १८०, पृ० ३३६.

३. वही, पद १५६, पृ० ३४६.

४. तुलसी आधुनिक वातायन से डा० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० ११५.

उन्होंने अपने काव्य-ग्रंथों की रचना जन-समुदाय के सुधार के उद्देश्य से की थी । `विनयपत्रिका` में उन्होंने राज्य की अराजकता और अकाल के निवारण करने की प्रार्थना की और राजा राम के समक्ष अपनी अर्जी पेश की । कष्ट निवारण की कामना करते हुए उन्होंने इसकी रचना की । उनके रामराज्य की कल्पना आज भी जन-समुदाय में प्रचलित है ।

राजनैतिक दृष्टि से तुलसीदासजी उत्कृष्ट कवि थे । तुलसीदासजी ने आदर्श राज्य की महानता स्थापित करते हुए राजा राम के बारे में कहा है - सूर्य की अविद्यमानता में भूलोक पर निविडतम फैल जाता है, परन्तु सूर्योदय होते ही गिरि-गह्वर निहित अन्धकार भी प्रकाश-प्रादुर्भाव से विलीन हो जाता है । तदनुसार ही राजा को उचित है कि अपने राज्य में अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करे ।[१] तुलसी के रामराज्य के सम्बन्ध में एक और आलोचक का विचार है कि समाज के सब वर्गों में सद्व्यवहार है, उच्च कार्य करने वालों का आदर है, नीच कर्म कर समाज सेवा करने वालों पर प्रेम है । स्त्री-पुरुष में बराबरी का सम्बंध है, एक दूसरे के प्रति कर्तव्य को सब अच्छी तरह जानते हैं । सब में परस्पर प्रीति है । मनुष्यों ही में नहीं, जंगली जानवरों में भी वैर-विरोध नहीं है । इस प्रकार समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृभावना (इक्वेलिटी, लिबर्टी, फ्रैटर्निटी), जो कि आदर्श राज्य का चिह्न है, वे सब रामराज्य में वर्तमान हैं ।[२] अंत में यही कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी ने सुखसम्पन्न राज्य की जो कल्पना की थी, उसका बहुत स्पष्ट संकेत `मानस` में है । इसी कारण आज भी रामराज्य हमारा आदर्श बना हुआ है ।

कलियुग वर्णन : राजनैतिक भविष्य की सूचना --

पहले कहा जा चुका है कि राजनीतिक दृष्टि से भक्तिकाल अस्त-व्यस्तता और उथल-पुथल का काल था । उस समय मुगल बादशाहों का शासन था । इनमें अकबर बादशाह ने यद्यपि शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी, तथापि

---

१. रामचरितमानस की भूमिका रामदास गौड़, पृ० ४०५.
२. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना - ब्योहार राजेन्द्रसिंह, पृ० २६५.

साधारण जनता को कोई सुख नहीं था, उसका शासन तो केन्द्रीकृत सैनिक स्वतंत्र था । पदाधिकारियों का चुनाव उनकी सैनिक योग्यता के आधार पर होता था । मुसलमानों का अत्याचार, नृशंसता का व्यवहार और लूट-पाट आदि हिन्दू जनता के लिए कष्टकर थे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कलियुग का वर्णन विस्तार के साथ किया है । उनके समय राज्य के नारी और अत्याचार, कपटी, काम, अहम्मन्यता का ताण्डव नृत्य हो रहा था । भीतरी और बाहरी दोनों तरफ से संघर्ष नित्य होना कोई अस्वाभाविक नहीं । तत्कालीन हिन्दू राजाओं की शक्तिहीनता और भोग-विलास से ही राज्य पतन की ओर जाने लगा । इससे भारत में विदेशी शासन अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया । विदेशी शासकों के प्रभाव के कारण जनता में अराजकता, अकाल, दुर्भिक्ष और दरिद्रता ने अपनी मर्यादा की सीमा छोड़ कर घेर लिया । राज्य में कराल कलिकाल का उदय हुआ । तुलसीदासजी ने देखा कि देश में लोग महाभारत की रीति बरतने लगे हैं, भाई-भाई में, बंधु-मित्र में, सहृदय में और परिवारों में छोटी-छोटी बात पर परस्पर कलह होता था । बाहर वैरी दबे बैठे थे ।

तुलसीदासजी ने 'मानस' में कलिकाल की विस्तृत विवेचना करके अपने समसामयिक शासन की स्थिति का परिचय दिया । कलिकाल बड़ा कठिन और पाप समुद्र में स्त्री-पुरुष का मन मछली हो गया था । अर्थात् पाप से ही उन्हें सुख और संतोष मिलता था । धर्म का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था । कलियुग रूपी पाप ने उसका ग्रहण कर लिया था । सद्ग्रंथ नष्ट हो गये । लोग मोह के अधीन हो गये । उन पर लोभ का अधिकार हो गया था । शुभ कर्म करना उनके लिए मरने के समान था ।[१] तुलसीदासजी ने कलियुग वर्णन में वर्णाश्रम धर्म ~~[illegible]~~ की दुरावस्था का वर्णन प्रमुख रूप से किया है । उस वर्णाश्रम धर्म में तुलसी का पूर्ण विश्वास था । लेकिन उस समय सब नर नारी इस सिद्धांत से दूर चले जा रहे थे । कोई वेद की नीति

---

१. 'रामचरितमानस', उत्तरकाण्ड, दो० ६७, पृ० १६७.

नहीं मानता था ।[१] उस समय अन्याय करने वाले ही भले आदमी समझे जाते थे । वही गुणी आदमी माना जाता है जो दूसरों का धन लूट लेता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो झूठ बोलता है । कलियुग में महामूर्ख को ही सयाना कहा जाता है ।[२] उस समय वे ही ज्ञानी और वैरागी समझे जाते थे जो अत्याचारी और दुष्ट होते थे तथा वेदों को छोड़ देते थे । इतना ही नहीं, सबसे प्रसिद्ध और महान व्यक्ति वही समझा जाता था जो बहुत दिनों तक शरीर कर्म न करार और हाथ-पैर के नाखून बहुत बढ़ावे ।[३] विकृत और विराट वेष धारण करने के कारण उनका वेष अशुभ सा लगता था । वे भक्ष्य और अभक्ष्य सब कुछ खाने लगे । उपकार करने वालों का युग था और कलियुग में वे ही मुख्य वक्ता माने जाते थे जो मनसा, वाचा, कर्मणा हमेशा झूठ बोलते थे ।[४] संसार का नियम यह है कि स्त्री पुरुष के वश में रहे । लेकिन कलिकाल की विकृति देखने लायक है । सब पुरुष स्त्री के वशीभूत रहते थे । साधारणतः ज्ञान का उपदेश देने का काम ब्राह्मणों के हाथ में था । कलियुग में शूद्र ब्राह्मणों को उपदेश देने लगे ।[५] कलियुग में सब नर-नारी विषिय़ अभागामी थे । एक ही कौड़ी के लिए वे अपने गुरु का वध करते थे । ब्राह्मणों से शूद्र लोग हमेशा वादविवाद या बहस करते थे ।[६] कलिकाल में शूद्र लोग जप, तप, व्रत और दान

---

१. बरन धरम नहि आश्रम चारी । श्रुति विरोधरत सब नरनारी ।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहि मान निगम अनुसासन ।।
- रामचरितमानस, दो० १, पृ० १९७.

२. सोइ सयान जो परधन हारी । जो कर दंभ सो बड़ आचारी ।।
जो कह झूठ मसखरी जाना । कलियुग सोइ गुनवंत बखाना ।।
- वही, वही, चौ० ३, पृ० १९८.

३. निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी । कलियुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी ।।
जाके नख अरु जटा बिसाला । सो तापस प्रसिद्ध कलिकाला ।।
- वही, वही, चौ० ४, पृ० १९८.

४. वही, दो० ९८, पृ० १९८.

५. नारि बिबस नर सकल गोसाईं । नाचहि नर मरकट की नाईं ।।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।
- वही, वही, चौ० १, पृ० १९९.

६. वही, वही, दो० ९९, पृ० १७०.

करने लगे । वे व्यासासन पर बैठ कर पुराण कहने लगे । सब लोग अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने लगे ।[१] कलिकाल की वर्णसंकरता का भी तुलसी ने स्पष्ट विवेचन किया है । सब पाप करते थे, सुख भोगते थे । इसलिए भय, रोग, शोक और वियोग होते रहते थे ।[२] कपट, दंभ, हठ, द्वेष, पाखण्ड आदि बुरी वासनाएं लोगों में संतप्त था । पृथ्वी पर मेघ बरसते नहीं और अन्न को बोने पर भी नहीं उगते ।[३] अनुजा-तनुजा की पहचान पशुओं में स्वभाव से नहीं होती, लेकिन मनुष्यों में इसका विचार जन्म से ही होता है । कलि-काल के आविर्भाव में मानव ने इस विचार को दूर कर दिया । मनुष्य को बहिन या बेटी का विचार नहीं था । अर्थात् भोग की लालसा में वे सब कुछ भूल गये ।[४] उस समय स्वार्थ वृत्ति और परवंचना ही लोगों का काम था ।[५] `रामचरितमानस` में कहा गया है कि कलियुग के समान दूसरा युग और कोई नहीं है । इस युग में परिश्रम करने से कोई फायदा नहीं ।

`दोहावली` में कलियुग वर्णन :

कलिकाल की विकट परिस्थितियों की विस्तृत विवेचना तुलसीदासजी ने `दोहावली` में की है । कलियुग पाप से भरा हुआ था । उस युग में केवल साधारण जनता को ही नहीं बल्कि साधु-जनों को भी कष्ट भोगना पड़ा । प्रतिदिन कलियुग की कुटिलता बढ़ रही थी ।[६] इस युग के समान पापमय युग

---

१. सूद्र करहिं जप तप ब्रत दाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ।।
सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ।।
- रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दो० ९, पृ० १७२.

२. वही, दो० १००, पृ० १७३.

३. वही, दो० १०१, पृ० १७५.

४. कलिकाल बिहाल किए मनुजा । नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ।।
नहि तोष बिचार न सीतलता । सब जाति कुजाति भये मगता ।।
- वही, वही, दो० ३, पृ० १७६.

५. दम दान दया नहि जानपनी । जड़ता परवंचनता ति घनी ।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे । परनिंदक ते जग मो बगरे ।।
- वही, वही, दो०, पृ० १७७.

६. कलि कुचालि सुभ मति हरनि सरलै दंडै चक्र ।
तुलसी यह निश्चय भई बाढ़ि लेति नव वक्र ।।
- दोहावली, दोहा ५३७, पृ० १८५.

और कोई नहीं है । लोग अपने बन्धु-मित्रादि को भी तंग करते थे । वे कायर, क्रूर और कुपूत सब प्रकार से उपद्रव मचाते रहते थे ।[१] उस समय नये नये करोड़ों कुमार्ग कल्पित हो गये । सब कुछ धर्म के प्रतिकूल हो गया ।[२] लोग मर्यादा और नियम को भूल गये । स्वार्थपूर्ण स्नेह के कारण जनता को अधिक दुःख भोगना पड़ा ।[३] चोरों को ही चतुर माना जाने लगा । चारों ओर अत्याचार और लूटपाट हो रही थी । दूसरों को मार-पीट कर धन छीन लेना स्वाभाविक था । पाखण्ड को ही सन्मार्ग समझा जाता था । इस प्रकार सभी ओर से विपरीत गति हो गयी ।[४] वे ही मनुष्य योगी, वे ही सिद्ध और पूज्य समझे जाने लगे जो शुभ वेष धारण करते थे और जो खाने या न खाने योग्य सब कुछ खा जाते थे ।[५] अधर्मियों और अकारियों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था ।[६] सभी लोग दंभी और अहंकारी थे । उनका व्यवहार कपटयुक्त था । उनका आचरण मन माने ढंग का था ।[७] कलियुग पापों से मलिन था और इससे लोग एक दूसरे को ठगा करते थे ।[८]

---

१. कौरहिं सिद्ध लोड़ा सदन लगीं अकुक पहार ।
कायर कूर कुपूत कलि घर घर सहस डहार ।।
- दोहावली, दोहा ५५०, पृ० १९२.

२. सकल धरम विपरीत कलि कल्पित कोटि कुपंथ ।
पुन्य पराय पहार बन दुरे पुरान सुग्रंथ ।। - वही, दो० ५५६, पृ० १९१.

३. वही, दोहा ५५३, ५५२, पृ० १९०.

४. चोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भंडुआ भंड ।
सब भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाषंड ।। - वही, दो० ५५१, पृ० १८९.

५. वही, दो० ५५०, पृ० १८९.

६. वही, दो० ५५१, पृ० १८९.

७. दंभ सहित कलि धरम सब छल समेत व्यवहार ।
स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार ।। - वही, दो० ५४८, पृ० १८८.

८. वही, दो० ५४७, पृ० १८८.

'कवितावली' में कलियुग वर्णन

'कवितावली' में आये कुटिल कलियुग की विक्रिया देखिए –

> आगिर न सोहए, बिगोहए जनमु जायं,
> दुख, रोग रोहए, कलेसु कोह काम को ।
> राजा-रंक, रागी औ बिरागी, भूरिभागी, ये
> अभागी जीव जरत, प्रभाउ कलि बाम को ।।[1]

वर्णाश्रम के चार चरण हैं – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास और वानप्रस्थ । लेकिन कलिकाल रूपी इस कुसमय में वर्ण-धर्म देश और समाज से चला गया । विषय भोग की प्रबल इच्छा ने कर्म, उपासना और ज्ञान को नष्ट कर दिया । भक्ति और वेद का संसार में कोई स्थान नहीं था ।[2] कलिकाल के आगमन से जनता को दुःख, दोष और दरिद्रभोगना पड़ा । वैदिक ग्रंथ के सद्मार्ग के स्थान पर अनगिनत कुमार्ग आ गया । शासक वर्ग दयारहित, एवं मंत्री और कर्मचारी अत्याचार का काम करने लगे ।[3] सचमुच पठानों और मुगलों के अत्याचार के कारण ही भारत में कलियुग घेरा हुआ था । इससे सारी जनता में संकट छा गया । कलियुग में सब तुच्छ और असत्यपूर्ण था । कहीं न वैराग्य था और न ज्ञान ।[4] कलियुग रूपी महामारी से घेरे जाने के कारण किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती, व्यापारियों को व्यापार और नौकरी करने वालों को नौकरी नहीं मिलती । इस प्रकार जीविका चलाने में दुःखी होने के कारण वे शोक और

---

१. कवितावली, उत्तरकांड, पद ८३, पृ० १५५.

२. वही, वही, पद ८४, पृ० १५६.

३. बेद-पुरान बिहाइ सुपंथु, कुमारग, कोटि कुचालि चली है ।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाजु बड़ोई छली है ।
बर्न-बिभाग न आश्रम धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र दली है ।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रतापु बली है ।
– वही, वही, पद ८५, पृ० १५६.

४. न मिटै भव संकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो ।
कलि में न बिरागु, न ग्यानु कहूं, सब लागत फोकट झूंठ जटो ।।
– वही, उत्तरकांड, पद ८६, पृ० १५७.

दु:ख में फंस जाते थे ।[१] सारे समाज में उपद्रव हो गया । लोगों ने अपने कुल के अभिमान को छोड़ दिया । भोग के लिए अधिक समय व्यतीत किया जाता था । प्रति दिन कुल, करनी, ऐश्वर्य, यश, सुन्दर रूप गुण और यौवन के ज्वर नष्ट हो रहे थे ।[२] इससे जनता को दरिद्रता का अनुभव हो रहा था ।[३] इससे नीच कर्मों में प्रवृत्त हो रहे थे ।[३]

रामाज्ञा-प्रश्न में कलियुग-वर्णन

यह ग्रंथ एक रूप से एक प्रश्नावली है । इसमें यह बताते हैं कि प्रश्नफल शुभ है या अशुभ । इसमें यह बताया गया है कि कलियुग जनता के दुर्भाग्य का युग है । लोग न खेती अच्छी तरह कर सकते थे, न व्यापार और भीख भी नहीं मांग सकते थे । बुरे समय के कारण सभी उपाय असफल हो जाते हैं ।[४]

'विनयपत्रिका' में कलियुग वर्णन

'विनयपत्रिका' के सहारे तुलसी ने भक्ति रस प्रधान पद रच कर समाज को इस कराल और कुटिल कलिकाल से मुक्त करने की कोशिश की है । तुलसीदासजी ने सहृदयों और जनसमाज के समक्ष रामचरित सुधार संस्कार के लिए प्रस्तुत किया था।

विनयपत्रिका में उन्होंने राम के समक्ष अपनी अर्जी पेश की है, जिसमें

---

१. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ९७, पृ० १९३.

२. वही, वही, पद ९८, पृ० १९३.

३. बबुर-बहेरे को बनाइ बागु लाइयत,
रूंधिबे को सोई सुरतरु काटियतु है ।
गारी देत नीच हरिचंदहू दधीचिहू को,
अपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है ।।
- वही, पद ९९, पृ० १९४.

४. खेती बनिज न भीख भलि, अफल उपाय कलेस ।
- रामाज्ञाप्रश्न, सप्तक ५, सप्तम सर्ग, दो० ३, पृ० ९७.

कलियुग के द्वारा उत्पन्न कष्टों के निवारण की प्रार्थना की गयी है, वह उनकी व्यक्तिगत बात नहीं है । तुलसीदास लोक-हृदय को पहिचानने वाले महात्मा थे, प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में उसमें फैले हुए अविचार और उसके कष्टों को लक्ष्य करके उन्होंने यह संविधानक रखा है ।[१]

तुलसी ने अपने समय के कलियुग का प्रादुर्भाव देखा था, इसलिए उन्होंने लिखा कि कर्म और इन्द्रियों के विभिन्न विषयों रूपी ग्राहकों ने समाज को घेर रखा है । क्योंकि इस समय शासक वर्ग का अत्याचार सारी दुनिया में फैल गया है ।[२] इस कलिकाल में लोग अज्ञान रूपी अंधकार में हमेशा भटकते रहते हैं । लोगों को अधिक कटुता या कष्ट का अनुभव करना पड़ा ।[३] इस समय वेद ग्रंथों का महत्व नहीं था, क्योंकि वे सब वन और अंगारों में फेंक दिये गये थे । जो धनी है उसका ही समाज में महत्वपूर्ण स्थान था । ज्ञान, वैराग्य, योग, तप आदि सद्वृत्तियों की उपासना करने में संन्यासियों को अधिक कष्ट सहना पड़ा । वैराग्य के स्थान पर लोगों ने भोग को अधिक स्थान दिया ।[४] कलियुग में सब कहीं दुःख और हीन भाव ही छा गया था । शास्त्र और वेद ग्रंथों का सम्मान नहीं था, न ऋषियों का, न देवताओं का और न मुनियों का ही सम्मान था ।[५]

---

१. तुलसीदास और उनका युग   डा० राजपति दीक्षित, पृ० ४६.

२. काल-कर्म-इंद्रिय-विषय गाहकगन घेरो ।
हौं न कबूलत बाँधि के मोल करत करेरो ।। - विनयपत्रिका, पद १४६, पृ० ३३२.

३. कर्म पीठ बिनु डीठ मैं तुम बिस्व बिलोचन ।
तो सों तुही न दूसरो नत सोच-बिमोचन ।। - वही, पद १४१, पृ० ३३७.

४. वही, पद १५५, पृ० ३४८.

५. अगम निगम ग्रन्थ, रिषि मुनि सुर संत,
सबही को एक मत सुनु मति धीर ।
तुलसीदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु ,
जधपि है निकट सुरसरि-तीर ।।

- वही, पद १६६, पृ० ४१२.

इस प्रकार तुलसीदास ने अपनी सारी रचनाओं में कलियुग का जीता जागता वर्णन करके भविष्य में आने वाली स्थिति का सूक्ष्मावलोकन किया है। एक प्रकार से यह भविष्यवाणी थी। आज हम इसको पढ़कर यही सोचते हैं कि तुलसी की वाणी सत्य सिद्ध हुई है। अब इस संसार में जो हो रहा है, वह तुलसी से वर्णित कलिकाल की ही बातें हैं। भविष्यद्रष्टा कवि ही ऐसे कार्य अपनी रचनाओं द्वारा जन सम्मुख रख सकता है। तुलसी की वाणी इसीलिए धन्य है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण खींचा है। कोई भी कवि अपने समय के कार्यों का कम से कम प्रसंगवश वर्णन करने से वंचित नहीं रह सकता। इसीलिए शासकों के अधिकार, कर्तव्य, आदर्श, राजा-प्रजा सम्बन्ध, अफसरों का रूप, कर या लगान की व्यवस्था, दण्डविधान, सैनिक प्रबन्ध आदि राजनीति से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों की ओर भक्त कवियों ने भी दृष्टिपात किया। उन भक्त-भ्रमरों ने आदर्श या वरिष्ठ रामराज्य की स्थापना करने का प्रयास किया। उनकी वाणी से नागरिक जीवन-पथ पर नयी रोशनी पड़ी।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कवियों ने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के द्वारा बिगड़ी हुई तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का यथातथ्य चित्रण उपस्थित करके उसमें आवश्यक परिनिष्ठित एवं परिमार्जित परिवर्तन की ओर ध्यान भी दिलाया।

- ० -

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी भक्ति-कालीन काव्यों में आयी हुई आर्थिक व्यवस्थाओं का परिचय

आर्थिक-दशा : सामान्य परिचय –

भक्ति-काल के कवियों में आर्थिक स्थिति के जो संकेत और चित्र मिलते हैं, उनके आधार पर हम आर्थिक दशा का निरूपण करेंगे ।

कबीर का प्रादुर्भाव सामन्तवादी युग में हुआ । इस समय का आर्थिक ढांचा बड़ा जटिल और विषम था । धन का विभाजन इस समय बहुत असमान था । जागीरदार और अमीरों के पास सोना-चांदी एकत्र हो गया था और साधारण जनता के पास बहुत कम धन रह गया था ।[1] मध्ययुग में निम्न श्रेणी के लोग खासकर हिन्दू-शूद्रों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी । उनसे नियमानुक्रम से बलपूर्वक कर वसूल किया जाता था और फसल काटते समय जो उपज मिलती थी उसे राजकोष में भेजना पड़ता था । अकालों का सामना करने से प्रजा की दुर्दशा का अनुमान करना अधिक कठिन नहीं है । मुसलमानों के युग में ग्राम-जीवन का निम्न स्तर दयनीय था और दृष्टिकोण संकुचित ही बना रहा । इस युग में उसकी किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति न हो सकी ।[2] अपने ही देश में जहां दूध और दही की नदियां बहती थीं, वहां उनकी (देशवालों की) स्थिति लकड़हारों और भिश्तियों की सी हो गयी ।[3] कबीर के समय में तलवार की नोक पर भौतिक समृद्धि की लिप्सा के खेल स्वतंत्रतापूर्वक खेले जा रहे थे और समाज में आर्थिक विषमता पूर्णतः व्याप्त थी । इस विषमता को देखकर संतों ने समाज के नव-निर्माण की चेष्टा की । बाद में तुलसी के रामराज्य की कल्पना और अकबर की दीन-इलाही की स्थापना संभवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति को लक्ष्य करके की गयी होगी । इस विषमता का कारण क्या है ? अर्थशास्त्रियों ने हिसाब लगाकर देखा है कि संसार में जितना अन्न पैदा होता है, उतने से कोई प्राणि भूखा नहीं मर सकता यदि वितरण की उचित व्यवस्था हो जाय ।[4] भोग-विलास और धन-संपत्ति में तल्लीन अमीर

---

१. मध्यकालीन भारत पी.डी. गुप्ता, पृ० १४०.

२. वही

३. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास एस.आर.शर्मा, पृ० २१३.

४. कबीर और कबीर पंथ डा० केदारनाथ द्विवेदी, पृ० १५२.

लोगों की हंसी उड़ाते हुए कबीर कहते हैं कि भूख की परितृप्ति के लिए तसला और टोकनी आदि पात्र व्यर्थ के उपादान हैं ।[१] यद्यपि कबीर ने संतोष का उपदेश दिया है, और अपरिग्रह का भी, फिर भी इसमें आर्थिक दशा की ओर संकेत भी माना जा सकता है । प्रतीत यह होता है कि लोगों की आर्थिक दशा यहां तक पहुंच गयी कि उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिलता था । साधारण भोजन, अर्थात् खिचड़ी ही सही है, थोड़ा-सा नमक मिलाकर मिले तो वह खांड के समान मधुर होगा । यही कबीर का कथन है । साथ ही साथ पेड़ा और रोटी खाकर गला कटवाने की बात भी कबीर ने कही है, जिससे उनका मन्तव्य यही है कि सुखपूर्ण जीवन बिताने के लिए अनुचित साधन अपनाना पड़ता है ।[२] कबीर ने एक ओर आलीशान महल में सुख और शांतिपूर्ण जीवन बिताने वाले धनवानों का चित्रण किया है, तो दूसरी ओर टूटी हुई छप्पर में रहने वाली दरिद्र जनता का चित्रण भी किया है । अंत में धनवानों के प्रति कबीर का उपदेश है कि जहां ऊंचे-ऊंचे आवासों में प्रभु-भक्ति नहीं है, उस स्थान या आवास को जला देना चाहिए ।[३] चारों ओर निराशा ही निराशा दिखायी पड़ती थी । जनता और समाज की दशा यही थी । काम करने से कोई फायदा नहीं था । देखिए —

> दुखिया मुवा दुख कौं सुखिया सुख कौं झूरि ।
> सदा अनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ।।[४]

कबीरदासजी दुःख और दारिद्र्य की लहर में डूबते उतरने वाली जनता से

---

१. कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ ।
 राम नाम चीन्हें नहीं, पीतलि ही कै चाइ ।।
 - कबीर ग्रंथावली, सा० ५, पृ० २००.

२. रूखा खांड है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण ।
 पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ।। - वही, सा० १२, पृ० २१६.

३. रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छांनि ।
 ऊंचे मंदिर जालि दे, जहां भगति न सारंगपांनि ।। - वही, सा० १०, पृ० २५८

४. वही, सा० ८, पृ० २५१.

कहते हैं कि इस संसार में मुल-मुल कहकर चिल्लाने से कोई तुम्हारी सहायता नहीं करेगा । प्रभु का भजन करो, क्योंकि वही इसके लिए एकमात्र सहायक है।[१] अराजकता और दुर्भिक्ष को दूर करने के लिए लोग जितना परिश्रम करते थे वे सब निरर्थक थे । साधारण जनता के परिश्रम का फल भोगने वाले तो वास्तव में बड़े-बड़े अमीर और धनी आदमी थे ।[२] आर्थिक स्थिति की अस्थिरता के कारण उस समय जनता को भर पेट भोजन नहीं मिलता था । यदि किसी को घी के साथ दाल मिल जाने की संभावना है तो वह अपने को धन्य कहेगा । कबीर के इस वाक्य का सारांश यही है कि लोगों को जो ऐसा सादा भोजन भी भर पेट नहीं मिलता था । अभाव के समय कोई ठीक रास्ते पर नहीं चलता । इस समय भक्ति नहीं होगी ।[३] लोगों की जीवन रीति अच्छी नहीं थी । वर्षा काल में घर की दुर्दशा के बारे में तो सोच ही नहीं सकते । घर मिट्टी का है, फिरहर टट्टी और छप्पर पर वर्षा काल की मूसलाधार वर्षा के लम्बे-लम्बे कण पड़ते थे । ऐसे घर में रहने से तो मैदान में रहना ही अच्छा है ।[४]

---

१. मुला-मुला क्या करैं, कहा सुनावै लोग ।
   भौंडा घड़ि जिनि मु क्यिा, सोई पूरण जोग ।।

   - कबीर ग्रंथावली, साखी २, पृ० २६२.

२. बागड़ देस लूवन का घर है,
   तहाँ जिनि जाइ दाफन का डर है ।।टेक ।।

   सब जग देखौं कोइ न धीरा, परत धूरि सिरि कहत कबीरा ।
   न तहाँ सरवर न तहाँ पांणीं, न तहाँ सतगुर साधु बांणीं ।।

   - वही, पद ६८, पृ० ३७७.

३. भूखे भगति न कीजै । यह माला अपनी लीजै ।।
   हउ मांगउ संतन रेना । मैं नाही किसी का देना ।।
   दुइ सेर मांगउ चूना । पाउ घीउ संगि लूना ।।
   अध सेरु मांगउ दाले । मोकउ दोनउ वखत जिवाले ।।
   खाट मांगउ चउपाई । सिरहाना अवर तुलाई ।।
   ऊपर कउ मागउ खीधा । तेरी भगति करै जनु थीधा ।।

   - संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद ११, पृ० १४०.

४. अब न रहूं माटी के घर में, अब मैं जाइ रहूं मिलि हरि में ।। टेक ।।
   छिनहर घर अरु फिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ।।
   - कबीर ग्रन्थावली, पद २७३, पृ० ४६८.

व्यापार बिगड़ जाने के कारण आर्थिक स्थिति भी बिगड़ जाती है और जीवन विषमय और विषादपूर्ण बन जाता है। अभाव के कारण घरेलू जीवन में कलह और अशांति की प्रचुरता आ जाती है। दुःख को दूर करने का कोई उपाय नहीं रहता, क्योंकि उस समय इन्द्रियों को ही अधिक महत्व दिया गया था। गरीब और निर्बल लोग रह ही नहीं सकते थे। उनको दुःख ही दुःख भोगना पड़ता था। उन्हें न चैन था, न शांति। दारुण व्यथा के अलावा और कुछ उन्हें प्राप्त नहीं होता था।

कबीर एक समाजसुधारक थे। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें रहने से मनुष्य को सुख और शांति मिले। इसी समस्या को सामने रखकर उन्होंने पूंजीपतियों की हंसी उड़ायी है। धन एकत्र करने वाले पूंजीपतियों के प्रति उनका कथन है —

कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूं होइ।
सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ ।।[१]

कबीर ने उस समय के पूंजीपतियों में जकड़ी हुई इस धन-लालसा की ओर संकेत करते हुए आर्थिक विषमता के बारे में इस प्रकार कहा है कि आज विश्व में निर्धन को कोई पूछने वाला नहीं है। यदि दरिद्र व्यक्ति धनवान के पास जाता है तो धनवान पीठ देकर बैठता है। किन्तु निर्धन सदा उन्हें मान देने की चेष्टा करता है। लोगों को यह ध्यान ही नहीं रहता कि निर्धन और धनवान दोनों परस्पर भाई-भाई हैं। दोनों में जो अन्तर है वह तो प्रभु का कौतुक मात्र है, जो मिटाया नहीं जा सकता। कबीर कहते हैं कि वास्तव में निर्धन तो वही है जिसके हृदय में राम नाम रुपी धन नहीं है।[२] आर्थिक विषमता की इस संकटपूर्ण अवस्था में चोर, ठग और दुराचारी पैदा होते थे। इससे समाज और भी दुःखी होता था, उसका जीवन जटिल और विषम हो जाता था।

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी १३, पृ० १६३.

२. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद ८, पृ० २१३.

सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने तत्कालीन आर्थिक दशा का वास्तविक चित्रण अपने काव्यग्रंथों में किया है। उनमें खासकर जायसी का नाम शीर्ष पर है। जायसी के समय मुगल शासकों की अधिकार-शक्ति अपनी सीमा तक पहुंच चुकी थी। मुगलों ने जनता के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार किया, लेकिन बादशाहों में शेरशाह अपवाद था। जायसी उसके समकालीन थे। जायसी ने तत्कालीन राजाओं का यथार्थ चित्रण करते हुए `सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड` में यह व्यक्त किया है कि गांव का जीवन कष्टदायक था तो नगर में विलासिता का वातावरण था। शासक वर्ग तो विलासिता के नाम पर धन पानी की तरह बहाते थे।[१] विलासिता रूपी उपवन-वर्णन जायसी ने किया है। देखिए –

पुनि फुलवारी लागि चहुं पासा। बिरिछ बेधि चंदन भै बासा।
बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुंद चंबेली।
\+ \+ \+ \+ \+
तेन्ह सिर फूल चढ़हि वै जेन्ह माथे मनि भागु।
बाहहिं सदा सुगंध भै जनु बसंत औ फागु।[२]

इन नगरों में ऊंची-ऊंची आवास हैं। ये सब धनी आदमियों की धन-सम्पत्ति का उत्तम उदाहरण हैं।[३] `चितौड़गढ़-वर्णन खण्ड` में हमें ऐसे व्यक्तियों के दर्शन मिलते हैं जो आकाश स्पर्शी महलों में रहते हैं।[४] उस समय कुरूप और निर्गुण व्यक्ति धनी हो तो उनकी गणना सुन्दर और सगुणों की पंक्ति में की जाती थी। मध्य युग में धन ही महत्व और प्रसिद्धि के सम्पादन का एकमात्र आधार था।[५]

---

१. घन अंबराउं लाग चहुं पासा। उठै पुहुमि हुति लाग अकासा।
तरिवर सबै मलै गिरि लाए। भै जग छांह रैनि होइ आए।
– पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३०.
२. वही, पृ० ४०.
३. ऊंची पंवरी ऊंच अवासा। जनु कविलास इन्द्र कर बासा।
राउ रांक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हंसता मुखी।
– वही, पृ० ४२.
४. वही, पृ० ७३५.
५. वही, पृ० ५८०.

जायसी के समय आर्थिक अराजकता अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गयी थी। उन्होंने 'बनिजारा खण्ड' में यह बताया है कि जब तक पेट में अन्न नहीं तब तक चैन कहां ? आर्थिक विषमता के कारण आदमी बेहाल रहता था। देखिए—

> बहिर रहैं सबन नहिं सुना। पे एक पेट न रह निरगुना।
> कै कै फेर अंत बहु दोखी। बारहिं बार फिरै न संतोखी।
> सो मोहिं लिहैं मंगावै लावै भूख पियास।
> जौं न होत अस बैरी तो केहि काहु के आस।।[१]

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्य में समाज की आर्थिक परिस्थिति का जो चित्रण हुआ है वह मध्यम श्रेणी की थी। सूरदास की रचनाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक स्थिति सामान्य ही थी। कृष्ण-भक्ति शाखा के आरंभ में अर्थात् महाकवि विद्यापति के काल की आर्थिक दशा बिगड़ी हुई थी। जनता दुःख में जन्म लेती थी और दुःख में ही सारा जीवन बिताती थी। उससे मुक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं था।[२] अमीर और धनी लोगों ने नगरों के बाहर भी सुन्दर उद्यान बनवाये, जो उनके विलासपूर्ण जीवन का संकेत करते हैं।[३] निर्धन लोग दारिद्र और अकाल के कारण बेहाल रहते थे। उन्हें थोड़ी-सी संपत्ति अगर मिल जाती थी तो उसे गाड़ कर रखते थे, जिससे बाद में काम में आवे। देखिए —

> मुख कटु बचन, नित पर-निंदा, संगति-सुजन न लेत।
> कबहुं पाप करैं पावत धन, गाड़ि धूरि तिहिं देत।[४]

---

१. पदुमावत   व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८९-९०.

२. दुख ही जनम भेला, दुख ही जमाइब।
   सुख सपनेहु नहिं भेला, हे भोलानाथ।
   — विद्यापति   बाबू व्रजनन्दन संपादित, पृ० ११६.

३. कीर्तिलता   विद्यापति, पृ० २७.

४. सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद १५, पृ० ११९.

निर्धनों के घर जर्जरित और किसी भी क्षण भूमि पर गिरने वाले थे । इससे उनकी विषमता ज्ञात होती है । इतना ही नहीं, तत्कालीन समाज में थोड़ी सी भी संपत्ति जिनके पास थी वे स्वयं अपने को बड़ा धनी मानते थे ।[१] सूरदास ने `कल्कि अवतार वर्णन` में व्यक्त किया है कि देश में समय-समय पर वर्षा नहीं होती थी । वर्षा के अभाव से बोया हुआ धान्य अंकुरित नहीं होता और आर्थिक कठिनाई बढ़ती है ।[२]

समाज के एक वर्ग के विलासपूर्ण जीवन की ओर संकेत करते हुए सूरदास ने लिखा है –

पराधीन, पर बदन निहारत, मानत मूढ़ बड़ाई ।
हँसे हंसत, बिलखे बिलखत हैं, ज्यों दर्पन में झाईं ।
लिये दियौं चाहैं सब कोऊ, सुनि समरथ जदुराई ।
देव सकल व्यापार परस्पर, ज्यों पसु दूध-चराई ।[३]

सूरदासजी ने विनय के पदों में तत्कालीन जनता की रूपरेखा दी है । लोग लोभ, निर्दयता, अत्याचार आदि दुर्गुणों से भूषित थे । सूर के शब्दों में उसका वर्णन सुनिए –

लोभी, लौंद, मुकरवा, झगरू, बड़ौ पढ़ैलो, लूटा ।
लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, कौड़ी कौड़ी जोरैं ।
कृपन, सूम, नहिं खाइ खवावै, खाइ मारि कै औरैं ।
लंगर, ढीठ, गुमानी, टूंडक, महा मसखरा, रूखा ।
मचला, अकलै-मूल, पातर, खाउं खाउं करै भूखा ।
निर्धिन, नीच कुलज, दुर्बुद्धी, भौंदू, नित कौ रोऊ ।

\+ + + +

---

१. या देही कौ गरब करत, धन-जोबन के मदमात ।
हौं बड़, हौं बड़, बहुत कहावत, सूधै कहत न बात ।
– सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद २२, पृ० १२१.

२. बरषा समय न बरषा होइ । बिना अन्न दुख पावै लोइ ।।
– वही, द्वादश स्कन्ध, पद ३, पृ० १५१८.

३. वही, प्रथम स्कन्ध, पद १६५, पृ० ६४.

पर-निंदक, परधन को द्रोही, पर-संतापनि चोरी ।
औगुन और बहुत हैं मो में, कह्यौ सूर मैं थोरौ ।।[१]

सूरदास ने तत्कालीन बिगड़ी हुई आर्थिक परिस्थिति के बदले एक लघु समाज की स्थापना की । इस समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है नन्द का परिवार । इसमें घी, दूध, दही और मक्खन का प्राचुर्य था तथा ग्वालिनें इन्हें बेचने मथुरा आया करती थीं । नन्द के दो लाख गाय होना, सहस्र मथनी चलाना, मणिखचित कनकमय आंगन का होना, झूलन के प्रसंग में कनक खम्भ, मणि-खचित पटुली तथा कनक मंदिर सब सार्थक हैं । इससे उस युग की आर्थिक परिस्थिति का अवबोध होता है । लोक-जीवन अपने अभाव की पूर्ति सदैव बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने में करता आया है । उस समय समाज का आर्थिक स्तर केवल इतना था कि लोग अच्छी प्रकार खा-पी सकते थे तथा अपने दैनन्दिन जीवन की साधारण-सी आवश्यकताएं पूरी कर सकते थे । बार-बार बहुमूल्य रत्न, हीरा, प्रवाल, पुखराज तथा कनक आदि का नाम लेना प्रचुरता का द्योतक न होकर, उनके अभाव का अभिव्यंजक है ।[२] किन्तु, इसका दूसरा पक्ष भी है कि समाज में एक वर्ग ऐसा भी था जिसके इतनी समृद्धि बिखरी मिलती थी । वल्लभाचार्य के यहाँ सम्राटों जैसा वैभव एवं मंदिरों में एकत्र संपदा की जगमगाहट सूर के युग में भी तथ्य थी और सत्य भी ।

रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने भी अपने काल की आर्थिक स्थिति का चित्रण किया है । तुलसी के युग में निरंकुश और विलासी शासकों तथा उनके उच्च अधिकारियों का जीवन चाहे जितना सुखमय रहा हो, किन्तु जनसाधारण की आर्थिक दशा दयनीय थी । इन आधिभौतिक कष्टों से पीड़ित प्रजा पर आधिदैविक विपत्तियों का वज्रपात भी होता रहता था । तुलसी के जीवन-काल में कई बार भयंकर अकाल पड़े थे । विशेषकर सं० १६१५-१६, सं० १६३०-३१ और सं० १६८० के भीषण दुर्भिक्षों ने देश को तबाह कर दिया ।

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद १८६, पृ० ६१.
२. सूरसागर में लोकजीवन   डा० सत्येन्द्र/हरगुलाल, पृ०१२४.

प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य-मनुष्य को खाने लगा । सड़कें और गलियां लाशों से भर गयीं ।[1] आर्थिक दशा की सबसे अधिक हीनावस्था तुलसी के काल में हुई । मुगल बादशाह अकबर के समय सारे राज्य पर अकाल और अराजकता का दर्शन होता था । लोग भूख से मरते थे और दूसरों की संपत्ति को लूटते-खसोटते थे । अकाल सर्वत्र नाचने लगा । गोस्वामी तुलसीदासजी ने तत्कालीन परिस्थिति के प्रति घृणा और दया का भाव व्यक्त किया, क्योंकि वे तो मानव को मानव के रूप में देखना चाहते थे और राक्षसता का भाव नहीं चाहते थे । उन्होंने अपना यह लक्ष्य कलियुग वर्णन में व्यक्त किया है --

कलि बारहिं बार दुकाल परैं । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं ।।[2]

तुलसी ने लिखा कि संन्यासी लोग उस समय तपस्या पर ध्यान न देकर धन बटोरने में सदैव निमग्न थे । इसलिए कलियुग में तपस्वी तो धनी और गृहस्थ दरिद्र रहे ।[3] गुरु भी शिष्य को उचित शिक्षा न देकर उनसे अपार संपत्ति हड़प लेते थे । गुरुजनों के लिए शिक्षा जीविकोपार्जन का साधन बन गयी । इस समय माता-पिता अपने बालक को पास बुलाकर उचित अनुचित रूप में अपने पेट भरने का पाठ पढ़ाते थे ।[4] लगातार आर्थिक विपत्ति के घोर आघात होने के कारण लोग विदेश की ओर जाने लगे ।[5]

---

१. एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ् इण्डिया   इलियट एण्ड डायसन, पृ० ५७१-७२.

२. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० १७५.

३. बहु दाम संवारहिं धाम जती । बिषया हरि लीन्हि रही बिरती ।।
   तपसी धनवंत दरिद्र गृही । कलि कौतुक तात न जात कही ।।

   - वही, वही, पृ० १७३.

४. हरै सिष्य धन सोक न हरई । सो गुर घोर नरक महुं परई ।।
   मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ।।

   - वही, वही, चौ० ४, पृ० १७०.

५. तेहि कलिकाल बरष बहु, बसेउं अवध बिहगेस ।
   परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गयउं बिदेस ।।

   - वही, वही, दोहा १०४, पृ० १८१.

आर्थिक दशा के खराब हो जाने से जनता की सुख-शांति विनष्ट हो गयी। लोगों में पर-धन के प्रति इच्छा बढ़ी तथा घृणा, लोभ आदि दुर्वासनाएं उत्पन्न हुईं। लोग यह कहते थे कि क्या करें? कहाँ जायं? जहाँ देखें वहाँ दुःख और दारिद्र्य रूपी रावण का बोलबाला था। गोस्वामी तुलसीदासजी यह रहस्य जानते थे कि समाज की इस विषमता का एकमात्र कारण मुस्लिम शासकों की अत्याचारी वृत्ति है। जनता की इस शोचनीय अवस्था या गिरी हुई इस हीनावस्था को देखकर तुलसीदासजी हाहाकार कर उठे।[१] दुःख और दारिद्र्य की स्थिति प्रति दिन बढ़ती जाती थी।[२] जनसाधारण की आर्थिक विषमता यहां तक पहुंच गयी कि वे पेट के लिए ऊंचे-नीचे कर्म या धर्म-अधर्म का काम करते थे। इतना ही नहीं अंत में अपने बेटे-बेटियों को भी बेचने लगे।[३] मुसलमानों के शासन में किसी सामंत या धनी की मृत्यु पर उसकी सारी धन-संपत्ति राजसात कर ली जाती थी। इससे उसके शरण या आश्रय में रहने वाले कई परिवारों की दशा बहुत बुरी हो जाती थी। तुलसीदासजी ने ऐसे शासकों को `भूमिचोर` या `चोर-भूप` कहा है।[४] होनहार और बलवान धन के लिए ब्रह्महत्या तक कर सकते थे और लूट-मार कर धन संग्रह करते थे।[५]

पहले कहा जा चुका है कि तुलसी के समय ज्वलंत और प्रचंड महामारी फैली थी। सम्भवतः सबसे बड़ी महामारी ताऊन के रूप में आयी थी, जो सं० १६७३

---

१. खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को न बानिज, न चाकर को चाकरी।
जीविकाविहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहां जाई का करी।
- कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ९७, पृ० १६३.

२. दिन दिन दूनो देखि दारिदु दुकालु दुखु
दुरितु, दुराजु, सुख सुकृत सकोच है। -वही, पद ८१, पृ० १५३.

३. ऊंचे नीचे करम, धरम-अधरम करि
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी। - वही, पद ९६, पृ० १६२.

४. बेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए। - वही, पद १७७, पृ० २१६.

५. मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
- वही, पद १७६, पृ० २२१.

से १६८१ तक देश के विभिन्न भागों में फैला रहा । इस प्रचण्ड महामारी के फैलने से काशी का दृश्य अत्यंत मर्मभेदी था । काशी निवासियों की दारुण अवस्था का चित्रण तुलसीदास ने 'कवितावली' में यों किया है --

संकर-सहर सर, नर नारि बारिचर,
विकल, सकल महामारी माजा भई है ।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात जल-थल मीचुमई है ।[1]

तुलसीदासजी ने 'रामाज्ञाप्रश्न' में आर्थिक विषमता की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार कहा है --

खेती बनिज न भीख भलि, अफल उपाय कलेस ।
कुसमय जानब बाम बिधि, राम नाम अवलंब ।।[2]

राम-भक्ति में निमग्न होकर तुलसीदासजी भगवान श्री राम से याचना करते हैं --

दीनबन्धु ! दीनता-दरिद्र-दाह-दोष-दु:ख
दारुन-दुसह-दर-दरप-हरन ।।[3]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने समाज की इस प्रचण्ड आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए रामराज्य की कल्पना की जिसमें दु:ख दारिद्र्य और अभाव लेश मात्र को भी न था । समाज की इन विषम परिस्थितियों ने गोस्वामीजी के मानस को विह्वल एवं विचलित कर दिया था । कलियुग को सतयुग में परिवर्तित करने की इच्छा बार-बार उनके मन में उठती थी । कलि-वर्णन आदि के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन वातावरण का निरूपण किया और रामराज्य की महिमा द्वारा उस अवांछनीय राज्य से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जनता को प्रेरणा

---

१. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद १७६, पृ० २१७.
२. रामाज्ञाप्रश्न, दोहा ३, पृ० ६७.
३. विनयपत्रिका, पद २५८, पृ० ५८७.

प्रदान की ।[१]

इस प्रकार तुलसी ने रामराज्य की परिकल्पना की जिससे आर्थिक स्थिति की उन्नति हुई । राम के राजत्व काल में जनता को सब प्रकार से सुर-सुलभ भोग मिलते थे ।[२] आज भी जब किसी भी परिवार में अभाव या कष्ट की अवस्था होती है तब वे सर्वप्रथम भगवान राम का नाम स्मरण करते हैं और उनकी शरण में आते हैं । रामराज्य में दु:ख, दारिद्र्य, अकाल की बात कहीं भी सुनने या देखने नहीं मिलती थी ।[३] रामराज्य आर्थिक दशा के सभी दृष्टिकोणों से परिपूर्ण था । देखिए —

(१) खेती बनि विद्या बनिज सेवा सिलिप सुकाज ।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम के राज ।[४]

(२) राम राज संतोष सुख घर बन सकल सुपास ।
तरु सुरतरु सुरधेनु महि अभिमत भोग बिलास ।।[५]

(३) मिटे कलुष-कलेस-कुलछन; कपट-कुपथ-कुचाल ।
गए दारिद, दोष दारुन, दंभ-दुरित-दुकाल ।।[६]

इस प्रकार तुलसीदासजी ने आर्थिक विषमता और दु:ख-दारिद्र्य को दूर करके जनता के मन में सुख-शांति प्रदान करने के उद्देश्य से रामराज्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है ।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास विवेचन, विश्लेषण और अध्ययन — रामेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, अध्याय १, पृ० ४.
२. हरषित रहहिं नगर के लोगा । करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा ।।
— रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, चौ० २, पृ० ५३.
३. नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।
— वही, चौ० ३, पृ० ४७.
४. रामाज्ञा प्रश्न, दोहा ७, पृ० ६२.
५. दोहावली, दोहा १८३, पृ० ६५.
६. गीतावली, उत्तरकाण्ड, पद ७, पृ० ३८२.

उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग

उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का भेद भक्तिकालीन काव्यों के द्वारा हम जान सकते हैं । भक्त कवियों ने इस भेद-भाव का खण्डन-मण्डन किया है । संतों ने उच्च वर्ग या राजन्य वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों की आपसी फूट और वर्ण-भेद को अपनी आंखों से देखा । उच्च वर्ग के लोग तो भोग-विलास, छत्र-सिंहासन, सुन्दरियों से रमण और पान-कपूर-चन्दन आदि वस्तुओं की प्राप्ति में हमेशा सुख का अनुभव करते थे । कबीरदासजी भोग-विलास में मग्न रहने वाले लोगों से कहते हैं –

कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड्ड ।
हैवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड्ड ।।[१]

कबीर धन-संचय का विरोध करते हैं । मध्ययुग में तो प्रत्येक आदमी धन के पीछे बावला बना फिरता था । धन के नाम पर न जाने मनुष्य क्या-क्या दुष्कृत्य करने को तैयार हो जाते हैं ।[२] आडम्बरपूर्ण जीवन बिताने वाले धनी लोगों के प्रति कबीर का कथन भी सुन्दर है –

हैगै गैवर सघन धन, छत्र धजा फहराइ ।
ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमरत दिन जाइ ।।[३]

विषय-वासना से कलुषित धनी तो अपनी सारी धन-संपत्ति खो देते थे, उसी समय निर्धन तो प्रभु-भक्ति में ओतप्रोत रहते थे । धनिक में घमण्ड और अहंकार विद्यमान था, तो निर्धन में विनम्रता ।[४] इस प्रकार निम्नवर्ग के लोगों का कष्टदायक जीवन कबीर की कटु आलोचना का विषय बना है । वैभव-विलास की अबाध

---

१. कबीर ग्रंथावली, सा० ११, पृ० १६४.
२. आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ ।
   सोइ मूबे धन संचते, सो ऊबरे जे खाइ ।। - वही,सा० १२, पृ० १६२.
३. वही, सा० ४, पृ० २४७.
४. दीन गरीबी बंदे कौं, दुंदर कौं अभिमान ।
   दुंदर दिल बिस संभरी, दीन गरीबी राम ।। - वही, सा० १२, पृ० २८१.

धारा में तरंगायित जीवन और दरिद्रता की आंच में तपने वाले सामान्य जीवन में तुलना भला कैसे हो सकती है । कबीर कहते हैं कि ईश्वर ने किसी को रेशमी वस्त्र दिये, किसी को निवाड़ से बुने हुए पलंग । किसी को खाने के लिए नारियल और प्याज तक नहीं दिया, किसी को खाने को करौंदा दिया । इसलिए हे मन भोजन के बारे में विवाद मत कर । हमेशा सत्कर्म करता रह ।[१] संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि सब कहीं आर्थिक विषमता का बादल छा गया । धनी और कर्मचारी लोग भोग-विलास का जीवन और निर्धन और गरीब लोग दरिद्रतापूर्ण जीवन बिताते थे ।

तुलसीदासजी ने तत्कालीन प्रशासकों और विलासपूर्ण जीवन बिताने वाले लोगों के जीवन की हंसी उड़ाकर उनके समक्ष अल्प वेतन या आय प्राप्त करने वाले सामान्य लोगों की बात रखी है । धन की अधिकता के कारण मनुष्य लोभी और निर्दयी हो जाते हैं । मध्यकाल में कर्मचारी लोग इस विषयवासना के पीछे अंधाधुंध चलते थे । विषय-सुख की उपेक्षा के बारे में तुलसी का कथन है —

करत न समुझत झूठ गुन सुनत होत मति रंक ।
पारद प्रगट प्रपंचमय सिद्धिउ नाउं कलंक ।।[२]

सूरदासजी ने भी तत्कालीन अधिकारी लोगों की हंसी उड़ाते हुए कहा है कि वे लोग धन की अधिकता के कारण कपटी, महाक्रूर, लंपट, धूर्त आदि अनेक वासनाओं से निदिग्ध रहते हैं । उन्हीं के शब्दों में —

लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, विषय-जाप कौ जापी ।
भच्छि अभच्छ, अपान पान करि, कबहुं न मनसा धापी ।
कामी, बिबस कामिनी के रस, लोभ-लालसा थापी ।
मन-क्रम-बचन-दुसह-सबहिनि सौं कटुक-बचन-आलापी ।[३]

---

१. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद १६, पृ० १०६.

२. दोहावली, दो० २६०, पृ० ६०.

३. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १४०, पृ० ४६.

आखिर यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्तिकालीन जन-जीवन में बड़ा अन्तर था। उच्च पद पर विराजमान लोगों को वेतन अधिक मिलता था, तो निम्न श्रेणी का वेतन तुच्छ था। वेतन की अधिकता के कारण उच्च वर्ग के लोग विलासपूर्ण जीवन बिताने लगे और पानी के समान रुपया-पैसा बहाते रहे।

किसानों की दशा

भारत कृषि प्रधान देश है। राज्य की मुख्य आय खेती-बाड़ी थी। मध्ययुग में गरीब किसानों की आंखों से उमड़ने वाले रक्ताक्त आंसुओं की बूंदें राजकीय मुकुट की मणियां थीं। किसानों को अधिकारी लोगों से प्रचण्ड सजा सहनी पड़ी। यमराज के समान वे हमेशा उनको आज्ञा दे रहे थे। समयानुसार काम न करने से उन्हें कठिन दण्ड भोगना पड़ा। वे गेहूं, जौ, चना, मटर, तिलहन, गन्ना, नील, पोस्त आदि सभी तरह के धान्य और अनाज की पैदावार करते थे। बर्नियर ने शाहजहां और औरंगजेब के ज़माने के भारत के कृषकों का जीवन-चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि ये बिचारे गरीब लोग जब अपने लोलुप प्रभुओं की मांग की पूर्ति नहीं कर पाते थे तो न केवल उनकी जीविका छीन ली जाती थी, वरन् उनके बच्चों को भी छीन कर गुलाम बना लिया जाता था। इस घृणित अत्याचार से टूट कर प्रायः बहुत से किसान गांव छोड़कर नगरों और कैम्पों में बोझा ढोने, पानी पहुंचाने या रईसी करने का पेशा अख्तियार कर लेते हैं।[१]

---

१. These poor people, when incapable of discharging the demands of their repacious lords, are not only often deprived of the means of substanse, but are bereft of their children, who are carried away as slaves. Thus it happens that many of the peasantry driven to despair by excerable a tyranny, abandon the country, and seek a more tolerable mode of existanse either in the towns or camps, as bearers of burdens, carried of waters, or servants to harsemen.

- Travels in the Mogul Empire, Page 205.

किसान लोग खूब परिश्रम करते थे तो भी उन्हें आजीविका चलाना कठिन था। लेकिन इन किसानों के कठिन परिश्रम के कारण ही तत्कालीन जनता को अन्न इच्छानुसार प्राप्त होता था। उपज तो अच्छी थी। कृषकों के परिश्रम की प्रशंसा की जा सकती थी। खेती-बाड़ी का संप्रदाय आज का जैसा ही था। इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि इस काल के शासकों ने देश की खेती की ओर सदा ध्यान रखा है। उन्होंने कृषि की उन्नति, उसकी रक्षा और सिंचाई आदि के प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया था। इनके सामने यह स्पष्ट था कि देश की समृद्धि का मौलिक आधार खेती ही है, क्योंकि अधिकांश जनता का जीवन निर्वाह इसी पर निर्भर था। अनेक बादशाहों ने युद्धों के बीच भी इस बात का ध्यान रखा है कि खेती का नुकसान न हो। फिरोज तुगलक ने अधिकांश भागों में भूमि का प्राकृतिक उर्वरपन, पर्याप्त वर्षा, दीर्घ काल से चली आ रही सिंचाई की सुविधा आदि को और भी समुन्नत बना दिया था। इसके अतिरिक्त किसानों की परिश्रमशीलता आदि सब कारणों से देश में इतना अन्न उत्पन्न होता था कि उससे समस्त जनता की आवश्यकताएं ही पूरी नहीं होती थीं, बल्कि बाहर के देशों को भी इसका निर्यात होता था।

किसान खेती-बाड़ी का काम करते थे और इसीलिए खाने-पीने की वस्तुओं की कमी नहीं थी। उन्होंने अनाज गेहूं, दाल, जौ, बाजरा, कपास, पटसन आदि की पैदावार प्रमुख रूप से की थी। तम्बाकू, चाय, काफी, जूट आदि नयी फसलों को छोड़कर संयुक्त रूप से राज्य की कार्षिक पैदावार आज से भिन्न नहीं थी। ऐसा लगता है कि औषधीय शाक, मसाले, खुशबूदार काठ आदि अधिक मात्रा में पैदा होते थे और उनके लिए भारत और भारत के बाहर बाजार था। इन उत्पादनों के अतिरिक्त फलों की खेती भी होती थी। ऐसा लगता है कि दिल्ली के सम्राटों और अन्य शासकों ने भारतीय फलोंकी विशेषता और बागबानी सुधारने के लिए बहुत परिश्रम किये हों। फिरोज तुगलक ने बाग लगाने की एक बृहद् योजना बनायी, जो की अधिकांश फल की विशेषता को सुधारने के लिए सहायक सिद्ध हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उसने दिल्ली के आसपास और उपनगरों में १२००, सलौरा के तटबंध में ८० और चित्तूर में ४४ बाग लगाये। मुसलमान बादशाहों के काल में इस प्रकार

की उन्नति होती थी तो भी अकबर के काल में सारे देश में अकाल, अराजकता तथा दुर्भिक्ष का कोई अंत नहीं था। उचित समय पर कृषि न करने से दरिद्रता बढ़ गयी थी और जनता को एक बार भी भर पेट भोजन नहीं मिलता था।

अब हम संत आदि भक्तिकालीन महान कवियों के काव्यों द्वारा तत्कालीन कृषकों के जीवन का निरीक्षण कर सकते हैं। संत काव्यों में कृषि संबंधी उतना व्यापक संदर्भ नहीं मिलता, जितना अन्य हिन्दी के भक्त-कवियों के काव्यों में मिलता है। कबीर के समय में मुसलमानों का जो आक्रमण हुआ उससे देश में अनावृष्टि और अकाल के बादल छा गये। मुसलमानों के आक्रमण के कारण शोषण की प्रवृत्ति बढ़ गयी और देश में अराजकता और कंगाली फैल गयी। किसानों की दशा अत्यंत शोचनीय थी। ऐसी परिस्थिति में किसानों और निम्न वर्गों का एकमात्र आश्रय ईश्वर ही था।

मध्ययुग में मुसलमानों के आक्रमण से किसानों की दशा कभी-कभी बुरी होती थी।[1] कबीर कहते हैं कि खेती-बाड़ी में ही सर्वस्व है, लेकिन कृषक लोगों को उनकी बुद्धिहीनता और विषय-वासना के कारण काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि ने घेर लिया था --

गंगा तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानों।
सातों बिरही मेरे नीपजै, पंचूं मोर किसानों।।[2]

मध्ययुग में लोगों का मुख्य पेशा कृषि था। तब खेतों का अधिकार ठाकुर, कायस्थ आदि के हाथ में था। कभी-कभी ठाकुर खेत को नाप लेते थे और उस समय कायस्थ हिसाब देखते थे। तात्पर्य यह है कि स्थानीय अधिकारियों की अधिकारलिप्सा और मोह के कारण साधारण जनता याने किसानों का

---

१. बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत।
आधा प्रधा ऊबरैं, चेत सकै तौ चेति।।
- कबीर ग्रंथावली, साखी १५, पृ० १६५.

२. वही, पद १४, पृ० ३४६.

जीवन अत्यंत कष्टदायक हुआ करता था।[१] कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी गांव में आत्मा मुखिया है। उस गांव में पांच किसान (इंद्रियां) निवास करती हैं। उन किसानों के नाम हैं नैनू (नेत्र), नकटू (नाक), श्रवनू (कान), रसपति (जिह्वा) और इंद्री (स्पर्श)। ये सब महतो (आत्मा) का कहना नहीं मानते। इसलिए इस शरीर रूपीगांव में बसना कठिन है। चेतु (चैतन्य मन) हमेशा मुझ से लेखा मांगता है। वह कायस्थ (पटवारी) है। उसी प्रकार जब धर्मराज मेरा लेखा मांगते हैं तब (कर्मों का) काफी बकाया निकलता है। ये पांच किसान तो भाग गये। कबीर संतों से कहते हैं कि इस खेत से उसे जल्दी ही अलग कर दो।[२] कबीर कहते हैं कि ईश्वर का नाम अनुपम और अमूल्य धन है। इस को गांठ में बांधकर रखने की आवश्यकता नहीं है और न इसका अपव्यय कर समाप्त करने की। आखिर वे कहते हैं कि एकमात्र राम-नाम ही खेती-बारी जीविका का साधन है।[३]

कबीर अपने पदों में खेती-बारी, पारिवारिक जीवन आदि को रूपक शैली में प्रश्रय देते हैं। सांगोपांग वर्णन के सहारे सब ओर वे प्रकाश डालते हैं। उनके ऐसे कथनों से यह अनुमान किया जा सकता है कि किसानों का रहन-सहन नरक तुल्य था।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २२२, पृ० ४६९.

२. देही गावा जीउ धर महतउ बसहि पंच किरसाना।
नैनू नकटू श्रवनू रसपति इंद्री कहिआ न माना ।।
बाबा अब न बसउ इह गाउ।
घरी घरी का लेखा मागै काइथु चेतू ।।
धरमराइ जब लेखा मागै बाकी निकसी भारी।
पंच क्रिसानवा भागि गए लै बाधिओ जीउ दरबारी ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु खेत ही करहु निबेरा।
अब की बार बखसि बंदे कउ बहुरि न भउजलि फेरा ।।
- संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ७, पृ० १६५.

३. मेरे धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खाउं ।। टेक ।।
नाउं मेरे खेती नाउं मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी।
नाउं मेरे सेवा नाउं मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ।।
- कबीर ग्रन्थावली, पद ३३३, पृ० ५३६.

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं ने भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। युग की मुख्य आय कृषि से होती थी। सूरदास की रचनाओं के अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि व्रज निवासियों की आजीविका कृषि और विशेषकर पशुपालन थी। स्त्रियाँ घर की रखवारी करने के साथ-साथ दूध-दही आदि बेचने के लिए मथुरा आया करती थीं। पुरुष लोग हमेशा पशुपालन और खेतीबारी का काम करते थे। किन्तु बालक तो गोचारण ही करते थे। व्रज के किसान कृषि या खेतीबारी की ओर अधिक आकृष्ट थे। एक वर्ष के छः महीने ठलुआर के दिनों में गिने जाते थे। किसानों को ठलुआर का दिन उत्सव जैसा है। तत्कालीन कृषि-पद्धति की ओर संकेत करते हुए सूरदास का कथन है –

प्रभु जू, यौं कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि, गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज-तामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे, माया-जूआ दीन्हौ।
इंद्रिय-मूल-किसान, महातृन-अग्रज-बीज बई।
जन्म जन्म की विषय-वासना, उपजत लता नई।
पंच-प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन-बिधान जौ कीनौ।
अधिकारी जम लेखा माँगै, तातैं हौं आधीनौ।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दियै मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौं।
अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही।
सोई करौ जु बसतैं रहियै, अपनौ धरियै नाउं।
अपने नाम की बैरख बाँधौ, सुबस बसौं इहिं गाउं।
कीजै कृपा-दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।[१]

---

१. सूरसागर : प्रथम स्कंध, पद १८५, पृ० ६०.

उपर्युक्त पद में सूर ने रूपक के द्वारा खेती की चर्चा की है। काम और क्रोध दो बली बैल हैं। किसान मूल इंद्रियां हैं। विषय-वासनाओं के शीघ्र ही उगने वाले तृणों के बीज बोये और भारी लतायें उत्पन्न हुई। सूरदास ने आखिर प्रार्थना रूप में भगवान से वर्षा करने की मांग की। अगर निश्चित समय पर पानी नहीं मिलता तो किसानों के अधिक परिश्रम करने से लाभ नहीं होता। उस समय सिंचाई के लिए कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिए वर्षा के जल पर ही खेती की सिंचाई का काम निर्भर रहता था। पानी की सिंचाई के कई मार्ग स्वीकृत थे। आज भी पानी की सुविधा याने सिंचाई के लिए जहां सुविधा नहीं होती वहां कुओं पर रहट लगाकर सिंचाई की जाती है।

सूरदास ने सूरसागर में कृषकों को किसान[1] और खेतिहर[2] इन दो नामों से अभिहित किया है। सूरदास ने खेती करने के बारे में स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। पहली वर्षा होते ही, जो ग्रीष्म ऋतु के बाद खेतिहर घास-फूस को दूर कर खेत को खेती-बारी करने योग्य तैयार करता है।[3] वर्षा की अधिकता अर्थात् बाढ़ से खेती का नाश होने की संभावना है। इसके लिए जब पहली बार किसान घास-फूस को उखाड़ देता है, तब खाल को पाटकर समतल बनाता है और कृषि सभी प्रकार से ध्यान और लाभ के साथ करते हैं।[4] इस तरह का खेत तैयार करने का वर्णन करके सूरदास जी खेती-बारी की या बीज बोने की रीति का उल्लेख करते हुए कहते हैं —

> धर बिधंसि नल करत किरषि हल, बारि, बीज, बिथरैं।
> सहि सन्मुख तउ सीत-उष्ण कौं, सोई सुफल करैं ॥[5]

---

१. इन्द्रीय-मूल-किसान, महातृन-अग्रज बीज बई।
-सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ६८५, पृ० ६०.
२. जैसें प्रथम-अषाढ़-आंजु तृन, खेतिहर निरखि उपारत।
-वही, प्रथम स्कंध, पद १०७, पृ० ३५.
३. वही, प्रथम स्कन्ध, पद १०७, पृ० ३५.
४. वही, वही, पद १०७, पृ० ३५.
५. वही, पद ११७, पृ० ३८.

सूरदासने और एक पद में 'खरिहान' और फसल की मंडाई की ओर भी संकेत किया है –

> मन-महतौ करि कैद अपने में, ज्ञान-जहतिया लावै ।
> मांड़ि मांड़ि खरिहान क्रोध कौ, पोत-भजन भरावै ।
> बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै ।
> निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहूं टारै ।[१]

सूरदास ने दूसरे एक पद में कर्म-फल को आध्यात्मिक परिवेश देते हुए कहा –

> अब कैसैं पैयत सुख मांगै ?
> जैसोइ बोइये तैसोइ लुनिए, कर्मन भोग अभागै ।[२]

निश्चय ही कृष्ण-काव्य में शतपथ[३] के बताये चारों कृषि कर्मों — जोतना बोना, काटना, मणानी का स्पष्ट उल्लेख हुआ है । सूरदास ने कृषि के लिए अनुपयोगी भूमि का नाम भी बतलाया है – बंजर[४], पटपर या मूड़[५] आदि । कवि ने खेत में अनेक प्रकार की वस्तुओं के उत्पन्न करने की ओर उल्लेख किया है । इनमें मुख्य ईख[६], कांगुनी[७] आदि हैं ।

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १४२, पृ० ४७.
२. वही, वही, पद ६१, पृ० २१.
३. शतपथ १।६।१।३.
४. बंजर भूमि, गाउं हर जोते, अरु जैती की तेती ।
- सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १८५, पृ० ६०.
५. किस पटपर गौता मारत हौ, आप मूड़ के खेत ।।
- वही, दशम स्कंध, पद ३५८७, पृ० १३४७.
६. फिरति बेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ।
- वही, प्रथम स्कंध, पद ५१, पृ० १८.
७. निपजे खेत्र कांगुनी धान । तिनहिं निरखि हरखे जु किसान ।।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद ४६, पृ० २५७.

तुलसीदासजी के काल के किसानों की दुर्दशा के बारे में क्या कहना है । अभावग्रस्त कृषकों के जीवन का मार्मिक चित्र उन्होंने कई स्थानों में खींचा है । कई बार अकाल पड़ने पर उन्हें अत्यंत दुःख भोगना पड़ता था । लाखों गरीबों ने अन्नाभाव में मृत्यु का वरण किया था ।

कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।[1]

तुलसी ने कवितावली[2] और रामाज्ञाप्रश्न[3] में किसानों की हीनावस्था और खेती-बारी की दुर्दशा का चित्रण किया है । देश में अकाल और अराजकता पड़ने पर किसानों की खेती-बारी नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती, व्यापारी लोगों का व्यापार नहीं चलता ।[4] कलियुग रूपी कसाई ने कामधेनु रूपी पृथ्वी की खेती-बारी को चौपट कर दिया ।[5] तुलसीदास जी ने रामराज्य के वर्णन में किसानों को संतोष और सुख-शांति प्राप्त होने के उपाय व्यक्त किये हैं । योग्य शासन में खेती समय पर होती है और पानी समय पर प्राप्त होता है ।[6]

व्यापार और वाणिज्य

भारत कृषि प्रधान राज्य होने के साथ-साथ वाणिज्य और व्यवसाय का केन्द्रबिन्दु भी था । मध्यकाल में आन्तरिक और बाह्य व्यापार की प्रगति

---

१. रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृ० १०५.
२. कवितावली, उत्तरकांड, पद ९७, पृ० १४३.
३. खेती बानिज न भीख भलि, असफल उपाय कलेस ।
सुसमय बामन बाम बिधि, राम नाम अवलंब ।।
- रामाज्ञाप्रश्न, दो० ३, पृ० ६७.
४. खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी ।
- कवितावली, उत्तर पद ९७, पृ० १४३.
५. काम धेनु-धरनी कलि-गोमर, बिबस बिकल जामति न बई है ।।
- विनयपत्रिका पद १३९, पृ० २१८.
६. दोहावली, दो० ९८४, पृ० ६५.

होती थी । यद्यपि तुर्क अफगान युग में राज्य देश की जनता की आर्थिक अभिवृद्धि की दृष्टि से व्यापक अर्थनीति का अनुसरण नहीं करता था, फिर भी हमारे देशवासी बड़े पैमाने पर बाह्य तथा आन्तरिक व्यापार किया करते थे। भारत का बाह्य जगत से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था । कृषि की उपज, सूती तथा रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता आदि वस्तुएं विदेशों को भेजी जाती थीं और घोड़े, खच्चर तथा राज-परिवारों और सामन्तों की विलास-वस्तुएं बाहर से मंगायी जाती थीं ।

कबीर कहते हैं कि टांडे का ऐसा नायक या व्यापार करने वाला है जिसने सारे संसार को बनजारा बना दिया । संसार ने पाप और पुण्य नामक दो बैल खरीदे । काम-क्रोध उसे रोकने के लिए कर वसूल करने वाले हुए । मन में कुछ बनने की भावनाएं आयीं । पंच तत्व मिलकर उससे अपना इनाम वसूल करते हैं । यहां कबीर ने तत्कालीन व्यापारियों का यथार्थ चित्रण किया है ।[१] कभी-कभी इन व्यापारियों को हानि भी उठानी पड़ती थी; उनकी पूंजी खो जाती थी, टांडा टूट जाता था और व्यापार नष्ट हो जाता था । ऐसी स्थिति में बनजारे को खाली हाथ चलना पड़ता था । उसको व्याज के बजाय मूल से भी हाथ धोना पड़ता था ।[२]

---

१. पापु पुंनु दुइ बैल बिसाहे पवनु पूजी परगसिओ ।
   त्रिसना गूणि भरी घट भीतर इन बिधि टांड बिसाहिओ ।।
   ऐसा नाइकु रामु हमारा ।
   सगल संसारु कीओ बनजारा ।।
   कामु क्रोधु दुइ भये जगाती मन तरंग बटवारा ।
   पंच ततु मिलि दानु निबेरहि टांडा उतरिओ पारा ।।
   कहत कबीर सुनहु रे संतहु अब ऐसी बनि आई ।
   घाटी चढ़त बैलु इकु थाका चलो गोनि छिटकाई ।।

   - संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद ४६, पृ० ५२.

२. वही, पद ६, पृ० २३६.

संत काव्यों में मध्यकालीन व्यापार और वाणिज्य की उन्नति और अवनति का जीता-जागता वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है । कबीर ने संसार को बाजार के तुल्य माना है । संसार रूपी बाज़ार के चौराहे पर चिन्तामणि, जो जीवात्मा का प्रतीक है, विक्रय के लिए खड़ा है । लेकिन माया रूपी आकर्षण से उलझ जाने के कारण उस क्रय-विक्रय की भी उलझन होने लगी ।[१] सांसारिक क्रिया-व्यापार या क्रय-विक्रय की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं —

जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट ।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ।।[२]

संत लोगों की यह धारणा है कि आत्मा-परमात्मा के मिलने से ही संसार मुक्त हो जाता है । लेकिन माया, जो ठगिनी है, बाधा देती रहती है । बाजार में हमेशा प्रत्येक चीज़ का दाम महंगा और सस्ता होना स्वाभाविक है । उसी प्रकार संसार रूपी बाजार में माया रूपी ठगिनी के प्रभाव से इन्द्रियों के स्वाद रूपी असंख्य विषय वासना के कारण जीवन भी ठग जाता है । वही साहूकार और दुकानदार समर्थ है जो अपने क्रय-विक्रय में सबसे आगे हैं । साहूकार को वह गुण होना चाहिए जिस से वह व्यापार में दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके और उसी समय अपना लाभ भी देख सके । संसार रूपी बाजार में माया, जो पापिनी और वेश्या है, सब को अपनी ओर आकृष्ट करती है । समस्त संसार इससे आबद्ध हो जाता है ।[३] थोड़ी देर खड़े होकर और सब देखकर चले जाते हैं । कबीर कहते हैं कि सज्जनों को बेचने वाला और क्रय करने वाला वास्तव में राम ही है ।[४]

---

१. चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि ।
मीरा मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ।।
- कबीर ग्रंथावली, सा० १६, पृ० १३७.

२. वही, सा० २८, पृ० १३६.

३. (क) जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ ।
रामचरन नीकां गाहो, जिनि जाइ जनम ठगाइ ।। - वही, सा० १, पृ० १८६
(ख) वही, सा० २, पृ० १८६.

४. आनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचनहारा ।
बेचै रांम तौ राखै कौंन, राखै रांम तौ बेचै कौंन ।। - वही, पद ११३, पृ० ४०४.

कबीर ने जीवात्मा की तुलना एक वणिक से की है । इससे देश के व्यापार की उन्नति के लिए जल-यात्रा की आवश्यकता थी । मध्य युग में स्थलगत और जलगत व्यापार की उन्नति हुई थी । विनावर का व्यापार संतों के काल में श्रेष्ठ समझा जाता था । विस्तृत और विशाल बाज़ार देखकर व्यापारी या वणिक् किसी वस्तु का व्यापार करता है । व्यापारी तो अपने देश से याने अपने बाजार से सामग्री लेकर समुद्र मार्ग से अन्य देश में जाते थे । जो मूल धन की रक्षा करता हुआ लाभ प्राप्त करता है वही बनजारा श्रेष्ठ और कुशल माना जाता है । इस संसार में जो वणिक वस्तु के लाभ के लोभ में खरे-खोटे होने की परख नहीं रखता है, वही आदमी लोभ के वशीभूत होकर अपना सब कुछ नष्ट कर देता है ।[१] विदेशी व्यापार की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि सबसे पहले मनुष्य अपने देश में व्यापार आरंभ करते हैं; फिर यहाँ से सामग्री लादकर दूर दूर तक जाते हैं । यद्यपि कबीर ने यह संदर्भ जीवात्मा और परमात्मा की ओर संकेत करते हुए आध्यात्मिक संदर्भ में कहा है, तो भी यह सत्य है ।[२]

मध्य युग में अधिकांश अमीर लोग विषय-वासना के अधीन में तल्लीन होकर रहते थे । उनके इन कुकृत्यों से सुकृत्यों का मूलधन दिन प्रति दिन कम होता जा रहा था ।[३] कबीर कहते हैं कि सच्चे व्यापारी वही हैं जो बाजार या संसार में खोज करते हैं और पांच धूर्तों (इन्द्रियों) को समझ सकते हैं । वह नौ स्वामियों (पांच प्राण और चार अंत:करण) की भक्ति पहिचान सकता है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २३४, पृ० ४७५-६.

२. रे मन मांहि नवै व्योपारी, जे मरैं जगाति तुम्हारी ।।टेक।।
   बसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हीं, लादो हरि को नांऊं ।
   रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि के टांडै जांऊं ।।
   जिनके तुम्ह अगिवानीं कहियत, सो पूंजी हम पासा ।
   अब तुम्हारौ कछु बल नांहीं, कहै कबीरा दासा ।।
   - वही, पद २५४, पृ० ४८७.

३. वही, पद ३८३, पृ० ५६५.

ऐसे व्यापारी को लोग गुरु-समान मानते हैं ।[१]

संत कवियों में दादूदयाल ने भी व्यापार और वाणिज्य का उल्लेख कहीं-कहीं पर किया है -

राम नांव कौं बणिजन बैठे, तार्थै मांड्या हाट ।
साईं सौं सौदा करैं, दादू खोलि कपाट ।।[२]

\+ + + +

रतन पदारथ माणिक मोती, हीरौं का दरिया ।
च्यंतामणि चित राम-धन, घट अमृत भरिया ।।[३]

कबीर और दादूदयाल समकालीन संत थे । उनके समय में विभिन्न प्रकार के वाणिज्य और व्यापार चलते थे । इनमें मुख्य पट वस्त्र[४], तमोल पान[५], हीरा[६], कागज़[७], गुड़[८], राई[९], माणिक[१०] आदि हैं । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संतों के काल में अनेक प्रकार के व्यापार प्रचलन में थे ।

---

१. बजारी सो जु बजारहि सोधै ।
पांच पलीतह कउ परबोधै ।।
नउ नाइक की भगति पछानै ।
सो बाजारी हम गुर मानै ।। - संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद १०, पृ० १७४.

२. दादूदयाल ग्रंथावली दोहा १५०, पृ० १४७.

३. वही, दोहा ३९, पृ० १८०.

४. कबीर ग्रंथावली, सा० २८, पृ० १३९.

५. वही, साखी ६, पृ० २४२.

६. वही, सा० २८, पृ० ३९५; सा० ३, पृ० ३१०; सा० २, पृ० ३०८.

७. वही, पद १०८, पृ० ४०१; दादूदयाल ग्रंथावली दो० ७३, पृ० १९९.

८. कबीर ग्रंथावली, पद १०८, पृ० ४०१.

९. वही, पद १३३, पृ० ४१५.

१०. दादूदयाल ग्रंथावली, दोहा २४, पृ० ३१७.

मध्य युग में व्यापार और वाणिज्य की स्थिति कैसी थी ? उन्नति थी या नहीं, इसके बारे में जायसी ने अपनी रचना में परामर्श किया है । चित्तौड़ व्यापार का प्रमुख केन्द्र था । दूर-दूर से व्यापारी और वणिक् व्यापार करने के लिए यहां आते थे । 'पद्मावत' में ऐसा वर्णन पाया जाता है कि उस समय बनिजारे दूर-दूर तक व्यापार करने जाते थे । देखिए –

चितउर गढ़ क एक बनिजारा । सिंघल दीप चला बैपारा ।
बांमन एक दुत नष्ट भिखारी । सो पुनि चला चलत बैपारी ।[1]

जायसी के समय जलमार्ग और स्थलमार्ग के वाणिज्य की प्रगति थी । सिंहल द्वीप तक पहुंचने का स्थलमार्ग कठिन था । इसलिए समुद्र मार्ग से वहाँ जाते थे । वहाँ के व्यापार की रीति भी अजीब थी । निर्धन और धनी लोगों के व्यापार की रीति अत्यंत विचित्र थी ।[2] जायसी ने केवल चित्तौड़ का ही नहीं, बल्कि सिंहल द्वीप के हाट-बाजार का भी वर्णन किया है । देखिए –

कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी । बैठ महाजन सिंघल दीपी ।
रचे हंथौड़ा रूपं ढारी । चित्र कटाउ अनेग संवारी ।
रतन पदारथ मानिक मोती । हीरा पंवार सो अनबन जोती ।
सोन रूप सब भरउ पसारा । धवलसिरी पोतहि घर बारा ।
औ कपूर बेना कस्तूरी । चंदन अगर रहा भरिपूरी ।
जैं न हाट एहि लीन्ह बेसाहा । ता कहं आन हाट कित लाहा ।
कोई करै बेसाहना काहू केर बिकाइ ।
कोई चला लाभ सौं कोई मूर गवांइ ।।[3]

---

१. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८४.
२. मारग कठिन बहुत दुख भए । नांघि समुद्र दीप ओहि गए ।
   देखि हाट किछु सूझ न ओरा । सबै बहुत किछु दीख न थोरा ।
   पै सुठि ऊंच बनिज तहं केरा । धनी पाउ निधनी मुख हेरा ।
   लाख करोरन्हि वस्तु बिकाई । सहसन्हि केर न कोइ ओनाई ।
   – वही, पृ० ८४.
३. वही, पृ० ४३.

जायसी ने `पद्मावत` में बनिज, बेपारा, बेवहरिया, बेवहार, बौसाऊ आदि शब्दों का उल्लेख किया है ।[१] `पद्मावत` में जायसी ने बनिजारा शब्द व्यापारी के लिए प्रयुक्त किया है ।[२] उन्होंने व्यापार के मोल के अन्तर्गत रतन और माणिक की गणना भी की है ।[३]

कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में व्यापार और वाणिज्य का उतना अधिक वर्णन नहीं मिलता जितना अन्य भक्त कवियों के काव्य में प्राप्त है । विद्यापति ने `कीर्तिलता` में वाणिज्य-व्यापार की उन्नति यहाँ तक मानी है कि बाजारों में भयानक भीड़ होती थी और सोना, चाँदी, माणिक आदि विभिन्न अमूल्य सामग्री बिकी जाती थी ।[४]

महात्मा सूरदास ने अपने काव्य में वाणिज्य और व्यवसाय की चर्चा कम की है । ब्रज का प्राचीन व्यवसाय गोचारण है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोचारण को मनुष्य जाति की प्राचीन वृत्ति मानते हुए इसे अनेक देशों में काव्य का प्रिय विषय बतलाया है । यही कारण है कि यवन देश (यूनान) के `पशुचारण काव्य` का मधुर संस्कार यूरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला आता है ।[५] `सूरसागर` में व्यापारों के पर्यायवाची शब्दों के रूप में बानिज[६], व्यापार[७] एवं व्योपार[८] शब्द प्रयुक्त हैं । सूरदास के समय व्यापार करने वाले को

---

१. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८४-९२.
२. वही, पृ० ८४.
३. वही, पृ० ८६.
४. कीर्तिलता विद्यापति, पृ० ३८.
५. भ्रमरगीत सार की भूमिका, पृ० १३-१४.
६. ऐसी कहो बनिज कों अटकी । — सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५२५, पृ० ७८८.
७. देव सकल व्यापार परस्पर, ज्यों पसु दूध चराई । — वही, प्रथम स्कंध, पद १६५, पृ० ६४.
८. यह व्योपार तुम्हारो ऊधो, ऐसें ही धर्यो रैहै ।
— वही, दशम स्कंध, पद ३६६५, पृ० १३६५.

ब्यौपारी[१], व्यापारी[२] आदि कहा जाता था। उस समय वस्तुओं के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त होते थे — नग[३], माल[४], वस्तु[५], सौज[६], सौदा[७] आदि। गाहक वस्तु खरीदने वाले थे।[८] 'परमानन्दसागर' में राधा के गोरस को खरीदने वाले कृष्ण को 'अमोल गाहक' कहा है।[९] उस समय हाट[१०] और पैठ[११] व्यापार के स्थान थे। मीरा ने एक स्थान पर मांड़ी शब्द प्रयुक्त किया है।[१२] मांड़ी से तात्पर्य उस व्यापारिक स्थान से है, जहां गांव का किसान आलू, अनाज, गुड़ आदि मांड़ी में रखकर बेच जाता है और दूसरे व्यापारी उसे 'थोक' रूप में खरीद लेते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि थोक व्यापार वाला बाज़ार मंडी कहलाता है।[१३]

---

१. आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी। — सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३४११, पृ० १४४१.

२. बाहबिलंग, बहेरा, हर्रै, बेल, गोन व्यापारी। वही, पद १५२८, पृ० ७८९.

३. कहौ कान्ह कह नग है हम सौं। — वही, दशम स्कंध, पद १५२८, पृ० ७८९.

४. तुम जानति मैं हूं कछु जानत, जो-जो माल तुम्हारैं।
— वही, पद १५२६, पृ० ७८८.

५. लै आए हो नफा जानि कै, सबै वस्तु अकारी॥
— वही, पद ३४६४, पृ० १३६५.

६. करि बिचार,यह सौज लादि कै, हरि कैं पुर लै जाहि।
— वही, प्रथम स्कंध, पद ३१०, पृ० १०२.

७. सूर स्याम की सौदा सांचौ, कह्यौ हमारौ मानि॥
— वही, पद ३१०, पृ० १०२.

८.(क) होउ मन, राम-नाम कौ गाहक। — वही, पद ३१०, पृ० १०२.
(ख) सूरदास गाहक नहिं कोऊ, देखियत गरै परी॥
— वही, दशम स्कन्ध,पद ३४६४, पृ० १३६५.

९. नन्द को लाल अमोलो गाहक ब्रज से निकसत पकरी॥
— परमानन्दसागर,पद १८५, पृ० ६०.

१०. मकनि हाट बैठि अस्थिर ह्वै, हरि नग निर्मल लेहि।
-सूरसागर,प्रथम स्कंध, पद ३१०, पृ० १०२.

११. ऊधौ तुम ब्रज मैं पैठ करी। — वही, दशम स्कन्ध, पद ३४६४, पृ० १३६५.

१२. ज्ञान-चौसर मंड़ी चौहाटे। — मीरा-माधुरी, पद ३००.

१३. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति —
- मगुलाल, पृ० १५४.

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के समय में व्यापारी लोग देश-विदेश में व्यापार के लिए जाते थे। गोकुल और वृन्दावन जैसे सुन्दर स्थल में आकर पैठ करते थे।[१] गोपियाँ उद्धव से अपने व्यापार को हरिपुर में जाकर चलाने की सलाह देती हैं।[२] उस समय विदेश से भी व्यापारी आते थे।[३] गोपियाँ बहुत दूर जाकर व्यापार नहीं कर सकती थीं, फिर भी दही बेचने मथुरा जाया करती थीं।[४] आगे चलकर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यह निर्गुण निर्मोल गठरी ब्रज में नहीं बिक सकती, उसे खरीदने के लिए यहाँ कोई गाहक नहीं है।[५] व्यापारी लोग विदेश में बैल[६] या गयन्द[७] पर लादकर माल ले जाते थे। श्री ब्रजप्रेमानन्दसागर में सकट की ओर संकेत किया है। इसके अलावा गाड़ा, करहा, रथ, तुरंग आदि का उल्लेख भी किया गया है।[८] सूरदास ने सकट का उल्लेख 'ब्रज प्रवेश शोभा' प्रसंग में किया है।[९] मीराँ ने ऊँट को सवारी करने और बोझा ढोने के लिए इस्तेमाल करने का वर्णन किया है। राजस्थान में रथ में बैलों को जुता कर सवारी करते थे।[१०] तेजी से चलने के लिए सांड़नी प्रयुक्त होती थी।[११] व्यापार के लिए लोग जल-यात्रा भी करते थे। विद्यापति ने

---

१. ऊधौ तुम ब्रज में पैठ करी। — सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६६४, पृ० १३६५.

२. हरि हियाव, यह सौंज लादि कैं, हरि कैं पुर लै जाहि।।
— वही, प्रथम स्कंध, पद ३१०, पृ० १०२.

३. सबै स्वदेस विदेसी आए, कृष्ण मोहन छावन।
- वही, दशम स्कंध, पद ३६६८, पृ० १३६४.

४. मथुरा जाति हौं बेचन दहियौ। —वही, पद ३१३, पृ० ३६५.

५. यह निर्गुन निरमोल गाठरी, अब किन करत घटी।।
सूरदास गाहक नहिं कोऊ, देखियत गरें परी।।
- वही, दशम स्कंध, पद ३३६५, पृ० १३६५.

६. वही, वही, पद १५२८, पृ० ७८६.

७. वही, वही, पद १५२९, पृ० ७८६.

८. बड़े बड़े गाड़ा जुति चले। नर बाहनि बहिली रथ भले।
संवहि कुंवर चढ़ि चले तुरंगनि। सुविधि नचावत भरि रस रंगनि।।
करहा सकट चले लदि भार। चार्यो बरन लिये नृप लार।
- श्री ब्रजप्रेमानन्दसागर, पृ० १११

९. सकल सकट भरि अमल चलाए। — सूरसा०, दश० स्क०, पद ६८३, पृ० ४५८.

१०. रथां बैल जुताय कै, ऊँटा कसियौ भार। - मीरा माधुरी, पद १०२.

११. राणा सांड्यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड़। - वही, पद १०२.

इस ओर संकेत किया है ।[१] इस काल में सुदूर प्रदेशों से आने वाले व्यापारी जब घाट-विशेष पर नदी पार करते थे तो इनको `दान` अर्थात् `कर` या `चुंगी` देनी पड़ती थी, जिसको लेकर अष्टछापी कवियों ने दान-लीला का वर्णन किया है ।[२]

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के समय वणिज के अन्तर्गत नारियल, दाख, मेवे, लौंग, हींग, मिर्च, पीपर, अजमायन, कूट, कायफल, सोंठ, सुपारी, चिरायता, करवीरा, मजीठ, सिंदूर, बायबिडंग, बहेड़ा, हर्र आदि मुख्य रूप में आते थे ।[३]

ब्रज में गोपियां नित्य दूध, दही, मक्खन बेचने जाया करती थीं, कभी-कभी वे मथुरा में जाती थीं ।[४] कृष्ण के लिए भौंरा, चक-डोरी माता यशोदा फेरीवाले से खरीदती है ।[५] `परमानन्दसागर` में विभिन्न प्रकार के फल बेचने वालों का उल्लेख आया है, विशेष कर आम, बेर, काछिन या तरकारी बेचने वालों का ।[६] मीरा ने ऐसी ग्वालिनों का चित्रण किया है जो सिर पर दही की मटकी रखकर बेचने जाती हैं ।[७]

---

१. कर धरन कर मोहि पारे
 देव में अपराध हारे कन्हैया । — विद्यापति पदावली, पद १०३.

२. अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन : डा० मायारानी टंडन, पृ० ४२१-२

३. कहाँ कान्ह कह गये हैं हम सौं ।
 जा कारन जुवती सब अटकीं, सो बूझति हैं तुमसौं ।।
 लौंग, नारियर, दाख, सुपारी, कह लादे हम आवैं ।
 हींग, मिरिच, पीपरि, अजवाइनि, ये सब बनिज कहावैं ।।
 कूट, कायफर, सोंठि, चिरइता, करवीरा कहुं खेवत ।
 खाज, मजीठा, लाख, सेंदुर कहुं, ऐसिहि बिधि अवरेखत ।।
 बायबिडंग, बहेरा, हर्रे, बेल, मौन व्यापारी ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५२८, पृ० ७८६.

४. वही, पद १५०४, पृ० ७८२.

५. दे मैया भौंरा चक डोरी ।
 जाइ लेहु आरे पर राख्यौ, कालिह मोल ले राखे कोरी ।। -वही, वही, पद ६६६, पृ० ४१६.

६. परमानन्दसागर, पद ६७२, ६७३, ६७४, पृ० २३४.

७. मीरा माधुरी, पद ४३.

मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य में इन व्यापारों के अतिरिक्त हीरे, जवाहरात और सोने-चांदी के व्यापार का उल्लेख भी मिलता है। उस समय रतन[१], मणि[२], हीरा[३], सीपज[४], मुक्ता[५], माणिक[६], मरकत[७], प्रवाल[८], पिरोजा[९] आदि का उल्लेख मिलता है।

इससे यह अनुमान होता है कि मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के समय व्यापार ही मुख्य व्यवसाय था। उस समय व्यापारी अपने व्यापार का प्रारंभ जिस मूलधन से करते थे `मूल' या `पूंजी' कहते थे।[१०] व्यापारी का मुख्य उद्देश्य लाभ प्राप्त करना था। लेकिन हमेशा लाभ होना संभव नहीं था, कभी-कभी हानि भी होती थी।[११] उद्धव मुक्ति का मार्ग बेचने के लिए जब ब्रज में पहुंचते हैं तो गोपियां कहती हैं —

मुक्ति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न ऊधौ, यह तुम पै सब पूंजी अकेली।।
कै लै जाहु अनत ही बेचौ, कै लै राखु जहां विष बेली।[१२]

---

१. हीरा-रतन-पटंबर हमकों दीन्हे ब्रज के भूप।
- सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३८, पृ० २७४.

२. मनि-मानिक, पाटंबर-अंबर, लेत न बनत विभूत।
- वही, वही, पद ३६, पृ० २७२.

३. हीरा-रतन-पटंबर हमकों दीन्हे ब्रज के भूप।
- वही, पद ३८, पृ० २७४.

४. प्रगटित हंसत दंतुलि, मनु सीपज दमकि दुरे दल ओलैं री।
- वही, पद १३७, पृ० ३०७.

५. लै डाढ़िनि कंचन-मनि-मुक्ता, नाना बसन अनूप। —वही, पद ३८, पृ० २७४.

६. मनि-मानिक,पाटंबर-अंबर, लेत न बनत विभूत। —वही, पद ३६, पृ० २७२.

७. विच मी स्याम नारि बिच गोरी। कनक-खंभ मरकत खचि डोरी।
- वही, पद १०३९, पृ० ६१८.

८. कंचन खंभ, मयारि, मरुवा-डाड़ी, खचि हीरा बिच लाल-प्रवाल।
- वही, पद ८४, पृ० २८६.

९. रेसम बनाइ नव रतन पालनौ, लटकन बहुत पिरोजा-लाल।
- वही, पद ८४, पृ० २८६.

१०. समुझि सगुन लै चले न ऊधौ, यह तुम पै सब पूंजी अकेली।
- वही, पद ३७२६, पृ० १३८०.

११. और बनिज में नाहीं लाहा, होति मूल में हानि। - वही, प्रथम स्कं, पद ३१०, पृ० १०२.

१२. वही, दशम स्कंध, पद ३७२६, पृ० १३८०.

इतना ही नहीं, मध्ययुग के कृष्ण-भक्त कवियों ने व्यापारी के लिए 'साहु', 'साह' आदि शब्द भी प्रयुक्त किये हैं।[१] व्यापारियों के दलाल उस समय भी हुआ करते थे। सूर के विनय पदों में दलाल की बात आती है[२] और गोपियाँ को उद्धव दलाल के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इसलिए वे उनसे फाटक के बदले हाटक माँग रही हैं।[३] इस तरह यह निस्संशय कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के समय व्यापार की उन्नति अवश्य हुई थी।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने खेती-बारी के समान व्यापार की दुर्दशा भी देखी थी। प्रचण्ड महामारी के फैलने से देश के चारों ओर दुर्दशा व्याप्त थी। आर्थिक विषमता के कारण व्यापार पूर्ण रूप से निश्चल हो गया। माल मूल्य देकर खरीदने में जनता असमर्थ थी। बनिये लोग खेती नहीं करते थे। व्यापार ही उनका पेशा था –

बनिक को न बानिजा। न चाकर को चाकरी।[४]

और भी –

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाट
चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि
अटत गहन-गन अहन अखेट की।।[५]

खेती-बारी और व्यापार की दशा यहाँ तक पहुँच गयी कि –

चाकरी न आकरी, न खेती, न बानिज-भीख,
जानत न कूर कछु किसब कबारु है।[६]

---

१. मुख मागी पैहौ सूरज प्रभु, साहुहिं आनि दिखावहु।
– सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६६६, पृ० १४४१.
२. काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू, सकल दलाली देहि।
– वही, प्रथम स्कंध, पद ३१०, पृ० १०२.
३. फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी – वही, दशम०, पद ३६६६, पृ० १४४१.
४. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ९७, पृ० १६३.
५. वही, वही, पद ९६, पृ० १६२.
६. वही, वही, पद ९७, पृ० १६३.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने लंका नगरी के बाजार का वर्णन इस प्रकार किया है –

हाट-बाट हाटकु पिघिलि चलो घी सो घनो,
कनक-कराही लंका तलफति तायसों ।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब
पागि पागि ढेरी कीन्ही भली भाँति भायसों ।।
पाहुने कृसानु पवमानसों परोसो, हनु-
मान सनमानि कै जेंवाए चित-चायसों ।
'तुलसी' निहारी अरिनारि दै दै गारि कहैं
बावरें सुरारि बैरु कीन्हों रामरायसों ।।[१]

रामराज्य में व्यापार का विकास था । बाजार में भीड़-भाड़ थी । तुलसीदासजी ने रामराज्य के बाजार का सुन्दर वर्णन 'मानस'[२] और 'रामाज्ञा-प्रश्न'[३] में किया है ।

अन्य उद्योग :

कृषि और व्यापार के अलावा मध्यकालीन जनता और भी कई कामों में लगी हुई थी, जो उसके जीवन के लिए नित्योपयोगी थे । भक्तिकालीन महान कवियों ने इन विभिन्न उद्योगों की ओर संकेत किया है । उस समय की आर्थिक दशा अत्यंत बिगड़ी हुई थी । अपना नैतिक जीवन और धन का अर्जन करने के लिए

---

१. कवितावली, सुन्दरकाण्ड, पद २४, पृ० ५७.

२. बाजार रुचिर न बने बरनत वस्तु बिनु गथ पाइये ।
जहँ भूप रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइये ।।
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहु कुबेर ते ।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरठ जे ।।
– 'मानस', उत्तरकाण्ड, पृ० ५८.

३. खेती बनी बिद्या बानिज सेवा सिलिप सुकाज ।
तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम के राज ।।
– रामाज्ञाप्रश्न, दो० ७, पृ० ६२.

उस समय लोग सामान्य उद्योग-धंधे भी करते थे। मध्यकालीन सामान्य धंधे रुई का उद्योग, कताई, बुनाई आदि थे।

भारतवर्ष का सब से उन्नत और सर्वाधिक प्रचलित उद्योग-धंधा है रुई का उद्योग। देश भर में इस उद्योग के कई केन्द्र थे, जो अपनी निजी विशेषता के लिए प्रसिद्ध थे। बुनाई और कताई के उद्योगों की उन्नति कपास की पैदावार करने से होती थी। कपास से रुई मिलती है। कबीरदासजी ने रुई का उल्लेख अपनी ग्रंथावली में बार-बार किया है। उनका पेशा जुलाहे का था —

माया की झल जग जल्या, कनक कामिणीं लागि।
कहु धौं किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि।।[1]

भारत में चरखा कातने की रीति प्राचीन काल से चली आरही है। यह ग्रामीण उद्योग है, खास कर स्त्रियों का काम है। स्त्रियां अपने घर के काम के पश्चात् ऊपर से धन का अर्जन करने के लिए छोटे-छोटे काम करती थीं।[2] सुन्दर सूत कातने वालों से कबीर का कथन है कि शुभ कर्म रूपी सुन्दर सूत का एकमात्र ग्राहक राजा राम है।[3] कबीर ने भक्ति को जुलाहे के कर्म से संबोधित करते हुए कहा है कि प्रभु भक्ति का धागा अगर टूट जाता है तो किसी भी तरह उसे अवश्य जोड़ लेना चाहिए। यह धागा टूटने का क्रम चलता ही रहेगा। उलझा हुआ सूत पिंडी के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। कर्मरूपी सूत के सुलझ जाने पर सब गाठें, मन के संताप दूर हो जाते हैं और मन को धैर्य प्राप्त होता है। जब पंचेन्द्रिय अपने वश में हो जाती हैं तब यह कर्म रूपी सूत पान पर चढ़ सकता है। कबीर कहते हैं कि इस कर्म रूपी सूत को कलफ लगाने के लिए

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी ३२, पृ० १९८.
२. चार खूंटी दोइ चमरख डाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई।।
   सासु कहै काति बहु ऐसैं, बिन कात निसतरिबौ कैसैं।
   कहै कबीर सूत भल काता, रहटां नहीं परम पद दाता।।
   - वही, पद २२८, पृ० ४७३.
३. मांन्हां कातौ चित दे, महंगे मोलि बिकाइ।
   गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ।।
   - वही, सा० ५८, पृ० १७५.

प्रयत्न रूपी दो बार को झरी मैदा लगायी और थोड़ा सा स्नेह रूपी तेल चुपड़ कर कर्म सूत से भक्ति का जो सुन्दर वस्त्र बुनते उसे थोड़ी भी तो देर न लगी ।[१] कबीर ने मानव शरीर का निर्माण एक कच्चे सूत के खटोले के समान माना है ।[२] वे मानवराशि को सदुपदेश देते हुए कहते हैं कि कर्म रूपी सूत का कोई छोर नहीं, इसलिए इससे विरक्त होना ही श्रेयस्कर है। जहां सांसारिक उपकरण जैसे सूत, कपास एवं पूनी का अभाव है वहां ब्रह्म का निवास है ।[३]

संत लोगों को चरखे पर कपड़े बुनने का अनुभव था । इनमें सबसे अनुभवी संत कबीर थे । कपड़े के ताने-बाने से सर्वाधिक परिचय कबीर को प्राप्त था । कबीर कहते हैं कि हम अपने घर में नित्य सूत का ताना तानते हैं ।[४] उन्होंने प्रभुभक्ति को एक वस्त्र से संकेत किया है । विषय-वासना में लिप्त मानव से वे पूछते हैं कि इस अपूर्ण भक्ति रूपी वस्त्र को कौन पूरा करेगा ? जुलाहे के अभाव में ताना-बाना दोनों इधर-उधर रहे हैं ।[५] ताना फैलाने के लिए सूत को

---

१. बाना ज्यूं टूटै त्यूं जोरि ।
   तूटै तूटनि होयगी, नां ऊं मिलै बहोरि ।। टेक ।।
   उरझ्यौ सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई ।
   छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरौ कहा बसाई ।
   सुरझ्यौ सूत गुढी सब भागी, पवन राखि मन धीरा ।
   पंच भइया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला ।।
   नांन्ही मैदा पीसि लई है, छांणि लई है बारा ।
   कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद १०६, पृ० ४०१.

२. इक कंकर सम सूत खटोला, त्रिस्नां बाव चहूं दिसि डोला ।
   पांच कहार का मरम न जांनां, एकै कह्या एक नहीं मांनां ।।
   - वही, पद ६०, पृ० ३६१.

३. वही, पद ३१, पृ० ३५५.

४. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २६, पृ० ११६.

५. धाई धाई तू पतिहाई, धाई की तुरियां बेचि बाई री, माई को बीनै ।
   ऐसे धाई पर बिधुराई, त्यूं रस आंनि बनायौ री, माई को बीनै ।।
   नाचै तांनां नाचै बांनां, नाचै कूंच पुराना री, माई को बीनै ।
   करगहि बैठि कबीरा नाचै, चूहै काट्या तांनां री, माई को बीनै ।
   - कबीर ग्रंथावली, पद १६, पृ० ३५२.

लेकर फेरा लगाना होता है और भरने पर सूत की गुण्डियाँ बना ली जाती हैं जिनको बाने के लिए नलियों में भरा दिया जाता है। ताना जब फैलाया जाता है तब उसके तारों को एक-एक करके कन्घे में भर लिया जाता है, जिसे सूत का भरना कहते हैं। फिर जिस ओर गड्ढा बनाया जाता है, उस ओर जुलाहा पैर लटका कर बैठता है और पैरों से ताने को ऊपर-नीचे दबाता रहता है। वह सूत से भरी छोटी-छोटी नलियों को बाना तैयार करने के लिए इधर उधर फेंकता जाता है और तार के इधर-उधर आने-जाने से बुनाई होती रहती है। बुनाई के समय नली के आने-जाने से खुर-खुर की ध्वनि सुनाई देती है। बीच-बीच में जब कभी नली से तार टूट जाता है तब जुलाहा उस सूत को मुररिया (ऐंठन देकर) जोड़ देता है।[१] इस तरह कबीर ने कपड़े बुनने की क्रिया का सर्वांग वर्णन कई बार प्रस्तुत किया है।

मध्ययुगीन कृष्ण-काव्यों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि उन दिनों जीविकोपार्जन के लिए बड़े-बड़े व्यापारों के अलावा छोटे-छोटे व्यापार भी प्रचलित थे, जो घर के आस-पास ही किये जा सकते थे। रहीम ने विविध प्रकार के आजीविका के मार्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने `नगर-शोभा-वर्णन` शीर्षक के अन्तर्गत लुहारिन, कसाई, तबासिनी (बड़े थाल में शोरबा रखकर बेचने वाली), भटियारिन (शराब की मालकिन), कमानगरी (कमान बनाने वाली), तीरगन (तीर बनाने वाली), सरीकन (लोहे की छड़ तैयार करने वाली), छीपनि (कपड़ा छापने वाली), सिकलीगरनी (हथियार मांजकर चमकानेवाली), बुंकिहारी (बाँक लगाने वाली), कटीकनी, सबनीगरनि (साबुन बनानेवाली), धुनियाइन (रूई धुनने वाली), कुप्पगरनि (कुप्पा बनाने वाली), नगारचनि (नक्कारा धौंसा बजाने वाली), ठठेरनी (बर्तन बनानेवाली), कागदनि (कागज बनानेवाली), मसिकारनि (स्याही बनानेवाली), भंगेरनी (भांग बेचने वाली), बोजागरनि (मदिरा बेचने वाली), चीतावनी (चीता पालने वाली), कठिहारी (लकड़हारिन), घासिनि (घास बेचने वाली), गड़ियारिन सवानी (ऊँट चलानेवाई

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २०-२१, पृ० ३४६-३५०.

नालबंधिनी (घोड़े की नाल बांधने वाली), चिरवाहरनि (राईस), चामरी, चूहरी आदि अनेक स्त्री व्यवसायियों का उल्लेख किया है ।[१]

सूरदास ने भी 'सूरसागर' में पंसारिन एवं बजारिन का उल्लेख किया है ।[२] इस उक्ति से उन्होंने मिर्च-मसाले बेचने वाले और कपड़ा बेचने वाले की ओर संकेत किया है । उन दिनों इत्र बनाकर बेचने वाले के लिए गंधिनि शब्द प्रयुक्त होता था । गोपियां अरगजा, चन्दन, केसर आदि सुगंधित द्रव्य लेकर कृष्ण का दर्शन करना चाहती हैं ।[३] कृष्ण को बीड़ा खिलाने वाले तमोली का उल्लेख 'नन्ददास ग्रंथावली' में स्पष्ट रूप में मिलता है ।[४] परमानन्ददास ने ऐसी गोपियों का उल्लेख किया है जो सुगन्ध, सुपारी और लौंग की कील लगाकर खाती हैं ।[५] विद्यापति ने एक स्थान पर चमर तैयार कर बेचने वाले का उल्लेख चमरी गाय के रूपक में किया है ।[६]

सूरदास ने एक स्थान पर कसाई का उल्लेख करके मांस बेचने वाले की ओर संकेत करते हुए कहा है —

श्रीधर बांमन करम कसाई । कह्यौ कंस सौं बचन सुनाई ।
प्रभु मैं तुम्हारी आज्ञाकारी । नंद-सुवन कौं आवौं मारी ।[७]

---

१. रहीम रत्नावली, पृ० २६ से ३५ तक.

२.(क) सूरदास ऐसी मय आवैं, तावै बुद्धि पंसारिनि ?
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७३, पृ० ७७१.
(ख) घेली करति, देति नहिं नीकैं, तुम हौ बड़ी बजारिनि । - वही,वही ।

३. चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेउं ।
गंधिनि ह्वै जाउं निरखि, नैननि सुख देउं ।। - वही,वही,पद १०७५,पृ० ६३३.

४. बीरी करि करि मोहिं खवावै, लियो संग तमोली जू ।
- नन्ददास, पद ३०, पृ० ३६१.

५. बीरी देत बनाय बनाय ।
पीरे पान सुगन्ध सुपारी लौंगन कील लगाय ।
- परमानन्दसागर, पद ६७७, पृ० २३६.

६. केसपास लिए चमरि के सोपलत । — विद्यापति पदावली, पृ० ३७७.

७. सूरसागर, दशमस्कंध, पद ५७, पृ० २८०.

उन दिनों 'पारधि' शब्द पक्षियों को पकड़ कर बेचने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। सूर ने विनय के एक पद में इस ओर संकेत करते हुए कहा है –

> अब कैं राखि लेहु भगवान।
> हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान।[१]

सूरदास ने एक और पद में कृष्ण के मृदु मुस्कान को पिंजड़ा बतलाकर गोपियों के नेत्र रूपी पक्षियों को फंसाने की बात कही है।[२]

इस प्रकार मध्ययुगीन काव्यों से यह ज्ञात होता है कि उस समय साधारण जनता भी किसी न किसी काम में लगी रहती थी। पैसे भी अनेक प्रकार के थे।

प्राचीन सिक्के :

भक्तिकालीन काव्य-ग्रंथों में - विशेषकर कबीर, जायसी, सूर, तुलसी के काव्यों में - विभिन्न सिक्कों का उल्लेख मिलता है। कबीर के काल में उद्योग-धंधे की उन्नति के लिए मुद्रा का उपयोग होता था। धन-संपत्ति का निश्चित मूल्य निर्धारित करने की रीति मध्ययुग में थी। संतों ने सोना, चांदी आदि का मूल्य निर्धारित किया था। कलियुग के संन्यासी धन के लोभी थे। उन्होंने रुपया-पैसा ब्याज पर देकर पोथियों में उसके ब्याज का लेखा-जोखा कर लिया।[३] कबीर कहते हैं कि इस दुनिया में सुकृत्य रूपी समस्त सौदा बिक गया। इस सौदे को रखने वाली शरीर की पोटली हमेशा नष्ट होती

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ९७, पृ० ३१.

२. लोचन भए पखेरू माई।
   लुब्धे स्याम रूप चारा कौं, अलक फंद परे आई।।
   मोर मुकुट टाटी मानौ, यह बैठनि ललित त्रिभंग।
   चितवनि लकुट, लास लटकनि पिय, कांपा अलक तरंग।
   बौरि नहनि मुख मृदु मुसुकावनि, लोभ पींजरा डारे।
   सूरदास मन व्याध हमारौ, गृह बन तैं जु बिसारे।।
   - वही, दशम स्कंध, पद १२७३, पृ० ६८४.

३. कलि का स्वांमी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
   देंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करतां जाइ।। - क०ग्रं०,सा०७,पृ० २०१.

रहती है। इस पोटली में कुकर्म रूपी खोटे सिक्के और इसके बदले सुकृत्य बेच दिया जाता है।[१] संसार रूपी बाजार में भक्ति रूपी हीरा और मोती जो अमूल्य हैं बिक जाते हैं। वह हीरा तो पारखियों के विचार के ऊपर है। इसका मूल्य कोई नहीं जानता और इसलिए वे उसका मूल्य कौड़ी के तुल्य और नगण्य समझते हैं।[२] इससे यह ज्ञात होता है कि कौड़ी का व्यवहार उस युग में पर्याप्त मात्रा में था। लोक व्यवहार में कौड़ी का मूल्य तो बहुत कम है और जन-समाज के व्यवहार में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। हीरे से कौड़ी परखने का आध्यात्मिक उल्लेख 'संत कबीर' में भी मिलता है।[३]

मनुष्य-जन्म अमूल्य है। संसार में अज्ञानी लोग तो उसका मूल्य कौड़ी के तुल्य मानते हैं, उसे वे व्यर्थ खो देते हैं। मूल्य कौड़ी के तुल्य मानने से तात्पर्य यह है कि वह तुच्छ है। मतलब यह है कि शरीर और संपत्ति के मोह में पड़कर मानव प्रभु-भक्ति को विस्मृत कर देता है।[४] कबीरदासजी धनी और निर्धन के व्यवहार का अन्तर बताकर कहते हैं कि निर्धन आदमी धनियों से अच्छा और सद्व्यवहार करते हैं। धनी लोग तो भूखे-प्यासे के साथ भी पैसे का लाभ देखते हैं।[५]

---

१. कबीर गुदड़ी बीखरी, सौदा गया बिकाइ।
   खोटा बाध्या गांठड़ी, इब कुछ लिया न जाय ।।
                  - कबीर ग्रंथावली, सा० ३, पृ० ३०८.
२. एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
   परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ।। - वही, सा० २, पृ० ३०८.
३. कबीरा एकु अचंभउ देखिओ हीरा हाट बिकाइ।
   बनजनहारे बाहरा कउडी बदलै जाइ ।।   - संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, दो० १५४, पृ० २६०.
४. मूरिख मनिखा जनम गंवाया, वर कौड़ी ज्यूं डहकाया।
   जिहि तन धन जगत भुलाया, जग राख्यौ परहरि माया ।।
   जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा।
   कहै कबीर जग धंधा, काहे न चेतहु अंधा।
                  - कबीर ग्रंथावली, पद २९६, पृ० ५११.
५. भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणी धनं नीधनवंता।
   भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां।
                  - वही, रमैंणी भाग पद १०, पृ० ५८६.

आखिर यह कहा जा सकता है कि संतों का संपर्क सामान्य लोक-जीवन से मुख्यत: रहा है । इस संपूर्ण काल में लोक-जीवन का स्तर आर्थिक दृष्टि से अत्यंत साधारण था । सामान्य वर्गों के जीवन का स्तर निम्न था और वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था । स्वभावत: मुद्रा का मूल्य यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि राज्य के द्वारा प्रचलित छोटे से छोटे सिक्के का व्यवहार करना भी अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए संभव नहीं था ।[१]

मध्य युगीन कृष्ण-भक्ति काव्यों में सिक्कों का प्रामाणिक रूप मिलता है । सूरसागर में रुपै[२] और परमानन्दसागर में रुपो [३] नामक सिक्कों का उल्लेख मिलता है । मीरा के काव्य में टका नामक सिक्के की ओर संकेत मिलता है ।[४] सूरदास ने राधा की खोई हुई मोतिसरी को उसकी माता द्वारा लाख टका मूल्य का कहलाया है ।[५] सूरदास ने और एक स्थान पर भी इस ओर संकेत किया है —

लाख टका की हानि करी तैं, सो जब तोसों लैहीं ।
हार बिना ल्याई लड़बौरी, घर नहिं पैठन दैहौं ।।[६]

सूरदास ने 'सूरसागर' के दशम स्कंध में बालक कृष्ण के जन्म पर माता यशोदा द्वारा धाई को लाख टका देने का उल्लेख किया है ।[७]

---

१. संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि : ओमप्रकाश शर्मा, पृ० २२०.
२. निर्मय रुपै लोम छाड़िकै, सोई धारिब रासै ।
 - सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १४२, पृ० ४७.
३. विप्रन देहु गाय और सोनों माटन रुपो दाम ।
 - परमानन्दसागर, पद १४, पृ० ६.
४. एक एक मोती मारुं लाख टकानुं भला । — मीरा माधुरी, पद ३५२.
५. इक इक नग सत सत दामिनि कौ, लाख टका दै ल्याई ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६७३, पृ० ६१५.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६७५, पृ० ६१५.
७. लाख टका अरु फूमका (देहु), सारी दाइ कौं नेग ।
 - वही, पद ४०, पृ० २७५.

'दाम' का प्रयोग मध्य युग में कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है । राधा की माला 'मोतिसरी' में जो नग लगा हुआ था उसका मूल्य सत सत दाम के तुल्य था ।[1] नन्ददास ने दाम का उल्लेख किया है—

दाम सरिस मनों मोल लई री ।[2]

'दाम' का प्रयोग सिक्के के अर्थ में परमानन्ददास ने भी किया है ।[3] सूरदास ने एक पद में चर्म के दाम का प्रयोग तभी किया है जब गोपियां एक स्थान पर कुब्जा के प्रति अपनी झुंझलाहट प्रकट करती हैं ।[4] उन्होंने चमरी पूत की संज्ञा लोभी व्यक्ति को देकर चमरी सिक्के की ओर संकेत किया है ।[5] कौड़ी का प्रयोग उन दिनों तुच्छ वस्तु के लिए होता था । कौड़ी-कौड़ी के नाम पर काम करने वाले व्यक्ति समाज में तुच्छ माने जाते थे ।[6] जब गोकुल में कृष्ण की अनुपस्थिति हुई तब वह स्थान कौड़ी से भी निबला हो जाता है ।[7] दधि-दान प्रसंग में सूरदासजी ने कौड़ी की ओर संकेत करते हुए कहा है —

अब तुमकों मैं जान न देहौं ।
दान लेहुं कौड़ी कौड़ी करि, बैर आपनो लेहौं ।।[8]

तुलसीदासजी के समय में भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था और वस्तु विनिमय के लिए विभिन्न प्रकार की मुद्रा अदा करनी पड़ती थी । कलियुग में स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के बिना धन के मोह में वशीभूत होकर गुरु और ब्राह्मणों की

---

१. इक इक नग सत सत दामनि को, लाख टका दे ल्याई ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६७२, पृ० ६९५.
२. नन्ददास ग्रंथावली, पद १२६, पृ० ३१७.
३. विप्र धेनु गाय और सोनों माटन रुपो दाम ।
 - परमानन्दसागर, पद १४, पृ० ६.
४. सिर पर सौति हमारें कुबिजा, चाम के दाम चलावै ।।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६३६, पृ० १३५६.
५. लंपट, धूत, पूत चमरी को, कौड़ी कौड़ी जोरै ।
 - वही, प्रथम स्कंध, पद १८६, पृ० ६१.
६. परम कुबुद्धि, तुच्छ रस-लोभी, कौड़ी लागि मग की रज छानत । -वही, वही, पद ११४, पृ० ३८
७. सूरदास स्वामी बिनु गोकुल, कौड़ी हू न लहै । —वही, दशम०, पद ३९८९, पृ०१२४८.
८. वही, दशम स्कंध, पद १५५५, पृ० ७२४.

कर देते थे ।[१] तुलसीदासजी मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि अगर राम की भक्ति और सेवा करेगा तो सब लोग खरे सिक्के की भांति तेरा आदर करेंगे ।[२] बड़े धनी और अमीर लोगों के अधीन काम करने से छोटे लोगों का जीवन संकट में पड़ जाता है । अब यह कहना उचित है कि बड़ों की ओट लेकर छोटे लोग हमेशा के लिए संकटों से बच जाते हैं । उदाहरण के रूप में कवि की यह उक्ति है कि खरे सिक्कों के साथ खोटे सिक्के भी चल जाते हैं ।[३] गोस्वामी तुलसीदासजी आगे चलकर राम नाम की महिमा बताकर कहते हैं –

मोसो कूर कायर कपूत कौड़ी आध के ।
किये बहुमोल तैं, करैया गीध-श्राध के ।[४]

तुलसीदास ने उपर्युक्त राम-नाम की महिमा का उल्लेख 'कवितावली' में भी किया है –

राम-नाम ललित-ललाम कियो लाखनिको,
बड़े कूर कायर कपूत कौड़ी आध को ।।[५]

इस तरह हम निस्संदेह यह कह सकते हैं कि मध्ययुग में कौड़ी का प्रयोग सारे भारत में होता था ।

---

१. ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात ।
कौड़ी लागि मोह बस, करहिं विप्र गुरघात ।।
– रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दो० ९९, पृ० १९७.

२. जौ पै चेराई राम की करतो न लजातो ।
तौ तू दाम कुदाम ज्यौं कर-कर न बिकातो ।
– विनयपत्रिका, पद १५१, पृ० ३४१.

३. बड़े ही की ओट, बलि, बाँचि आये छोटे हैं ।
चलत खरे के संग जहां तहां खोटे हैं । –– वही, पद १७८, पृ० ३८२.

४. विनयपत्रिका, पद १७९, पृ० ३८३.

५. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ६८, पृ० १४४.

माप-तौल — परिमाण रीति

माप-तौल का तरीका आदि काल से ही प्रचार में था। किसी वस्तु की लेन-देन में उसे मापना परम आवश्यक था। व्यापार में वस्तुओं को मापने या तौलने की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन काल से लेकर लेन-देन करते समय उसे मापने और तौलने की रीति प्रयुक्त थी। गणित विज्ञान में सबसे आगे रहने वाले भारत को इसमें अधिक कठिनाई नहीं होती थी। अलबरूनी ने तत्कालीन भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित माप और तौल का वैज्ञानिक पर्यालोचन करते हुए लिखा है कि तौल का मान कोई नैसर्गिक मान नहीं, पर सर्वसम्मति से माना हुआ रूढ़ आदर्श है। इसलिए इसका व्यावहारिक और कल्पित दोनों प्रकार का विभाग हो सकता है। एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों में और एक ही देश में भिन्न कालों में इसके उपमान या अपांश भिन्न-भिन्न होते हैं। तुला का वर्णन करते हुए अलबेरूनी ने लिखा है कि इसमें बाट हिलते नहीं हैं। मानदण्ड विशेष चिह्नों और रेखाओं पर आगे-पीछे चलते हैं। पहली रेखायें एक से पांच तक तौल-भार के मानों की हैं। उनके आगे की १० तक, फिर उनके आगे की रेखायें १०, २०, ३० इत्यादि दशांशों की हैं।[१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के लोहे के तौलों का क्रम बताया है —

सोने का तौल

१० उड़द के दाने ५ रत्ती	=	१ सुवर्णमाषक
१६ माष	=	१ सुवर्ण या १ कर्ष
४ कर्ष	=	१ पल

चांदी का तौल

८८ सफेद सरसों	=	१ रूप्यमाषक
१६ रूप्यमाषक २० मुंगी के बीज	=	१ धरण.

---

१. अलबेरूनी का भारत, परिच्छेद १५ से.

हीरे का तौल

२० चावल = १ वज्र धरण

विभिन्न प्रकार की वीर्थ तौलने के लिए भिन्न प्रकार के मान थे।

उपर्युक्त बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि भारत में नाप-तौल की रीति प्राचीन काल से ही प्रचलन में थी। मध्ययुगीन भारत के इतिहास के पन्ने पलटने से यह ज्ञात होता है कि खेती की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया जाता था। सरकार की ओर से भूमि को नापा जाता था। कई शिलालेखों में मानदण्ड, निवर्तन, पदावर्त आदि नापों का उल्लेख मिलता है। राज्य की तरफ से लंबाई का मापक निश्चित था। परमेश्वरीय हस्त भी एक परिमाण होता था। ग्रामों की सीमायें निश्चित की जाती थीं। ग्राम पर कर लगता था। ग्रामों के साथ गोचरभूमि छोड़ी जाती थी। जागीर या इनाम में मिले हुए गांवों पर कोई कर नहीं लगता था। राज्य की ओर से तौल के बाटों का भी निरीक्षण किया जाता था।[१]

मध्ययुग में साधारण अवस्था में वस्तुओं के लेन-देन का दाम अधिक नहीं था। लेकिन संकट काल में अर्थात् अकाल और अराजकता के वक्त वस्तुओं के दामों का अवश्य ही बढ़ जाना स्वाभाविक था। मध्य युग के विभिन्न राजवंशों के शासकों के नाप-तौल की रूपरेखा देखिए — अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में अकाल पड़ने के कारण अनाज का मूल्य १ जीतल प्रति सेर बढ़ गया था। मुहम्मद तुगलक के काल में भीषण अकाल के दिनों में अनाज का भाव १६ और १७ जीतल प्रति सेर तक बढ़ गया था। अनाज की कीमतें मुहम्मद के शासन-काल में कुछ बढ़ी हुई थीं। अलाउद्दीन के समय में गेहूं का भाव ७½ जीतल प्रति मन तक हो गया। दालें ५ जीतल प्रति मन के भाव से थीं। घी १६ जीतल के भाव था। चीनी उच्चकोटि का १०० जीतल प्रति मन के भाव थी। साधारण ऊनी वस्त्र ६ जीतल प्रति गज तथा श्रेष्ठ ऊनी कपड़ा ३६ जीतल प्रति गज के

---

१. हिस्ट्री आफ़ मेडीएवल इण्डिया चिंतामणि विनायक वैद्य, जिल्द १, पृ० १३३.

भाव बिकता था। मुगल काल में यद्यपि वस्तुओं का मूल्य सल्तनत काल की अपेक्षा कुछ अधिक था, इस पर भी वस्तुओं के दाम पर्याप्त कम थे। अकबर के शासन-काल में गेहूं एक रुपये का १२ मन, जौ १८ मन, उत्तम कोटि का चावल १० मन के भाव बिकता था। दालें १६ से १८ मन के भाव थीं। दूध अत्यंत सस्ता था। एक रुपये में ४४ सेर दूध सरलता से प्राप्त किया जा सकता था। मांस एक रुपये का १७ सेर बिकता था।[१]

ऊपर कहे हुए उद्धरणों से यह बात ज्ञात होती है कि मध्ययुग में इन विभिन्न राजवंशों के जागरण के समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाप-तौल प्रचलन में थे। मध्ययुग के इन मानदण्डों में परिवर्तन हुआ और इनसे विभिन्न नाप-तौल बड़े पैमाने पर प्रचार में हैं, जो समझने में सरल और आसान हैं।

मध्यकालीन संत कवियों के समय जनता नाप-तौल की पद्धति से पूर्णतः परिचित थी। नाप-तौल की स्पष्ट झलक 'कबीर ग्रंथावली' में मिलती है। इस समय व्यापारी लोग इस पद्धति से पूर्णतः परिचित थे। कबीरदासजी ने 'ग्रंथावली' में तोलने का तरीका इस प्रकार किया है —

पाहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह।
माया राता मानवी, तिन सूं किसा सनेह।।[२]

कबीर ने तराजू की डण्डी और पलड़े को व्यवसाय का प्रतीक माना है—

सांई मेरा बांणियां, सहजि करै व्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ै, तौलै सब संसार।।[३]

मध्यकाल में तोल के लिए मन का प्रयोग होता था। विद्वानों का मत है कि कभी-कभी इन तोलों में अन्तर भी किया गया है, जैसे अलाउद्दीन के समय

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति : दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृ० १५३.
२. कबीर ग्रंथावली, सा० ५, पृ० २३५.
३. वही, सा० ८, पृ० २७३.

चौबीस तेल का सेर प्रचलित हुआ था। भारतीय अपनी नाप-तौल के संबंध में बहुत सतर्कता बरतते थे। इनकी तौल में एक बाल के बराबर का भी अन्तर नहीं होता था। इसी प्रकार नाप के लिए गज या हाथ का प्रयोग किया जाता था और उनकी नाप अंगुलियों से भी होती थी। कबीरदासजी ने कपड़ा नापने के लिए गज का प्रयोग किया है। भारतीय तौल के लिए मन, सेर आदि का प्रयोग कबीर के समय में प्रचलित था। देखिए —

माधौ चले बुनांवन माहा, जग जीतैं जाइ जुलाहा ।।टेक।।
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाइ ।
सात सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई ।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढ़ाई ।
अढ़ाई में जे पाव घटै तो, करकस करै बजहाई ।।
दिन की बैठि खसम सूं कीजै, अरज लगी तहां ही ।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई ।।
छोछी नली कांमि नहीं आवै, लपटि रही उरझाई ।
छाडि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ।।[1]

इसके अतिरिक्त कबीरदासजी ने नौ मन सूत का उल्लेख किया है —

बाजी की बाजीगर जांनै, कै बाजीगर का चेरा ।
चेरा कबहूं उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ।।
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा ।
कहै कबीर एक रांम भजहु रे, बहुरि न हूंगा फेरा ।।[2]

उपर्युक्त पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि कबीर के काल में विविध प्रकार के नाप-तौल प्रचार में थे और लोग बड़ी सूक्ष्मता के साथ उनका नाप किया करते थे।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १६३, पृ० ४५३.

२. वही, पद २३८, पृ० ४७८.

दादूदयाल ने अपनी ग्रंथावली में तत्कालीन नाप-तौल की ओर संकेत किया है ---

> दादू सब सुख अस पायल के, तौलि तराजू बाहि ।
> हरि सुख एक पलक का, ता समि कह्या न जाइ ।।[१]

और भी -

> काया मांहैं माणिक भरे । काया मांहैं ले ले धरे ।
> काया मांहैं रतन अमोल । काया मांहैं मोल न तोल ।।[२]

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्यों में अन्य भक्तिकालीन रचनाओं के समान नाप-तौल का उल्लेख मिलता है । ज़मीन `नाप-जोख` करने का प्रचलन सूर के समय में भी होता था, इसका अनुमान उनके `मसाहत` शब्द से किया जा सकता है जो ज़मीन की नाप-जोख के लिए प्रयुक्त है ।[३]

पाणिनि ने `काण्डाताद् क्षेत्रे`[४] सूत्र में खेतों के क्षेत्रफल की माप करने वाले शब्दों की ओर संकेत किया है । मध्ययुगीन कृष्ण-काव्यों में तौल के परिमापक बाटों की ओर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी आँखें नहीं डालीं । ठाकुर लोग भूमि का नाप-जोख तो करते थे, लेकिन गलत रूप में करते थे -

> पंच-प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन-बिधान जौ कीनौ ।
> अधिकारी जम लेखा मांगै, तातैं हौं आधीनौ ।
> घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दियैं मैं छूटौं ।
> धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौं ।

---

१. दादूदयाल ग्रंथावली, दोहा ७३, पृ० २३.

२. वही, पद ४, पृ० ५०१.

३. सांचौ सो लिखहार कहावै ।
   काया ग्राम मसाहत करि कै, जमा बांधि ठहरावै ।
   -सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १४२, पृ० ४६.

४. पाणिनि-कालीन भारत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १९६.

अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही ।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही ।[१]

सूरदास ने दशम स्कंध में गुंजा से सुमेर के तुलने की बात कही है । साथ ही साथ उन्होंने गुंजा को एक छोटे बाट के रूप में उल्लेख किया है ।[२] मीराबाई ने तौलने के मापक के रूप में `टंक` और `रत्ती` नामक छोटे-छोटे बाटों की ओर संकेत किया है ।[३] उन्होंने तराजू में तोलने का उल्लेख भी किया है ।[४] रसखान ने भी तराजू में वैभव तोलने की ओर संकेत किया है ।[५]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने `कवितावली` के अन्नपूर्णा-माहात्म्य में यह बताया है कि उस युग में प्यास लगने पर पानी नहीं मिलता, भूख होने पर चार चने भी नहीं मिलते । लोग अधिकाधिक भोजन चाहते हैं, परन्तु उसे पूरे पर पड़ी दाल तक नहीं मिलती ।[६]

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि मध्यकाल में नाप-तौल के लिए अनेक रीतियां प्रचलित थीं ।

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १८५, पृ० ६७.

२. ज्यौं गुंजा सम तुलत सुमेरहिं, ताहू तैं अति भारी री ।
   जैसे बूंद परत बारिधि में, त्यौं गुन ग्यान हमारी री ।
   - वही, दशम स्कंध, पद १३५, पृ० ३०६.

३. सीप भर्यो पानी पीवे रे, टांक भर्यो अन्न खाय ।
   राणो मो पर कोप्यो (यो) रे, रती न राख्यो मोद । —मीरा माधुरी, पद १०२.

४. कोई कहे कारो, कोई कहे गोरा, लियो है अखों खोल ।
   कोई कहे हलका, कोई कहे मंहगा, लियो है तराजू तोल ।
   - मीराबाई और उनकी पदावली, पद २५, पृ० १७७.

५. कंचन मंदिर ऊंचे बनाइ कै मानिक लाइ सदा झलकैयत ।
   प्रात ही तें सगरी नगरी नग मोतिन ही की तुलानि तुलैयत ।
   - रसखान ग्रंथावली, पद २०, पृ० १६६.

६. प्यासे हूं न पावे बारि, भूखे न चनक चारि ।
   चाहत अहारन पहार, दारि घर ना ।
   सोक को अगार, दुख भार, भरो तौलौं जन
   जौलों देवी द्रवे न भवानी अन्नपूरन ।। -कवितावली, उत्तर०, पद १८८,
   पृ० १६८.

अब हम मध्ययुगीन आर्थिक परिस्थिति का एक सर्वांगीण चित्रण विभिन्न शाखा के भक्त-कवियों के काव्यग्रंथों में देख चुके हैं। उस समय के भक्त कवियों की उत्कृष्ट रचनाओं को हमारे सम्मुख रखकर मध्ययुगीन भारत की आर्थिक दशा का निरीक्षण करने से हमें यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत की आर्थिक दशा निम्नकोटि की थी। बड़ों का विलासपूर्ण जीवन और निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति उनकी अवहेलना ही इसका एक मात्र कारण है। अपने धन-दौलत से जो सुख-शांति उन्हें प्राप्त हुई थी वह तो उन्हें पर्याप्त और काफी नहीं थी। इसलिए वे साधारण जनता के द्वारा कमाई हुई वस्तु लूट लेते थे और उससे कर और लगान अधिकाधिक वसूल करते थे। भारत में मुसलमानों के शासन-काल में ही आर्थिक ढांचा अत्यधिक गिरा हुआ था। उनका लक्ष्य जनता की प्रगति न होकर, अपना सुखपूर्ण जीवन था। मुसलमानों के स्वेच्छापूर्ण शासन के कारण सारे भारत पर अकाल और दुर्भिक्ष फैल गया। अकाल और अराजकता के मध्य पड़ी हुई जनता दीनता के कारण रुदन कर रही थी।

आर्थिक स्थिति के बिगड़ जाने पर किसान और व्यापारियों की दशा भी निम्न स्तर की हो गयी। किसान उचित समय पर खेती का काम नहीं करते थे और बनिये व्यापार नहीं करते थे। जो कुछ वे कमाते थे उसे कर्मचारी और अधिकारी लोग छीन लेते थे। ऊंची श्रेणी और निम्न श्रेणी के लोगों की आमदनी में भी भारी अन्तर था। बड़े-बड़े पद पर विराजमान कर्मचारी लोगों के लिए अधिकाधिक तनख्वाह प्राप्त थी और छोटों को कम वेतन।

यद्यपि व्यापार की बुरी हालत थी, तो भी विभिन्न प्रकार के व्यापार चलते थे। वे व्यापारी स्थल मार्ग से और जल मार्ग से व्यापार चलाते थे। दूर-दूर तक अर्थात् विदेश में भी व्यापार के लिए जाते थे। कस्तूरी, सुपारी, तमोल, पट-वस्त्र, हीरा, जवाहरात, मोती, माणिक, रत्न ही मुख्य व्यापार की वस्तुएं थीं। स्त्रियां घर में बैठकर अपने जीविकोपार्जन के लिए छोटे-छोटे काम करती थीं, जैसे चरखे पर सूत कातना, वस्त्र बुनना, सुगन्ध-द्रव्य बेचना, दही, मक्खन, दूध आदि घरों में ले जाकर बेचना आदि। व्यापार में इन

वस्तुओं का क्रय-विक्रय मुद्रा या सिक्कों के द्वारा होता था । मुख्य रूप से रुपया, टका, दाम, दमरी, कौड़ी आदि प्रचलित थे । लोग चीजें किसी निश्चित पैमाने पर बेचते थे या खरीदते थे । इसके लिए नाप-जोख की रीति अपनायी गयी थी । तराजू पर तौलने की रीति को अधिकांश लोगों ने स्वीकार किया था।

मध्ययुगीन भारत की आर्थिक दशा का दिग्दर्शन तत्कालीन भक्त कवियों ने किया है । कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे भक्त कवियों का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य में उस समय हुआ । इनका मुख्य उद्देश्य आर्त जनता को मुक्ति देना और स्वाधीनता प्रदान करना था । उन्होंने इसके लिए भरसक कोशिश की । अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आर्थिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी और भक्त कवियों के प्रयत्न से जनता को जो सुख और शांति मिली थी उससे जनता का जीवन स्तर एक प्रकार से ऊंची श्रेणी का हो गया ।

पंचम अध्याय

हिन्दी भक्तिकालीन काव्य और धार्मिक परिस्थितियाँ

धर्म की परिभाषा

`धर्म` एक व्यापक शब्द है। संस्कृत शब्द-कोशों में `धर्म` शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। `अमरकोश` के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ सुकृत या पुण्य है।[1] अन्य कोशों में `धर्म` शब्द के निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं — शास्त्रोक्त कर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली भावी फल का साधन स्वरूप शुभ अदृष्ट या पुण्यापुण्य रूप, श्रौत और स्मार्त कर्म, विहित क्रिया से सिद्ध होने वाला गुण या कर्मजन्य अदृष्ट, आत्मा देह को धारण करने से जीवात्मा, आचार या सदाचार, वस्त्र का गुण, स्वभाव, उपमा, योगादि, अहिंसा, सोमाध्यायी, सत्संग, धनुष, ज्योतिष-मत में लग्न से नवम स्थान या भाग्य-भवन और दान आदि।[2] धर्म सुख और आनन्द का मूल है (धर्मेणा सुखमासीत)।.... सुख दो प्रकार का होता है — लौकिक तथा अलौकिक अथवा आध्यात्मिक। लौकिक पक्ष की प्रधानता पर जोर देने के लिए कहा गया है कि धन से धर्म होता है और धर्म से सुख होता है (धनाद्धर्मे ततः सुखम्)। .... धर्म को लौकिक तथा पारलौकिक सुखों और कल्याण का साधन माना है। उनके अनुसार जिससे लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण (परमार्थ) की सिद्धि हो, वह धर्म है (यतो भ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः)।[3] रामदास गौड़ ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि संयमी जीवन संस्कारों को संपन्न करता है और संस्कार का फल होता है शरीर और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास। धर्म पहले सन्मार्ग का उपदेश है, उन्नति के लिए नियम है, संयम उस उपदेश व नियम का पालन है, संस्कार उन संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देश-काल

---

१. अमरकोष: — व्याख्योपेता रामाश्रमी, पृ० ४७.

२. वाचस्पत्यम् - पंचम भाग, पृ० ३८५०-३८५१ ; शब्दरत्न महोदधि - भाग २, पृ० ११०६; शब्द कल्पद्रुम — भाग २, पृ० ७८३-७८४; वैदिक इण्डेक्स, पृ० ३९०-३९५.

३. कल्याण - हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० ३४६-३७०.

और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है और सब संस्कारों का अंतिम कार्य-विकास है। `संयम संस्कार विकास` व `संयम संस्कार अभ्युदयनि: श्रेयस` यह धर्मानुकूल कर्तव्य का क्रियात्मक रूप है। यह सभी मिलकर `संस्कृति` का इतिहास बनते हैं। धर्म यदि आत्मा, अनात्मा की विधायक वृत्ति है तो संस्कृति उसका क्रियात्मक रूप है.... धर्म आत्मा और अनात्मा का, जीवात्मा और शरीर का विधायक है, संस्कार हर जीवात्मा और हर शरीर का विकास करने वाला है। धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है (धर्मो धारयति प्रजा:) और संस्कार समाज का विकास करने वाला है।[१] धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों का सम्यक् किन्तु उन्नतिशील विकास है। हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार एक सामाजिक प्राणी के रूप में, मनुष्य पर जिन चार कारणों का प्रभाव पड़ता है, वे हैं देश, काल, श्रम और गुण। धर्म वे नियम हैं जो देश, काल, श्रम और गुण का समन्वय करके व्यक्ति तथा समाज को अभ्युदय के मार्ग पर ले जाते हैं। धर्म, समाज में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ऊर्ध्वगामी अभिव्यक्ति का आधार है। मानव-जीवन में धर्म उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि स्वयं मानव-जीवन। धर्म मानव-जीवन का रक्षा-कवच है। धर्म को धारण करना और उसकी रक्षा करना मानव के लिए आवश्यक है।[२] धर्म का जो नाश करेगा, धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है (धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:)[३]।

व्याकरण में `धृ` (धारणो) धातु के आगे `मन्` प्रत्यय लगाने से `धर्म` शब्द बनता है। व्युत्पत्ति तीन प्रकार से संभव है। जैसे - (१) जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है (ध्रियते लोक: अनेन इति धर्म:), (२) जो लोक को धारण करे वह धर्म है (धरति धारयति व लोकम् इति धर्म:), (३) जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाय वह धर्म है (ध्रियते य: स धर्म:)।[४] इससे स्पष्ट है कि

---

१. हिन्दुत्व : रामदास गौड़, पृ० १११.
२. भारत में समाजशास्त्र, प्रकृति और संस्कृति – गौरीशंकर भट्ट, पृ० २२६.
३. कल्याण - हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० १६१.
४. वही, पृ० ३६६.

इसका धातुगत अर्थ `धारण करना` है । अंग्रेजी में धर्म शब्द के पर्याय रूप में `रिलीजियन` शब्द प्रयुक्त होता है ।

`धर्म ` शब्द अनेक संदर्भों एवं अर्थों में प्रयुक्त होता है । धर्म से आचारपरक औचित्य, नैतिक कर्तव्य, सद्गुण, सुकृत, धार्मिक कर्तव्य, धार्मिक सद्गुण, आदर्श, निरपेक्ष सत्य, सामान्य नियम अथवा सिद्धांत (Universal Law or Principle), व्यवस्था, रूढ़ि (Convention), प्रथा तथा परंपरा संहिता (Code of costums & Traditions), धर्मविधि या विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Laws) आदि अर्थ लिये जा सकते हैं ।[१] धर्म की इस व्यापक धारणा में जहां नैतिक आदर्श-नियम (Ethical Norm), धार्मिक कर्तव्य, रहस्यात्मक सत्ता (Mystical Entity) तथा आदर्श के भाव निहित हैं, वहां इसमें आर्थिक, राजनीतिक, प्राजातिक तथा वृत्तिक और व्यावसायिक (Professional) व्यवहार संचालन के नियम भी निहित हैं। इस व्यापक व्याख्या में धर्म को सामाजिक-सहचारी जीवन के एकीकरण की प्रक्रिया (Process) का उपकरण (Instrument) बनाने का प्रयास किया है । एकीकरण सभी प्रकार के सहचारी जीवन की आवश्यकता है । मानव के सहचारी जीवन (सामाजिक जीवन) में यह आवश्यकता संस्कृति से पूर्ण होती है। भारतीय समाज में उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए धर्म की धारणा निरूपित की गयी है और इसी कारण भारतीय संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है ।[२]

भक्त कवियों के आविर्भाव काल की धार्मिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उस समय धर्म का क्षेत्र जीर्ण था और अधार्मिकता का वह युग अत्यंत शोचनीय था । भक्त कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि कवियों ने उस युग की धार्मिक दशा का वर्णन अपने काव्य-ग्रंथों में किया है, जिसे उन्होंने अनुभव किया था और अपनी आंखों से देखा था ।

---

१. इण्डियन थाट थ्रू दि एजेज़ गोखले, बी.जी., पृ० २६.

२. भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति – गौरीशंकर भट्ट, पृ० २३६.

भक्तिकालीन काव्य ग्रंथों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देश की धार्मिक दशा बिगड़ी हुई थी और विभिन्न प्रकार के संप्रदायों का जमघट था। एक ओर अलख जगाने वाले नाथ-पंथी योगियों का अशिक्षित वर्ग पर प्रभाव पड़ रहा था, नाथ पंथी कर्म की घोर निन्दा करके मठों के भीतर की कुछ कहानी सुना रहे थे तो दूसरी ओर जाति-पाँति-विरोधी कबीर अलखोपासन का सन्देश दे रहे थे। शाक्त संप्रदाय में शक्ति के रूप में प्रकृति स्त्री या देवी की उपासना प्रमुख थी। इसमें भी दक्षिण-पंथी और वाम-पंथी दो भेद थे। इन वाम-पंथियों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पांच मकारों की उपासना शुरू की। एक ओर शैवों और वैष्णवों में विरोध मिलता था तो दूसरी ओर वैष्णवों - राम तथा कृष्ण के अनुयायियों में भी पारस्परिक मतभेद था। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद न जाने कितने दार्शनिक मतवाद परस्पर टक्कर ले रहे थे। डा० शिवकुमार शर्मा का मत है कि सूफी फकीरों के प्रेमाख्यानों की वाणी ऊपर से मीठी अवश्य थी, किन्तु उसमें भी रोगग्रस्त हिन्दू शरीर का निदान निहित नहीं था।[१]

जिस समय भक्ति का महान् संदेश लेकर संत सुधारकों का आगमन हुआ उस समय धार्मिक क्षेत्र अंधविश्वास आदि दुराचारों से भरा हुआ था। हिन्दी साहित्य में कबीर का आविर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। वे सिकन्दर लोदी के समकालीन संत थे। कबीर के समय जाति-व्यवस्था, मूर्ति-पूजा, सुधार और अनुसंधान का विरोध, ये हिन्दुत्व के मुख्य दोष थे।[२] हिन्दू लोग कट्टर निरामिष-भोजी थे।.... वे अत्यधिक साफ-सुथरे रहते थे और छूत से बचने के लिए सब के बर्तनों से पानी नहीं पीते थे। वे अंधविश्वासी थे। फलित ज्योतिष, जादू-टोना और शकुनों आदि शैतानी कलाओं में विश्वास करते थे।[३] कबीरदासजी ने देखा कि समाज में सत्य का कोई मूल्य नहीं था। समाज संकल्प और विकल्प दोनों में पड़कर बाह्याचारों और आडम्बरों में मग्न था। वह

---

१. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां — डा० शिवकुमार शर्मा, पृ० २१०.
२. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास — एस.आर.शर्मा, पृ० २२०.
३. वही, पृ० २१२.

भक्ति को छोड़ कर माया-मोह के वश में रहता था ।[१]

कबीर के समय में भारत में अगणित धार्मिक मत और सिद्धांत प्रचलित थे । इन मत-मतांतरों से अनगिनत उप-संप्रदायों का उद्भव और विकास हुआ । इसलिए वास्तविक धर्म को जानने में कठिनाई हुई । सांप्रदायिक नियमों को कोई मानता नहीं । चोरी और अधार्मिकता, दंभ, दुमर, पाखंड, अहंकार, सामाजिक विशृंखलता आदि अनेक बुराइयों का ताण्डव नृत्य हो रहा था । उन्होंने तत्कालीन हिन्दू धर्म में प्रचलित उपासना-पद्धति और साधनाओं की परिकल्पना निम्नप्रकार की —

ऐसी देखि चरित मन मोह्यौ मोर,
        ताथै निस बासुरि गुन रमौं तोर ।।टेक।।
इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमें उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ।
इक जोग जुगति तन हूंहि खींन, ऐसैं रांम नांम संगि रहैं न लीन ।।
इक हूंहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन ।
इक तंत मंत औषध बांन, इक सकल सिध रांखैं अपांन ।।
इक तीरथ ब्रत करि काया जीति, ऐसैं रांम नाम सूं करैं न प्रीति ।
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यांम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम ।।
सत गुर तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार ।
जुरा मरण थैं भये धीर, रांम कृपा भई कहि कबीर ।।[२]

---

१. ऐसे लोगनि सूं का कहिये ।
   जे नर भये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये ।।टेक ।।
   आपण देही चरवा पांनीं, ताहि निंदैं जिनि गंगा आंनी ।।
   आपण बूडैं और कौं बोडैं, अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं ।
   आपण अंध और कूं कांनां, तिनकौं देखि कबीर डरांनां ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद १४४, पृ० ४२०.

२. वही, पद ३८६, पृ० ५६६-५६७.

महाकवि सूरदास और तुलसीदास के समय में भी धार्मिक क्षेत्र की यही स्थिति थी। सूरदास ने अपने समय की धार्मिक दशा का वर्णन इस प्रकार किया है —

> काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तजि, अनत नहिं चित दीनौ।
> अकरम, अबिधि, अज्ञान, अवज्ञा, अनमारग, अनरीति।
> जाकौ नाम लेत अघ उपजै, सोईं करत अनीति।
> इंद्री-रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ।
> नेम-धर्म-व्रत, जप-तप-संजम, साधु-संग नहिं चीनौ।[1]

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी का जिस समय आविर्भाव हुआ था उस समय धर्म का स्थान पाखण्ड ने ले लिया था, सदाचार पर दुराचार की विजय हो रही थी, इंद्रिय-निग्रह नाम मात्र को रह गया था, सहानुभूति का क्षेत्र ईर्ष्या-द्वेष का अंग बन गया था और धर्म के तत्वों को न तो अधिकांश व्यक्ति जानते थे और न धर्म के मार्ग पर चलना ही वे श्रेयस्कर समझते थे। ऐसे समय में धार्मिक भावना की जाग्रत-व्यक्ति का धार्मिक संस्कार करने के लिए तुलसीदासजी ने रामचन्द्रजी का लोकोत्तर आदर्श जनता के सामने रखा।[2] वे अपने युग की धर्म की अतिशय ग्लानि और सर्वतोन्मुखी हानि देखकर अत्यंत दुःखी हुए और उसके प्रति विक्षुब्ध हो गये। उनकी यह विक्षुब्धता कलिकाल-वर्णन-प्रसंग में सार्थक रूप में अभिव्यक्त हुई है। वास्तव में वह युग सत्य के बदले मिथ्या और पाखंड का युग था।[3]

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १२९, पृ० ४३.

२. गोस्वामी तुलसीदासका सामाजिक आदर्श श्रीमती सुधारानी शुक्ल, पृ० ६२.

३. सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्मंड।।
तामस धरमु करहिं सब, जप तप मख व्रत दान।
देव न बरषहिं धरनि पर बए न जामहि धान।।
— रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा १०१, पृ० १७५.

मध्ययुग के इन भक्त कवियों के समय हिन्दू और मुसलमान धर्म में संघर्ष हो रहा था। बाहर से आये हुए मुसलमान इस देश में प्रचलित हिन्दू धर्म के स्थान पर अपना 'मज़हब' कायम करना चाहते थे और यहाँ के निवासियों पर अपने मुल देशों की संस्कृति लादना चाहते थे। दूसरी ओर हिन्दू लोग मुसलमानों के इन प्रयत्नों को बलात्कार तथा अत्याचार समझते थे और उनके धार्मिक विश्वासों को 'परधर्म' कहते थे तथा उन्हें सभी प्रकार से अस्वीकार करने को उद्यत होते थे, और उनका घोर विरोध करते थे। मुसलमानों का कथन था कि हमारा ही एकमात्र सच्चा धर्म है और उसके अनुयायियों द्वारा इसका प्रचार होना आवश्यक है। हिन्दुओं की धारणा थी कि हमारा धर्म सनातन है और इसका परित्याग करना किसी भी प्रकार श्रेयस्कर नहीं होगा। इतना ही नहीं, एक ओर हिन्दू लोग देवों तथा द्विजों की उपासना करते हैं, गंगा स्नान करते हैं, पूर्व दिशा को महत्व देते हैं, एकादशी आदि अनेक व्रत करते हैं और पूजा करने के लिए मंदिर जाते हैं; तो दूसरी ओर मुसलमान धर्मावलंबी काज़ी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर आदि को आराध्य मानते हैं, पश्चिम की ओर खड़े होकर रोज़ा, नमाज़ पढ़ते हैं और मस्जिद जाते हैं।[१]

तुलसीदासजी के समय हिन्दू धर्म को निर्मूल करना ही निशाचर रूपी यवनों का एकमात्र लक्ष्य था।[२] उनके समय में प्राचीन वेदशास्त्रों को व्यर्थ और तुच्छ समझे जाने वाले अनेक नये-नये कुपंथ चला रहे थे और धार्मिक क्षेत्र अत्यंत डांवाडोल हो रहा था। सदाचार से अधिक अत्याचार का महत्व था। पापी और पाखंडियों की पूजा होती थी।[३] उस समय लोगों का आचरण पतित हो गया। धार्मिक कृत्य करने वालों का कोई नाम नहीं था, गाल बजाने वालों को पंडित

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ५८, पृ० ३७१.

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, चौ० २, ३, ४, पृ० ३१२-३१३.

३. दंभ सहित कलि धरम सब छल समेत व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार।।

- दोहावली, दोहा ५५८, पृ० १८८.

समझा जाता था ।[1] धर्म के क्षेत्र में लोग विवेक से काम नहीं कर सकते थे । इसके बदले वेदमार्ग को भूल कर वे संप्रदायों और पंथों के झगड़े में पड़ गये थे ।[2]

यह दशा केवल हिन्दू और मुसलमान धर्म में ही नहीं हुई थी, बल्कि उनके जो अगणित उपसंप्रदाय थे उनकी भी यही हालत थी । हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों की जागृति हुई और योगी, यती, संन्यासी आदि अनेक ढोंगी, कपटवेषधारी भक्तों का आविर्भाव हुआ । हिन्दुओं के समान मुसलमानों में भी कई प्रकार के सांप्रदायिक भेद बढ़ते- रहते थे । इस्लाम धर्म के अनुयायी भी इस धर्म के प्रचारक पीरों और औलियों आदि की मृत्यु के उपरांत उनके नाम पर उत्सव, त्यौहार मनाते थे, `फिरकों` की परंपरा चलाते थे । उनके अनुयायी उनके प्रति आदर दिखाने के लिए कब्रों पर पुष्प, दीप आदि चढ़ाते थे । इस प्रकार इस्लाम धर्मावलंबी भी हिन्दू विश्वासों का अंधाधुंध अनुकरण करते थे । हिन्दू और मुसलमान धर्मावलंबियों के इस प्रकार की अहितकर प्रवृत्ति के कारण देश में न शांति थी, न एकता, न सुख-समृद्धि । धार्मिक क्षेत्र में ऐसी कटुता और धर्मांधता के कारण हिन्दुओं में वर्ण-व्यवस्था की प्रधानता बढ़ी । हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र — चार वर्ण और उनमें बहुत-सी उपजातियां बनीं और मुसलमानों में शेख, सैयद, मोमिन, पठान नाम के भिन्न-भिन्न वर्ग निकले जिनमें पारस्परिक भेदभाव था ।

हम कह सकते हैं कि भक्तिकालीन धार्मिक स्थिति अत्यंत अव्यवस्थित थी, परन्तु परिवर्तन का शंख-नाद करते हुए कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि महान् कवियों का प्रादुर्भाव हुआ । समाज के इस अधार्मिक वातावरण को देखकर भक्त

---

१. करमु उपासना कुबासना बिनास्यो ग्यानु,
      बचन-बिराग, बेष जगतु हरो-सो है ।।
   गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु,
      निगम-नियोगतें सो केलि ही छरो-सो है ।।
            - कवितावली, उत्तरकांड, पद ८४, पृ० १५६.

२. श्रुति संमत हरि भगति पथ, संजुत बिरति बिबेक ।
   तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ।।
            - मानस, उत्तरकांड, दोहा १००, पृ० ९७३.

कवि अत्यंत विक्षुब्ध हुए । यद्यपि इन संतों का लक्ष्य एक ही था, तो भी मार्ग भिन्न थे । संत कवियों ने अवतार, मूर्ति-पूजा, जप, तप, तीर्थ और बाह्य आडम्बरों का विरोध किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने शून्य, काया, तीर्थ, सहज समाधि, योग, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र, सूर्य जैसे प्रतीकों को ग्रहण किया था । मतलब यह है कि वे निराकार, निरंजन ब्रह्म के साधक थे । सूर, तुलसी आदि कवियों ने मूर्ति-पूजा, जप, तप, उपासना आदि की दिल खोलकर भर्त्सना नहीं की । वे तो सगुण भक्त थे, साकार मूर्ति के उपासक । यद्यपि उन दोनों वर्ग के भक्त कवियों की उपासना पद्धति अलग थी, तो भी उन सबका लक्ष्य एक ही था । इस प्रकार उस समय के भक्त कवियों ने तत्कालीन धार्मिक वातावरण की उन्नति के लिए भरसक कोशिश की ।

भक्तिकालीन काव्यों के आधार पर आराधना-क्रम

मध्ययुगीन धार्मिक परिस्थिति का सिंहावलोकन करने के बाद तत्कालीन धर्म-सुधारकों एवं प्रमुख कवियों के काव्य सुमनों में आयी हुई विभिन्न धार्मिक रीति तथा पद्धतियों का उल्लेख करना अनिवार्य है । कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्रमुख कवियों के ग्रंथों में उस युग की धार्मिक दशा का स्पष्ट वर्णन मिलता है, जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था ।

भक्तिकालीन काव्यग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि निर्गुण और सगुण भक्त जनता तक अपने सिद्धांतों को पहुँचा सके थे । उनका प्रभाव मुसलमानों की उपासना-पद्धति में दिखायी देता है। उस समय लोगों में अनेक उपासना पद्धतियाँ प्रचलित थीं । कबीर आदि निर्गुण संतों ने हिन्दू-मुसलमानों के आराधना-क्रम का उल्लेख किया है । इस समय हिन्दू धर्म के प्रत्येक संप्रदाय में इतने बाह्याचार, व्यर्थ के कर्मकांड होते थे, जिनसे जनता एक प्रकार से ऊब गयी थी, किन्तु फिर भी हिन्दू कहलाने के लिए उसे उन आचरणों का निष्ठापूर्वक पालन करना होता था । पाखंड का इस प्रकार बोलबाला था कि धर्म की व्यापक भावनायें और उदात्त अर्थ, जप, माला, छापा, तिलक एवं पत्थर की पूजा तक ही सीमित रह गया । गेरुए वस्त्रों की ही महत्ता रह गयी थी, साधु की नहीं । सवर्ण हिन्दू अवर्णों पर इतना अत्याचार

करते थे कि उनके लिए जीवन निर्वाह दूभर हो गया था । उनकी छाया तक से घृणा की सीमा इतनी बढ़ गयी थी कि शूद्र की छाया पड़ने पर भी स्नान की व्यवस्था धर्म के ठेकेदारों ने कर रखी थी ।[१] कबीर के समय समाज में अधिकांश लोग धर्मानुयायी थे और सब में अनाचार, भ्रष्टाचार और अपने धर्म को श्रेष्ठ बनाने की प्रवृत्ति भरी हुई थी । संतों ने बाह्याचार की जो निस्सारता बतायी, इसके दो रूप उनकी बानियों में पाये जाते हैं । एक तो हिन्दुओं के बाह्याचारों का विरोध, दूसरा मुसलमानों के बाह्याचारों का विरोध । इन संतों को मुसलमानों या हिन्दुओं से कोई व्यक्तिगत वैर नहीं था । एक ओर जहां उन्होंने हिन्दुओं के छापा, तिलक, तीर्थ, व्रत, संध्या, गायत्री, वेद-शास्त्र आदि की निन्दा की तो दूसरी ओर वहीं मुसलमानों के रोजा, नमाज, तस्बीह, इबादत, शेख, काजी आदि का भी उन्होंने विरोध किया ।[२] कबीर तथा उनके साथियों ने इन बाह्याचार और आडम्बरों को उखाड़ फेंकने की भरसक कोशिश की ।

हम निर्गुण और सगुण संतों के काव्यों के आधार पर उनकी आराधना पद्धति का वर्णन करेंगे ।

निर्गुण सन्त

निर्गुण संत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीरदास साकार नहीं थे । संत परंपरा के प्रवर्तक कबीर और उनके पंथ के संतों की उपासना का आलम्बन था निर्गुण ब्रह्म । वे भगवान के निर्गुण, निराकार रूप की उपासना करते थे । सगुण भक्त कवि सूर, तुलसी आदि के समान वे तीर्थ, सेवन, प्रतिमा-पूजन तथा अन्य सांप्रदायिक वस्तुओं को नहीं मानते थे । इसलिए उन्होंने इनकी खुलकर अवहेलना की । इनके अनुसार ये सब बाह्य व्यवहार की वस्तुएं थीं । निर्गुण संतों की इस मान्यता का अनुकरण दादूदयाल, नानक, मलूकदास आदि संतों ने

---

१. कबीर ग्रंथावली (आलोचना भाग) प्रो० पुष्पलाल सिंह, पृ० ११-१२.

२. संत साहित्य सुदर्शनसिंह मजीठिया, पृ० ३७.

किया । उनके अनुसार बाह्य पूजा के विधि-विधान, जाति-व्यवस्था, मूर्ति पूजा, तीर्थ स्थानों को श्रेष्ठ समझना आदि व्यर्थ हैं, इनसे जीवन में कोई मतलब नहीं है । कबीर हिन्दू और मुसलमानों के आराधना क्रम का उल्लेख करते हुए कहते थे कि हिन्दू लोग राम को अपना आराध्य देव मानते थे, तो मुसलमान रहीम को । इससे दोनों में झगड़ा होता था ।[१] कबीर सगुणवाद अर्थात् अवतारवाद एवं बहुदेववाद के कट्टर विरोधी थे । उनके मतानुसार परमेश्वर निर्गुण, निराकार, अजर, अमर एवं अविनाशी है । उनके राम और कृष्ण दोनों दशरथ एवं नन्द के यहाँ जन्म लेने वाले नहीं थे । कबीर ने अपने ब्रह्म के बारे में कहा है –

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया ।
नहिं लंका के राणा सताया ।।
नहिं देवकि के गर्भहिं आया ।
नहिं यशोदा गोद खिलाया ।।[२]

दशावतार की आलोचना करने वाले कबीर के समय समाज में सगुण भक्तों का भी बाहुल्य था । उन्होंने सगुण भक्तों के बाह्याडम्बरों तथा अंधविश्वासों की खिल्ली उड़ाकर अटिल आचारों और बहुदेव की उपासना का निषेध किया ।[३] कबीर का विचार है कि सगुण-साकार की उपासना पद्धति से आत्मा के वास्तविक रूप को सिद्ध करना असंभव है, क्योंकि सेवक अपने सेव्य को प्राप्त करता है । कबीर के शब्दों में –

आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै,सिव बिरंचि अरु विष्णु ताईं ।
जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छाड़ि आगै नहीं जाही ।।

---

१. हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना ।
आपस में दोऊ लड़े मरतु है मरम कोई नहिं जाना ।
- कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद १६८, पृ० ३२५.

२. कबीर वचनावली : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १६३.

३. माला पहर्यां कुछ नहीं, भगति न आई हाथि ।
माथो मूंछ मुंडाइ करि, चल्या जगत के साथि ।।
- कबीर ग्रंथावली, साखी १०, पृ० २७२.

गुंणामई मूरति सेव सब भेष मिली, निरगुण निज रूप विश्राम नांहीं।
अनेक जुग बंदिगी बिबिध प्रकार की, अंति गुंण का गुंण हीं समांहीं।[1]

कबीर ने अवतारवाद का खण्डन किया, वेद-शास्त्र, मूर्तिपूजा, वर्ण-धर्म आदि पर भी प्रहार किया। वे कहते हैं –

सगुण की सेवा करो निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सगुण के परे तहँ हमारा ध्यान ।।[2]

उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के बुरे आराधना-कर्मों की आलोचना की थी। अविचारी बीज़ों के कबीर कटु आलोचक थे। इस सम्बन्ध में उनके विचार प्रस्तुत हैं –

मुलां कहां पुकारै दूरि, रांम रहीम रह्या भरपूरि ।।टेक।।
यहु तौ अलह गुंगा नांहीं, देखै अलह दुखीं दिल मांहीं।
हरि गुंन गाइ बंग मैं दीन्हां, काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हां ।।
कहै कबीर यह मुलनां झूठा, रांम रहीम सबनि मैं दीठा ।।[3]

कबीर का अनुकरण दादूदयाल, रैदास, मलूकदास आदि संतों ने किया, जिनके अनुसार बाहरी प्रवृत्ति से ईश्वर प्रसन्न नहीं होता। ये सब माया का प्रभाव हैं।

निर्गुण भक्ति की दूसरी शाखा है सूफी काव्यधारा। इस धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी थे। यद्यपि वे निर्गुण भक्ति के कवि थे, तो भी उन्होंने बहुदेववाद की पुष्टि भी की। हिन्दू धर्म की यह विशेषता जायसी की रचनाओं मे अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है। उन्होंने पद्मावत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि अनेक देवताओं का उल्लेख किया है। कवि ने 'पद्मावत' के 'रत्नसेन सूली खण्ड' में हिन्दुओं के साधारण विश्वास के अनुरूप तैंतीस करोड़

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १६६, पृ० ४५७.
२. कबीर वचनावली अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', दो० १०, पृ० ६५.
३. कबीर ग्रंथावली, पद ६०, पृ० ३७३.

देवताओं का युद्ध के लिए सज-धज कर चले आने का वर्णन किया है ।[१] हिन्दू संस्कृति और धर्म में अवतारवाद की प्रतिष्ठा है । भगवान् के दशावतारों में राम, परशुराम और कृष्ण अवतारों को महानता मानते हैं । `पद्मावत` में हिन्दुओं के सभी प्रमुख अवतारों का संकेत मिलता है । `गोरा-बादल युद्ध खण्ड` में जायसी ने राम-लक्ष्मण दोनों की युद्ध-वीरता और यश की सराहना की है ।[२] उन्होंने समन्वयात्मक भावना से हिन्दू तथा सूफी तत्वों का प्रयोग किया । प्रेम ही उनका मुख्य तत्व था ।

सगुण मत

कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि निर्गुण भक्ति धारा के संतों द्वारा प्रसारित उपदेश और उनकी कल्पना जनता के लिए दुरूह, दुर्लभ और कष्टप्रद थी। इस पथ के कवि समाधि और हठयोग आदि की कठिन सिद्धियों के वक्ता थे । इससे जनता ने निर्गुण भक्ति को प्रतिकूल माना । कबीर ने कहीं-कहीं भगवान् के साकार रूप का भी उल्लेख किया है, जो भगवान् से प्रेम कराने के लिए किया । लेकिन दूसरी ओर सगुण भक्तों ने मूर्त भगवान् की कल्पना की । उनमें रामानुज, निम्बार्क, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य जैसे नामी विद्वान आचार्यों का महत्वपूर्ण स्थान था । उन्होंने अपने समय में व्याप्त राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक जटिलताओं से उत्पन्न निराशा को दूर करने के लिए ईश्वर के साकार रूप की उपासना करने का उपदेश दिया । राम और कृष्ण की उपासना की प्रमुखता थी ।

सगुण भक्ति धारा के कवियों ने निर्गुण-उपासना का खण्डन-मण्डन नहीं किया, बल्कि उसमें कोई सर्वजन-सुलभ आदर्श के न होने के कारण उसे जनसाधारण के लिए अस्वीकार साबित किया । संन्यासी लोगों के लिए तो निर्गुण

---

१. तैंतीस कोटि देवता साजा । औ छ्यानबे मेघ दर गाजा ।
- पद्मावत : व्यास्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३०१.

२. मर्दहि बयुव सीस बढ़ि कोपे । राम लखन जिन्ह नाउं अलोपे ।
- वही, पृ० ८५३.

उपासना आसान है । अगर जन-साधारण इसको स्वीकार करे तो वह समस्त सांसारिक जीवन के लिए एक निर्वेद का भाव धारण करता है, जिससे सामाजिक जीवन निश्चय ही क्षीण हो जाता है । भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने लोक-जीवन को नवीन प्रस्फुरण, प्रेरणा, जागरण एवं सजीवता, ओज प्रदान करने के उद्देश्य से आराध्य ईश्वर के साकार रूप को जन-समाज में प्रतिष्ठित किया, जिससे जनता की जीवन-धारा में नवीन सांस्कृतिक क्रांति हो जाय । इस प्रकार जनता सगुण साकार मूर्ति की उपासना करने लगी और भारत में सगुण भक्ति का उदय हुआ ।

सूर और तुलसी के समय हिन्दुओं में आन्तरिक और बाह्य दोनों ओर से संघर्ष हो रहा था । धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार के विद्वेष के कारण जनता किंकर्तव्य विमूढ़ थी । जनता निर्णय नहीं कर सकती थी कि किस धर्म-मत को स्वीकार करे, किसे त्यागे ? इस स्थिति का चित्रण तुलसी ने स्पष्ट किया है । माया की उपासना अनावश्यक है, लेकिन निराकार की पूजा- आसान नहीं । इससे सर्वसुलभ दार्शनिक दृष्टिकोण भी नहीं बन पाता । इस सम्बन्ध में तुलसी ने `मानस` के उत्तरकांड में लिखा —

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ।।[१]

सगुणोपासना के आराधक गोस्वामीजी ने वैष्णव संप्रदाय की पूजा-पद्धति या आराधना का अनुकरण नहीं किया । उन्होंने इस संप्रदाय के अनुसार नाम-जप को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया । वैष्णव मत और सिद्धांत के अनुसार वे साधारणतः तुलसी की माला, तिलक, धोतनी आदि धारण करते थे । गोस्वामीजी ने अपने आराध्य देव राम और उनके भाई लक्ष्मण को उपर्युक्त सांप्रदायिक वस्तुओं से विभूषित किया ।[२] सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास

---

१. मानस, उत्तरकांड, दो० ७३, पृ० १२८.
२. कुंवर मनि कंठा कलित, उरन तुलसिका माल ।
वृषभ कंध केहरि ठवनि, बल निधि बाहुबिसाल ।।
— वही, बालकांड, दो० २४३, पृ० ४१२.

आदि कृष्ण-भक्त कवि भी सगुण भक्ति के प्रचारक होकर आए ।[१] इस कारण भारत में सगुण भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ ।

सगुण भक्ति के उपासक सूर ने अन्तर्यामी भगवान् की मान्यता प्रकट की और उन्होंने अपने हृदय में वास करने वाले भगवान की ओर संकेत किया —

नैननि निरखि स्याम-स्वरूप ।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोति-रूप अनूप ।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास ।
सूर-चंद्र-नक्षत्र-पावक, सर्व तासु प्रकास ।।[२]

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपने उपास्य देवता को अवतार पुरुष मानते थे और सगुण साकार की उपासना को महत्व देते थे तो भी वे निर्गुण निराकार परब्रह्म की उपासना के विरुद्ध नहीं थे — `सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा` की उद्घोषणा करके उन्होंने इस की स्थापना की समन्वयवादी तुलसी से यही संभव था ।[३] उन्होंने राम की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ समझा और सगुण भक्ति को इसलिए महत्व दिया कि वे अवतारों के नायक थे । उनका मत है कि धर्म की

---

१. दीपमालिका रचि-रचि-साजत । पुहुप-माल-मंडली बिराजत ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८६५, पृ० ५७०.

पाय पैजनी रुनझुन बाजै आँगन मनिमय डोलना ।
काजर तिलक कंठ कठुला पुनि पीताम्बर को चोलना ।
- परमानन्दसागर, पद ४५, पृ० १५.

माथे मनिमय मुकुट सुदेस । सचिकन सुंदर घुंघरे केस ।।
कुंडल-मंडित गंड सलोल । मंद हंसनि श्री करत कलोल ।।
कंचन-माल, मुक्ता की माल । भिलमिलात छवि छती बिसाल ।।
सुंदर कंठ सु कौस्तुभ लसै । भिकर-विभाकर दुति कौं हंसै ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पृ० १६६.

२. सूरसागर, द्वितीय खंड, पद ३७०, पृ० १२३.

३. सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
- रामचरितमानस, बालकांड, चौ० १, पृ० २२०.

स्थापना और विशुद्धता के लिए भगवान् के अवतार हुए हैं । इससे उन्होंने सगुण भक्ति को प्रधानता दी । उनका विचार था कि भक्त लोग ईश्वर के बिना रूप-रंग आकार की उपासना करने में असमर्थ रहेंगे । भगवान् के आकार को ध्यान में रखने के कारण ही लोग अचंचल मन के साथ ईश्वर का भजन कर सकेंगे । तुलसी का उद्देश्य सगुण प्रधान भक्ति जनता के मन में उत्पन्न करना था ।[१] तुलसी के प्रादुर्भाव के समय कबीर की प्रतिमा क्षीण हो चुकी थी । कबीर ने जिन सदुपदेशों को जनता को दिया, उस वाणी का सार विभिन्न संप्रदायों में प्रवाहित हो रहा था । यद्यपि गोस्वामी जी में कबीर के प्रति व्यक्तिगत विरोध नहीं था, तथापि उन्होंने बहुसंप्रदाय का विरोध किया ।[२]

सगुण भक्त कवियों में तुलसीदास ने एक ओर राम की आराधना रीति बता कर उसकी महानता दर्शायी तो दूसरी ओर सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण की आराधना की प्रधानता बतायी । इसको अलग-अलग रूप से चित्रित किया गया है । गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् श्री राम की स्तुति के द्वारा आराधना करने की रीति बतायी है और यह भी बताया है कि निष्काम भाव से भगवान की आराधना करने से भगवान् पूर्ण रूप से संतुष्ट होकर भक्त पर प्रसन्न हो जाते हैं ।[३] राम की आराधना करना अत्यंत दुष्कर है । तुलसीदासजी का कथन है कि तपस्या, तीर्थाटन, यज्ञ, दान, पूजा-पाठ आदि नियमानुसार करना सबसे महत्वपूर्ण बात है । इसके लिए एकमात्र उपाय राम-नाम का जप करना है ।[४] सूरदास भी सगुण और साकार रूप के उपासक हैं। आराधना के लिए यज्ञ, व्रत, तीर्थ-स्नान, भस्म-लेपन आदि अनिवार्य हैं। लेकिन

---

१. निर्गुण मत नहि मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई ।।
- मानस, उत्तरकाण्ड, चौ० ८, पृ० ९६५.

२. कलिमल ग्रसे धरम सब, लुप्त भए सद ग्रंथ ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट कीन्ह बहु पंथ ।।
- वही, वही, दो० ९७, पृ० ९८७.

३. विनयपत्रिका, पद ४७, पृ० १५१.

४. तप तीरथ मख दान नेम उपवास ।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास ।
- बरवै रामायण, बरवै ५२, पृ० ७४.

यह सब करते हुए भी मन चारों ओर घूमता-फिरता है, तो इससे क्या लाभ है। इसलिए सूरदासजी सत्संग महिमा के सम्बन्ध में कहते हैं –

जौ लौं मन-कामना न छूटै।
तौ कहा जोग-जग्य-व्रत कीन्हें, बिनु कन तुष कौं कूटै।
कहा सनान कियैं तीरथ के, अंग भस्म, जट-जूटै?
कहा पुरान जु पढ़ें अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटै।
का सोमा की सकल बड़ाई, धनतैं कछू न छूटै।
करनी और, कहै कछु औरै, मन दसहूँ दिसि टूटै।
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै।[१]

उद्धव-गोपी संवाद में उद्धव द्वारा निर्गुण की ओर संकेत किया है। गोपियाँ उसका निषेध करके सगुण और साकार रूप को उपासना को अधिक महत्व देती हैं। वे उद्धव से पूछती हैं कि सगुण कृष्ण के बदले निर्गुण ब्रह्म की उपासना वे कैसे कर सकती हैं?[२] लेकिन उद्धव का कथन है कि सगुण रूप व्यर्थ है और ब्रह्म का वास्तविक रूप निराकार है।[३] उद्धव ब्रह्म को निर्गुण प्रतिपादित करते हैं, परंतु गोपियाँ ब्रह्म को गुणाकार मानती हैं, उसके गुणों को बीज रूप मानती हैं और इससे अन्य गुणों रूपी वृक्ष अद्भुत है।[४] वे कहती हैं कि ब्रह्म कर्म-बन्धन में लिप्त सगुण रूप है। अगर ब्रह्म निर्गुण हो जायेगा तो वह समस्त सगुण जगत में कैसे व्याप्त हो सकेगा?[५] वे निर्गुण की भाँति-भाँति से अवहेलना

---

१. सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद १६, पृ० १२०.
२. अपने सगुण गोपाले, माई! यही विधि काहे देत?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठी कैसे लेत।
– सूरदास और उनका भ्रमरगीत : डा० श्रीनिवास शर्मा, पद ४६, पृ० १५१.
३. सगुण सबै उपाधि रूप निर्गुन है उनको।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन को।।
– नन्ददासकृत रासपंचाध्यायी और भंवरगीत : डा० विश्वम्भर 'अरुण', पद ६, पृ० १७१.
४. वही, पद २०, पृ० १८३.
५. कोऊ कहै री सखी साधु मधु बन के ऐसे।
और तहाँ के सिद्ध लोग हूँ हैं धौं कैसे।
सगुन हो गहि लेत हैं अरु गुन डारें मेटि।। – वही, पृ० २२३.

करती हैं और तर्कों द्वारा सगुणोपासना की मान्यता स्थापित करती हैं ।[१] अन्त में, गोपियां कहती हैं कि निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानमार्ग का उपदेश इस ब्रज भूमि में पनपेगा नहीं । वे तो किसी के कहने-सुनने पर आंखें बन्द करके विश्वास नहीं करतीं ।[२] इस प्रकार गोपियां उद्धव के ज्ञान मार्ग, योग मार्ग के उपदेश के निराकरण के लिए अनेक युक्तियां बताती हैं ।

सूरदास की रचनाओं में निर्गुण ब्रह्म की जो निषेधपूर्ण उक्तियां मिलती हैं वे निर्गुण ब्रह्म के ऊपर सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा करने का सफल प्रयास हैं ।[३] गोपियां कहती हैं कि जिस शरीर ने श्रीकृष्ण के स्पर्श रूपी अमृत का पान किया है वह अब उद्धव के इस निर्गुण ब्रह्म रूपी उपदेश के कड़वे फल को भोज्य पदार्थ कैसे बना सकता है ।[४] अंत में गोपियों ने उद्धव से पूछा कि आपने निर्गुण ब्रह्म के बारे में बहुत सी बातें कहीं तो भी निर्गुण ब्रह्म के बारे में आप क्या जानते हैं? आप निर्गुण उपासना की स्थापना के लिए जितना प्रयत्न करते हैं उतना हम श्रीकृष्ण की सेवा करते-करते चारों मुक्तियों को प्राप्त करना चाहती हैं ।[५] इस ब्रज भूमि में सगुण ब्रह्म सुमेरु पर्वत की तरह सर्वत्र प्रत्यक्ष हो रहा है और इस निर्गुण ब्रह्म को तिनके की ओट में छिपाया जा सकता है ।[६] उद्धव तो निर्गुण ज्ञान मार्ग के प्रचार के लिए ब्रज गये थे, पर वहाँ जाकर गोपियों की दशा देखकर वह सगुण मय हो गए ।[७] अत: उद्धव का निर्गुण प्रचार का प्रयास सफल नहीं हुआ ।

---

१. सूरदास और उनका भ्रमरगीत डा० श्रीनिवास शर्मा, पद ५२, पृ० १५५.

२. यह तो वेद उपनिषद मत है महापुरुष व्रतधारी ।
हम अहीरि अबला ब्रजबासिनि नाहिंन परत संभारी ।।
को है सुनत, कहत हौं कासौं, कौन कथा अनुसारी ।
सूर स्याम संग जात भयौ मन अहि कैंचुलि सौं डारी ।।
- वही, पद ११८, पृ० २३८.

३. वही, पद २३५, पृ० ३६४.

४. वही, पद २३६, पृ० ३६५.

५. वही, पद ३५१, पृ० ४६५.

६. सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत ।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दिखावत ।
- वही, पद ३५७, पृ० ५००.

७. वही, पद ३८२, पृ० ५२८.

आराधना स्थान – मंदिर और तीर्थस्थान

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में मंदिर और तीर्थ स्थानों का विशेष महत्व था। उन्हें पवित्र, पावन और पुण्य स्थान समझ कर उस युग की जनता पूजा करती थी। इसका अनुकरण आज भी भारत के सभी भागों में दिखायी देता है। इन आराधना स्थानों का निर्गुण संतों ने निराकरण कर दिया, लेकिन सगुण भक्तों ने इसको प्रोत्साहन किया। कबीर तथा निर्गुण संतों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धार्मिक स्थानों में जाना और वहाँ विविध प्रकार की पूजा, उपासना करना आदि की खिल्ली उड़ायी। उनके अनुसार हिन्दू और मुसलमान मंदिर, मस्जिद तथा तीर्थों के दर्शन केवल बाहरी दिखावे के लिए करते थे। अगर वास्तविक भक्ति है तो इन स्थानों में यात्रा करने की आवश्यकता नहीं, जब तक खुदा की असलियत को नहीं पहचानता तब तक इन पावन-पवित्र स्थानों पर यात्रा करने से क्या लाभ है। ईश्वर सार्वत्रिक और सर्व व्यापी है। वह तो विश्वनाथ है। अत: खुदा तो मस्जिद में नहीं रहता, न मंदिर में और उसको ढूंढने के लिए मारा-मारा फिरने की आवश्यकता भी नहीं। कबीरदास ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया कि उनका मन ही मथुरा है, दिल ही द्वारिका एवं काया ही काशी है। भक्तवत्सल भगवान् के दर्शन ब्रह्मरंध्र रूपी मंदिर में हो सकते हैं।[1] उन्होंने मुसलमानों को भी इसी प्रकार का उपदेश दिया। इन हज और काबा की यात्रा करने वाले मुसलमानों से कबीर का कथन है कि खुदा तो उन्हीं को मिलता है, जिनके मन में ईश्वर से प्रेम है, न कि काबा जाने वालों को।[2] कबीरदासजी मुसलमानों की गलतियों को स्पष्ट रूप से समझाने के बाद उन से यह कहते हैं कि उनका शरीर जो दस दरवाजों वाला है, वही मस्जिद है। यही नहीं मन को मक्का और

---

१. मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ।।
- कबीर ग्रंथावली, साखी १०, पृ० २२१.

२. सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहां खुदाइ ।। –वही,सा०११,पृ० २१६.

शरीर को काबा बनाना चाहिए ।[१] अगर मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ या अन्य तीर्थ स्थानों की यात्रा करें और साधु संगति एवं प्रभु-भक्ति नहीं करें तो उससे कुछ भी नहीं प्राप्त होगा ।[२] प्रभु भक्ति के लिए तीर्थ-यात्रा करने की आवश्यकता नहीं । भगवान् तो हमारे शरीर में ही विद्यमान है । गंगा और यमुना इड़ा और पिंगला नाड़ी के रूप में मानव शरीर में अवस्थित है ।[३] काशी और द्वारिका जाने वालों की हंसी उड़ाते हुए कबीर कहते हैं —

> कासी गया और द्वारिका, तीरथ सकल भरमत फिरे ।
> गांठी न खोली कपट की, तीरथ गया तो क्या हुआ ।।[४]

संत कवियों के अनुसार मन की शुद्धि ही असली तीर्थ यात्रा है । ईश्वर का हमारे हृदय में वास है ही फिर उसकी खोज करने की क्या आवश्यकता है ।[५] कबीर का मत यह है कि खुदा सब कहीं हमेशा प्रकट होता है ।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य संतों ने भी मंदिर एवं तीर्थ-स्थानों पर जाने की कटु शब्दों में आलोचना की । वे भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे । मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में हिन्दू धर्म के तत्वों के रूप में तीर्थ यात्रा

---

१. पढि ले काजी बंग निवाजा,
एक मसीति दसौं दरवाजा ।। टेक ।।
मन करि मका किबला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही ।
जहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां हीं रांम इहां रहिमांनां ।।
बिसमल तांमस भरंम कै दूरी, पंचूं भखि ज्यूं होइ सबूरी ।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां, मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ।।
- कबीर ग्रन्थावली, पद ४१, पृ० ३७३.

२. कबीर साखी समीक्षा, प्रो० पुष्पलाल सिंह, सा० ३, पृ० १५२.

३. गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट ।
तहां कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ।।
- वही, सा० ३, पृ० ५६.

४. कबीर वचनावली, पद १६४, पृ० २४१.

५. कबीर ग्रंथावली, सा० ११, पृ० २२४.

और मंदिरों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उन्होंने जगन्नाथपुरी की बड़ी प्रतिष्ठा की है, जो हिन्दुओं का विशिष्ट तीर्थस्थान है। 'पद्मावत' के 'लक्ष्मी समुद्र खंड' में जगन्नाथपुरी की महानता का संकेत मिलता है। राजा रत्नसेन जगन्नाथपुरी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट करता है। पद्मावती से कहता है कि हमारा मूल नष्ट हो गया और गांठ में अब कुछ भी नहीं है।[१] इसके अतिरिक्त कवि ने अनेक पवित्र स्थानों का उल्लेख किया है जिनका नाम यथाक्रम प्रयाग, बनारस, द्वारिका, केदार, अयोध्या, गंगोत्री या गंगामुख, हरिद्वार, मथुरा, सुराजकुंड, बदरीनाथ, रामकुंड, गोमती, गुरुद्वार, दाहिनावर्त, सेतुबंध, रामेश्वर, कैलास, सुमेरु, अलकपुर, प्रभावती, त्रिवेणी, नीमसार, मिसारिख, कुरुक्षेत्र, गोरखपुर में गोरखनाथ आदि हैं।[२] वह कहता है कि ६८ पवित्र तीर्थस्थानों के दर्शन परमात्मा की खोज के लिए किये, लेकिन परमात्मा के दर्शन नहीं हुए।[३]

अष्टछाप के महान् प्रवर्तक एवं प्रचारक महाकवि सूरदासजी ने अपने काव्य-ग्रंथ 'सूरसागर' में अनेक स्थलों पर केदार, गया, बनारस[४], नीमसार[५], अयोध्या[६] आदि स्थानों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गंगा, सिंधु, यमुना, सरस्वती एवं गोदावरी आदि पवित्र नदियों की ओर भी उन्होंने संकेत किया है।[७] द्वारिका, मथुरा और वृन्दावन, जो श्रीकृष्ण के लीला-प्रदेश हैं, वे आज भी

---

१. जगरनाथ जौं देखेन्हि आई। भोजन रींधा हाट बिकाई।
   राजै पदुमावति सौं कहा। सांठ नाठि किछु गांठि न रहा।
   - पदुमावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ५१७.

२. वही, पृ० ८०४-८०५.

३. बन बन सब हेरेउं बन खंडा। जल जल नदी अठारह मंडा।
   चौसठि तीरथ कीन्ह सब ठांऊ। लेत फिरौं ओहि पिय कर नाऊं।
   - वही, पृ० ८०६.

४. सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद ३, पृ० ११५.

५. वही, प्रथम स्कंध, पद २२८, पृ० ७४.

६. वही, नवम स्कंध, पद ४१, पृ० २०२.

७. हरि की कथा होइ जब जहां। गंगाहू चलि आवै तहां।
   यमुना, सिंधु, सरस्वति आवै। गोदावरी विलंब न लावै।
   सर्व तीर्थ कौ बासा तहां। सूर हरि-कथा होवै जहां।
   - वही, प्रथम स्कंध, पद २२४, पृ० ७३.

पवित्र स्थान की कोटि में आते हैं।[1] गोस्वामी तुलसीदासजी ने तीर्थराज प्रयाग[2] एवं काशी[3] का उल्लेख किया है। अयोध्या, जो हिन्दुओं का पावन प्रदेश है उसकी गणना तुलसीदास की सभी रचनाओं में दिखायी पड़ती है।

ज्ञानाश्रयी संतों को छोड़कर शेष अन्य भक्त कवियों ने आराधना-स्थान-मन्दिर एवं तीर्थ-स्थान का विशेष उल्लेख किया है। जायसी ने हिन्दू धर्म के कुछ अन्य तत्वों का प्रतिपादन करते हुए विभिन्न मंदिरों का उल्लेख भी किया है। राजा रत्नसेन द्वारा शिव मंदिर की स्तुति करना[4], शिव मंदिर में देव वाणी का होना[5], पद्मावती द्वारा शिवपूजन करना[6] और बाद में महादेवजी से अपने लिए योग्य वर मांगना[7] आदि का वर्णन करने में वे अत्यंत सफल हुए हैं। जायसी के समान सूर एवं अन्य कृष्ण-भक्त कवि तथा तुलसीदासजी भी गिरिजा पूजन और उससे वर मांगने के वर्णन करने में सफल हुए हैं। महाकवि

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४२७५, पृ० १५५६.

२. मानस, बालकांड, दो० ४, पृ० ११.

३. विनयपत्रिका, पद २१, पृ० १७-१८.

४. महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता।
एहु कहं तसि मया करेहु। पुरवहु आस कि हत्या लेहु।
- पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २३६.

५. हत्या दुइ जो चढ़ाएहु कांधे अबहुं न गे अपराध।
तीसरि लेहु एहु के माथे जौ रे लेइ कै साध।
- वही, पृ० २३६.

६. वही, पृ० २१७-२१८.

७. औरु सहेलीं सबै बियाहीं। मो कहं देव कतहुं बर नाहीं।
हौं निरगुनि जेइं कीन्हि न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा।
बर संजोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हंछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि।।
- वही, पृ० २१७-२१८.

सूरदास[१] और नन्ददास[२] ने रुक्मिणी-मंगल-प्रसंग में उसके मंदिर जाने और पार्वती के समक्ष विनती करने एवं मनौती करने की ओर संकेत किया है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' में आकाशवाणी या मंदिर में देववाणी होने का उल्लेख किया है। विवाह के पहले कन्याओं का मंदिर में जाकर गिरिजा पूजन करना और योग्य वर प्राप्त करने के लिए देवी या देवता के साथ मनौती करना आदि जन-साधारण में सर्वप्रचलित है। आज भी कन्याएं इस परंपरागत प्रथा को जारी रखने में अत्यंत निपुण हैं। वे देवी या देवता की पूजा भविष्य में मंगल की कामना की पूर्ति के लिए करती हैं। कन्याओं की इस मनोकामना की पूर्ति से संबंधित अनेक लोकगीत भी प्रचलित हैं। सीताजी दशरथ-पुत्र राम और लक्ष्मण को देखकर रामजी को अपने लिए योग्य वर समझती हैं। वे सहेलियों सहित गिरिजा-मंदिर जाती हैं और गौरी के समीप खड़े होकर प्रार्थना करती हैं और मनौती करती हैं। देवीजी उन पर प्रसन्न हो जाती हैं।[३]

इसके अतिरिक्त तत्कालीन जनता उस समय के मंदिर और पुण्य-स्थानों में अपनी मुक्ति और शांति के लिए जाती थी। एक ओर निर्गुण भक्त कवियों ने इसका खण्डन किया, तो दूसरी ओर सगुण भक्तों ने इसको उचित स्थान दिया।

विभिन्न प्रकार की पूजा

धर्म-प्राण हिन्दू-समाज की विशेषता यह है कि वह उपासना-पद्धति और रीति में चिरंतनकाल से ही उत्सुक था। धर्म-भाव रखने वाला व्यक्ति सारी लौकिक विभूति को अपने आराध्य या कुलदेव की ही देन समझता है। भारतीय जनता की इस मनोवृत्ति को मध्ययुग के कवियों ने अच्छी तरह समझा और उन्होंने

---

१. रुकमिनि देवी मंदिर आई।
धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई।।
रखवारी कों बहुत महाभट, दीन्हे रुक्म पठाई।
ते सब सावधान भए चहुं दिसि, पंछी तहां न जाई।।
कुंवरि पूजि गौरी बिनती करी वर दोउ जाबराई।
मैं पूजा कीन्ही इहिं कारन, गौरी सुनि मुसुकाई।।
— सूरसागर, दशमस्कंध, पद ४१८३, पृ० १५०३.

२. नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ६८-१०४, पृ० १८२-१८३.

३. मानस, बालकाण्ड, दोहा २३५, चौ० १-४, पृ० ३९९-४००.

अपने काव्य-सुमनों में इसका विस्तार से वर्णन किया है । उस समय के भक्त कवियों में निर्गुण पंथ के कवियों ने तो आराधना और उपासना को कोई महत्व नहीं दिया । सच कहा जाय तो उन्होंने इसका खंडन ही किया । लेकिन सगुण भक्त इसके अनुकूल थे । तुलसीदास, सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने जिन पात्रों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है वे सब ईश्वर की कृपा में विश्वास रखने वाले हैं । उन्होंने ईश्वर की विभिन्न रूपों में उपासना की ।

मध्ययुगीन धार्मिक क्षेत्र और समाज में जिन अगणित पूजा-पद्धतियों का प्रचार था वे निम्नलिखित प्रकार की हैं –

मूर्तिपूजा

मध्ययुग में जनता द्वारा एक-एक मंदिर में अनेक मूर्तियाँ स्थापित कीं । प्रत्येक मूर्ति के वस्त्रालंकार अलग-अलग होते थे । उनकी पूजा-विधियों में भी अंतर था । मूर्तियों की संख्या के साथ ही साथ मंदिरों की संख्या भी खूब बढ़ी उदाहरण के लिए मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के समय सोमनाथ के मंदिर में अनेकों मूर्तियाँ थीं ।

निर्गुणवाद के प्रवर्तक कबीर के समय समाज में सगुणवाद ने बड़ा विकृत रूप धारण कर लिया था, अर्थात् मूर्ति पूजा अपनी बुराई की पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी । इसलिए कबीर ने सगुणवाद, बहुदेववाद, मूर्ति पूजा आदि का खण्डन करके ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी । द्राविड़ों में भी मूर्ति पूजा का विधान था और उन्होंने इसका प्रचलन भी अवश्य किया । इनसे ही आर्यों ने प्रतिमा-पूजन की रीति स्वीकार की । मुसलमानों ने इसका विरोध किया । लेकिन कई मुसलमान इमाम की दरगाहों में सिर झुकाते पाये जाते थे । अत: वह भी एक प्रकार की मूर्ति पूजा थी । कबीर ने कहा कि जो पत्थर को देवता कहते हैं और पूजा करते हैं वे सब वास्तविक ईश्वर को पहचानते नहीं है । हमारा

---

१. जायसी का पद्मावत काव्य और सौन्दर्य – डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ७८.

ठाकुर तो पत्थर की तरह मौन नहीं है, वह हमेशा बोलता है । पत्थर देवता नहीं है, वह कुछ नहीं बोलता और उसकी सेवा व्यर्थ है ।[१] कबीर ने मूर्तिपूजा की भी खोलकर भर्त्सना की है । उनके अनुसार ब्रह्म न तो दशरथ-पुत्र है और न नन्द के पुत्र । उनका ब्रह्म निरंजन एवं निराकार है ।[२] उनकी साधना-पद्धति के अनुसार ब्रह्म का आदि और अंत नहीं है । हिन्दू लोग पत्थर को भगवान् की साकार मूर्ति मानकर उसे गढ़ते हैं, मंदिर बनाते हैं, आराधना करते हैं और मंदिर में वे जोर से भगवान को पुकारते हैं । उनकी इस बाह्य प्रक्रिया से क्या भगवान प्रत्यक्ष होता है ? वे एक साधारण पत्थर को ईश्वर का रूप देकर उसकी पूजा करते हैं । कबीर का कथन है कि पत्थर की पूजा करने वाले वास्तव में काली नदी की धारा में हमेशा के लिए डूब जाते हैं ।[३] कबीर उस परमात्मा के भजन करने का उपदेश देते हैं जो सर्वव्यापी है । उसमें जाति भेद नहीं, और उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं ।[४] भक्त मूर्तिपूजा के समय

---

१. जो पाथर कउ कहते देव ।
ताकी बिरथा होवै सेव ।
जो पाथर की पाई पाइ ।
तिसकी घाल अंजाई जाइ ।
ठाकुरु हमरा सद बोलता ।
सरब जीआ कउ प्रभु दानु देता ।
\+ \+ \+ \+
ना पाथरु बोलै न किछु देइ ।
फोकट करम निहफल सेवा ।। - संत सुधासार, पद १२, पृ० २१८.

२. कबीर ग्रंथावली, पद ३३७, पृ० ५३८.

३. पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार ।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार । - वही, सा० १, पृ० २२१.

४. पहली मन में सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नहीं कोई ।
कोई न पूजै बांसू प्रांनां, आदि अंति वो किनहूं न जांनां ।।
रूप सरूप न आवै बोला, हर गरू कछू जाइ न तोला ।
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांहीं ।।
अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांम ।
बहु बिचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम ।।
- वही, रमैणी भाग, बारहपदी रमैणी, पृ० ६१२.

पुष्प-पत्रादि तोड़ते हैं। जब फूल पत्रादि तोड़ते हैं तब इसके बारे में विचार नहीं करते होंगे कि इस पत्थर को गढ़ते समय इसके ऊपर कितने ही लोगों ने पैर रखे होंगे और पूजन के पूर्व उसकी किसी भी प्रकार विशिष्टता नहीं थी।[१] संत कवि भीखादास का कथन है कि लोग ईश्वर के साक्षात्कार के लिए योग, यज्ञ, तप, दान, नेम करते हैं, जल से पत्थर की पूजा करते हैं और अंत में ईश्वर प्रसन्न होता है क्या? यह सब व्यर्थ है। इस व्यर्थ पूजा करने वालों की दशा बांझ के पुत्र सदृश है।[२]

इस्लाम धर्मानुयायी मूर्ति पूजा के विरोधी और भंजक दोनों थे। इसके विपरीत संतों ने मूर्ति पूजा का विरोध तो किया, किन्तु मूर्ति-भंजन का उपदेश उन्होंने कहीं भी नहीं दिया है। संतों का मत है कि ईश्वर घट-घट में वास करता है। उसे प्रसन्न करने के लिए पत्थर की पूजा करने की आवश्यकता नहीं। पत्थर की पूजा करने वालों की ओर संकेत करते हुए कबीर का कथन है कि लोग एक पत्थर को पूजा करते हैं, तो दूसरे पत्थर को पैर से कुचलते हैं। यह तो अन्ध है। ऐसा क्यों होता है?[३] अतः कबीर साधुजनों से कहते हैं कि पाहन की मूर्ति की पूजा कर उस मूर्ति के सामने तपस्या करके अपने शरीर को सुखाने से स्वर्ग नहीं मिलेगा। इससे कुछ लाभ नहीं।[४]

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १६८, पृ० ४५६.

२. जोग जग्य दान नेम करि बाहस राम को भेंटा।
   जल पत्थल काट हरि बाराधहिं बांझ खेलावहि बेटा।।
   - भीखा साहब की बाणी, पृ० ५.

३. एक पाथर किज्जे भाव।
   दूजे पाथर धरिये पाव। — संत सुधासार, पृ० ५४.

४. बाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप बनखंडि बासा।
   कहा मुगधरे पांहन पूजै, कागज डारै गाता।।
   कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाई।
   सुनौं संतौ सुमिरौं भगत जन, हरि बिन जन्म गवाई।
   - कबीर ग्रंथावली, पद ८८, पृ० ३६०.

हिन्दुओं की मूर्तिपूजा का खण्डन करने के साथ ही साथ मुसलमानों की भी इन संत कवियों ने हंसी उड़ायी। मुसलमानों की आराधना के बारे में वे कहते हैं कि कंकड़ और पत्थर से मस्जिद बनवायी जाती है, लेकिन उस पर ही चढ़कर मुल्ला बांग देता है। अल्लाह गूंगा तो नहीं है, उसे तो समस्त संसार में और हृदय में देखा जा सकता है।[१]

संत कवियों ने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया तो प्रेमाख्यानक कवियों और सगुण भक्त कवियों ने इसको स्थान दिया। उन्होंने तो भगवान को विभिन्न रूप, नाम से पुकारा। इसके पश्चात् वे इन विभिन्न नामधारी देवताओं की पूजा करने लगे। जायसी के अनुसार हिन्दुओं में देववाद की अभिव्यक्ति मूर्तिवाद के रूप में हुई। इसका उत्तम उदाहरण कवि ने 'राजा रत्नसेन सती खण्ड' में दिया है। 'पद्मावत' में कवि ने पत्थर की पूजा का विरोध किया है। देवता समझकर पत्थर की पूजा करने से कोई लाभ नहीं। ऐसी पूजा करने वाला वास्तव में पागल ही है।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार नृसिंहावतार के बाद ही मूर्ति पूजा का आरंभ हुआ। उन्होंने मूर्ति पूजा के विषय में जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह देखिए —

---

१. मुलां कहां पुकारैं दूरि, रांम रहीम रह्या भरपूरि ।।टेक ।।
यहु तौ अलह गूंगा नांहीं, देखै अलख दुनीं दिल मांहीं ।
हरि गुन गाइ बंग मैं दीन्हां, काम क्रोध दोउ बिसमल कीन्हां ।।
कहै कबीर यह मुलनां झूठा, रांम रहीम सबनि मैं दीठा ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद ६०, पृ० ३७३

२. अरे मलिछ बिसवासी देवा । कंत मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा ।
आपनि नाउ चढ़ै जो देई । सो तौ पार उतारै खेई ।
सफल लागि पग टेकेउं तोरा । सुवा क सेंवर तूं भा मोरा ।
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा । सो ऐसे बूड़ै मंझधारा ।
पाहन सेवा काह पसीजा । जरम न पलुहै जौं निति भीजा ।
बाउर सोइ जो पाहन पूजा । सकति को भार लेइ सिर दूजा ।
काहे न पूजिअ सोइ निरासा । मुए जिअत मन जाकरि आसा ।
- पद्मावत व्याख्या श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २३०

काढ़ि कृपान, कृपा न कहुं, पितु काल कराल बिलोकि न भागे ।
'राम कहां ?' 'सब ठाउं हैं', 'खंभ में ?' 'हां' सुनि हांक नृकेहरि जागे
बैरि बिदारि भए बिकराल, कहें प्रहलादहि के अनुरागे ।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तबतें सब पाहन पूजन लागे ।[1]

गोस्वामी तुलसीदासजी के समय मूर्तिपूजा सर्वप्रचलित थी । इसका उत्तम उदाहरण उनकी 'कवितावली' के 'प्रहलाद-भक्ति-प्रसंग' में मिलता है । भक्त प्रहलाद ने पत्थर में से भगवान् नृसिंह को प्रकट होते देखा और उसी प्रकार उसे ईश्वर का साक्षात्कार हुआ ।[2] गोस्वामी ने मूर्तिपूजा की भावना का प्रचार अपनी रचनाओं में कई स्थलों पर किया है । सीताजी का गिरिजा पूजन, भवानी का प्रसन्न होकर वरदान देना आदि तुलसी की मूर्ति पूजा की भावना का द्योतक है ।[3] इसी प्रकार रामचन्द्रजी के द्वारा रामेश्वर पुल पर शिव-मूर्ति की स्थापना करने का जो उल्लेख गोस्वामीजी ने किया है वह भी उस समय की मूर्ति-पूजा का उत्तम उदाहरण है । कृष्ण-भक्त कवियों ने भी मूर्ति-पूजा का प्रचार किया । सूर, परमानन्ददास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने गोवर्धन पूजा, इन्द्र पूजा, नृसिंह पूजा आदि का जो वर्णन किया है वह तत्कालीन उपासना-पद्धति का द्योतक है ।

शक्ति पूजा

शक्ति की पूजा मध्य युग में सर्वप्रचलित थी । उस समय के संत कवियों ने इसका खण्डन करने की कोशिश की ।[4] शक्ति की पूजा लोग सभी प्रकार की शक्ति

---

१. कवितावली, उत्तरकांड, पद १२८, पृ० १८५.
२. आरतपाल कृपाल जो रामु जेहीं सुमिरे तेहिको तहं ठाढ़े ।
   नाम-प्रताप-महामहिमा अंकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े ।।
   सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुं ताप न डाढ़े ।
   प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े ।।
   - कवितावली, उत्तरकांड, पद १२७, पृ० १८४.
३. मानस, बालकांड, पृ० ३९८-४०१.
४. सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि ।
   हरि दासनि की भांति करि, केवल, जमपुरि जांहि ।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० १४, पृ० २२०.

अर्पित करने के लिए करते थे। उससे जीवन की उन्नति की आशा की जाती थी।

शिव-पार्वती की पूजा

भक्तिकालीन कवियों ने शिव-पार्वती की पूजा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उस समय के काव्य ग्रंथों में शिव-पार्वती की पूजा का उल्लेख हुआ है। कबीर ने शिव-पूजन का विरोध किया। उनके अनुसार जप, तप, जोग, ध्यान आदि व्यर्थ है और उसके अनुष्ठान के विरुद्ध थे। उसी प्रकार शिव, शक्ति, देवी ये भिन्न नहीं, सभी एक ही हैं।[१] सूफी महाकवि जायसी ने 'पद्मावत' में देवी-देवताओं की पूजा का जो वर्णन किया है उसमें देवी के रूप में पार्वती और देवता के रूप में महादेव आये हैं। जायसी ने 'पद्मावत' में महादेव की चर्चा २० या २२ बार की है। 'रत्नसेन सूली खंड' में शिवजी और राजा गंधर्वसेन का संवाद प्रस्तुत किया है।[२] इसी खंड में एक-दूसरे स्थल पर कवि ने महादेव के रण-घंटा बजाने का[३], और पद्मावती का महादेव-मठ में घुसने का[४] उल्लेख किया है। कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कवि शिवजी की पूजा के पक्ष में थे। कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण, राम, शिव - इन तीनों शक्तियों को ईश्वर का प्रतीक माना। उन्होंने इन तीनों को एक दूसरे का पूरक बताया और उस समय के वैष्णव और शैव उपासकों के बीच जो धार्मिक झगड़ा था, उसका भी अंत कर दिया।[५] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' के आरंभ में ही शिव-पार्वती की

---

१. जप नांहीं तप नांहीं, जोग ध्यांन नहीं पूजा।
   सिव नांहीं सकती नांही, देव नहीं दूजा ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद २१६, पृ० १४८.

२. गंध्रपसेनि तूं राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा।
   - पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३००.

३. वही, पृ० ३०१.

४. वही, पृ० २१६.

५. दूसरे कर बान न लैहौं।
   सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, ~~सकि~~ एकहिं बान असुर सब हैहौं।
   सिव-पूजा जिहिं भांति करी है, सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं।
   दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर माला सिव-सीस चढ़ैहौं।
   - सूरसागर, नवम स्कंध, पद १५७, पृ० २४५.

वन्दना की है ।[१] उन्होंने 'विनयपत्रिका' में भी शिव की स्तुति की है और उनके माहात्म्य की उद्घोषणा की है ।[२] उनके राम भी शिव के उपासक हैं और शिव राम की पूजा करते हैं ।

मध्ययुग में महादेव या शिवजी की पूजा के समान पार्वती की पूजा को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । देवी पार्वती की पूजा साधारणतः कुमारियां करती हैं, जिससे कि उन्हें योग्य वर की प्राप्ति हो जावे । देवी जी के मंदिर में जाकर वे प्रार्थना करती हैं और फल-प्राप्ति के बाद अनेक धार्मिक कृत्य करने को भी तैयार होती हैं । जायसी, सूर, तुलसी प्रभृति कवियों ने इसका विस्तार से वर्णन किया है । यद्यपि इन कवियों द्वारा चित्रित पात्रों का नाम भिन्न-भिन्न है तो भी इनका लक्ष्य एक ही है । जायसी के 'पद्मावत' की नायिका पद्मावती अपनी सहेलियों सहित वसंत पंचमी के गीत गाती हुई और खेलती हुई महादेव के मण्डप के द्वार पर गयीं । पद्मावती मंडप के अन्दर प्रवेश करके देवता को प्रणाम तथा पूजा करने लगी । देवता का स्पर्श कर उसके चरणों पर वह गिर पड़ी । उसने प्रार्थना की कि अन्य सब सहेलियां विवाहित हैं, मुझे भी [illegible] का वर दो । तुम सभी के देवता हो । जिस दिन योग्य वर की प्राप्ति होगी उस दिन तुम्हारे लिए कलश चढ़ाने की प्रतिज्ञा करती हूं ।[३] सूरदास ने व्रजबालाओं के गौरी-पूजन का उल्लेख 'सूरसागर' में किया है । व्रज-बालाओं के मन में श्रीकृष्ण को पति के रूप में प्राप्त होने की अतीव कामना होती है । वे इसके लिए अनेक धार्मिक अनुष्ठान करती हैं और शिव-पार्वती की पूजा करती रहती हैं । पूजा के समय उनसे अनेक प्रकार से मनुहारि करती हैं । महादेव की पूजा का आयोजन यों करती हैं —

गौरी-पति पूजतिं व्रजनारि ।
नेम धर्म सौं रहति क्रिया-जुत, बहुत करतिं मनिहारि ।।

---

१. भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरं ।।
- मानस, बालकांड, श्लो० २, पृ० २.
२. विनयपत्रिका, पद ३, पृ० ६३.
३. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१७-२१८.

यहँ कहतिं पति देहु उमापति गिरधर नंद-कुमार ।
सरन राखि लीजै सिव संकर तनहिं सतावत मार ।।
कमल-पुहुप मालूर-पत्र-फल नाना सुमन सुबास ।
महादेव पूजति मन बच करि सूर स्याम की आस ।[1]

महादेव के प्रति तप करने पर गोपियों की कामना पूरी हो जाती है अर्थात् उन्हें कृष्ण पति रूप में प्राप्त हो जाता है । उस समय वे पुष्प, पान, विविध प्रकार के पकवान आदि शिव जी के पैरों पर अर्पण करती हैं और कहती हैं कि हे त्रिपुरारी ! तुम धन्य हो । तुम्हारी उपासना करने पर हमें फल प्राप्ति हुई ।[2]

सूरदास ने पार्वती-पूजा की चर्चा रुक्मिन-विवाह-प्रसंग में की है । तुलसीदासजी ने इसका उल्लेख सीता-विवाह-प्रसंग में चित्रित किया है । सूर ने रुक्मिणी का गौरी-मंदिर में पूजा के लिए जाना, हाथ जोड़ कर बहुविधि मनाना, सखियों सहित धूप-दीप आदि पूजा सामग्री लेना, गौरी पूजा का उद्देश्य सरल भाव से सुना देना, उसकी विनती सुनकर गौरी का मुसकाना और रुक्मिणी का प्रसाद पाकर गौरी-मंदिर से बाहर आना आदि का वर्णन सविस्तार किया है ।[3]

मानसकार ने गौरी पूजन के लिए सखियों सहित मंदिर में पैठने वाली सीताजी का चित्रण किया है । सीताजी का गौरी-मंदिर आना, उसका
प्रसादरूपी माला को सिर पर धारण करना
मनोरथ सुनाना, सीताजी का आदर के साथ मूर्ति के सिर का प्रसाद पहनकर,

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७६६, पृ० ५२७.
२. सिव संकर हमको फल दीन्हौ ।
पुहुप, पान, नाना फल, मेवा, षट-रस अर्पन कीन्हौ ।।
पाइ परीं जुवतीं सब यह कहि, धन्य-धन्य त्रिपुरारी ।
तुरतहिं फल पूरन हम पायौ, नन्दसुवन गिरिधारी ।।
बिनय करतिं सविता, तुम सरि को, पय अंचलि, कर जोरी ।
सूर स्याम पति तुम तैं पायौ यह कहि घरहिं बहोरी ।।
— सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७९८, पृ० ५३४.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८२, ४१८३; पृ० १५७३.

उसकी प्रार्थना पर देवी गौरी का प्रसन्न होना और सीता की मनोकामना पूरी होना आदि का प्रतिपादन तुलसी ने काव्यात्मक ढंग से `मानस` में किया है ।[1] सीताजी के इस गौरी-पूजन का वर्णन `गीतावली` में भी मिलता है ।[2] सूरदास के अनुसार माता यशोदा को बालक कृष्ण को गोद में खिलाने का जो सुख मिला वह शिव-पार्वती की सम्मिलित कृपा से हुआ ।[3] इस प्रकार मध्ययुगीन काव्य-ग्रंथों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय शिव-पार्वती की उपासना पद्धति सर्वप्रचलित थी ।

सूर्य-पूजा

सूर्य को ईश्वर का दूसरा रूप माना जाता है । भारत में सूर्य-उपासना का विशेष स्थान है । मानव जीवन संबंधी बहुत से संस्कारों में इसकी पूजा का विधान है । उत्पादक, संरक्षक, विनाशक आदि के नाम पर इसकी पूजा होती है । माता-पिता और कन्यायें बड़ी उत्सुकता के साथ भगवान सूर्य की पूजा करती हैं । माता-पिताओं में अपनी पुत्री के लिए `उगते सूरज के तेज` जैसा वर खोजने की कामना बनी रहती है ।

महाकवि सूरदास ने सूर्योपासना का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है । ब्रजवासिनी विशेषकर गोपियां सूर्य को अपना आराध्य देव मानकर हृदय में उसका ध्यान करके उसकी उपासना करती हैं । `सूरसागर` के अनेक पदों में सूर्य-पूजा का उल्लेख मिलता है । कृष्ण के साथ राधा को प्रथम बार देखते ही माता यशोदा सविता से यही कामना करती है कि राधा को कृष्ण पति के रूप में प्राप्त हो जायें ।[4] इसी प्रकार गोपियां जो कृष्ण को पति-रूप में पाने की इच्छा रखती हैं, रवि से विनती करती हैं ।[5] जब कामना पूरी

---

१. मानस, बालकाण्ड, [redacted] पृ० ३९८-४०१.
२. गीतावली, बालकाण्ड, पद ७२, पृ० १२१-१२२.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८०, पृ० २८८.
४. सूर महरि सविता सौं, बिनवति, भली स्याम की जोटी ।।
 - सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ७०२, पृ० ५०६.
५. ध्यान धरि, कर जोरि लोचन मूंदि इक-इक जाम ।
 बिनय अंचल छोरि रवि सौं, करतिं हैं सब बाम ।।
 हमहिं होहु दयाल दिन-मनि, तुम बिदित संसार ।
 काम अति तनु दहत दीजै, सूर हरि भरतार ।। — वही, पद ७६७, पृ० ५२५.

हो जाती है तब हाथ जोड़कर सूर्य को अंजली देती है और यह भी कहती है कि सूर्य के समान फलदाता और कोई नहीं है ।[1] तुलसीदासजी ने सूर्य-पूजा की ओर संकेत न करके सूर्य-स्तुति प्रस्तुत की है —

दीन दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ।।
हिम-तम-करि-केहरि करमाली । दहन दोष दुख-दुरित-रुजाली ।।
कोक कोकनद लोक-प्रकासी । तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ।।
सारथि पंगु, दिव्य-रथ गामी । हरि-संकर-विधि मूरति स्वामी ।।
वेद-पुरान प्रगट जस जागै । तुलसी राम-भक्ति बर माँगै ।।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर्य-पूजा मध्ययुग के लोक-जीवन का मुख्य अंग था ।

इंद्र-पूजा

इन्द्र की पूजा ब्रजवासियों की मुख्य उपासना थी । ब्रजवासियों ने गोवर्धन-पूजा के पूर्व इन्द्र को ही अपना कुलदेव माना । माता यशोदा का कथन इसके लिए उत्तम उदाहरण है । सुरपति की पूजा के पहले माता उपासना का स्मरण करती हुई कहती है कि उसके यहाँ जो कुछ वैभव है वह कुलदेव की कृपा से प्राप्त हुआ है ।[3] माता यशोदा इन्द्र को कुलदेवता मानती है । उसका विश्वास है कि इन्द्र ही अपने कुल देवता है ।[4] उसकी पूजा को रोकने से वह प्रसन्न नहीं होगा । इन्द्र-पूजा के वक्त लोक-गीत गाये जाते हैं, अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं, उन्हें उसे खिलाये जाते हैं, अनेक मनौतियाँ मनायी जाती हैं और अंत में इसी प्रार्थना के पश्चात् पूजा समाप्त की जाती है कि हे भगवान् ! हमें

---

१. विनय करति सविता, तुम सरि को, पय अंजलि, कर जोरी ।
सूर स्याम पति तुम तैं पायौ यह कहि परहिं बहोरी ।।
— सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७६८, पृ० ५३४.

२. विनयपत्रिका, पद २, पृ० ६१.

३. नंद महर सौं कहति जसोदा, सुरपति की पूजा बिसराई ।
जाकी कृपा बसत ब्रज-भीतर, जाकी दीन्ही भई बड़ाई ।।
— सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८११, पृ० ५४२.

४. वही, पद ८१२, पृ० ५४३.

यथाशक्ति पूर्ववत् सुखी बनाये रखो। सूरदास ने इन सब का वर्णन इन्द्र-प्रसंग में किया है।[१] यह उत्सव वार्षिक है। वर्ष में एक ही बार मनाया जाता है। इस दिन प्रत्येक घर में अन्नकूट उत्सव मनाया जाता है। जब अनेक प्रकार के पकवान बनाते हैं। इसके पश्चात् कुलदेवता से मातायें अपनी संतान को चिरायु रखने की भीख मांगती हैं।[२] प्रात:काल की पूजा के लिए भिन्न-भिन्न सामग्रियों की आवश्यकता होती है वे सब सांझ से ही इकट्ठा करते हैं। वे अपवित्र न हो जाय, इस उद्देश्य से उनको छुआछूत से बचाया जाता है।[३] इन्द्र-पूजा के अवसर पर अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं। व्रज के घर-घर में अधिक उल्लास है। इसका वर्णन सूर ने यों किया है –

व्रज घर-घर अति होत कुलाहल।
जहं-तहं ग्वाल फिरत उमंगे सब, अति आनंद उमाहल।।
मिलत परस्पर अंकम दै-दै, सकटनि भोजन साजत।
दधि लवनी मधु माट धरत लै, राम स्याम संग राजत।।
मंदिर तैं लै धरत अजिर पर, षटरस की ज्योनार।
डालनि भरि अरु कलस भर भरि, औरत हैं परकार।।

---

१. गावत मंगलचार महर-घर।
जसुमति भोजन करति बड़ाई, नेवज करि-करि धरति स्याम डर।।
देखो रही न छुवै कन्हैया, कह जाने वह देव-काज पर।
और नहीं कुलदेव हमारैं, कै गोधन, कै ये सुरपति वर।।
करति विनय कर जोरि जसोदा, कान्हहिं कृपा करौ करुनाकर।
और देव तुम सम कोउ नाहीं सूर करौं सेवा बरननि-तट।।
– सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८१७, पृ० ५४४.

२. वही, वही, पद ८१६, पृ० ५४४.

३. घरनि कहीं सब कहि जसुमति सौं। देव मनावतिं बचन विनति सौं।।
\+ \+ \+ \+ \+
बहु-बहु भांति करतिं पकवानैं। नेवज करि धरि सांझ बिहानैं।।
छुवत नहीं देव-काज सकानैं। देव-भोग कौं रहत डरानैं।।
सूरदास हम सुरपति जानैं। और कौन ऐसौ जिहिं मानैं।।
– वही, पद ८६१, पृ० ५६८-५६९.

सहस्र सकट मिष्टान अन्न बहु, नंद महर घरही के ।
सूर चले सब ले घर-घर तें, संग सुवन नंदजी के ।।[1]

व्रजवासी इन्द्र-पूजा के बाद आनन्द के साथ जाते हैं । घर-घर मंगलाचार होता है । नन्द के घर पर भी इन्द्र-पूजा होती है । इसके लिए षट्रस भोजन बनाया जाता है ।[2] नन्द जब पूजा करते हैं, तब वहां कृष्ण पहुंच जाते हैं और नन्द से पूछते हैं कि आप किस देव की पूजा करते हैं ?[3] इससे स्पष्ट है कि इन्द्र-पूजा गोवर्धन-पूजा के पहले होती थी ।

गोवर्धन-पूजा

गोवर्धन-पूजा का उल्लेख कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है । यह पूजा इन्द्र-पूजाके बाद ही संपन्न होती थी । कृष्ण अपने स्वप्न की बात लोगों को सुनाकर उनका ध्यान गोवर्धन-पूजाकी ओर आकृष्ट कराते हैं । `सूरसागर` में इसका वर्णन यों मिलता है —

एक पुरुष मोहि आइ, आजु सुपनौं निसि दीन्हौं ।।
सब देवनि कौ देवता, गिरि गोवर्धनराज ।
ताहि भोग किन दीजियै, सुरपति कौ कह काज ?
बाढ़ै गोसुत-गाइ, दूध-दधि कौ कह लेखौ ।
यह परची विदिमान, नैन अपनै किन देखौ ।।
तुम देखत बलि खाइगौ, मुंह मांगे फल देइ ।
गोप कुसल जौ चाहियै, गिरि गोवर्धन सेइ ।।[4]

व्रज के सभी घर गोवर्धन-पूजा के लिए विविध प्रकार के भोजन बनाते हैं । सब के द्वार सजाये जाते हैं और बधाइयां होती हैं । इतने में `देव बलि` शकटों

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८२६, पृ० ५४७.
२. वही, पद ८४१, पृ० ५५१-५५२.
३. वही, पद ८६६, पृ० ५७०.
४. वही, पद ८४१, पृ० ५५२.

में सजाकर सब लोग गोवर्धन के पास जाते हैं ।[१] परमानन्ददास ने भी इसका उल्लेख किया है ।[२] गोवर्धन-पूजा के लिए जो स्थान निश्चित किया जाता है वहाँ पहुँच कर विप्रों को बुलाया जाता है और गोवर्धन-पूजा प्रारंभ की जाती है । वे सामवेद का आलाप करने लगते हैं और सुरपति की पूजा मेटकर गिरिराज पर तिलक लगाते हैं । इसके बाद गिरिराज को दूध से नहलाते हैं और वहाँ इकट्ठे हुए सब लोग देवराज कहकर उसके सामने सिर नवाते हैं ।[३]

गोवर्धन की पूजा से यही विश्वास किया जाता था कि गोधन का सुख प्राप्त होता है ।[४] इसकी उपासना के समय ब्रजवासी आनन्द प्रमोद में नाचने लगते हैं । इस पूजा के उपरांत इन्द्र अप्रसन्न हो जाता है । गोवर्धन की दूसरी लीला से पता चलता है कि उसमें लोक-जीवन का हर्ष व्याप्त है । उस समय लोगों में एक घर में जाता है, एक आता है, एक पुकार जाता है, एक दौड़ता है, एक गिरता है, दूसरा उसे उठाता है । एक कहता है दौड़कर आओ, एक बैल गाड़ी को गिराये देता है । कोई गाता है, कोई नाचता है और सब आपस में खेलते रहते हैं ।[५] इस प्रकार गोवर्धन की पूजा ब्रज में धूम-धाम से मनायी जाती थी ।

---

१. ब्रज घर-घर सब गोधन साजत । सब कैं द्वार बधाई बाजत ।।
+ + + + +
सूरदास प्रभु महिमा-सागर । गोकुल प्रगटे हैं हरि नागर ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६०१, पृ० ५७२.

२. परमानन्दसागर, पद २७२, पृ० ८६.

३. तुरत तहां सब विप्र बुलाए । जग्यारंभ तहां करवाए ।
सामवेद द्विज गान करत तहं । देखत सुर विमके अंबर महं ।।
सुरपति-पूजा तबहिं मिटाई । गिरि गोवर्धन तिलक चढ़ाई ।।
कान्ह कह्यौ गिरि दूध अन्हावहु । बड़े देवता इनहिं मनावहु ।।
गोवर्धन दूधहिं अन्हवाए । देवराज कहि माथ नवाए ।।
- वही, पद ६०६, पृ० ५७३.

४. गोवर्धन की पूजन कीजे गोधन के सुख दानी ।।
- परमानन्दसागर, पद २७३, पृ० ६२.

५. इक आवत घर तैं चले धाई । एक जात फिरि घर-समुहाई ।।
+ + + +
कोउ गावत, कोउ निर्तत आवें । स्याम सखनि संग खेलत भावें ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६०२, पृ० ५७२.

भूत-प्रेत की पूजा

मध्य युग में भूत-प्रेत की पूजा का उल्लेख तुलसीने किया है। सूर ने इसको अंधविश्वास की कोटि में रखा है। तुलसी ने इस पूजा को अधम कोटि में रखा है। यह पूजा अत्यंत भयानक थी और नाना प्रकार के अनाचारों का आकर थी। ऐसी उपासना किसी भी समय में शुभफलदायिनी नहीं होती। भूत-प्रेत के उपासकों के सम्बन्ध में तुलसी के विचार विचारणीय हैं — ऐसे पूजक या साधक लोककल्याण के घातक होते हैं, उनकी उपासना में मारण, मोहन, उच्चाटन, प्रभृति नृशंस कर्मों के अतिरिक्त रहता ही क्या है? प्रेतों के उपासक का आचरण भी प्रेतवत् हो जाता है। इन्हीं कारणों से गोस्वामीजी ने तामसी प्रेतोपासना से धर्म को पंकिल नहीं होने दिया। ऐसी उपासना घोर पाप या अधर्म की श्रेणी में परिगणनीय है।[1] तुलसीदास ने शास्त्रों के प्रमाण देकर भूत-प्रेतों की पूजा को निन्दनीय और हेय सिद्ध किया है। इसके बारे में गीता में कहा गया है —

> यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
> भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनो पिमाम्॥[2]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसे उपासकों की बड़ी भर्त्सना की है।[3] उन्होंने भूत-प्रेतों की उपासना से लोगों को बचाने के लिए भरसक कोशिश की है।[4]

शालिग्राम की पूजा

शालिग्राम की पूजा की चर्चा निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के कवियों ने की है। शालिग्राम की मूर्तियों को पूजने वाले की हंसी उड़ाकर कबीर कहते हैं कि संसार में जितने मनुष्य शालिग्राम की पूजा करते हैं उतनी ही मूर्तियां भी

---

१. तुलसी और उनका युग राजपति दीक्षित, पृ० ७८.
२. भगवद्गीता - अध्याय ६, श्लोक २५, पृ० ३००.
३. दोहावली, दोहा ६५, पृ० ३२; मानस, अयो०, दोहा १६७, पृ० २३४.
४. वही, दोहा ६८, पृ० ३३.

है ।[१] इस पूजा से मन का दु:ख दूर नहीं हो जाता । दिन प्रति दिन मन की अशांति बढ़ती रहती है, क्योंकि मनोकामना शालिग्राम की पूजा से पूर्ण नहीं होती थी ।[२] बहुदेवोपासना करने वाले वास्तव में मूर्तिपूजा करके माया के अधीन रहते हैं ।[३] बहुदेवोपासकों की खिल्ली उड़ाते हुए कबीर कहते हैं कि शालिग्राम की पूजा को छोड़ कर उसके स्थान पर शिव की उपासना करने से क्या फायदा है ? ब्रह्म तो सब कहीं और सर्वत्र दिखायी पड़ता है । वहाँ सायर की पूजा होती है उसे तोड़कर जल में फेंकना है और पत्थर को कुए में डालना है ।[४] यदि निर्गुण संतों ने बहुदेवोपासना याने शालिग्राम की पूजा का विरोध किया तो सगुण भक्त कवियों ने इसका अनुमोदन किया । सूरदास ने `सूरसागर` में शालिग्राम की पूजा का उल्लेख किया है । इस पूजा के पूर्व नन्द यमुना-स्नान करते हैं, फारी में यमुना-जल भरते हैं, कंज में सुमन लेते हैं । इन सबको लेकर घर जाते हैं । इसके उपरांत अपना पैर धोकर मंदिर में प्रवेश करते हैं । मंदिर में जाकर प्रभु-पूजा के पहले नन्द मूर्ति के प्रतिष्ठित स्थल को लीपते हैं, पात्र मांजते-धोते हैं और विधिवत् पूजा करते हैं ।[५] इसके पश्चात् घंटा बजा कर नन्द मूर्तियों को नहलाते हैं । चंदन लगाते हैं, यह अंतर लेकर

---

१. सेती देख्याँ आत्मा, तेता सालिगराम ।
   साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं कांम ।।
   - कबीर ग्रंथावली, सा० ५, पृ० २२२.

२. सेवैं सालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाइ ।
   सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ।।
   - वही, सा० ६, पृ० २२२.

३. वही, साखी ७, पृ० २२२.

४. सालिगराम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्म का काटौं ।
   सायर फोडि नीर मुकलाऊं, कुंवा सिला दे पाटौं ।।
   - वही, पद १९६, पृ० ४५४.

५. करि अस्नान नंद घर आए ।
   लै जल जमुना को फारी भरि, कंज सुमन बहु ल्याए ।
   पांइ धोइ मंदिर पग धारे, प्रभु-पूजा चित दीन्ह ।
   अस्थल लीपि, पात्र सब धोए, काज देव के कीन्ह ।
   बैठे नंद करत हरि-पूजा, विधिवत् औ बहु भांति ।
   सूर स्याम खेलत तैं आए, देखत पूजा न्याति ।।
   - सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३६०, पृ० ३५८.

भोग लगाते हैं, आरती करते हैं, इतने में कृष्ण वहाँ यह कहकर आते हैं कि ऐसा कुछ नहीं खाता है ।[१] शालिग्राम की यह पूजा-पद्धति ब्रज में सर्वप्रचलित थी ।

नदियों की पूजा

मध्ययुग के सगुण भक्त कवियों ने नदियों की पूजा को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । सूरदास ने `साहित्यलहरी` में यमुना-पूजन की ओर संकेत करते हुए कहा है कि –

हरि ग्रहबा पति पतिनि सहेली ।
हम भुषन कीनी ना तातें अहै काल अकेली ।।
तिरस्कार भासा में जाते, लागत है मय भारी ।
कासों कहों, सुने को सजनी, परी बिपति महा री ।।
पग रिपु ता महं परत गबल के, को तन तें सुरझावै ।
उक्त गूढ़ तें भाव उदै सब, `सूरज` स्याम सुनावै ।।[२]

सूरदास ने `सूरसागर` में नदियों की महानता बतायी है । गंगा-स्नान का महात्म्य बताते हुए कवि कहता है कि जो गंगा में स्नान करता है वह पवित्र हो जाता है और हरिपुर को जाता है ।[३] गंगा, यमुना, सरस्वती, सिंधु, गोदावरी आदि नदियों की महिमा भी विशेष उल्लेखनीय है । सूरदास के मत में ये सब नदियां हरि-कथा होने वाले स्थान पर आ जाती हैं ।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति समन्वयात्मक भक्ति है । इसलिए वे भक्ति की गंगा, ज्ञान की सरस्वती, एवं कर्म की यमुना के संगम से निर्मित समन्वयात्मक रूपी तीर्थराज के उपासक थे ।[५] उन्होंने यमुना स्तुति `विनयपत्रिका` में की है ।[६]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६१, पृ० ३४८.
२. साहित्यलहरी, पद ८५, पृ० १६३.
३. गंगा प्रवाह माहिं जो न्हाइ । सो पवित्र ह्वै हरिपुर जाइ ।
   - सूरसागर, नवम स्कंध, पद ६, पृ० १८१.
४. वही, प्रथम स्कन्ध, पद २४, पृ० ७३.
५. रामभगति सुरसरितहि जाई । मिलि सुकीरति सरजु सुहाई ।।
   सानुज राम समर जसु पावन मिलेउ महानदु सोन सोहावन ।।
   - मानस, बालकांड, चौ० १, पृ० १०४.
६. विनयपत्रिका, पद २१, पृ० ६७-८

अन्य पूजा

उपर्युक्त पूजाओं के अतिरिक्त मध्ययुगीन समाज में अन्य अनेक प्रकार की पूजाएं भी प्रचलित थीं, जिनमें गणेश्वर की पूजा[1], नागों की पूजा[2] आदि मुख्य हैं।

भक्तिकाल में प्रचलित मुख्य व्रतानुष्ठान

मध्य युग में अनेक प्रकार के व्रतों का क्रम चलता था। उस समय कई देवताओं के नाम पर अनेक प्रकार के विशेष व्रत और उपवास किये जाते थे। इन व्रतों का अनुष्ठान प्रत्येक दिन होता था। ये व्रत वर्ष में, मास में और सप्ताह में होने वाले व्रत थे।

भक्त कवियों में कबीर, जो धार्मिक अनुष्ठानों के विरोधी थे, उन्होंने व्रतानुष्ठान करने वालों की हंसी उड़ाकर कहा कि हिन्दू लोग तो व्रत करते-करते मर गये। वे भक्त भांग, मछली आदि खाते हैं और व्रतानुष्ठान करते हैं। उनका विश्वास है कि इससे वे वैकुण्ठ जायेंगे; पर ये कपट भक्त वास्तव में वैकुण्ठ नहीं जाते।[3] बिना सत्कर्म करें दिखावटी जप, तप, व्रत आदि से कोई भी सच्चा भक्त नहीं बनता।[4] कबीर तो ब्राह्मणों के चौबीस उपवास और

---

१. जानकी मंगल, बरवै १००, पृ० ३०.

२. मानस, अयोध्याकांड, चौ० ३, पृ० १५.

३. चलन चलन सब को कहत है, नां जांणौं बैकुंठ कहां है ।।टेक ।।
जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, बातनि ही बैकुंठ बषानैं ।
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ।।
कहें सुनें कैसें पतिआइये, जब लग तहां आप नहीं जाइये ।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद २४, पृ० ३६५.

४. करैं न ध्यान करैं नहिं जप तप राम रहीम न गावैं ।
तीरथ बरत सकल परित्यागैं सुन्न डोर नहिं लावैं ।।
यह धोखा जब समुझि परैं तब पूजै काहि पुजावै ।
जोग जुगत में भरम न छूटै जब लग आप न सूझै ।।
कह कबीर सोइ सतगुरु पूरा जो कोई समुझै बूझै ।
- कबीर वचनावली, पद ७८, पृ० २०४.

काज्यों के पूरे महीने रोजे को मुक्ति का साधन नहीं मानते ।[१] उन्होंने तीर्थ, व्रत और उपासना को व्यर्थ ही कहा है । हिन्दुओं से इनका कहना है कि इनके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति असंभव है ।[२] तत्कालीन धार्मिक अनुष्ठान के बारे में कबीर का कथन है --

> बाजी जोग जज्ञ व्रत पूजा । बाजी देवी केवल दूजा ।।
> बाजी तीरथ व्रत आचारा । बाजी जोग जज्ञ व्यवहारा ।।
> बाजी जल थल सकल किमाई । बाजी सों बाजी लिपटाई ।।
> बाजी का यह सकल पसारा । बाजी माहिं रहे संसारा ।।
> यह कबीर सब बाजी माहीं । बाजीगर को चीन्हे नाहीं ।।[३]

मध्ययुग में एकादशी व्रत का अनुष्ठान भी धार्मिक नियमानुसार किया जाता था । कबीर ने ब्राह्मण के चौबीस एकादशी व्रत के बारे में अपना मत प्रकट किया है और काजी एक महीने तक रोजा रखता है, इसकी व्यर्थता दिखायी है ।[४] कबीर कहते हैं कि नवमी, दशमी और एकादशी, द्वादशी के व्रत महात्म्य हैं; इन सबको भलि भांति करने से समस्त पापों का प्रक्षालन हो जायेगा ? ये सब अज्ञानी लोग ही करते हैं । राम-नाम स्मरण से सब पापों का प्रक्षालन होता है ।[५]

---

१. क्या तू जु जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नायें ।
   रोजा करें निमाज गुजारें, क्या हज कांबे जायें ।।
   ब्राह्मण ग्यारसि करें चौबीसौं, काजी महरम जांन ।
   ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समान ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद २५८, पृ० ५६०.

२. पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल ।
   जब लग पिउ परसै नहीं तब लग संसय मेल ।।
   तीरथ चाले दुइ जना चित चंचल मन चोर ।
   एको पाप न उतरिया मन दस लाए और ।। - कबीर वचनावली, दो० ४७१-२
   पृ० १३३.

३. वही, पद ५८, पृ० १६६.

४. वही, पद १८३, पृ० २३८.

५. नौमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां ।
   द्वादसी दान पुनि की बेलां, सर्व पाप छ्यौ करणां ।।
   भौ बूडत कछू उपाइ करीजै, ज्यूं तिरि लंघै तीरा ।
   रांम नांम लिखि भेरा बांधो, कहै उपदेस कबीरा ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद २५०, पृ० ५८५.

कृष्ण-भक्त कवियों ने राधा एवं अन्य गोपियों के द्वारा व्रत आदि धार्मिक अनुष्ठान करने का चित्रण किया है। नन्द का एकादशी व्रतानुष्ठान उल्लेखनीय है। अच्छा फल मिलने के लिए धार्मिक विधि के अनुसार लोग निराहार रहते हैं। दिन भर ईश्वर-ध्यान में समय बिताते हैं। रात में सोते नहीं, दूसरे दिन पारणा लेते हैं।[१] इस दिन यशोदा विप्रों को दान दिलवाती है, बाजे बजवाती है, गाने होते हैं, सभी को मिठाई देती हैं।[२] सूरदास ने द्वितीया व्रत का भी विस्तृत वर्णन किया है। वे अंबरीष की कथा को लेकर एकादशी के निराहार व्रत के महत्व को बताते हैं।[३] इसके अलावा सूर ने चंद्रायन व्रत की ओर भी संकेत किया है।[४]

सगुण भक्त कवियों में केवल तुलसी ने ही मृतक पिण्ड और श्राद्ध की आवश्यकता बतायी है। उन्होंने मानस में महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद

---

१. उत्तम सफल एकादसि आई। विधिवत व्रत कीन्हौ नंदराई।।
निराहार जलपान विवर्जित। पापनि रहित धर्म-फल-अर्जित।।
नारायन-हित ध्यान लगायौ। और नहीं कछु मन बिरमायौ।।
बासर ध्यान करत सब बीत्यौ। निसि जागरन करन मन चीत्यौ।।
\+ \+ \+ \+ \+
तृतीय पहर जब रैन गवाई। नंद महरि सौं कही बुलाई।।
घड़ एक द्वादसी सकारैं। पारन की विधि करौ सवारैं।।
\+ \+ \+ \+ \+
अंचवत लै पैठे नंद पानी। जल बाकत दूतनि तब जानी।।
नंद बाँधि लै गए पताळहिं। वरुन प्यास त्याए ततकाळहिं।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ९८४, पृ० ५९६.

२. वही, वही, पद ९८५, पृ० ६०१.

३. हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि चरनारबिंद उर धरौ।
\+ \+ \+ \+ \+
जो यह लीला सुनै-सुनावै। सो हरि-भक्ति पाइ सुख पावै।।
- वही, नवम् स्कंध, पद ५, पृ० १८६.

४. सहस बार जौ बेनी परसौ, चंद्रायन कीजै सौ बार।
- वही, द्वितीय स्कंध, पद ३, पृ० ११५.

उनके नाम पर किये गये मृतक-क्रिया का वर्णन किया है ।[1] राम पिता की मृत्यु की बात सुनकर व्रत का अनुष्ठान करते हैं ।[2] कबीर ने इस प्रकार के अनुष्ठान का विरोध किया है ।[3]

हिन्दू-मुसलमानों में प्रचलित बाह्याडम्बरों का खण्डन

मध्य युग के धार्मिक क्षेत्र में बाह्याडंबरों का बोलबाला था । हिन्दू और मुसलमान दोनों ने अपने धर्म को ही श्रेष्ठ माना । धर्माचरण तो केवल बाह्याचरण था । वास्तव में उनमें ईश्वर का भय नहीं था । केवल बाहरी दिखावट के लिए ही वे धार्मिक अनुष्ठान करते थे । मध्य युग के कवियों ने, विशेषकर संत कवियों ने, हिन्दू और मुसलमानों के धर्माडम्बरों का विरोध किया। इन बाह्य व्यवहारों का खण्डन महात्मा कबीर ने ही अधिक मात्रा में किया । भक्त कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के बाह्य रूपों को दूर करने की भरसक कोशिश की । हिन्दू लोग उतना संकीर्ण और कट्टर विचारों को रखने वाले नहीं थे, जितना मुसलमान लोग थे ।

हिन्दुओं के अनाचारों का खण्डन

निर्गुण-भक्त कवियों ने हिन्दुओं के धार्मिक दुराचारों का खण्डन किया है । कबीर और दादूदयाल ने अनाचारों का खंडन अधिक किया । समाज में मिथ्याडम्बर फैल गया था । संत कवियों ने बहुदेववाद और मूर्तिवाद का दृढ़ता के साथ खण्डन किया है ।[4] हिन्दुओं में जप, तप, तीरथ, व्रत, सन्ध्या, माला फेरना, तिलक लगाना आदि बातों की ओर भी कबीर ने अपनी निगाह डाली । झूठे

---

१. मानस, अयोध्याकांड, चौ० १, दोहा १७०, पृ० ३३७-८.

२. वही, वही, चौ० १-२, पृ० ३५८-९.

३. प्राण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ ।
जीव छतां जामैं मरै, सूषिम लखै न कोइ ।।
- कबीर ग्रंथावली, सा० २, पृ० १८८.

४. पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार ।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार ।।
- वही, सा० १, पृ० २२१.

भक्त लोग माला को फेरते रहते हैं, लेकिन उनका मन चारों ओर घूमता फिरता है। इसी की हँसी उड़ाते हुए कबीर ने व्यक्त किया है कि काठ की माला को अनेकों बार फेरने से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होगी। सब से पहले अपने मन को फेरना चाहिए।[१] समाज में मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, जप-माला, छापा, तिलक आदि की अधिकता हो गयी। पंडितों ने तो अनेक धार्मिक संस्थाओं का निर्माण करके उनमें मूर्तियों को छिपाकर रखा था और वे स्वयं उनके ठेकेदार बन गये थे। छापा, तिलक, त्रिपुण्ड, कण्ठमाला, दण्डा, मुद्रा, धूनी सभी बाह्य भेषों का उन्होंने विरोध किया।[२] नंगे रहकर या अल्प वस्त्र पहनकर, भस्म लेप करके, छापा, तिलक धारण कर, कण्ठमाला पहिन कर, माला फेर कर, कन्दमूल खाकर, उपवास पर गुफाओं में रहकर, मृगचर्म को अपना साथी समझ कर, पशु मात्र समझ कर साधु लोग मोक्ष प्राप्ति की इच्छा व्यर्थ ही रखते हैं। अगर नंगे रहने से ही योग सिद्धि प्राप्त होती तो सबसे पहले यह सिद्धि बन में रहने वाले मृग को ही प्राप्त होती।[३] कबीर एक दूसरा

---

१. कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोहि।।
कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहर्यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देष।।
— कबीर ग्रंथावली, सा० ५-६, पृ० ३२६.

२. कहा भयौ तिलक गरै जपमाला, मरम न जानैं मिलन गोपाल।।टेक।।
दिन प्रति पसू करै हरिहाई, गरै काठ वाकी बांनि न जाई।
स्वांग सेत करणीं मनि काली, कहा भयौ गलि माला घाली।।
बिन ही प्रेम कहा भयौ रोयैं, भीतरि मैल बाहरि कहा धोयैं।
गल गल स्वाद भगति नहीं धीर, चीकन चंदवा कहै कबीर।।
— वही, पद १३६, पृ० ४१६.

३. नगन फिरत जौ पाइबे जोगु।
बन का मिरग मुकति सबु होगु।।
किआ नागे किआ बांधे चाम।
जब नही चीनसि आतम राम।।
— संत कबीर — डा० रामकुमार वर्मा, पद ४, पृ० ६.

उदाहरण देकर कहते हैं कि यदि नंगे रहने से सभी को मोक्ष मिलती है तो भेड़ अवश्य इस जगत् में मुक्ति की पात्र है ।[१]

कबीर ने बनारस के कपट-ढोंगियों का व्यंग्यात्मक वर्णन किया है । ये साढ़े तीन गज का वस्त्र धारण करते हैं । पैर में तिहरे धागे लपेटे, गले में जपमाला डाले, और हाथ में लोटे लेकर चलते हैं । वे हरि के सच्चे संत कहने योग्य नहीं हैं । वे तो वास्तव में ढोंगी हैं । बर्तन मांजकर फिर खाना खाते हैं, लकड़ी धोकर जलाते हैं, पृथ्वी खोदकर चूल्हे बनाते हैं, फिर खाना बनाते हैं । इसके बाद सभी एकत्र होकर खाने बैठते हैं । वे हमेशा घूमते-फिरते हैं और दूसरों को अछूत कहते हैं । अस्पृश्यों को देखने के बाद फिर भी स्नान करते हैं । वे इधर-उधर मारे-मारे फिर कर अपने को और अपने कुटुम्ब को दुःख-सागर में डुबाते हैं ।[२] अपने को ऊंचे वर्ग के समझने वाले ब्राह्मण की हंसी उड़ाकर कबीर कहते हैं - तू क्यों नीच घर से भोजन नहीं करता ? वास्तव में तू निकृष्ट काम करके अपना पेट भरता है । चौदस और अमावस का ढोंग रच कर लोगों से दान मांगता है । तू तो ब्राह्मण है, और मैं काशी का जुलाहा हूं । मेरी और तेरी बराबरी नहीं हो सकती । मैं और मेरे संगी ने राम नाम पाकर अपने को उद्धार कर दिया, लेकिन तेरे साथी वेद पढ़कर मर गये ।[३]

---

१. कबीर वचनावली, पद १६१, पृ० २४०.

२. गज साढ़े तै तै धोतीआ तिहारे पाइनि तग ।
   गली कीन्हा जपमालीआ लोटे हथि निबग ।।
   ओइ हरि के संत न आखीअहि बानारसि के ठग ।
   ऐसे संत न मो कउ भावहि ।
   डाला सिउ पेडा गटकावहि ।। (१)
   बासन मांजि चरावहि ऊपरि काठी धोइ जलावहि ।
   बसुधा खोदि करहि दुइ चूल्हे सारे माणस खावहि ।। (२)
   ओइ पापी सदा फिरहि अपराधी मुखहु अपरस कहावहि ।
   सदा सदा फिरहि अभिमानी सगल कुटुंब डुबावहि ।। (३)
   जितु को लाइआ तित ही लागा तैसे करम कमावै ।
   कहु कबीर जिसु सतिगुरु भेटै पुनरपि जनमि न आवै ।। (४)
   - संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद २, पृ० ६१.

३. संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद ५, पृ० ७२.

कबीर-साहित्य में वांचक ब्राह्मणों की निंदा की बहुलता दिखाई देती है । यह सोचना ठीक नहीं कि जुलाहा होने के कारण ही कबीर ने ब्राह्मणों के प्रति यह प्रतिक्रिया दिखायी है । सचमुच वे ब्राह्मणों का पतन देखकर दु:खी हुए थे । साधुओं और तपस्वियों की अज्ञानता को दूर करने का उपदेश देकर कबीर ने असली बात का पाठ उन्हें पढ़ाया । कबीर ने वैष्णवों के छापा, तिलक के बारे में कटु उक्ति की है ।[१] उन्होंने वैष्णवों का उतना विरोध नहीं किया, जितना कि शाक्तों का । वैष्णवों का मन शुद्ध है, पाप से दूर रहता है । राम का नाम स्मरण करता है ।[२] जोगियों के भस्म लगाने और जटा धारण करने की भी उन्होंने आलोचना की है । वास्तव में प्रभु-भक्ति के बिना यह सब बाहरी दिखावा है, यही कबीर का मत था ।[३]

कबीर के समय में सीधा-सादा जीवन बिताने वाले लोगों को आदर नहीं मिलता था । हिन्दू समाज में साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ गयी थी । लोग मुक्ति पाने के लिए पवित्र स्थानों की यात्रा करने लगे । इस सम्बन्ध में कबीर ने समझाया कि तीर्थाटन से मुख्य मन:शुद्धि प्राप्त करना है । भले तीर्थ में नहाने से क्या लाभ है । अगर स्नान करने से मुक्ति मिल जाती तो अधिकांश समय जल में ही वास करने वाले मेंढक को पहले ही मुक्ति मिल जाती ।[४] मुक्ति पाने के लिए काशी, द्वारिका आदि तीर्थ-स्थलों पर यात्रा करने से कोई फायदा नहीं । हमारा मन ही काशी और द्वारिका है ।[५] अगर मथुरा, जगन्नाथ तथा द्वारिका की यात्रा सत्संगति और हरि भक्ति के बिना की जाती है तो उससे कुछ भी नहीं मिलता ।[६] काशी में अपना वास करना

---

१. बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बबेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ।।
- कबीर ग्रंथावली, साखी १६, पृ० २२८.

२. चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबराउं ।
बैश्नों की छपरी भली, नां साषत का बड गाउं ।। - वही, सा०१, पृ० २४६.

३. वही, पद ३००, पृ० ५१५.

४. जल के मजनि जे गति होवै नित नित मेंडुक नावहि ।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवहि ।।
- संत कबीर,: डा० रामकुमार वर्मा, पद ३७, पृ० १२७.

५. मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ।। - क०ग्रं०, सा०१०, पृ० २२३.

६. वही, सा० ३, पृ० २३८.

और वहाँ के निर्मल जल को पीना हरि-भक्ति के बिना व्यर्थ है ।[१] कपट रूपी गांठ को नहीं छोड़ता तो काशी जाने से क्या पुण्य मिलेगा ?[२] मुंडन की प्रथा की भी कबीर ने निंदा की है —

मन न रंगाए रंगाए जोगी कपरा ।
आसन मारि मंदिर में बैठे नाम छाड़ि पूजन लगे पथरा ।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा
जंगल जाय जोगी धुनियां रमौले काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा
मथवा मुंडाय जोगी कपड़ा रंगौले गीता बांच के होइ गैले लबरा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जम दरवजवा बांधल जैबे पकरा ।।[३]

हिन्दू लोग वेद को ही सब कुछ मानते हैं । कबीर का कथन है कि ईश्वर केवल धार्मिक ग्रंथों में ही सीमित नहीं है, उन्हें पढ़ने से कोई फायदा नहीं । जिस समय काल ने लोगों को खाना शुरू किया तो वे चतुर लोग निराश होकर गुरु के पास चले हैं । बिना रघुपति के भजन से कोई भी बात सफल नहीं होती ।[४] आगे हिन्दू लोग विश्वास करते हैं कि पवित्र स्थानों पर जिस की मृत्यु होती है वह स्वर्ग में जाता है । काशी, द्वारिका आदि स्थानों पर मृत्यु होना मोक्षप्रद माना जाता है । हिन्दू वृद्धावस्था में काशी में आकर रहते हैं जिससे मृत्यु वहाँ हो जाय । कबीर ने ऐसे अंधविश्वासों की खुलकर आलोचना की है ।[५]

संत दादूदयाल का भी मत कबीर के मत से मिलता-जुलता था ।[६] उनकी

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी १६, पृ० २०४.
२. कासी गया और द्वारिका, तीरथ सकल भरमत फिरै ।
   गांठी न खोली कपट की, तीरथ गया तो क्या हुवा ।।
   — कबीर वचनावली, पद ११४, पृ० २४१.
३. वही, पद ११८, पृ० २४३.
४. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ३, पृ० ६३.
५. वही, पद १५, पृ० १७.
६. दादू केइ दौड़े द्वारिका, कोई कासी जांहि ।
   कोई मथुरा कौं चले, साहिब घटहीं मांहि ।।
   — संत सुधासार, पद २७.

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कोई कर्माडम्बर की बात मान्य नहीं थी । उनकी उक्ति यह है कि माला, तिलक से कोई लाभ नहीं । माला पहनने, जप, तप, व्रत आदि के अनुष्ठान करने से हरि के दर्शन नहीं होते । मन ही मन हरि की महिमा का जप करो ।[१]

सूफी प्रेममार्गी कवियों ने विविध बाह्याडम्बरों के विरोध में एक सरल प्रेम मार्ग का निर्देश किया । मूर्ति पूजा, पुरोहितवाद, मंदिरों की मान्यता आदि का प्रेमाख्यानक काव्यों में कोई स्थान नहीं था । सूफियों की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं था, क्योंकि ये परमात्मा के प्रेम को ही अपना सर्वस्व मानते थे । वेद और कुरान दोनों को वे गौण समझते थे ।

तत्कालीन ब्राह्मणों की सामान्य प्रवृत्तियों का मार्मिक एवं चुटीला वर्णन सूफी, इस्लाम और हिन्दू विचारधाराओं की पावन त्रिवेणी 'पद्मावत' में है । राघव चेतन के दिल्ली-गमन-खंड में ब्राह्मणों की दक्षिणा की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि उस समय ब्राह्मण लोग दक्षिणा के लिए स्वर्ग तक जाने को भी तैयार थे ।[२]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने बाहरी कर्माडम्बर करने वालों को उपासना के अयोग्य माना है ।[३] ऐसे लोगों को तुलसी ने यह चेतावनी दी है –

> बचन बेष तें जो बनइ सो बिगरइ परिनाम ।
> तुलसी मन तें जो बनइ बनी बनाई राम ।।[४]

---

१. सतगुरु माला मन दिया पवन सुरत सूं पोइ ।
   बिन हाथों निश दिन जपै परम जाप यूं होइ ।
   – दादूदयाल की बानी, पृ० १५७-१५८.

२. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६८१.

३. बेष बिसाद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन ।
   तुलसी राम न पाइए भएं बिषय जल मीन ।।
   – दोहावली, दोहा १५३, पृ० ५६.

४. वही, दोहा १५४, पृ० ५७.

निरयवृत्ति या उदर-भरण के लिए गृह को त्यागकर साधु बनकर जो मारा-मारा फिरता है वह धिक्कार और घृणा का पात्र है ।[१] इन कपटी साधुओं से तुलसी को विरोध था । उनसे वे कहते थे कि किसी न किसी दिन आप के ढोंग का भण्डा फोड़ होगा ।[२] धार्मिक उपासना और आडम्बर के अधीन रहने वाले को वास्तविक सुख मिल नहीं सकता ।[३] मन की शुद्धता और निर्मलता के बिना भगवद्भक्ति प्राप्त करना असंभव है ।[४]

मुसलमानों के दुराचारों का खण्डन :

संत कवियों ने जिस प्रकार हिन्दुओं के दुराचारों का खण्डन किया है, उसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों के बुरे विचारों की भी खुलकर खुल्ला हंसी उड़ायी है । संतों ने मुसलमान पुरोहितों के आडम्बरों का निषेध कर दिया । मुल्लाओं के मस्जिद जाने और वहाँ जाकर जोर से ईश्वर को पुकारने की वे हंसी उड़ाते हुए कहते हैं - भगवान् बहरा नहीं है । उन्हें प्रसन्न करने के लिए बांग की आवश्यकता नहीं ।[५] संत लोग मुल्ला और काजी से कहते हैं - हम ईश्वर के सेवक हैं । तुम्हें राजसी बातें भाती हैं । धर्म के नाम पर ईश्वर तुमसे अन्याय करने की बात नहीं कहता । तुम रोजा रखते हो, नमाज़ पढ़ते हो । नमाज का अर्थ है न्याय-विचार, कलमा का अर्थ है अक्ल को पहिचानना । स्वयं ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को उसे देने से मुक्ति मिलेगी । तुमने स्वर्ग को छोड़कर नरक में मन को स्थान दिया है ।[६] कबीर उनसे पूछते हैं - तुम रोजा रखते हो, अल्लाह को मानते हो तो भी अपने लिए अच्छे-स्वादिष्ट भोजन के लिए जीवित प्राणियों की हत्या करते हो । ईश्वर तो एक ही है । वह सब कहीं है । कुरान में

---

१. दोहावली, दोहा ६३, पृ० ३१.
२. वही, दोहा ४१०, पृ० १४१.
३. बचन बिचार अचार तन मन करतब छल छूति ।
   तुलसी क्यों सुख पाइऐ अंतरजामिहि धूति ।। - वही, दोहा ४११, पृ० १४१
४. मानस, सुन्दरकांड, चौ० ३, पृ० ६४६.
५. कबीर ग्रंथावली, पद ६०, पृ० ३७३; कबीर वचनावली, पद १४३, पृ० २२४.
६. संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद १७, पृ० १०७.

वास्तविक बात बतायी है कि ईश्वर न पुरुष है, न स्त्री। ये पागल लोग तेरे बारे में चिंतन नहीं करते। अल्लाह तो परोक्ष रूप में सब कहीं और सर्वत्र है। हिन्दू और मुसलमान का भेद उसे नहीं है।[१] इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। मक्का जाना, हज जाना सब व्यर्थ है; ब्रह्म तो वास्तव में तुझ में वास करता है। तू मस्जिद के कहीं दरवाजों से उसे पुकारता है, नमाज़ पढ़ता है। तामसवृत्ति, भ्रामकता और मन की मलिनता को दूर कर दे, तब ईश्वर की प्राप्ति होगी।[२]

कबीरदासजी ने अपने अनेकों पदों में हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक साथ हंसी उड़ायी है। तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान कपटी भक्तों के बारे में उन्होंने अपनी राय प्रकट की है। बाहरी दिखावट से कोई आदमी भक्त नहीं बनता। संध्या, गायत्री-जप और षट्-कर्म करने से कोई फायदा नहीं। कोई वन यात्रा करता है, कोई कन्द-मूल खाता है, कोई रोजा-नमाज करता है, और कोई हज और काबा जाता है। कबीर कहते हैं, हृदय जब तक मलिन है तब तक कोई भी वास्तविक भक्त नहीं बनता।[३] हिन्दू लोग देव-पूजा करते-यहो

---

१. रोजा करै निवाजु गुजारै कलमै भिसति न होई ।
   सतरि काबे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई ।।
   ... (see below)

२. पढि ले काजी बंग निवाजा ।
   एक मसीति दसौं दरवाजा ।।टेक।।
   मन करि मका किबला करि देही, बोलनहार जगत गुर पेटी ।
   उहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां हीं राम इहां रहिमांमां ।।
   बिसमल तांमस भरंम कै दूरी, पंचूं भषि ज्यूं होइ सबूरी ।
   कहै कबीर मैं भया दिवांनां, मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद ५१, पृ० ३७३.

३. वही, पद २६५, पृ० ४६३.

मर गये, मुसलमान हज जाकर मर गये और जटा बांधकर योगी मर गये । कविगण कविता करते-करते, ढोंगी संन्यासी रंगे वस्त्र पहनते हुए और जैन साधु लुंचन संस्कार करते-करते मर गये । इन धार्मिक विधि-विधानों से किसी को मुक्ति नहीं मिली । राजा लोग धन संचय करते-करते और पंडित लोग धार्मिक ग्रंथों को पढ़ते-पढ़ते मर गये । इनसे कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति योगसाधना द्वारा उसे अपने शरीर में खोजने का प्रयत्न करता है, उसकी मुक्ति में कोई शंका नहीं ।[१] कबीर कहते हैं कि भगवान् हमारे हृदय में वास करता है । वह देवालय में या मस्जिद में नहीं, न कैलास में, न काबा में, न क्रिया कर्म में, न योग में ।[२] हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म के नाम पर झगड़ा करते हैं कि अल्लाह का निवास मस्जिद में है और परमात्मा का मंदिर में । यह कहकर दोनों धर्मों के बीच में खाई बना रहे हैं । हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक अंधविश्वासों के बारे में दादूदयाल की उक्ति देखिए —

दादू हिन्दू मारग कहै हमारा, तुरक कहै राह मेरी ।
कहां पंथ है कहो अलह का, तुम तो ऐसी हेरी ।
दादू न हम हिन्दू होहिंगे न हम मुसलमान ।
षट दरसन में हम नहीं हम राते रहिमान ।
दादू करणी हिन्दू तुरक की अपनी अपनी ठौर ।
दुहुं बीच मारग साध का, यहु संतों की राह और ।
न तहं हिन्दू देहुरा न तहं तुरक मसीति ।
दादू अपने आप है नहीं तहां नहां रीति ।[३]

इस प्रकार संतों ने हिन्दू और मुसलमानों के बाह्याचारों का खण्डन किया और निषेध किया । संतों के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ३१७, पृ० ५२६.
२. मोको कहां ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ।
ना तो कौन क्रिया कर्म में, नहीं योग बैराग में ।
खोजी होय तो तुरत मिलिहौं, पल भर की तालास में ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वांसों की स्वांस में ।।
— कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद १, पृ० २३०
३. संत सुधासार (दादू) : पृ० ४७६-४८०.

उपर्युक्त प्रकार के क्रिया-कलापों के करने की आवश्यकता नहीं । उन्होंने अपनी ज्ञान रूपी तलवार से जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, संप्रदायगत बहुत सी विशेषताओं का खण्डन कर अपना मत स्थापित किया ।[१]

धार्मिक व्यवस्थाएं

मध्ययुगीन धार्मिक क्षेत्र में अनेक व्यवस्थाएं चलती थीं । धर्म के पाखंड का ज़ोर था । अनीति, अत्याचार एवं अनाचार का बोलबाला था । इस प्रकार की अधार्मिकता के साथ ही साथ धार्मिक व्यवस्था की भरमार थी । वास्तव में धार्मिक व्यवस्था समाज के विकासोन्मुख और पतनोन्मुख वृत्ति के अनुसार बदलती रहती है । मध्य युग के काव्यों के निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण अध्ययन से यह बात निर्विवादपूर्ण सिद्ध हो जाती है कि उस समय धार्मिक क्षेत्र में अगणित धार्मिक व्यवस्थाएं प्रचलित थीं । उनमें प्रमुख हैं — वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, लोक विश्वास आदि ।

वर्ण व्यवस्था

हिन्दू धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार समाज चार वर्णों में विभाजित था — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र । यह वर्ण-व्यवस्था प्रारंभ में हिन्दू-विचारधारा के अनुसार कर्मों पर आधारित थी, न कि जाति-पांति पर आधारित । इसकी दो मान्यताएं हैं - पहली, वर्ण व्यवस्था से जाति व्यवस्था उत्पन्न हुई और दूसरी, वर्ण जाति का दूसरा नाम बना । मनु ने वर्ण के माध्यम से जाति को स्पष्ट किया है, लेकिन उन्होंने वर्ण और जाति को अलग-अलग रखा है । उनके अनुसार वर्ण केवल चार हैं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; जिनके वर्ण-सांकर्य से जातियां और उपजातियां हुई हैं । मनु ने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए प्रत्येक काम भी निर्धारित किया है । देखिए —

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहन्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।
प्रजानां रक्षणं दान मिज्या ध्ययनमेव च ।

---

१. कबीर मीमांसा कैलाशचन्द्र वार्ष्णेय, पृ० १२२.

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।।
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।।[१]

मध्य युग में वर्णाश्रम धर्म की खूब मान्यता थी । हिन्दू-समाज बहुत बिखर गया था । वैदिक काल में पहले ब्राह्मण और राजन्य दो ही वर्णों का उल्लेख मिलता है । कृषि और वाणिज्य की उन्नति के साथ वैश्य समाज संगठित हुआ और बाकी लोग हीन वर्गों का समाज बने । शूद्र उस समय तक आर्यों में सम्मिलित नहीं थे । बाद में उन्हें भी सम्मिलित कर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्थापित हुई । अनेक जातियों के सम्मिलित होने से जाति-व्यवस्था और कट्टर होती गयी और इन जातियों में परस्पर विवाह-संबंध और खान-पान वर्जित होता चला गया । मुगल-काल में विदेशियों और विधर्मियों से रक्षा करने के उद्देश्य से समाज में और अधिक कट्टरता बढ़ गयी ।[२] डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि १४ वीं शताब्दी में कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश जनता मुसलमान हो गयी थी । मुस्लिम शासन की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज संस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता पड़ी । इसके परिणामस्वरूप वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा, छुआछूत की जटिलता तथा पर्दे की प्रथा हुई ।[३]

मध्य युग के भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में यह व्यक्त किया है कि उनके समय ब्राह्मण व अन्य ऊंची जातियों का स्थान समाज में बुरी तरह से ऊंचा था । उनके ग्रंथों में इससे सम्बन्धित अनेक चित्रण मिलते हैं । समाज की इस धार्मिक व्यवस्था के प्रति ये कवि असंतुष्ट थे और उन्होंने तत्कालीन जनता में

---

१. मनुस्मृति, अध्याय १ श्लोक ८८,८९,९०,९१, पृ० ९८.
२. गोस्वामी तुलसीदासजी की समन्वय साधना — ब्योहार राजेन्द्र सिंह, पृ० २५२.
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३७५.

प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया एवं समाज में एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया ।

कबीरदास कहते हैं कि हिन्दू समाज,जो धार्मिक एवं पौराणिक सिद्धांत और स्मृति पर आधारित है, उसके धार्मिक ग्रंथ वास्तव में भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं । वर्ण-व्यवस्था के कट्टर अनुयायी हिन्दुओं को उन्होंने सुझाया कि इस जगत् में जन्म लेते समय उनकी जाति भिन्न नहीं थी । जन्म लेने के उपरांत सामाजिक नियम ही मनुष्य में जाति-भेद उत्पन्न करते हैं । सब का जन्म परम ज्योति स्वरूप एक ब्रह्म से ही है । फिर यह ब्राह्मण, शूद्र आदि का अन्तर कैसा ? हिन्दुओं में यह विश्वास है कि ब्रह्मा ने रजोगुण, शंकर में तमोगुण एवं विष्णु में सतगुण प्रधान है । यह विश्वास भ्रामक है । इसी से कबीर कहते हैं कि तुम एक ही परब्रह्म का भजन करो । हिन्दू और मुसलमान सब एक हैं, उनके आराध्य भी एक ही हैं ।[१] जनता में उत्पन्न इस जाति-भेद के कारण उनमें छुआछूत या अछूत और अस्पृश्यता नामक समाज को अलग करने वाली रीतियाँ उत्पन्न हुईं । कबीर के समय हिन्दुओं में यह अस्पृश्यता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी थी । कबीर का कहना है कि यदि जल, स्थल, जन्म, मरण सब में छूत है तो पवित्रता कहाँ रह जाती है ? कुछ लोगों की दृष्टि में वाणी और कर्म में भी छूत है । इतना ही नहीं उठने-बैठने तक में वे अस्पृश्यता मानते हैं । कबीर प्रश्न करते हैं कि यदि तुम भोजन और भोजन करने के स्थान को छुआछूत रखते हो तो बताओ ऐसा स्थान कहाँ है जहाँ जूठन नहीं है । झूठी बात पर विचार करने वाले वास्तव में कपटी हैं । कबीर ने इसका विरोध किया और कहा कि जो राम को हृदय में हमेशा विचारता है उसे छूत नहीं लगती ।[२]

---

१. एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बाँम्हन कौन सूदा ।।
माटी का प्यंड सहजि उतपनां, नाद ब्यंद समांनां ।
बिनसि गयां थैं का नाँव धरिहौ, पढ़ि गुनि ब्रह्म जांनां ।।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई ।
कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद ५७, पृ० १७०.

२. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ४१, पृ० ४४ तथा
कबीर ग्रंथावली, पद २५१, पृ० ४८५.

कबीर ने इस छुआछूत की कुप्रथा का घोर विरोध किया और इसपर कुठाराघात करते हुए प्रभावपूर्ण एवं तर्कपूर्ण उक्ति से इसका निराकरण किया ।

कबीरदासजी ने समाज में भ्रम उत्पन्न करने वाले पौराणिक सिद्धांतों के आधारभूत ग्रंथों के बारे में अपनी उक्ति उपस्थित की । चारों वेद और स्मृति पर आस्था रखने से समाज धोखे में पड़ जाता है ।[1] कबीर ने ब्राह्मणों को संबोधित करते हुए कहा कि यदि सृष्टिकर्ता वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं तो ब्राह्मण के जन्म पर उन्होंने ब्राह्मण के ललाट पर त्रिपुण्ड, तिलक आदि का चिह्न क्यों न बना दिये ? विधाता ने उनके जन्म का कोई दूसरा उपाय क्यों नहीं किया, जिससे निम्न जाति के लोगों को भिन्न समझा जा सके । इस दुनिया में ये सब विचार मिथ्या हैं । यहां ऊंच-नीच का भेद-भाव ठीक नहीं ।[2] आगे चलकर कबीर कहते हैं कि गर्भावस्था में किसी पर भी कुल का चिह्न क्यों नहीं है ? सब की उत्पत्ति एक ही ब्रह्म बिन्दु से है । अगर तुम ब्राह्मण हुए हो तो किसी दूसरे मार्ग से क्यों नहीं आये ? तुम किस तरह ब्राह्मण हो और हम किस तरह शूद्र ? अगर तुम्हारा रक्त पवित्र है तो हमारा क्यों घृणित हुआ ? आखिर वे समझाते हैं कि वही सच्चा ब्राह्मण है जो ब्रह्म का विचार करता है ।[3]

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ४७, पृ० ३६५.

२. जौ पैं करता बरण बिचारैं,
 तौ जनमत तीनि डांडि किन सारैं ।। टेक ।।
 उतपति ब्यंद कहां थैं आया, जो धरी अरु लागी माया ।
 नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ।।
 जे तूं बांमन बभनीं जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया ।
 - वही, पद ४१, पृ० ३६२.

३. गरम बास महि कुलु नही जाती ।
 ब्रह्म बिंदु ते सभु उतपाती ।।
 कहु रे पंडित बामन कब के होए ।
 बामन कहि कहि जनमु मत खोए ।।
 + + + +
 कहु कबीर जो ब्रह्मु बीचारै ।
 सो ब्राह्मणु कहीअतु है हमारै ।
 - संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद ७, पृ० ६.

कबीर ने ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद नहीं देखा । वे स्वयं जुलाहे थे । रैदास ने कहा है कि लोग उसे ओछा कहते हैं ।[१] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे नीच जाति के थे । दादूदयाल ने भी हिन्दू और मुसलमान के भेद-भाव को भ्रम की बात कहा है । भ्रम मिट जाने पर यह भेद नहीं रह जाता । दोनों के रूप, प्राण, शरीर, रक्त सब समान हैं, तो इनमें ऐसा भेद-भाव क्यों आता है ?[२] जिस कुल में भक्त का जन्म होता है वह बड़ा भाग्यशाली है । अवर्ण-सवर्ण या रंक-धनिक की कोई गणना नहीं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब समान हैं ।[३]

उस समय की जाति-पाँति की बुरी व्यवस्था के बारे में जायसी ने भी उल्लेख किया है । 'रत्नसेन सूली खंड' में सिंहलपुर पर जब रत्नसेन जोगी वेष में पहुंचता है तब वहां के सब लोग उससे कहते हैं कि तुम अपनी जाति और कुल बताओ। जायसी के इस कथन पर अपने समय की जाति-व्यवस्था ही व्यंजित होती है ।

महाकवि सूरदास ने समाज संगठन और वर्ण-व्यवस्था का विचार कहीं नहीं किया है । लेकिन उन्होंने एक-दो स्थानों पर ऊँच-नीच के भेद-भाव को इस जगत् से उखाड़ कर फेंकने का उल्लेख किया है ।[५] एक अन्य पद में गोपियां श्रीकृष्ण और कुब्जा की ओर व्यंग्य करती हुई कहती हैं -

---

१. जाती ओछा पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा ।
   राजा राम की सेव कीन्हीं, कहि रविदास चमारा ।।
   - संत काव्य, पृ० २२१.

२. अलह राम छूटा भ्रम मेरा ।
   हिन्दू तुरक भेद कछु नाहीं, देखो दरसन तोरा ।
   सोई प्राण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मासा ।
   सोई नैन नासिका सोई, सहजै कीन्ह तमासा ।   - वही, पृ० २८७.

३. कबीर वचनावली, पद ७३, पृ० २०२.

४. सब पूछहिं कहु जोगी जाति जनम और नावं ।
   जहां ठांव रोवैं कर हंसा सो कोने भावं ।।
   - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २८७.

५. सत्रु-मित्र हरि गनत न दोइ । जो सुमिरे ताकी गति होई ।
   \+ \+ \+ \+
   राव-रंक हरि गनत न दोउ । जो गावहि ताकी गति होउ ।
   - सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद ५, पृ० ११६.

कंस बध्यौ कुबिजा कैं काज ।
और नारि हरि कौं न मिली कहुं, कहा गंवाई लाज ।।
जैसैं काग हंस की संगति, लहसुन संग कपूर ।
जैसैं कंचन कांच बराबरि, गेरु काम सिंदूर ।।
भोजन साथ शूद्र बाम्हन के, तैसौ उनकौ साथ ।
सुनहु सूर हरि गाइ चरैया, अब भए कुबिजा नाथ ।।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी के समय वर्ण-धर्म का लोप हो रहा था ।[२] लोगों ने वर्ण, धर्म और आश्रम-धर्म को छोड़ दिया ।[३] अर्थात् चारों वर्ण और चारों आश्रम व्यवस्थाएं कलियुग के अधीन होकर नष्ट हो गयीं । इसलिए लोगों ने अपनी मर्यादा को गठरी की तरह फेंक दिया ।[४] समाज के उपदेष्टा के रूप में ब्राह्मण लोग काम करते थे, लेकिन कलियुग के कुठाराघात के कारण शूद्र लोग स्वयं जनेऊ धारण कर दूसरों को उपदेश देने लगे । भ्रष्टाचार से दूषित समाज का चित्रण देखिए -

विप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषलीस्वामी ।।
+ + + + +
सूद्र करहिं जप तप ब्रत दाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ।।[५]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसको पुन: व्यवस्था एवं पुनर्निर्माण करना चाहा फिर भी वे इसी दूषित परंपरा का ढिंढोरा पीटते हुए दिखाई देते हैं । उनका कथन है कि अगर समाज में वर्ण-व्यवस्था नहीं है तो यहां उच्छृंखलताओं का

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१५४, पृ० १२४१.
२. बरन धरम नहिं आश्रम चारी । श्रुति बिरोधरत सब नरनारी ।।
- मानस, उत्तरकांड, चौ० १, पृ० १६७.
३. बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यो । त्रासन चकित सो परावनो परो सो है ।
- कवितावली, उत्तरकांड, पृ० १८३.
४.(क) आश्रम बरन कलि-बिबस बिकल भये,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी । — वही, पृ० २०६.
(ख) विनयपत्रिका, पृ० ४६३.
५. मानस, उत्तरकांड, पृ० १६६-१७२.

बोलबाला होगा । इससे समाज की अवनति होगी । इसलिए समाज की उन्नति के लिए तुलसी ने वर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया । इसके लिए उन्होंने समाज के वर्णों में ब्राह्मण वर्ण को सबसे श्रेष्ठ माना । यही उनका आदर्श था । ब्राह्मणों का काम अध्ययन और अध्यापन है ।[१] रामचरितमानस के निष्पक्ष तथा शांतिपूर्ण अध्ययन से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि उसके रचयिता के हृदय में जातीय रागद्वेष कूट-कूट कर भरा हुआ था । उसकी नस-नस में ब्राह्मण जाति के लिए एक सीमा रहित अनुराग, पर शूद्र जाति के लिए एक वैसा ही द्वेष व्याप्त था, जो उनके जैसे महाकवि के लिए सर्वथा अनुचित था ।[२] तुलसीदासजी ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है, उनके माहात्म्य का बार-बार उल्लेख किया है । इतना लिखा है कि यदि कोई उन्हें पण्डे-पुजारियों का वकील कह बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं । भागवत धर्म की मानवतावादी धारा पर जाति-पांति का बोलबाला फिर बुलन्द करना और उसे फिर वेद सम्मत बताकर निम्नवर्णों के मुंह बन्द करना, भक्तिगत समानता द्वारा सामाजिक समानता की भूल-भुलैया में डालकर निम्न वर्णों के संपूर्ण अधिकार ब्राह्मण के हाथ में दे देना और स्वयं भगवान् से इसका समर्थन करा देना - यह तो हम मानस के कई स्थानों में देख सकते हैं ।[३]

गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार विप्र वह है जो सात्विक गुणों वाला देवतुल्य है । वह जातिगत ब्राह्मणत्व नहीं था । इसीलिए तुलसी की ब्राह्मण-स्तुति देखकर यह सोचना ठीक नहीं कि वे दूषित जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण की प्रशंसा कर रहे हैं । आदर्श मर्यादा की सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए, उदारता, त्याग, सहनशीलता, परदुःखकातरता, सद्भावना, बन्धुत्व आदि गुण स्थापित करने के लिए वर्ण-व्यवस्था को तुलसी ने आवश्यक समझा । इसके लिए उन्होंने समाज में ब्राह्मणों को महत्व दिया, तपोनिष्ठ ब्राह्मणों का आदर किया और उनके प्रति श्रद्धा-भाव रखा ।[४] गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे व्यक्ति को

---

१. मनुस्मृति, श्लोक ८८, पृ० ६८.
२. मानस मीमांसा : श्री रजनीकान्त शास्त्री, पृ० २९९-३००.
३. तुलसी का कथा-शिल्प : डा० रांगेय राघव, पृ० १२६.
४. तप बल विप्र सदा बरिआरा । तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा ।।
- मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० २८७.

समाज का सच्चा सेवक माना, जिसमें निस्पृह एवं निस्वार्थ सेवा करने की क्षमता हो। वर्ण-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने की ताकत उन्होंने रामचन्द्रजी में देखी, इससे उन्होंने रामचन्द्रजी को समाज के सम्मुख एक आदर्श नायक के रूप में चित्रित किया है। जिन आदर्श पुरुषों को भगवान् समझ कर हम वंदना करते हैं उन्होंने भी ब्राह्मणों को वंदना की है।[१] इस प्रकार तुलसीदासजी ने ब्राह्मण लोगों को ज्ञान-संपन्नता के कारण ही उन्हें वंदनीय कहा। ब्राह्मण जब तक समाज को सद्बुद्धि देकर उसे हित-अनहित का ध्यान नहीं दिला देता, मान-मर्यादा का ध्यान दिला देता, कर्तव्य का ज्ञान नहीं कराता तब तक समाज उच्छृंखलता के दूषित वातावरण से ऊपर नहीं उठ सकता, उसका मानसिक स्तर और धरातल बिना उच्च प्रेरणा के परिष्कृत नहीं हो सकता। इस परिष्कृति और सुचिता को लाने के लिए ही तुलसीदासजी ने समाज के सामने ब्राह्मण के पूज्य होने का आदर्श रखा है।[२]

यदि ब्राह्मण लोग आदर्शवान रहें और समाज-सुधार के लिए तत्पर हो जाएं तो समाज में किसी भी प्रकार की बुराई उत्पन्न नहीं होती, समाज की उन्नति ही होती है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब सम्मान के योग्य और समाज रूपी रथ के पहिये माने गये हैं। इसलिए तुलसीदासजी के वर्णाश्रम धर्म में यह कभी सह्य नहीं था कि शूद्रों के लिए सड़कें वर्जित कर दी जायें या सड़कों पर चलने के लिए उन्हें अपने साथ पुरवा लेकर चलना पड़े। उनका वर्णाश्रम धर्म इन अतिवादी कट्टरताओं से मुक्त था। उनके लिए राम के राजघाट पर शूद्र भी उसी प्रकार स्नान कर सकता है, जिस प्रकार विप्र।[३] गोस्वामीजी का राम निषाद का आलिंगन करता है, जो शूद्र जाति का है।[४] इतना ही नहीं कि उसे अपने भाई के समान मानते हैं।[५] इससे यह मालूम होता है कि यद्यपि तुलसी जहां ब्राह्मणों के

---

१. विप्र वृंद वंदे दोउ भाई। मन भावती असीसें पाई।।
- मानस, बालकांड, चौ० ३, पृ० ५१०.

२. तुलसी वस्तु और शिल्प — डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० ८.

३. तुलसीदास : चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ८४५.

४. तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।।
- मानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० २०६.

५. तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता।।
- वही, उत्तरकांड, चौ० २, पृ० ४५.

प्रशंसक हैं, वहां वे हरिजन के उत्थान के प्रबल प्रवर्तक भी हैं। एक बार रामचन्द्र जी शूद्र शबरी के जूठे बेरों को भाव से खाते हैं। इसी प्रकार काकभुशुंडि, जो शूद्र जाति के हैं, हर दिन मंदिर आकर भगवान् के दर्शन करते थे।[१] शूद्र भी मंत्र-दीक्षा ले सकते थे।[२] इसलिए तुलसी को दूषित जाति-व्यवस्था का समर्थक कहना नितांत अन्याय है।

गोस्वामीजी ने चित्रकूट वर्णन प्रसंग में उच्च-नीच, ब्राह्मण-शूद्र के व्यवहार का जो वर्णन किया है उससे उनका मनोगत स्पष्ट ही होता है।[३] इससे यह मालूम होता है कि तुलसी ब्राह्मण और शूद्र में जाति-पाँति या अस्पृश्यता नहीं मानते थे। एक दूसरे के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव एवं स्नेह विद्यमान था। आज भी तुलसीदास के इस आदर्श की भावना को, बड़ों के प्रति आदर और छोटों के प्रति स्नेह, स्वायत कर लोग आगे अग्रसर होंगे तो समाज स्वर्ग जैसा बन जाएगा।

गोस्वामीतुलसीदासजी ने देखा कि समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कर्म-पथ से विचलित होकर चलते हैं। समाज के उज्ज्वल आदर्श को दूरदृष्टा तुलसी ने जान लिया कि कर्तव्य से च्युत जनता समाज के लिए अभिशाप होगी। इसलिए उनके कर्तव्य-पथ को सुझाने के लिए तुलसी ने राम का उज्ज्वल चरित्र उनके सम्मुख रखा।

तुलसी की वर्ण-व्यवस्था में कर्म का आधार था। सबसे पहले ज्ञानी ब्राह्मण की प्रशंसा की और उनको प्रथम गणनीय स्थान दिया। दूसरा वर्ण क्षत्रियों का है, जिनका कर्तव्य प्रजा-पालन, शक्ति एवं पराक्रम का प्रदर्शन है। गोस्वामीजी ने राम-लक्ष्मणादि क्षत्रिय वीरों के पराक्रम का उल्लेख किया, जिन्होंने रावण

---

१. एक बार हर मंदिर, जपत रहेउं सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान तें, उठि नहि कीन्ह प्रनाम।।
- मानस, उत्तरकांड, दोहा १०६, पृ० ८८५.

२. तुलसी दर्शन डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० १०५.

३. प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू।।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जिमि महि लुठत सनेह समेटा।।
- मानस, अयोध्याकांड, चौ० ३, पृ० ३५२.

सहस्त्र आदिज्यी के दर्प को चूर्ण कर दिया ।[1] समाज के भरण-पोषण का भार वैश्यों पर निक्षिप्त है, जिनका प्रमुख कार्य पशु-पालन, दान, यज्ञ, व्यापार और कृषि है ।[2] किसी भी वर्ण को उन्होंने बुरी दृष्टि से नहीं देखा । एक स्थान पर शूद्र को तुलसी ने 'ताड़न के अधिकारी' कहा है ।[3] गोस्वामीजी ने शूद्र को ताड़न का अधिकारी इसीलिए माना कि मुगल काल में दूसरी अन्य तीन जातियाँ शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करती थीं । मुगल शासन के समय शूद्र और स्त्रियों की स्थिति कुछ वैसी ही थी । इस ओर संकेत करके तुलसी ने ऐसा कहा है । गोस्वामीजी ने शूद्र के प्रतीक के रूप में निषाद, केवट और नारी के प्रतीक के रूप में सीताजी का चित्रण किया है । उनके प्रति तुलसी की श्रद्धा उन पर किये जाने वाले दोषारोपण को असत्य सिद्ध करती है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने शूद्रों की निन्दा तभी की है जब वे अन्य वर्ण के लोगों के काम करने लगे । इसके लिए केवल शूद्र ही दोषी नहीं हैं, बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी दोषी हैं ।[4] कलिकाल में शूद्र लोग ब्राह्मणों के काम करने लगे - अर्थात् वेद-पाठ, जप, तप, व्रत-पालन आदि करने लगे । तब तुलसी की दृष्टि में शूद्र निन्दनीय हो गये ।[5] उस समय ब्राह्मण लोग अपने क्रिया-कलापों से च्युत होकर अन्य वर्णों की अपेक्षा गुणहीन होने पर भी केवल वर्ण के

---

१. संग्राम भूमि बिराज रघुपति अतुल बल कोसलधनी ।
 श्रम बिन्दु मुख राजीव लोचन रुचिर तन सोनितकनी ।।
 + + + +
 कादर भयंकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी ।
 दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अबर्त बहति भयावनी ।।
 - मानस, लंकाकांड, पृ० ३१२, ३४८.

२. खेती बनि विद्या बनिज सेवा सिलिपि सुकाज ।
 तुलसी सुरतरु सरिस सब सुफल राम के राज ।।
 - रामाज्ञा प्रश्न, पृ० ८०.

३. ढोल गंवार, शूद्र पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।।
 - मानस, सुन्दरकांड, चौ० ३, पृ० १७४.

४. सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ।।
 - वही, उत्तरकांड, चौ० ५, पृ० १७२.

५. शूद्र करहिं जप तप व्रत दाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ।।
 - वही, उत्तरकांड, चौ० ५, पृ० १७२.

कारण प्रभुत्व स्थापित करने लगे । इसी प्रकार दूसरे वर्ण के लोगों ने ब्रह्मज्ञानी बनकर ब्राह्मणों को तुच्छ समझ लिया और फटकारा ।[१] यदि हम तुलसी के इस रूप से साक्षात्कार कर लें तो उन्हें जगह-जगह 'विप्र' की प्रशंसा और आराधना करने के लिए तथा 'शूद्रों' को बुरा या अधम कहने के लिए संकीर्ण विचारवाला, जातीय रागद्वेषवाला, ब्राह्मणवाद का नेता या ब्राह्मणों का दलाल आदि कहने की धृष्टता नहीं करेंगे । इसी तरह तुलसीदासजी ने ब्राह्मणों को अत्याचारी कहने योग्य माना, जब वे अन्य वर्ण के लोगों के प्रति अत्याचार करते हैं । तुलसी ने अत्याचारी को 'दुर्जन' की संज्ञा देते हुए उन्हें त्याज्य कहा है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय की वर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया था जो कि लोकमंगल की भावना के पूर्णत: अनुरूप रही है । उन्होंने चारों वर्णों की अलग-अलग मर्यादा और अलग-अलग शील स्थापित किया । उनकी वर्ण-व्यवस्था मुगलकालीन वर्ण-व्यवस्था का प्रतिरूप नहीं है । उसमें अस्पृश्यता आदि भाव नहीं रहते । उन्होंने मुगलकालीन वर्ण-व्यवस्था के स्थान पर जो वर्ण-व्यवस्था स्थापित की उसमें प्राचीन काल के निष्कलुष वर्ण-धर्म का ही पवित्र स्थान है । गोस्वामीजी द्वारा संस्थापित वर्ण-व्यवस्था आज भी स्वीकार्य है, वह समाज हित की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया संतुलित बंटवारा है । एक और कबीर ने वर्ण-व्यवस्था का निषेध कर दिया, तो दूसरी ओर गोस्वामी जी ने इसके समीचीन रूप को स्वीकृत किया और इसका पुन: संगठन किया । दोनों की मान्यता दो पथ पर चलती है ।

आश्रम धर्म

हिन्दू विचारों के अनुसार आश्रम धर्म चार प्रकार के हैं । यह आश्रम व्यवस्था देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलती है । इसका वर्णन महाभारत में इस प्रकार मिलता है –

---

१. बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ।।

– दोहावली, दोहा ५५३, पृ० १६०.

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ।।
जटाधारणं संस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ।।
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ।।
तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ।।[१]

इस प्रकार चार आश्रम हैं — ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास । इनमें चौथा आश्रम प्रायः ब्राह्मण लोग ग्रहण करते हैं ।

अब हम मध्य युग के काव्यग्रंथों के आधार पर विभिन्न आश्रमों का रूप परख सकते हैं ।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारंभ उपनयन संस्कार से होता है । इस समय मनुष्य का विद्यार्थी जीवन शुरू होता है । प्राचीन काल में इस अवस्था में विद्यार्थी आचार्य के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करता था । ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक विद्यार्थी का समान अधिकार है, वहाँ वर्ण-भेद नहीं, न जाति भेद, न उच्च-नीच का भाव ।

ब्रह्मचर्या का अनुष्ठान करते समय विद्यार्थी को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है । वे हैं - सूर्योदय के पहले उठना, नित्य प्रति स्नान करना, दिन में न सोना, प्रति दिन दो बार संध्या करना, आचार्य के प्रति निष्ठा रखना, आचार्य को पिता तुल्य मानना आदि । ब्रह्मचर्याश्रम इस प्रकार वह व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति एक ओर वेदाध्ययन करता हुआ धर्म के स्वरूप को समझता है और दूसरी ओर, साधारण, अस्तेयपूर्ण तथा आत्म-निग्रही जीवन

---

१. महाभारत, शांतिपर्व, ६१।२, ३, ४, ५.

बिताने को व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा लेता है ।[1]

गोस्वामी तुलसीदासजी के समय आश्रम व्यवस्था का लोप होने लगा, जिससे समाज पतनोन्मुख हो गया । उससे वे बड़े दु:खी हुए थे ।[2] समाज को उन्नति के पथ पर ले जाने के लिए तुलसीदासजी ने आश्रमों को सुचारु रूप से विभाजित कर उनकी नयी व्याख्या प्रस्तुत की ।

तुलसीदासजी ने ब्रह्मचर्याश्रम का उल्लेख वहां किया है जहां रामचन्द्रजी अपने सब भाइयों सहित गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए जाते हैं ।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी के समय गुरुकुल विद्याध्ययन की रीति प्रचलित थी । राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ने शीघ्र गति से विद्याध्ययन किया । इसके बाद राम और लक्ष्मण विश्वामित्रजी के साथ गये, तब उन्होंने अनेक अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या प्राप्त की। गोस्वामीजी ने रामचन्द्रजी के चरित्र द्वारा भारतीय समाज के सामने इस व्यवस्था का आदर्श चित्रण उपस्थित किया है ।[4] कृष्ण-भक्त कवियों ने भी श्रीकृष्ण के सांदीपन मुनि के यहां रहकर विद्याध्ययन करने का वर्णन किया है ।[5]

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के व्यतीत होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है । गृहस्थाश्रम के तीन आधार स्तंभ हैं - विवाह, गृह और कुल । गृहस्थाश्रम की दशा में व्यक्ति को कुल-धर्म का पालन करना पड़ता है । सच्चे गृहस्थाश्रम का धर्म है कि वह अपने संपूर्ण जीवन में शास्त्रोक्त विधियों से यज्ञ, दान और तप करने में तत्पर हो जाये और उससे अपना जीवन व्यतीत करे । अत: हिन्दू मान्यताओं के अनुसार गृहस्थाश्रम एक तपस्या है और इसमें किये जाने वाले यज्ञ नित्य सुख का स्रोत हैं ।

---

१. भारत में समाजशास्त्र, प्रकृति और संस्कृति गौरीशंकर भट्ट, पृ० २६७.

२. आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है ।
- विनयपत्रिका, पृ० ४४०.

३. गुरु गृह गए पढ़न रघुराई । अल्प काल विद्या सब पाई ।
- मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ३५२

४. वेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ।।
- वही, वही, चौ० ३, पृ० ३५४.

५. संदीपन के हम रु सुदामा, पढ़े एक चटसार ।
- सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ४२३१, पृ० १५३८.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजा रामचन्द्रजी के आदर्श परिवार के द्वारा गृहस्थाश्रम का समुज्ज्वल चित्रण किया है। व्यक्ति जब इस आश्रम में प्रविष्ट होता है तब सबसे पहले वेदशास्त्र विधि-विधान के अनुसार विवाह संपन्न होता है। रामचन्द्रजी ने बहादुरी के साथ शिव-धनुष तोड़ा तो वेदशास्त्रोक्त विधि के अनुसार रामसीता का विवाह बड़ी धूमधाम से कराया गया।[१]

विवाह के पश्चात् दाम्पत्य जीवन आरंभ होता है। तुलसीदासजी ने दाम्पत्य जीवन के सभी पक्षों पर अपनी दृष्टि डाली है। रामजी जब चौदह वर्ष तक वनवास करने के लिए जाने लगे, तब सीता भी वन जाना चाहती हैं। परन्तु सीताजी की सुकुमारता उन्हें वन जाने से रोकती है। लेकिन पतिपरायणा सीताजी कहती हैं कि वह भी वन जाने योग्य है। राम से वे पूछती हैं - तुम्हारे लिए तप और मेरे लिए भोग, यह कितनी विचित्र बात है।[२] गोस्वामीजी ने दाम्पत्य-प्रेम के अनेक सात्विक एवं भावपूर्ण चित्र 'कवितावली' में प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ एक चित्रण देखिए -

जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ प्रिय ! छांह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु, पांय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ।।
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े ।।[३]

इसी प्रकार रामचन्द्रजी को सीताजी के प्रति कितना अनुराग है, यह तभी मालूम होता है जब वे सीताजी के कहे अनुसार धनुष-बाण लेकर हरिण को मारने के लिए जाते हैं और एक स्थान पर जबकि सीताजी के अपहरण के बाद पर्णकुटि को सूना देखते हैं; श्री राम अत्यंत व्याकुल हो प्रलाप करके, मारा-मारा फिरते हैं।[४]

---

१. मानस, बालकांड, पृ० ५५७
२. मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मो कहुं भोगू।।
-वही, अयो०, चौ० ४, पृ० १०१.
३. कवितावली, अयोध्याकांड, पृ० १३९.
४. देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तौलौं है सोच खरो सो,
सिय-समाचार प्रभु जौलौं न लहे ।। -गीतावली, अरण्यकांड, पद १०, पृ० २७७.

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर अतिथियों का आदर-सत्कार करना दूसरा एक कर्तव्य है। इसमें सीताजी अति चतुर हैं। घर में अन्य सेवक होने पर भी गृहस्थी का सब भार वह स्वयं ले लेती हैं। परिवार के अन्य अंगों की सेवा में जैसे सास, ससुर और घर के अन्य सदस्यों की सेवा-शुश्रूषा में उन्हें बड़ा सुख प्राप्त होता है।[१]

वानप्रस्थ

आश्रम व्यवस्था की तीसरी अवस्था है वानप्रस्थ, जिसमें व्यक्ति अपने परिवार का उत्तरदायित्व बड़े पुत्र को सौंप देता है और तप के लिए वन की ओर प्रस्थान करता है। वानप्रस्थ का अर्थ है वन की ओर जाना। वान प्रस्थ अवस्था में व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विलासी पदार्थों की प्राप्ति का प्रयास नहीं करना चाहिए और भूख से आर्त होने पर भी उन कन्दमूलों को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो ग्राम में उत्पन्न हुए हों। वानप्रस्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना अधिक से अधिक समय श्रुतियों (वेदों) तथा उपनिषदों के अध्ययन में लगाए और तप के द्वारा शरीर की शुद्धि करके अपनी आत्मा को प्रबुद्ध करे, क्योंकि वानप्रस्थ मोक्ष की तैयारी का काल है।[२] इस समय व्यक्ति अगर चाहता है तो अपनी सहधर्मिणी को भी साथ ले सकता है। इस अवस्था में व्यक्ति धीरे-धीरे सांसारिक लोलुपता को त्याग देता है और अध्ययन, चिंतन, आत्मसंयम, दान तथा सभी जीवों के प्रति अनुकंपा आदि से परिपूरित जीवन बिताता है।

कबीर ने वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने वालों की हंसी उड़ाकर कहा कि जब तक तू मन के विकार को नहीं छोड़ेगा तब तक वन में निवास करने से क्या फायदा है? सिर पर जटा रखकर शरीर पर भस्म रमा कर गुफा में वास करने से क्या मुक्ति मिलेगी? कबीर कहते हैं कि मन को जीतने से ही संसार जीता जा सकता है, जिससे विषयवासनाओं के प्रति उदासीनता होती है।[३]

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० १, पृ० ३४५.
२. भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति   गौरीशंकर भट्ट, पृ० ८६.
३. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद २, पृ० १३०

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं में वानप्रस्थाश्रम का भी उल्लेख किया है। जब विश्वामित्रजी महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण को मांगने के लिए आते हैं, तब राजा कुछ विस्मय प्रकट करते हैं, क्योंकि इन चारों पुत्रों की उपलब्धि उन्हें वृद्धावस्था में हुई थी। उनके प्रति उन्हें प्रगाढ़ प्रेम और स्नेह था।[१] पुत्र के बड़े होने पर राजा को उस पर सब कुछ समर्पण कर वनवास स्वीकार करना पड़ता है। राम के वन-गमन के समय तुलसी वानप्रस्थ और संन्यास पर प्रकाश डालते हैं।[२] गोस्वामीजी ने राजा द्वारा अपनी सभी जिम्मेदारी पुत्र पर सौं कर नारी सहित वन जाने का उल्लेख किया है।[३] राजा दशरथ को यह विदित होता है कि वानप्रस्थ के पहले युवराज की नियुक्ति आवश्यक है। राम इसके लिए सब प्रकार से योग्य हैं।[४] वृद्धावस्था में यदि राजा को राज्य-लिप्सा रहे तो उस राज्य की प्रजा पतन के गर्त में गिरेगी।

राक्षसों के परिवार में भी आश्रम-व्यवस्था का पालन होता था। वानप्रस्थ की बात रावण की पत्नी मंदोदरी सूचित करती है।[५]

संन्यासाश्रम

यह आश्रम-धर्म की अंतिम स्थिति है। वानप्रस्थ के पश्चात व्यक्ति संन्यासाश्रम को स्वीकार करता है। संन्यासी को संसार के सभी सम्बन्ध छोड़ना पड़ता है। भिक्षावृत्ति से जो मिलता है उससे जीवन यापन। संन्यासी को भिक्षा न मिलने पर भी दुःखी नहीं होना चाहिए, न मिलने पर सुखी। संन्यास-जीवन में उसका लौकिक-जीवन समाप्त हो

---

१. चौथेपन पायउं सुत चारी। - मानस, बालकांड, चौ० १,
२. अंतहु उचित नृपहिं बनवासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू।
- वही, अयोध्या०, चौ० २, पृ० ८६.
३. बरबर राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्ह
- वही, बाल०, दोहा १, पृ० २५७.
४. कहइ भुआल सुनिअ मुनिनायक। भए रामु सब बिधि सब लाए
- वही, अयो०, चौ० १, पृ० ७.
५. संत कहहिं अस नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप का

भिक्षाटन ही उसकी जीविका का आधार है । संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का अर्थ है पारलौकिक जीवन में प्रवेश करना । जो व्यक्ति संन्यासाश्रम स्वीकार करता है उसे अन्य बन्धु-बान्धव मृत व्यक्ति समझते हैं । इसलिए वे उसका अंत्येष्टि संस्कार करते हैं । लोगों का विश्वास है कि जलती हुई चिता की राख और लपटों से संन्यासी के रूप में दूसरे व्यक्ति का जन्म होता है । इससे संन्यासी अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम स्वीकार करता है । संन्यासी के लिए वर्ण-जाति, ऊँच-नीच, तथा छुआछूत की सभी व्यवस्थाएं निरर्थक हैं, क्योंकि वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त है ।

कबीरदासजी योगियों की हँसी उड़ाते हुए कहते हैं कि योगी संसार में अपने ही ढंग का एक होता है, उसे तीर्थ, व्रत, मेला आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता । उसके पास साधारण साधुओं के समान न तो थैली होती है, न शरीर पर मली हुई छार, और न पैसे संचित करने के लिए बटुवा । वह न भिक्षा मांग कर खाता है, न भूखा ही रहता है । वह तो शून्य लोक, ब्रह्मरंध्र में स्रवित अमृत का पान करता है । कबीर कहते हैं कि योगियों को समस्त विषयवासनाओं को छोड़ देना चाहिए ।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी काव्य रचना में इस संन्यासाश्रम में जीवन बिताने वाले कुछ तपोनिष्ठ ब्राह्मणों का समुज्ज्वल चित्र उपस्थित किया है । इसी प्रकार के तपोनिष्ठ वसिष्ठ, अत्रि, सतानन्द आदि हैं ।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने उपर्युक्त चारों आश्रमों को मानव-जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए सहायक माना और समाज को सुखी, आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक सिद्ध की । तुलसीदासजी ने जिन चारों आश्रमों का उल्लेख किया, उनके अनुसार व्यक्ति,काल, क्रम और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक काम करता है । एक को समाप्त करके दूसरे में प्रवेश करने के वक्त तक उसे बहुत-सा काम करना पड़ता है । इस प्रकार की आश्रम व्यवस्था प्राचीन भारतीय हिन्दू सिद्धांतों के अनुकूल है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २०७, पृ० ४६०-४६१.

लोकविश्वास

मध्ययुगीन कवियों ने समाज में पाये जाने वाले लोकविश्वासों का विस्तृत वर्णन किया है। इन विश्वासों के अन्तर्गत समाज की भैतिकता, मंगलाशा, भविष्य के प्रति गहन आस्था एवं जीवन को सुखी बनाने वाली भावी आशायें प्रतिबिंबित हुई हैं। सत्य तो यह है कि समाज के व्यक्ति की व्यवधानावृत जीवन नौका इन्हीं विश्वासों से हिल-हिलकर भवसागर के उस पार पहुंच रही है। समाज में इन्हीं अनेक विश्वासों की तथा उनकी पूर्ति के हेतु किये गये मांगलिक अनुष्ठानों की आंख-मिचौनी हो रही है। वस्तुत: ये विश्वास और अनुष्ठान अनादि काल से ही मानव के साथ चिपके हुए हैं।[१]

उस समय समाज में अनेक प्रकार के लोकविश्वास प्रचार में थे। सुविधानुसार इन लोकविश्वासों को मुख्य रूप से पांच विभागों में बांट सकते हैं - पौराणिक विश्वास, सामान्य विश्वास, अंधविश्वास, विविध तथा परंपरागत मान्यतायें। इन विभिन्न विश्वासों के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे विश्वासों का समावेश है। अब हम उनका क्रमानुसार वर्णन करेंगे।

पौराणिक विश्वास

अवतारवादी विश्वास —

मध्ययुग की जनता में अवतार संबंधी विश्वास थे। उस समय के सगुण भक्त कवि अवतारवाद के पक्षपाती थे। गर्ग मुनि ने एक बार नन्द से कहा कि तुम्हारे घर में क्षीरसागर का वासी आ गया है।[२] कृष्ण को शिव-सनकादि-शुकादि का अवतार माना गया है।[३] वह घट-घट के अंतर में वास करनेवाला अनादि, सनातन परब्रह्म है।[४] उनके लिए अविगत, अविनासी, करुणा-निधान, जगद्गुरु, जगतपिता

---

१. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हरगुलाल, पृ० ३
२. सुनों नन्द अनन्द कथा यह आयो क्षीर समुद्र को वासी।
- परमानन्दसागर, पद ७, पृ० ४.
३. सिव-सनकादि-सुकादि-अगोचर, ते अवतरे हरी।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६९, पृ० २८४.
४. आदि सनातन परब्रह्म प्रभु, घट-घट अंतरयामी।
- वही, वही, पद ८६, पृ० २९०.

जगदीश, जगन्नाथ, जगपाल, दीनानाथ, पुरुषोत्तम, मधुसूदन, सकल गुणासागर, सुखसागर आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[१] भागवत[२] के अनुसार सूर ने भी इन अवतारों को चौबीस बतलाया है।[३] जन-स्वर के अनुसार सूर ने कृष्ण को अविगत, आदि, अनन्त, अनुपम, अलख, अविनाशी, पूरन ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि अनेक नामों से अभिहित किया है।[४] उस समय लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश को परब्रह्म मानते थे।[५] सूरदास ने श्रीराम और श्रीकृष्ण की एकता की चर्चा की है।[६] इस समय लोग सीताजी के समान राधाजी को भी 'सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादिक की स्वामिनि, जगदीस-पियारी, जगत जननि, जगरानी' आदि बतलाते थे।[७] इस प्रकार राम-लक्ष्मण के विवाह, कालिय-नाग, गोवर्धन पूजा, रास-लीला के अवसर पर देवताओं के पुष्प-वृष्टि करने और जय-जय ध्वनि करने का उल्लेख किया है।[८] कवियों ने कृष्ण के अतिरिक्त ब्रह्मा और शिव दो पौराणिक देवताओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। 'ब्रह्मा-बालक-वत्स हरण' प्रसंग में ब्रह्मा का उल्लेख है।[९] यहाँ जादू-टोने का उल्लेख भी हुआ है। डा० सत्येन्द्र ने लोक-मानस के तत्व से युक्त कुछ विश्वासों का उल्लेख करते हुए एक तत्व 'जादू-टोने तथा अवतारों और देवताओं के अद्भुत चमत्कार' को भी माना है।[१०] इसके आधार पर लोगों ने भोले शंकर को काटा हुआ सिर जोड़ने का विशेषज्ञ माना है। उस समय शिव दक्ष के कबन्ध पर काटा हुआ सिर रखकर जोड़ देते हैं।[११] भगवान् मोहिनी रूप में

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद २६, ७, ३, १६५, २२; दशम स्कंध पद १६२, ४२२६.
२. श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कंध, तृतीय अध्याय, श्लोक २६.
३. सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद ३६, पृ० १२६.
४. अविगत आदि अनंत अनुपम अलख पुरुष अविनासी।
   पूरन ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक बिलासी।। -सूरसारावली, छंद १.
५. ब्रह्म-रूप उतपति करौं, रुद्र-रूप संहार।
   विष्नु रूप रच्छा करौं, सो मैं हौं नन्दकुमार। - कुम्भनदास, पद २२.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८१, पृ० ५१८.
७. वही, पद १०५५, पृ० ६२३-६२४.
८. वही, नवम स्कंध, पद २४; दशम स्कंध, पद ५७६, ८३६, १०४४, १०५५.
९. बालक-बच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म लोक पहुँचाए।
   सूरदास प्रभु गर्व बिनासन, नव कृत फेरि बनाए। - वही, दशम स्कंध, पद ४३६, पृ० ४०१.
१०. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन डा० सत्येन्द्र, पृ० ५०२.
११. सूरसागर, चतुर्थ स्कंध, पद ५, पृ० १३६-१४१.

प्रकट हुए हैं ।[1] गोस्वामी तुलसीदासजी ने भगवान् के अनेक नाम चित्रित किये हैं -- विधाता, जगजीवनदाता, अजा, अनादि, सच्चित, अविनाशिनी, सुरनायक, जनसुखदाता, प्रनतपाल, असुरारी, दीनदयाल, अंतरजामी, कृपानिधि, दीनबन्धु, सुखसिन्धु, कृपाकर, कारुनिक, कृपासिन्धु, जानकी नाथ आदि ।[2] इस प्रकार मध्ययुगीन सगुण भक्त कवियों ने भगवान् के अवतारों का जो उल्लेख किया है वह पौराणिक विश्वास आज भी चलता है ।

अन्य पौराणिक विश्वास

इसके अन्तर्गत प्रकृति तथा उसके विभिन्न उपादानों से सम्बन्धित विश्वास आते हैं । सूर ने पृथ्वी को कच्छप और शेषनाग पर स्थित बतलाया है ।[3] यह पृथ्वी गाय और पृथु के रूप में आकर अपनी विनती करती है ।[4] पौराणिक लोक-विश्वास के अनुसार सूर ने अक्षय वट का उल्लेख किया है, जिसका नाश प्रलयकाल में भी नहीं होता ।[5] परमानन्ददास के कृष्ण और गोपियां पुरातन काल से परंपरागत रूप में चले आने वाले विश्वास के अनुसार पूर्णिमा तिथि को वेद-विधि से स्नान करती हैं ।[6] लोकविश्वास के आधार पर द्वितीया के चन्द्रमा को देखना शुभ लक्षण है और चौथ का चन्द्रमा अशुभ प्रतीक है । विद्यापति ने भाद्र शुक्ल के चतुर्थी चन्द्रमा को देखना अशुभ माना है ।[7] आकाशवाणी और अनाहत वाणी

---

१. सूरसागर, अष्टम स्कंध, पद १०, पृ० १७५.
२. मानस, बालकाण्ड, पृ० २१, २३, १६१, ३१८; मानस उत्तरकांड, पृ० ७०, ७१; विनयपत्रिका, पृ० २२४, ३३५, ४६८.
३. अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।
   कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सहस फनी ।
   - सूरसागर, द्वितीय स्कंध, पद २८, पृ० १२३.
४. वही, चतुर्थ स्कंध, पद ११, पृ० १४४-१४५.
५. वट बाढ्यौ सागर-जल फैलत । -- वही, दशम स्कंध, पद ६३, पृ० २८२.
६. पूरन मास पूरन तिथि श्री गिरिधर करत स्नान मन भायौं ।
   - परमानन्दसागर, पद ७४०, पृ० २५७.
७. विद्यापति पदावली, पृ० २९८.

भी पौराणिक विश्वास के अन्तर्गत ले सकते हैं। सूर[१] और तुलसी[२] ने वर्णन किया है कि अशोकवाटिका की सीताजी को पहले हनुमानजी नहीं पहचान पाते, आकाशवाणी के द्वारा पहचानते हैं और जुहार करते हैं। उसी प्रकार वसुदेव-देवकी के विवाह के बाद उसकी विदाई के समय कंस को यह अनाहत वाणी होती है कि भगिनी के कोख से जन्म लेने वाला बालक ही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा।[३] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में ऐसे अनेक पौराणिक विश्वास प्रचलित थे।

<u>पौराणिक पशु-पक्षी, पशु-वाहन, सर्प आदि के प्रति विश्वास :</u>

इसके अन्तर्गत कल्पवृक्ष, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, कामधेनु, वासुकि, गरुड़, शेषनाग, आदि से सम्बन्धित विश्वास आते हैं। परमानन्ददास के अनुसार कल्पवृक्ष और कामधेनु मनोवांछित फल देने वालों का प्रतीक हैं।[४] अनुश्रुति के अनुसार उच्चैःश्रवा अश्व, ऐरावत, पारिजात (वृक्ष) आदि समुद्र से निकले चौदह रत्नों में से थे। उन्हें इन्द्र को दे दिया गया।[५] परमानन्ददास ने गोवर्धन-पूजा प्रसंग में इन्द्र का पराजित होना और उसकी ओर से ऐरावत, कामधेनु आदि को प्रस्तुत कराकर गंगाजल से कृष्ण का अभिषेक करने का उल्लेख किया है।[६] भगवान्

---

१. सूर आकासबानी भई तब, तहं यहै बंदेहि है, करि जुहारा।।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद ७६, पृ० २१२.

२. आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई।।
सत्य करहि मम-प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी।।
- मानस, सुन्दरकांड, चौ० २, पृ० १०.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३, पृ० २५६.

४. गोधन कामधेनु कल्पतरु गोधन पै मांगे सोई पावै।।
- परमानन्दसागर, पद २७८, पृ० ६४.

५. अप्सरा, परिजातक, धनुष, अस्व, गज स्वेत ये पांच सुरपतिहिं दीन्हे।
- सूरसागर, अष्टम स्कंध, पद ८, पृ० १७३.

६. परमानन्दसागर, पद २७२, पृ० ६२.

कृष्ण सुदामा की निर्धनता को दूर करने के लिए कामधेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष देते हैं। प्रत्येक युग में ऐसा विश्वास था कि ये सब वस्तुएं अनायास जब मिल जाएं तो कोई अयाची बन जाता है।[१] कालियनाग कालीदह में आकर छिपा, क्योंकि सौभरि मुनि के शाप के कारण गरुड़ वहां पहुंच नहीं सकता था।[२] शृंगी ऋषि ने भी शाप दिया था कि तक्षक द्वारा परीक्षित डसा जायगा।[३] यद्यपि अनेक ऋषि-महर्षियों के द्वारा दिये गये शाप में लोक ने अनेक पौराणिक अस्तित्वों को प्रस्तुत किया और इन्हें पृथक् नहीं कर सके, तो भी ये पौराणिक अस्तित्व कभी-कभी जीवन की सुरक्षा करने वाले भी माने गये हैं। उदाहरण के लिए जब बन्दी-गृह से वसुदेव कृष्ण को गोकुल ले जाते हैं, तब शेषनाग अपने सहस्र फन फैलाकर शिशु कृष्ण की रक्षा करता है।[४] मध्य युग में इस तरह के लोक-प्रचलित अनेक पौराणिक विश्वास प्रचलित थे।

सामान्य विश्वास

सामान्य विश्वास के अन्तर्गत विविध अन्य विश्वास भी आते हैं। इसमें आने वाले विश्वासों को निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं।

शकुन-अपशकुन

मध्ययुगीन काव्यों में शकुन-अपशकुन का वर्णन हुआ है।

शुभ-शकुन

निर्गुण संतों के काव्यों में शुभ शकुन का विचार हुआ है। जायसी ने नख-शिख खण्ड में पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते समय उपमानों के रूप में सांप के सिर पर बैठे हुए या कमल पर बैठे हुए खंजन पक्षी को देखने का उल्लेख किया है

---

१. रंक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय-पद ठाउं।
   कामधेनु, चिंतामनि, दीन्हौं कल्पवृच्छ-तर छाउं।
   - सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद १६४, पृ० ५४.
२. वही, दशम स्कंध, पद ५७३, पृ० ४५५.
३. वही, प्रथम स्कंध, पद २९०, पृ० ९४-९६.
४. सेष सहस्र फन ऊपर छायौ, ले गोकुल कौं भागे।
   - वही, दशम स्कंध, पद ४, पृ० २५८.

और उसे शुभ शकुन कहा है ।[१] उसी प्रकार राजा रत्नसेन के सिंहल द्वीप प्रस्थान के समय शुभ शकुनों के होने का उल्लेख है ।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचन्द्रजी की बारात के वर्णन में शुभ-शकुन होने की बात कही है ।[३] इस वर्णन में तुलसीदास ने केवल तेरह शुभ शकुनों का उल्लेख किया है । उसी प्रकार उन्होंने नेवला, मछली, दर्पण, क्षेमकरी या अवासी चोंविन नामक चील, चक्रवाक और नीलकंठ का दस दिशाओं में से किसी भी ओर देखा जाना शुभ कहा है । इनके दर्शन से मन की अभिलाषा पूर्ण होने की संभावना रहती है ।[४] अयोध्या में माता कौशल्या राम और लक्ष्मण के आगमन का शुभ शकुन देखती हैं । वह काक और क्षेमकरी को देखकर उनसे पूछती है कि राम, लक्ष्मण और सीता कुशलपूर्वक कब घर आ जाएंगे ?[५] इसमें तुलसीदासजी यह दिखाते हैं कि राम-वनवास की समाप्ति कर आने वाले हैं । महाकवि सूरदास ने माता कौशल्या के पुत्र-आगमन के शुभ शकुन का उल्लेख इस प्रकार किया है --

बैठी जननि करति सगुनौती ।
लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती ।
इतनी कहत, सुकाग उहाँ तैं हरि डार उड़ि बैठ्यौ ।
अंचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ सुख जु आनि उर पैठ्यौ ।
जब लौं हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौं ।
दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि मैं थपिहौं ।
अब कैं जौ परचौ करि पावौं अरु देखौं भरि आँखि ।
सूरदास सोने कैं पानी मढ़ौं चोंच अरु पाँखि ।।[६]

---

१. पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बईठ ।
   छात सिंघासन राजधन ता कहँ होइ जो डीठ ।
   - पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३०.
२. वही, पृ० १५२.
३. मानस, बालकांड, चौ० १, २, ३, ४, पृ० ५०२-५०३.
४. नकुल सुदरसन दरसनी क्षेमकरी चक चाष ।
   दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजहिं मन अभिलाष ।।
   - दोहावली, दोहा ४६०, पृ० १५८.
५. गीतावली, लंकाकांड, पद १६-२०, पृ० ३७३-३७४.
६. सूरसागर, नवम स्कंध, पद १६५, पृ० २४७-२४८.

आंगन में कौवे के आकर रोने और उड़ जाने से यह संकेत मिलता है कि प्रियतम आने वाले हैं ।[१] विद्यापति ने सबेरे-सबेरे चन्दन वृक्ष पर आकर बोलने वाले कौवे की चोंच सुवर्ण से मढ़वाने की बात कही है ।[२] सूरदास ने हरि-आगमन की संभावना न प्रकट करने वाले काग को उड़ाने की चेष्टा की है ।[३] कान के पास आकर अलि का गुंज उठना भी शुभ शकुन है ।[४] उसी प्रकार कंस की आज्ञा से जब कृष्ण और बलराम को लेने के लिए अक्रूर गोकुल जाते हैं तब मार्ग में मृगों के दर्शन होते हैं ।[५] जब कृष्ण के पूर्व सखा सुदामा कृष्ण को देखने के लिए द्वारिका की ओर जाते हैं तब उन्हें यह शंका थी कि कृष्ण से मिलना होगा या नहीं और यदि मिलना हुआ तो कैसे मिलेंगे ? इतने में उन्हें मार्ग में शुभ शकुन हुआ ।[६]

अपशकुन

मध्ययुगीन कवियों ने जिस प्रकार शुभ शकुनों का वर्णन किया है उसी प्रकार अपशकुनों का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया है । अयोध्या में जब अनर्थ का आरंभ हुआ तब भरत अनेक अपशकुन देखने लगे ।[७] उसी प्रकार अयोध्या में प्रवेश करते ही भरतजी को अनेक अपशकुन होने लगे ।[८] मेघनाद के वध के पश्चात् रावण युद्ध के लिए प्रयाण करता है, तो मार्ग में उसे अनेक अपशकुन होते हैं ।[९] रावण का मूर्च्छित होकर लंका पहुंचना, यज्ञ करते समय वानरों द्वारा विध्वंस करना आदि अपशकुनों का परिणाम है ।[१०] राम-रावण-युद्ध के समय विभीषण ने राम से

---

१. सगुन संदेसौ हौं सुन्यौ, तेरैं आंगन बोलै काग री ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३८४१, पृ० ११३५.
२. विद्यापति पदावली, पृ० ३९१.
३. जहं तहं काग उड़ावन लागी, हरि आवत उड़ि जाहिं नहीं ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३४५४, पृ० १३१२.
४. वही, पद ३४५६, पृ० १३१२.
५. दच्छिन दरस देखि मृगमाला । अति आनंद भयौ तिहिं काला ।।
- वही, वही, पद २९४६, पृ० ११८३.
६. वही, पद ४२२८, पृ० १५३७.
७. अनरथु अवध अरंभेउ जब तें । कुसगुन होहिं भरत कहुं तब तें ।।
- मानस, अयो०, चौ० ३, पृ० २२१.
८. असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभांति कुखेत करारा ।।
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला । सुनि सुनि होइ भरत मन सूला ।। -वही, चौ० २ पृ० २२२.
९. वही, लंकाकांड, पृ० ३२७.
१०. चलत होहिं अति असुभ भयंकर । बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर ।। -वही, लंका०, चौ० १, पृ० ३४४

रावण की नाभी में बसने वाले अमृत का रहस्य बताया और जब राम ने उसे सुखा देने के लिए बाण चलाया तो अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। गदहा, सियार और कुत्ते का रोना, पक्षियों का सामूहिक रूप में बोलना, पुच्छल तारों का उदय होना, दिशाओं में आग लगना, बिना पर्व के ही सूर्य ग्रहण लगना और प्रस्तर प्रतिमाओं का द्रवित होना आदि अमंगल का सूचक है।[१] एक बार कृष्ण के यमुना में कूदे, उस समय यशोदा को अनेक अपशकुनों का सामना करना पड़ा। छींक होना, बिल्ली का रास्ता काटना, बायें काग का बोलना, दायें खर-स्वर का सुनायी पड़ना आदि अपशकुनों की सूचना सूर ने दी है।[२] नन्द ने भी इस समय अनेक अपशकुन देखे।[३]

किसी अनिष्ट के प्रत्यक्ष प्रमाण का सामना करने से पूर्व अपशकुनों द्वारा उसका आभास कराया जाता है। कंस ने नन्द के पास एक दूत को भेजा और कहा कि कालीदह से फूल तोड़ने के लिए कृष्ण को भेजना और उस फूल को मथुरा तक पहुंचाना है। अगर फूल न भेजे तो ब्रज को उजाड़ दिया जायेगा।[४] दूत की वाणी सुनकर नन्द को भय लगा, क्योंकि वहां फूल लेने जाने वाला जीवित नहीं लौट सकता। दूत के वृन्दावन पहुंचने के पूर्व नन्द को बड़ी विपत्ति होने की

---

१. असगुन होन लगे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना।।
बोलहिं खग जग आरति हेतु। प्रगट भए नभ जहं तहं केतु।।
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ पर्व बिनु रवि उपरागा।।
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी।।
— मानस, लंकाकांड, चौ० ४-५, पृ० ८८१.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५४०, पृ० ४४६.

३. पैठत पौरि छींक भई बारं, दहिनें धाह सुनावत।
फटकत श्रवन स्वान द्वारे पर, गरदी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई।
— वही, पद ५४१, पृ० ४४६.

४. पाती बांचत नन्द डराने।
\+ \+ \+
सूर स्याम-बलराम निहारे, मांगौं उनहिं पराइ।
— वही, दशम स्कंध, पद ५२६, पृ० ४४२.

आशंका थी ।[१] पिता को चिंतित देखकर कृष्ण कालीदह में गेंद लाने के बहाने कूद पड़े । यह देखकर सब भय-चकित हो गये ।[२]

श्रीमद्भागवत में रात में कौए का बोलना अपशकुन कहा गया है । महाभारत के अंत में अर्जुन के द्वारिका जाने पर यह सूचना मिलती है कि कृष्ण सहित समस्त यादवों का नाश होने वाला है । यह सुनकर अर्जुन पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं । दारुक ने बहुत कुछ समझाया और बुझाया । कृष्ण के संदेश को सुनाया और इसके बाद अर्जुन अपने साथ अनाथ यादवों को लेकर लौटता है । मार्ग में अनेक अनर्थ होते हैं । युधिष्ठिर को इस समाचार के मिलने के पहले ही अनिष्टकारी दुर्घटना की आशंका होती है ।[३]

स्वप्न एवं उनका परिणाम

दर्शन शास्त्र में कहा गया है कि 'स्वप्न' जीव की चार अवस्थाओं में एक है । स्वाभाविक रूप से मनुष्य स्वप्न देखने वाला है । वेद, उपनिषद् तथा पुराण आदि धार्मिक ग्रंथों में बौद्ध, जैन, और योग आदि धर्मशास्त्रों में स्वप्न सम्बन्धी बातों की ओर संकेत है । इस बात का सम्बन्ध शास्त्र पक्ष की अपेक्षा लोक-पक्ष से अधिक है । मध्ययुगीन काव्यों में इन दोनों का समावेश है । कृष्ण भक्त कवियों ने इसका वर्णन किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

'सूरसागर' में त्रिजटा के प्रात:कालीन स्वप्न का उल्लेख किया है जिससे राम की विजय एवं रावण की पराजय सूचित है ।[४] जब कंस ने अक्रूर के द्वारा कृष्ण और बलराम को धनुष-यज्ञ के लिए बुलाया तब वसुदेव ने इसका स्वप्न

---

१. महर चलत सदन भीतर, छींक बाईं बार ।
सूर नंद कहत महरि सौं, आजु कहा बिचार ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५२४, पृ० ४४१.

२. वही, पद ५३६, पृ० ४४५-४४६.

३. वही, प्रथम स्कंध, पद ८२६, पृ० ६२.

४. वही, नवम स्कंध, पद ८३, पृ० २१५-२१६.

देखा और उसने अपनी पत्नी से भी यह कहा ।[१] स्वप्न द्वारा भविष्य में होने वाली घटना का भी संकेत मिलता है । कालीदह में कूदने के पूर्व कृष्ण ने निद्रा में यह देखा कि किसी ने उसे कालीदह में गिरा दिया ।[२] जब कृष्ण कालीदह में कूद पड़ते हैं तब नन्द उसके स्वप्न को सत्य मान लेते हैं ।[३] कृष्ण के मथुरा जाने के पूर्व नन्द स्वप्न में देखते हैं कि कोई दूत आकर कृष्ण और बलराम को ठगौरी लगाकर ले रहा है और कृष्ण के सखा रो रहे हैं ।[४] दूसरे ही दिन कंस का दूत आता है, तब नन्द पिछली रात के स्वप्न में दु:खी होते हैं ।[५] कृष्ण को मथुरा जाने और कंस को मारने का स्वप्न देखते हैं ।[६] कंस भी अनेक प्रकार के दु:स्वप्नों में फंस जाता है और क्षण-क्षण में ज्योतिषियों से शुभ-अशुभ समय पुछवाता है ।[७] जब सात वर्ष के बालक कृष्ण को इन्द्र-पूजा के आयोजन की सूचना होती है, तब वह पिता नन्द तथा अन्य गोपियों से गोवर्धनराज के दर्शन और उनकी पूजा का आदेश किसी अवतार-पुरुष द्वारा दिये जाने के स्वप्न की बात कहते हैं ।[८]

---

१. आजु कालि हरि आइहैं, यह सपने की बात ।
    \+ \+ \+ \+
   ऐसौ सुपनौ मोहिं भयौ, त्रिया सत्य करि मानि ।
   त्रिभुवन पति तेरौ सुमन है, तोहिं मिलौंगौ आनि ।।
   \- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०१०, पृ० १२२४.

२. सोवत कककि उठे काहे तैं, दीपक कियौ प्रकास ।
   सपनैं कूदि पर्यौ जमुना-दह, काहूं दियौ गिराइ ।
   \- वही, वही, पद ५१७, पृ० ४३६.

३. सुपनौ परगट कियौ कन्हाई । — वही, वही, पद ५४३, पृ० ४४७.

४. उत नंदहिं सपनौ भयौ, हरि कहुं हिराने ।
    \+ \+ \+ \+
   ग्वाल सखा रोवत कहैं, हरि तौ कहुं नाहीं ।
    \+ \+ \+ \+
   दूत एक संग लै गयौ, बलराम कन्हाई ।
   कहा ठगौरी सी करी, मोहिनी लाई ।। —वही, वही, पद २६३६, पृ० ११८०

५. निसि सुपने कौं त्रस्त भए अति, सुन्यौ कंस कौ दूत । —वही, पद २६५६, पृ० ११

६. अपने हाथ कंस मैं मारौ ।
    \+ \+ \+
   अहो बलराम अहो श्रीदामा आज रात कौ सपनो ।
   हम तुम सबनि गये मधुपुरी मिल्यौ जाति कुल अपनो।। -परमानंददा०, पद४७८, पृ० १

७. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २६३८, पृ० ११८१.

८. वही, पद ८१६, पृ० ५४५.

मानसकार ने लोकविश्वास को पुष्ट करने वाले अनेक स्वप्नों की ओर संकेत करके उनके प्रत्यक्ष फल का उल्लेख किया है। पार्वती तपस्या के पहले स्वप्न देखती है। इस बात का स्पष्टीकरण वह स्वयं करती है।[१] पार्वती के इस स्वप्न का विशेष महत्व है। नारद मुनि पहले यह जानते थे कि पार्वती शिव के पूर्व जन्म की पत्नी है; इसलिए उन्होंने पार्वती से कहा कि तुम्हें शिव हेतु तप करना होगा। पिता हिमालय इससे सहमत होता है, लेकिन माता मैना अपनी सुकुमारी पुत्री को तप के योग्य नहीं समझती। लेकिन पार्वती का यह स्वप्न उसे तपस्या करने का संबल देता है। स्त्रियाँ सामान्यत: ऐसी बातों पर पूर्ण विश्वास करती हैं। अत: पुत्री का यह स्वप्न माता का सन्देह दूर कर देता है और कथा को आगे बढ़ाता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने `मानस` के अयोध्याकांड में अनेक दु:स्वप्नों की ओर संकेत किया है। कैकेयी जब दासी मन्थरा की बातों को मान लेती है, तब वह मन्थरा की बातों को सत्य प्रमाणित करती हुई कहती है –

सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिन आँखि नित फरकइ मोरी।।
दिन प्रति देखौं राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने।।[२]

ननिहाल में रहने वाले भरत अयोध्या में प्रारंभ हुई अनेक बातों को स्वप्न में देखते हैं।[३] यद्यपि भरत कुसपनों की भाँति अनेक भयानक सपने देखते हैं, तथापि इनकी काव्यात्मकता भविष्य की अशुभ घटनाओं की ओर संकेत करती है। इन स्वप्नों को देखने के पश्चात् भरत क्या करते हैं? गोस्वामीजी ने इस प्रश्न के उत्तर को देकर लोकमान्यताओं के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है।

विप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना।।
माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई।।[४]

---

१. मानस, बालकांड, दोहा ७२, चौ० १, पृ० १५५.
२. वही, अयोध्याकांड, चौ० ३, पृ० ११.
३. अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें।।
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना।।
– वही, चौ० ३, पृ० २२१.
४. मानस, अयोध्याकांड, चौ० ४, पृ० २२१.

यहाँ यह सूचित होता है कि भरत भयानक स्वप्नों की प्रतिक्रिया के रूप में अनेक उपचार करते हैं एवं सब की शुभ-कामनाएं करते हैं ।

चित्रकूट में सीताजी द्वारा देखा गया स्वप्न सत्य सिद्ध हो जाता है ।[१] अशोक वाटिका में त्रिजटा द्वारा देखा गया स्वप्न भी अपना प्रत्यक्ष परिणाम प्रकट करता है ।[२] त्रिजटा का यह स्वप्न भविष्य की ओर संकेत करता है । इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में जिन स्वप्नों का वर्णन किया गया है, उनमें निश्चित रूप से अपना प्रत्यक्ष परिणाम प्रकट होता है ।

अंगों का फड़कना

ज्योतिषी लोगों ने अंगों के फड़कने के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट किये हैं और काव्यों में उनका वर्णन भी विस्तार से हुआ है । साधारणत: लोग यह मानते हैं कि पुरुषों के दाहिने अंगों तथा स्त्रियों के बायें अंगों का फड़कना शुभ लक्षण तथा इसके विपरीत होना अशुभ लक्षण है । भुजा का फड़कना, पुलक के कारण अंगिया का फड़कना तथा मीठे बोल सुनने की कामना करना आदि बातें प्रिय आगमन की द्योतक हैं ।[३] नन्ददास ने कृष्ण के आगमन के प्रतीक के रूप में रुक्मिणी की बाईं भुजा फड़कने की ओर संकेत किया है ।[४] छीतस्वामी ने गोपी की केसर घोलते-घोलते एकदम दोनों भुजाओं के फड़कने की बात कही है ।[५]

---

१. मानस, अयोध्याकांड, चौ० २-३, पृ० ३२५-३२६.
२. वही, सुन्दरकांड, चौ० १, २, ३, ४, पृ० ८०-८१.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३४५५, पृ० १३१२.
४. फरकन लागी भुजा बाम, कंचुकि बंध तरकन ।
   हिय तें सूल लग्यौ सरकन, उर अंतर धरकन ।।
   - नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ७८, पृ०१८०.

५. आज सवेरे हौं उठि बैठी कुचनि कंचुको दरकी ।
   औं केसर घोरत में मेरी फर-फर भुजा दे फरकी ।।
   - छीतस्वामी, पद ५६.

स्त्रियों के वाम मार्गों का फड़कना अच्छा माना गया है । श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख है ।[१] कुरुक्षेत्र तीर्थ में ग्रहण स्नान के लिए पहुंच कर जब दूत द्वारा ब्रजवासियों को बुलाया जाता है, तब गोपियों को अनेक शकुन होते हैं ।[२] जब गोपियों का कंठ अचानक गद्गद् होकर अवरुद्ध हो जाता है और अंचल उड़ने लगता है तथा नेत्र फड़कने लगते हैं, तब उन्हें यह सूचना मिलती है कि वे कृष्ण से मिलने वाली हैं ।[३]

मानसकार ने 'गीतावली' में शबरी के वामांगों के फड़कने की ओर संकेत किया है, जिसमें शुभागमन की सूचना है ।[४] उसी प्रकार इसके विपरीत रामजी का वाम भाग तभी फड़कता है जब वे स्वर्ण-मृग को मारकर आश्रम में आते हैं । शकुन सत्य सिद्ध हुआ, क्योंकि सीताजी का हरण किया जा चुका था ।[५] पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर राम का स्वप्न में भी दूसरी स्त्री को न देखने वाला मन, उस ओर अनायास आकृष्ट हो जाता है । उस समय शुभ लक्षण के रूप में उनके अंग फड़कने लगे ।[६] गोस्वामीजी ने अयोध्याकांड में राम-राज्याभिषेक का वर्णन सविस्तार किया है । राजा दशरथ के आयोजन के अनुसार कुलगुरु वसिष्ठजी से राज्याभिषेक की तैयारियां हो रही हैं । उस समय राम तथा सीता दोनों के शुभ अंग फड़कने लगे ।[७] यहां शुभ परिणाम प्रकट नहीं होता, क्योंकि

---

१. श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ५३, श्लोक २७.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४२७७, पृ० १५५०.

३. अंचल उड़ि मन होत गहगहौ, फरकत नैन खरे ।।
- वही, वही, पद ४२७८, पृ० १५५०.

४. सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन-बाहु ।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगमन उछाहु ।।
- गीतावली, अरण्यकाण्ड, पद १७, पृ० २८३.

५. वही, वही, पद ६, पृ० २७५.

६. जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।
सो सबु कारनु जानि बिधाता । फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।।
- मानस, बालकाण्ड, दो०२, पृ० ३६२.

७. वही, अयोध्याकांड, दो० २, पृ० १३.

राज्याभिषेक टल जाता है और राम को चौदह वर्ष का वनवास मिलता है । इसके अतिरिक्त इन अंगों का फड़कना भरत के अयोध्या में न होने की ओर संकेत करता है । ननिहाल से अयोध्या लौटते समय उन्हें अनेक अपशकुन प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए । अयोध्या में राज्याभिषेक की सभी तैयारियां हो रही हैं, तो भी थोड़ी देर के अन्दर ये सब व्यर्थ हो जाती हैं; इसलिए पाठकों को भरत का अयोध्या में नहीं होना विदित नहीं होता । अंगों के फड़कते ही राम और सीता का ध्यान भरत की ही ओर जाता है कि भरत यहां नहीं हैं । यह शुभ लक्षण भरत के आगमन की सूचना देता है ।[1] इसी प्रकार दासी मंथरा की बातों पर विश्वास करके कैकेयी कहती है कि तेरी बात सत्य है, कई दिनों से मेरी दाहिनी आंख फड़क रही है और अपशकुन की सूचना दे रही है ।[2] रानी कैकेयी इस अपशकुन का अर्थ नहीं जानती है । यह उसके होने वाले वैधव्य की ओर संकेत था । जब राम जी की सेना लंका के लिए प्रयाण करती है तब सीताजी के बाएं अंग फड़कते हैं ।[3] उसी प्रकार शीश और भुजाओं के काटने पर भी रावण को जीवित रहता हुआ सुनकर सीताजी के दु:ख का ठिकाना नहीं है । त्रिजटा के द्वारा समझाने पर भी वे अशांत रहती हैं । अंत में शकुन रूप में उन्हें सभी बातें प्रकट हो जाती हैं ।[4] इस प्रकार मध्ययुगीन कवियों ने अंगों के फड़कने और उसके परिणामों का उल्लेख बार-बार किया है, जो विश्वास का ही परिणाम था ।

नज़र लगना और उसका निवारण

साधारणत: स्त्रियां बच्चों पर नज़र डालती हैं । दूसरों की कुदृष्टि पड़ने पर बच्चों को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं । माता यशोदा [redacted] को

---

१. पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं । भरत आगमनु सूचक अहहीं ।।
 भए बहुत दिन अति अवसेरी । सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ।।
 - मानस, अयोध्याकांड, चौ० ३, पृ० १३.

२. सुनु मंथरा बात फुरि तोरी । दहिन आंखि नित फरकइ मोरी ।।
 - वही, वही, चौ० ३, पृ० ३३.

३. प्रभु पयान जाना वैदेही फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं ।
 - वही, सुन्दरकांड, चौ० ३, पृ० १३१.

४. वही, लंकाकांड, चौ० ३, पृ० ३७५.

कृष्ण के खेलने[१], बाहर आने[२], आभूषण पहनाने[३] एवं सयाना होने के समय[४] नज़र लगने का डर होता है । कृष्ण को दूध पिलाते समय यशोदा उसे आंचल के नीचे ढक लेती है और मक्खन खिलाते समय अपने सामने ही खाने को कहती है ।[५] नन्ददास के अनुसार नज़र लगने के भय से उसे सुगंध फुलेल नहीं लगाती, दर्पण नहीं देखने देती ।[६] जो कृष्ण को बुरी दृष्टि से देखती है उसे यशोदा निशाचरी मानती है[७] और शाप देती है कि उसकी आंख जल जाय ।[८] दूसरों की नज़र लगने से बालक बिलखाने लगता है और सोते-सोते चौंक पड़ता है[९], वह अनमना हो जाता है और [redacted] उसके नेत्र निद्राविहीन के नेत्रों के समान हो जाते हैं ।[१०] कुंवरी राधा पर नज़र लगने से उसकी मां पछताती है ।[११]

---

१. खेलत मैं कोउ दीठि लगाई, लै-लै राई-लौन उतारति ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २००, पृ० ३२६.

२. बाहिर जनि कबहूं कछु खैये, डीठि लगैगी काहु ।।
- वही, पद ६८७, पृ० ७०२.

३. वही, पद १९८, पृ० ३०१.

४. सूरस्याम अब होहु सयाने, बैरिनि कैं मुंह खेह ।।
- वही, पद ६८७, पृ० ७०२.

५.(क) अंचल ढांप याहि पय प्यायौ । खेलन पुनि आंगन बैठायौ ।
- श्रीव्रजप्रेमानन्दसागर, पृ० ७.

(ख) मैं मथि कै अबहीं धरि राख्यौ, तुम हित कुंवर कन्हाई ।।
मांगी लेहु याही विधि मोसौं, मो आगैं तुम खाहु ।
- सूरसागर, दशमस्कंध, पद ६८७, पृ० ७०२.

६. सौंधौ याकि अंग न लाऊं । फूल फुलेल न मुंह चढ़ाऊं ।।
दर्पन देखि न दै उन सौंही । डरौं आपनी डीठि तें हौंही ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पृ० १२२.

७. परमानन्दसागर, पद ६१, पृ० २१.

८. वही, पद १३२, पृ० ४४.

९. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २००, पृ० ३२६.

१०. वही, पद ७५२, पृ० ५२१.

बालक पर दूसरों की नज़र न लगने के उद्देश्य से लोग अनेक प्रकार के निवारण मार्ग खोजते हैं। मध्ययुग में अनेक प्रकार के निवारण-मार्ग थे। कृष्ण पर नज़र न लगने के उद्देश्य से उसके मस्तक पर डिठौना लगा दिया जाता है।[१] उसे वस्त्राभूषण पहनाते समय उसके मस्तक पर मसि-बिन्दी लगा दी जाती है।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'गीतावली' में इसका उल्लेख किया है।[३] कठुला में शेर के नाखून लगाने की प्रथा थी।[४] माता यशोदा कभी-कभी पुत्र के गले में केवल हरि नख ही डाल देती है।[५] इसके अलावा माता यशोदा नज़र लगने के दोष के निवारणार्थ अपने मन में कुछ पढ़ती है, बच्चे के ऊपर राई-लोन उतारती है। और इससे बच्चा कुदृष्टि के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।[६] दूसरे एक पद में इसका उल्लेख मिलता है।[७] नवविवाहित वर-वधू के रूप-सौन्दर्य पर कुदृष्टि पड़ने का भय भी प्रचलित था। राधा-कृष्ण के विवाहोपरांत उस पर कुदृष्टि लगने के भय से व्रज-युवतियाँ तिनका तोड़ती हैं।[८] जब बालक कोई साहसपूर्ण कार्य करता है तब उस पर दूसरों की दृष्टि पड़ने की संभावना होती है। इससे मुक्त होने के लिए माँ उस पर पानी 'वार कर' पीती है। तृणावर्त की मृत्यु के बाद व्रज-युवतियाँ कृष्ण पर पानी 'वार कर' पीती हैं।[९] कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य को देखकर

---

१. माई मेरिहि दीठि न लागै, तातैं मसि-बिंदा दियौ भ्रू पर।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६२, पृ० २६२.

२. वही, पद ६४, ६८, ११६, पृ० २६३, २६४, ३००.

३. गीतावली, बालकांड, पद १०, पृ० ४२-४३.

४. कठुला कंठ वज्र केहरि-नख, मसि-बिंदुका सु मृग-मद भाल।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८४, पृ० २८६.

५. हरि-नख उर अति राजहिं, संतनि दुख मोचन। — वही, पद ११६, पृ० ३००.

६. वही, पद २००, पृ० ३२६.

७. वही, पद ११८, पृ० ३०१.

८. अति आनंद निरखि जुवती-जन, डारत हैं तृन तोरी।।
- वही, पद १०७७, पृ० ६३३.

९. देतिं अभूषण वारि-वारि सब, पीवतिं सूर वारि सब पानी।।
- वही, पद ७८, पृ० २८७.

यशोदा उस पर पानी `वार कर` पीती है ।[1] सौन्दर्यधाम रुक्मिणी और कृष्ण की मनोहर जोड़ी देखकर माता देवकी उनके ऊपर पानी `वार कर` पीती है और उन्हें आशीर्वाद देती हैं ।[2] इसके अतिरिक्त सूर ने कहा है कि जब बच्चा कोई अद्भुत कार्य करता है तब माता-पिता और गुरुजन आशंकित होकर उस पर किसी किसी उपदेवता की छाया मान लेते हैं । बालक के अनमना होने पर माता सयाने अथवा कुल-गुरु को हाथ दिखाती है । यशोदा ने बालक कृष्ण के मुख में तीनों लोकों को और पुत्र सहित अपने को देखा, तब भयभीत होकर प्रत्येक घर में हाथ दिखाती है ।[3] गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्णन किया है कि राम को सबेरे ही अनमना देखकर कौशल्या कुलगुरु को हाथ दिखाती है ।[4] इस प्रकार मध्ययुगीन काव्यों में कुदृष्टि-दोष का, उसके निवारण के उपायों का बहुतायत से वर्णन हुआ है । अब भी समाज में यह वर्तमान है ।

शपथ :

व्यावहारिक जीवन में शपथ का प्रत्यक्ष परिणाम देखा जाता है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने शपथ की मान्यताओं को स्वीकार किया है । भरत चित्रकूट जाते समय मुनि भारद्वाज के आश्रम पर ठहरते हैं । वहाँ भरत साधुजनों के सम्मुख अपने विचार प्रकट करते हैं और कहते हैं कि प्रयागराज में तथा इस मुनि समाज में सच्ची शपथ लेने वाला पूर्ण हानि उठायेगा ।[5] मानसकार ने शपथ संबंधी लोकमान्यता के प्रति अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है । मानस में कई स्थानों पर शपथ का उल्लेख मिलता है ।

---

१. `नंददास` नंद-रानी छबि निरखि वारि पीवत पानी,
काहू जिन दीठि लौ ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद ३७, पृ० २६३.

२. देवकी पियों वारि पानी, दे असीस निहारती ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८७, पृ० १५७७.

३. घर-घर हाथ दिखावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी ।
- वही, पद २५८, पृ० ३४७.

४. गीतावली, बालकांड, पद १२, पृ० ४५.

५. मुनि समाजु अरु तीरथराजू । साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू ।।
- मानस, अयोध्याकांड, दो० १, पृ० ३०३.

छींक

छींक से शकुन और अपशकुन जानने का विश्वास लोकमान्य है। आगे, पीछे, बायें, दांयें, एक छींक या दो, आदि बातों से उसका विचार किया जाता है। मध्ययुगीन कवियों ने छींक होने और उसके दोष मिटाने का उल्लेख किया है। एक ओर कृष्ण कालीदह में गेंद निकालने के उद्देश्य से कूदते हैं, तो दूसरी ओर यशोदा अनेक प्रकार के अपशकुन देखती है। नन्द को भी यह अनुभव होता है।[१] भरत ससैन्य और पुरवासियों सहित चित्रकूट की ओर जाते हैं, यह देखकर निषाद को यह सन्देह होता है कि भरत राम को मार कर अपने को निष्कंटक करने जा रहे हैं। इससे वह अपनी सेना को सजाता है, और ढोल बजाने को कहता है। इतना कहते ही बायीं ओर छींक हुई, शकुन विचार करने वालों ने कहा है कि रणक्षेत्र सुन्दर होगा और अपने पक्ष की जीत होगी।[२] लेकिन शकुन विचार असत्य सिद्ध हुआ, क्योंकि उन्हें युद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। गोस्वामीजी ने 'मानस' के अयोध्याकांड में यह भी दिखाया है कि सब लोग शकुन और अपशकुन का विचार नहीं कर सकते हैं। गोस्वामीजी ने एक बूढ़े आदमी द्वारा ठीक-ठीक बात बतलाई है –

> बूढ़ एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी।।
> रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहै अस बिग्रहु नाहीं।।[३]

यह छींक कितना ही बड़ा हो, अनर्थ को रोक देती है। इस अपशकुन के परिहार के लिए थोड़ा-सा पानी पी लेते हैं।

अंधविश्वास :

यह लोकविश्वास का एक भेद है। इसमें भूत-प्रेत, हाऊ, चुड़ैल, डायन, सयाना, टोना-टमना, झाड़-फूंक, जंत्र-मंत्र आदि विविध विश्वास आते हैं।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५४०-५४१, पृ० ४४६.
२. दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।।
एतना कहत छींक भइ बाएँ। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए।।
– मानस, अयोध्याकांड, चौ० २, पृ० २७३.
३. वही, चौ० ३, पृ० २७३.

मध्ययुगीन काव्यों में इन अन्धविश्वासों का उल्लेख मिलता है। संतों के अनुसार जिस घर में हरि की पूजा नहीं होती वह मरघट के समान है और वहाँ भूत-प्रेत हमेशा के लिए रहते हैं।[१] कृष्ण-भक्त कवियों के अनुसार अगर मृतक का अंत्येष्टि संस्कार शीघ्र ही सम्पन्न नहीं होता तो वह भूत बन जाता है।[२] दूध या दूध से बनी हुई चीज़ अथवा उसके समान सफेद कोई चीज़ खाने पर भूतादि की छाया जल्दी पड़ती है। नन्ददास की रूपमंजरी की वही अवस्था प्राप्त होती है।[३] इस समय कृष्ण को भूतों के भूत का विनाश करने वाला कहा है।[४] प्राचीन काल में कुछ स्त्रियाँ योगिनी के वेष में घारी और घूमती थीं और मंत्रादि के योग से झाड़-फूंक करके प्रेत-बाधा को दूर करती थीं। विद्यापति की पदावली में इसका उल्लेख मिलता है। कृष्ण योगिनी वेष में सास के पास आते हैं। सास तो पोतहू को निर्जन में झाड़ने को कहती है, कामदेव मंत्र से एकांत में झाड़-फूंक करते हैं। उसके बाद इसके ऊपर से चढ़े भूत को उतार देते हैं।[५] परमानन्ददास ने लाल वर्ण की 'डायन' का उल्लेख किया है।[६] प्राचीन काल में बालक को 'हाऊ' आदि का भय दिखाकर डराया जाता था। बलदाऊ कृष्ण को इसकी ओर संकेत करते हुए डराता है।[७] सूरदास की यशोदा कृष्ण को दूर खेलने जाने से रोकती है और कहती है कि ब्रज में 'हाऊ' आ गया है, वह बालक के काम

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० ६१, ६; १८, २२६.

२. घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहै।

- सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ८६, पृ० २८.

३. जब आयौं कछु छाया पाई। दूध भात घर खाय हो आई।

- नन्ददास ग्रंथावली, पृ० १२१.

४. गोकुलनाथ को पूत हमारे। भूत के भूतनि ही धरि मारे।।

- वही, पृ० १२१.

५. विद्यापति पदावली, पृ० २८७.

६. परमानन्दसागर, पद ६६, पृ० ३४.

७. कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।
चलौ न, वेगि सवारें जैयै, भाजि आपनें धाम।

- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २२०, पृ० ३३५.

तोड़ कर ले आता है ।[१] 'लोकलाज' और 'कुल कानि' छोड़ने वाली गोपियों को विचित्र रोग होता है और दूसरों की दृष्टि में वह टोना-टामनि, जंत्र-मंत्र तथा देवता की उपासना ही है । कृष्ण के द्वारा मुरली बजाकर गोपियों के ऊपर टोना डालने का उल्लेख नन्ददास ने किया है ।[२] सूरसागर में मोहिनी लगाने[३], ठगौरी लगाने[४], सिर पर मंत्र पढ़ने[५] का वर्णन मिलता है । जब राधा सर्प देश का बहाना करती है तब कृष्ण एक मंत्र पढ़कर सांप को झाड़ते हैं ।[६] संतों ने भी सर्प डसने की बात कही है ।[७] एक पद में गोपियों के मोहन-जोहन, मंत्र-तंत्र, टोना आदि का उल्लेख मिलता है ।[८] सूरसागर में भीलराय का काली से प्रतिज्ञा करने की ओर संकेत मिलता है । प्रतिज्ञा है - 'अगर मुझे एक पुत्र की प्राप्ति होगी तो मैं तेरे लिए नर बलि दूंगा ।'[९] मध्यकाल में सर्प-बाधा को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मंत्रों का प्रयोग होता था ।[१०] सूरदासजी ने सुन्दर कन्हाई के गारुड़ी होने की ओर संकेत किया है ।[११] रोग-निवारण, कुदृष्टि-निवारण एवं टोने का निवारण करने के लिए टोटकों का सहारा लिया जाता था । परमानन्ददास की यशोदा आंचल की झाड़ में कृष्ण को दूध

---

१. टोना-टामनि जंत्र मंत्र करि, ध्यायौ देव-दुवारौ री ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १३५, पृ० ३०७.

२. सुनि सुनि मोही राधिका, औ ब्रज सिगरी नारि ।
- मनौं टोना कर्यौ ।।
-नन्ददास ग्रंथावली, पद २१, पृ० १७३.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४४६, पृ० ७४०.
४. वही, वही, पद १४११, पृ० ७४६.
५. वही, वही, पद १५८४, पृ० ८०५.
६. वही, वही, पद ७५५, पृ० ५२१.
७. संतवाणी संग्रह, भाग १, पृ० १५.
८. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५८६, पृ० ८०५.
९. वही, पंचम स्कंध, पद ३, पृ० १५१-१५३.
१०. वही, दशम स्कंध, पद १३७२, पृ० ७३७.
११. वही, वही, पद ७८, पृ० २८७.

पिलाती है ।[१] विद्यापति की नायिका के ऊपर टोना होने पर उसके निवारण के लिए मंत्र-पाठ किया जाता है और ज्योतिषी को लाकर नवग्रहों की पूजा की जाती है ।[२] इनसे यह मालूम होता है कि इस तरह के अंध-विश्वास समाज में उस समय प्रचलित थे ।

विविध विश्वास

विविध लोक विश्वास इसके अन्तर्गत आते हैं जैसे पुनर्जन्म, करवट बदलना, सर्प-मणि का टोना आदि । कबीरदासजी पुनर्जन्म की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य जन्म जैसा सुअवसर फिर प्राप्त नहीं हो सकेगा । अत: भक्ति को अपना ले, जिससे पूर्ण पुरुष नारायण की प्राप्ति हो जाय । तू नाना योनियों में जन्म गवां-गवां कर आया है, किन्तु सब में तूने बेगार की है, जिसका तुझे कोई फल नहीं प्राप्त होगा ।[३] मीरां के अनुसार पुनर्जन्म बारंबार नहीं होता और मनुष्य का जन्म पुण्य का परिणाम है ।[४] परमानन्ददास ने मनुष्य अवतार को पूर्वजन्म के सुकृतों का फल माना है ।[५] नन्ददास ने जन्तु के जगत् में विचरण करने का उल्लेख करके कहा है कि वह पूर्वजन्म के शुभाशुभ का फल है ।[६] मध्य युग में लोग पुत्र-जन्म के बाद कहते हैं कि यह पूर्वजन्म और भाग्य का फल है ।[७] तुलसीदास ने कृष्ण-जन्म को यज्ञ-याग, जप-तप आदि पुण्य कार्यों का फल माना है ।[८] लोगों में स्वर्ग-नरक की भावना पर विश्वास था ।[९] लोग पुण्य-फल की प्राप्ति पर विश्वास करते थे । यह विश्वास भी विद्यमान था कि ब्राह्मणों को

---

१. परमानन्दसागर, पद ७८, पृ० २७.
२. विद्यापति पदावली, पृ० ६२.
३. कबीर ग्रंथावली, पद ११०, पृ० ४०२.
४. मीरां माधुरी, पद ३००.
५. पूरब जन्म सुकृत फल पायो अति पवित्र मानुषा अवतार ।
- परमानन्दसागर, पद ८४०, पृ० २६५.
६. नन्ददास ग्रंथावली, पृ० २१२.
७. अंकुरित पुन्य फले पाछिले पहर के । - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३४, पृ० २७१.
८. तुलसी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४३६.
९. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १५५.

दान देने से भी पुण्य-लाभ होता है ।[1] नवजात बालक के पैर का अंगूठा चूमकर उसे दीर्घायु होने का आशीर्वाद देता है ।[2] नये-नये कार्मों के श्रीगणेश के पूर्व विप्रों से स्वस्तिवाचन कराते थे । सूरदास ने कृष्ण के पहली बार करवट लेने पर स्वस्तिवाचन होने का उल्लेख किया है[3] और नन्ददास ने नामकरण-प्रसंग में इसकी ओर संकेत किया है ।[4] मध्ययुग के कवि सर्प-मणि का उल्लेख करना नहीं भूले । लोगों का विश्वास है कि सर्प के पास मणि है, जिसे वह बड़ी सावधानी से सहेजता है । सूर-तुलसी आदि कवियों ने इसका चित्रण किया है । गोपियां सर्प-मणि के समान कृष्ण की देख-भाल करने को तैयार हैं ।[5] गोस्वामी तुलसीदासजी ने सर्पमणि का उल्लेख `मानस` में किया है । जिस प्रकार सर्प को मणि अधिक पसंद है उसी प्रकार कौशल्यादि माताएं सुन्दर बहुओं को गोद में लेकर सुलाती थीं ।[6] कैकेयी ने जब वरदान के रूप में रामजी को चौदह वर्ष का वनवास किया तब राजा दशरथ ने उसे समझाते हुए कहा कि अगर पानी के बिना मछली नहीं जीती है और बिना मणि के सर्प नहीं जी सकता तो मैं भी राम के बिना नहीं जी सकता ।[7]

परंपरागत मान्यताएं

यात्रा विचार —

मध्ययुगीन कवियों ने यात्रा विचार से संबंधित विश्वासों का वर्णन किया है । पद्मावतकार ने इसका जीता-जागता वर्णन किया है । यात्रा के पूर्व यह निश्चित करना चाहिए कि किस दिशा में, किस दिवस, किस तिथि और किस गृह में जाना है । अब इस यात्रा विचार से सम्बन्धित कुछ विचारों का उल्लेख करेंगे

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८५, पृ० ७०१.
२. वही, वही, पद ६३, पृ० २८२.
३. सूरसारावली, छंद ४२१.
४. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६.
५. गोद खिलाइ पिआइ देह पय, पुनि पालनें झुलायौ ।।
देखति रही फनिग की मनि ज्यौं गुरुजन ज्यौं न भुलायौ ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३५३६, पृ० १३३२.
६. सुंदरि बधुन सासु लै सोई । फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई ।।
- मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ५६१.
७. जिअइ मीन बरु बारि बिहीना । मनि बिनु फनिकु जिअइ दुख दीना ।।
कहउं सुभाउ न छलु मन माहीं । जीवनु मोर राम बिनु नाहीं ।।
- वही, अयोध्याकांड, चौ० १, पृ० ५५.

दिवस विचार :

कबीरदासजी ने सप्ताह के प्रत्येक दिवस का महत्व बताते हुए कहा है कि आदित्य (रविवार) को भक्ति का आरंभ करो और शरीर रूपी मंदिर को संकल्प के स्तंभ से सहारा दो। मन:साधना से भक्त रात-दिन प्रभु में चित्त लगाता हुआ अनहद नाद की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सोमवार ब्रह्मरंध्र से अमृत स्रवित होता है। इस रस के पान से समस्त ताप या विष नष्ट हो जाते हैं। इस महारस को पीने वाला मन है और जिह्वा इसके सम्मुख अन्य सांसारिक वस्तुओं के रस को बन्द रखती है। मंगलवार को साधक पंचविषयों की रीति को छोड़कर माहिष्म ध्वजा का जप करे। वह संसार रूपी घर को छोड़कर प्रभु भक्ति रूपी घर में प्रवेश करता है। इसके विपरीत करने पर राजा राम रुष्ट हो जाएगा। बुधवार को अपनी बुद्धि का प्रकाश करना चाहिए। हृदय रूपी स्थिर कमल में हरि का निवास है। गुरु कृपा से द्वैत का भ्रम, ऊर्ध्व समाधि द्वारा कमल भेदन कर मिटा देती है। इस तरह हृदयस्थ ब्रह्म का दर्शन होता है। बृहस्पति को त्रिदेव — ब्रह्म, विष्णु, महेश — को एक साथ ब्रह्म के रूप में लाना चाहिए। वे समस्त इन्द्रिय वासना नष्ट कर देते हैं। जहां तीनों - आंख, नाक एवं मस्तिष्क - का संधि-बिन्दु है, वहीं त्रिकुटी है। इसी में अहर्निश अपनी वृत्ति केन्द्रित रखते हुए योगी को अपना समस्त पाप-कलुष धो देना चाहिए। शुक्रवार को महारस का पान कर भक्ति में मग्न होना चाहिए। शनिवार को जो अपने हृदय को स्थिर करके रखता है वह अपने शरीर में ज्योति के दीपाधार को प्रज्वलित करता है, जिससे शरीर के बाह्य और भीतर में प्रकाश हो जाता है और कर्म-जंजाल कट जाता है। जब तक साधक के हृदय में ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी एक भावना है, तब तक इस शरीर रूपी महल से कोई लाभ नहीं है। कबीर कहते हैं कि जब साधक अपनी वृत्तियों को राम में रमा देता है तब उसका अंग-प्रत्यंग निर्मल हो जाता है।[१]

'पद्मावत' में राजा रत्नसेन की विदाई के प्रसंग में दिशा-शूल या दिवस-विचार किया गया है। रविवार और शुक्रवार को पश्चिम दिशा की ओर

---

१. (क) कबीर ग्रंथावली, पद ३६२, पृ० ५५२-५५३.
(ख) संत कबीर — डा० रामकुमार वर्मा, पद ७७, पृ० ८७-८९.

यात्रा करना अच्छा नहीं । इसी प्रकार बृहस्पतिवार को दक्षिण, सोमवार और शनिवार को पूर्व, मंगल एवं बुध को उत्तर की ओर यात्रा करना अशुभ एवं अमंगलकारी है । यदि किसी भी कारणवश यात्रा करना अनिवार्य हो, तो मंगलवार को मुंह में धनियां लेकर, शुक्रवार को मुंह में राई रख कर, बृहस्पतिवार को दक्षिण में जाना हो तो गुड़ रखकर, रविवार को पान चबाकर, शनिवार को बायविडंग मुंह में डाल कर, बुधवार को दही खाकर यात्रा करो । उसी प्रकार यह विश्वास भी प्रचलित था कि सोमवार के दिन यात्रा के लिए निकलने से पूर्व दर्पण देखना चाहिए ।[१]

तिथि-विचार

कबीर के अनुसार पन्द्रह तिथियां और रात-दिन होते हैं । इनका बार-पार नहीं । ये अपरंपार हैं । जो साधक और सिद्ध इस रहस्य को देख पाते हैं वे स्वयं कर्ता और देवता हो जाते हैं । तिथि विचार करते हुए कबीर कहते हैं कि प्रतिपदा के दिन प्रभु का विचार करना चाहिए । द्वितीया के दिन साधक को अपने अंगों का सार खींचना और माया एवं ब्रह्म के साथ समान रूप से रमण करना चाहिए, जिससे शरीर में अपार अघट (निराकार प्रभु) क्रीड़ा करेगा । इसके अतिरिक्त उसमें मृत्यु का भय नहीं होता । तृतीया को तीनों गुण - सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण - को समान रूप से स्थिर कर ले । इससे वह आनंद का मूल परम पद प्राप्त करेगा । चतुर्थी को अपने मन में हमेशा प्रभु का जप करो, पंचमी को पंच तत्वों के विस्तार में कनक और कामिनी दोनों का व्यवहार देखो। षष्ठी को साधक छ: चक्रों की छहों दिशाओं में दौड़ता है, पर उन चक्रों के परिचय के बिना वह स्थिर नहीं रहता । सप्तमी को अपनी वाणी को पवित्र बनाना चाहिए, जिससे समस्त संशय छूट जाएंगे और दु:ख का नाश होगा । अष्टमी को अष्ट धातुओं से बना हुआ यह शरीर परम ऐश्वर्यवान कुलरहित निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार करेगा । नवमी को नवों द्वारों की साधना करनी चाहिए और चंचल मनोवृत्तियों को भूल जाना चाहिए । दशमी को भ्रम छूटने पर जब

---

१. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४७०-४७१.

गोविन्द से मिलाप होगा तो चारों दिशाओं में आनंद छा जाएगा । एकादशी को एक ही दिशा में प्रवाहित होना चाहिए, जिससे शरीर का समस्त संकट दूर हो जाता है । द्वादशी को बारह सूर्यों का उदय होता है और दिन-रात अनहद नाद का मंगलमय बाजा बजता है । उस समय तीनों लोकों के स्वामी का दर्शन होता है और जीव स्वयं ब्रह्म हो जाता है । त्रयोदशी के दिन साधक को ब्रह्म के यश-गान में प्रवेश करना चाहिए । चतुर्दशी को ब्रह्म चौदह लोकों के मध्य रोम-रोम में निवास करता है, जिससे ब्रह्मत्व को जल्दी प्राप्त किया जा सकता है। पूर्णिमा के दिन आसमान में पूर्ण चंद्र शोभित होता है । उसकी शोभा से सहज प्रकाश फैल जाता है । कबीर कहते हैं कि आदि और अंत के मध्य में स्थिर होकर रहना चाहिए तब साधक सुख-सागर में लीन होता है ।[१]

तिथि-विचार पर जायसी ने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन किया है । महीने की बारहवीं, उन्नीसवीं, चौथी, सत्ताईसवीं पश्चिम दिशा की; नवीं, सोलहवीं, चौबीसवीं, पहली तिथियों में पूर्व-दक्षिण कोण की; तीसरी, ग्यारहवीं, छब्बीसवीं अठारहवीं तिथियों में दक्षिण दिशा की यात्रा अशुभ है । दूसरी, पच्चीसवीं, सत्रहवीं, दसवीं तिथियों में दक्षिण-पश्चिम की यात्रा शुभ है । तेईसवीं,तीसवीं, आठवीं, पन्द्रहवीं तिथि को उत्तर-पूर्व में यात्रा शुभ है । बीसवीं, अठाईसवीं, तेरहवीं, पांचवीं तिथियों में उत्तर-पश्चिम कोण की यात्रा अमंगलकारी है । चौदहवीं, बाईसवीं, उन्नीसवीं, सातवीं तिथियों में यात्रा वर्जित है । इसी प्रकार इक्कीसवीं, छठी,और चौदहवीं तिथियों को उत्तर-पूर्व की यात्रा वर्जित है।[२]

ग्रह-विचार

पड़वा और नौमी को पूर्व की; द्वितीया और दशमी को उत्तर की,तृतीया और एकादशी को आग्नेय कोण की एवं चतुर्थी और द्वादशी को दक्षिण-पश्चिम की यात्रा अमंगलकारी है । पंचमी तृतीया को दक्षिण दिशा, षष्ठी और चतुर्दशी को पश्चिम दिशा की, सप्तमी और पूर्णिमा को वायव्य कोण की तथा

---

१. संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद ७६, पृ०८४-८६.
२. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४७२.

अष्टमी और अमावस्या को ईशान कोण की यात्रा शुभ है । यात्रा में अनेक पुण्य काम देते हैं । यात्रा के समय दाहिनी भाग फड़कना, चन्द्रमा को देखना आदि शुभ शकुन हैं । इसके अतिरिक्त अश्विनी, भरणी, रेवती, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, मूल, ज्येष्ठा, हस्त और अनुराधा नामक नक्षत्र भी यात्रा के लिए शुभकारी हैं ।[१]

ग्रह-नक्षत्र-तिथि विचार

कोई शुभ कार्य करते समय उसका मुहूर्त शोधने की रीति प्राचीन है । रामायण-काल में दैनिक जीवन में ज्योतिष अथवा मुहूर्तशास्त्र को बड़ा महत्व प्राप्त था । प्रत्येक नवीन कार्य को शुभ मुहूर्त में आरंभ करने का विशेष ध्यान रखा जाता था ।[२] मध्ययुग में कोई विशेष कार्य करते समय ग्रह, नक्षत्र, तिथि देखने की प्रथा थी । जायसी ने पद्मावती के 'जन्म-खंड-प्रसंग' में उसकी जन्मपत्री तैयार करने की बात कही है ।[३] कृष्ण के अन्नप्राशन के समय ब्राह्मणों से शुभ घड़ी और दिवस निश्चित कराया जाता है ।[४] परमानन्ददास ने कृष्ण-जन्म की तिथि आदि पर विचार करते हुए कृष्ण पक्ष, भादों की अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र और बुधवार आदि की बात कही है ।[५] अयोध्या में रामचन्द्रजी का जन्म चैत्र शुक्ला नवमी तिथि को हुआ । उस दिन का नक्षत्र योग ग्रह लग्न आदि सभी शुभ थे ।[६] बसंत पंचमी में जो सगाई आती है वह तिथि और नक्षत्र सब के लिए शुभ होता है । सूर ने 'बुध-रोहिणी-अष्टमी-संगम' पर भी विचार किया है ।[७]

---

१. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४६६-४७१.
२. रामायणकालीन संस्कृति डा० शांतिराम नानूराम व्यास, पृ० ३३.
३. पद्मावत, व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६२.
४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८८, पृ० २९०-२९१.
५. कृष्ण पच्छ भादों निसि आठैं नच्छत्र रोहिनी और बुधवार ।।
- परमानन्दसागर, पद ३६, पृ० १२.
६. गीतावली, बालकांड, पद २, पृ० २०.
७. बुध-रोहिनी-अष्टमी-संगम, बसुदेव निकट बुलायौ ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४, पृ० २५७.

होली खेलते समय भी तिथि-विचार होता था ।[१] इस प्रकार किसी मांगलिक कार्य के पूर्व उसके लिए तिथि, दिवस, नक्षत्र आदि शोधने की प्रथा उस समय भी थी ।

भाग्यवाद (हस्तरेखा एवं भाल-रेखा)

मनुष्य को अपनी विद्या, धन, आयु आदि से सम्बन्धित अनेक बातों का ज्ञान लोकमान्यता के अनुसार हाथ, भाल आदि की रेखाओं से होता है । मध्य युगीन कवियों ने अपनी रचनाओं में इस ओर भी जरा निरीक्षण किया है । विद्यापति का मत है कि अपने हाथ की कुटिल रेखायें मिटाने पर भी नहीं मिट सकतीं ।[२] हर व्यक्ति का भाग्य उसके साथ होता है ।[३] किसी पर भाग्य-देवता का अनुग्रह अधिक होता है तो किसी पर कम ।[४] जब अंगद के पिता की मृत्यु हुई तब वह बड़ा दु:खी हो गया । उस समय रामचन्द्रजी उसे सांत्वना देकर कहते हैं कि विधि-संयोग को कोई भी नहीं टाल सकता । जो होना है, होकर ही रहेगा। मीरा गिरिधर की प्राप्ति पूर्व जन्मकृत पुण्य का फल मानती है ।[६] अपने भाग्य में जो आता है उसे लोग पूर्वजन्म के संस्कार एवं सुकृत्यों का फल मानते हैं ।[७] कृष्ण की इन्द्र-पूजा के समय गोविन्दस्वामी ऐसा कहकर भाग्यवाद के प्रति अटल विश्वास प्रकट करते हैं कि कर्म में जो लिखा है वह मिलेगा ।[८]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २९१४, पृ० ११६६.
२. मेटिए न रेख ललाम । — विद्यापति की पदावली, पृ० ३४५.
३. भाग आपनौ अपने माथे, मानी यह मनहिं सही ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १३५१, पृ० ७३०.
४. वही, पद १७८५, पृ० ८६६.
५. कुल, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परैं सो गहियै ।
- वही, प्रथम स्कंध, पद ६२, पृ० २१.
६. मीरां के गिरिधर मिल्याजी पूरब जनम को भाग ।
- मीरा-माधुरी, पद ७२.
७. पूरब जन्म सुकृत फल पायो अति पवित्र मानुषा अवतार ।
- परमानन्दसागर, पद ८४०, पृ० २९५.
८. कर्म लिखि सोई पुनि ह्वै है सुरपति आई कहा तुम दैहै ।
- गोविन्दस्वामी०, पद ७०.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' एवं 'गीतावली' में भाग्य के संबंध में कहा है। महर्षि नारद ने पार्वती के पति की विशेषता बताते हुए कहा कि वह योगी, जटिल, काम रहित, मतवाला, नंगा और अशुभ वेष वाला है।[१] नारदजी ने पार्वती के पति के बारे में जिन दोषों का परिचय दिया था वे सब सत्य सिद्ध होते हैं। नारदजी ने इन रेखाओं से सम्बन्धित धारणा को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्रह्मदेव से जो ललाट पर लिखा गया है उसे देव, दनुज, नर, नाग, मुनि कोई मिटा नहीं सकता।[२] 'गीतावली' में एक ऐसे आगमी या ज्योतिषी की चर्चा हुई है जो हथेली और हस्तरेखा देखकर सब के भाग्य और दुर्भाग्य के बारे में बतलाता था –

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो।।[३]

इस प्रकार भाल-लेखा और हस्त-रेखा देखने की रीति मध्य युग में प्रचलित थी, जो आज भी सर्वप्रचलित है।

हिन्दी भक्तिकालीन काव्यों पर धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव –

प्रत्येक साहित्यकार की कृतियों पर अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक रचनाओं का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुगीन कवि भी इस तथ्य से अछूते नहीं रहे। उन पर विशेष रूप से प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों का असर अधिक पड़ा। भक्तिकालीन विभिन्न शाखाओं के कवियों पर इन धार्मिक ग्रंथों की जो छाप लगी उसका वर्णन नीचे किया जाएगा।

ज्ञानाश्रयी शाखा

संत कवियों के काव्यों में पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का प्रभाव पड़ा है।

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा ६७, पृ० १४७.
२. कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार।। – वही, वही, दो० ६८, पृ० १४८
३. गीतावली, बालकाण्ड, पद १७, पृ० ५७.

संत परंपरा के श्रेष्ठ प्रवर्तक कबीर की कई बानियों में अनेक प्रकार की रचनाओं के साथ भाव, भाषा अथवा वर्णन शैली विषयक साम्य दीख पड़ता है। चौरासी सिद्धों के सिद्धांत और आदर्शों का अनुकरण कबीर ने किया है। इसके अनुसार उन्होंने अपनी दो रचनाओं में `संशयग्रस्त` तथा `माया में निरत` का प्रयोग किया है। सिद्ध सरहपा के `दोहा कोष` के दोहों के समान अर्थ वाले दोहों का प्रयोग कबीरदासजी ने किया है। सिद्ध सरहपा के अनुसार जहाँ तक मन तथा पवन की गति नहीं और जहाँ सूर्य तथा चन्द्रमा का भी प्रवेश नहीं हो पाता, वहीं पर तू अपने चित्त को विश्राम दे।[१] सरहपा के इस उपदेश के समान अर्थवाले साखी के द्वारा कबीर ने कहा है कि जिस वन तक सिंह की पहुंच नहीं और जो पक्षी की पहुंच के बाहर है तथा जहाँ पर रात-दिन का भी अस्तित्व नहीं, वहां पर कबीर अपनी सहज समाधि में लीन है।[२]

सिद्ध सरहपा के समान सिद्ध भुसुकुपा[३] के एक चर्यापद की कुछ पंक्तियों का भाव भी कबीर साहब[४] में मिलता है। सिद्ध भुसुकुपा की ही भाँति सिद्ध कण्हपा के कथनों से साम्य रखने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी कबीर ने किया है।[५] पंडित सिद्ध कण्हपा के समकालीन तंतिपा या ढेण्ढणपा नामक एक सिद्ध थे जिनकी कुछ पंक्तियों का अक्षरशः अनुवाद `कबीर ग्रंथावली` के कुछ पदों में मिलता है।[६]

---

१. जैहि मण पवण ण संचरइ, रविससि णाह पवेस।
   तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस।।
   - दोहा कोष, कलकत्ता संस्कृत सीरिज, दो० २५, पृ० २०.
२. जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़ै नहीं जाइ।
   रैनि दिवस का गमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ।।
   - कबीर ग्रंथावली, साखी १, पृ० १५१.
३. चर्यापद, कलकत्ता, पद ४३, पृ० २०७.
४. कबीर ग्रंथावली, पद ४०२, पृ० ५७७.
५.(क) दोहाकोष, कलकत्ता संस्कृत सीरिज, दोहा ३२, पृ० ४६.
   (ख) कबीर ग्रंथावली, साखी १६, पृ० १३६.
६. चर्यापद, कलकत्ता, चर्या ३३, पृ० १६०; कबीर ग्रंथावली, पद ८०, पृ० ३८६.

कबीर की बानियों पर सिद्धों के अतिरिक्त नाथ-कवियों की रचनाओं का भी असर पड़ा है। गुरु गोरखनाथ का नामोल्लेख कबीर ने अपनी बानियों में कई स्थलों पर किया है।[१] गोरखबानी के समान अर्थ वाली अनेक बानियों की रचना कबीर ने की है।[२] नाथ कवियों की ही भांति कबीर की रचनाओं में कई स्थलों पर जैन-मुनियों की कृतियों से साम्य रखने वाले पद भी मिलते हैं। जैन मुनि रामसिंह[३], योगीन्दु[४] आदि की रचना 'पाहुड़ दोहा' का भाव कबीर साहब की साखी के समान जान पड़ता है। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के जैन-कवि सोमप्रभसूरि की रचना 'कुमारपाल प्रतिबोध' का प्रभाव भी कबीर की रचनाओं पर पड़ा है। कवि सोमप्रभसूरि ने लिखा है - "हे प्रियतम, मैं तेरी विरहाग्नि में सारा दिन बेचैन रही, मेरी दशा उस मछली के समान थी जो थोड़े से जल में तड़फड़ाती रह जाती है।"[५] कबीर ने इसका प्रयोग यों किया है — "हे केशव, मैं तेरे विरह में इस प्रकार तड़प रहा हूं जैसे छिछले जल में पड़ी हुई किसी मछली को पानी से उदर न भर सकने के कारण, तालावेली लग जाया करती है।"[६] इस तरह का वर्णन 'ढोला मारू रा दूहा' में भी किया गया है। इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि कबीर पर 'ढोला मारू रा दूहा' का भी प्रभाव पड़ा है। 'ढोला मारू रा दूहा' में एक स्थान पर प्रेमिका मारवणी द्वारा इस प्रकार कहा गया है - "रात के समय जो सारस पक्षी करुण स्वर में बोले तो

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद २३२, पृ० ४७५; पद १६३, पृ० ४३३.

२. (क) नींझर झरणें अंमीरस पीवणं षटदल बेध्या जाइ।
   चंद बिहूंणां चांदिणां तहां देख्या श्री गोरष राइ ॥
   - गोरख बानी, सबदी १७१, पृ० ५८.

   (ख) मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुंचा जाइ।
   देख्या चंद बिहूंणां चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ॥
   - कबीर ग्रंथावली, साखी १५, पृ० १३१.

३. पाहुड़ दोहा, कारंजा जैन सीरीज, दो० ४१, पृ० १४; क०ग्रं० साखी ८, पृ० १०६.

४. हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० २५१ पर उद्धृत;, क०ग्रं०, सा० २४, पृ० ११३.

५. पिय, हउं थक्किय सयलु दिणु, तुह विरहग्गि किलंत।
   थोडइ जल जिम मच्छलिय, तल्लोविल्ल करंत ॥ - ढोलामारू रा दूहा, ना०प्र०सभा पृ० १५२, प्रस्तावना में उद्धृत।

६. बोंडे जलि जैसे मछिका, उदर न भरई नीर।
   त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन ताला वेली कबीर ॥ क०ग्रं०, पद ११६, पृ० ४०६.

उनके शब्दों से सारा सरोवर गूंज उठा; भला, जिनकी जोड़ी बिछुड़ गयी है, उनकी क्या दशा होगी ?'[१] कबीर ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है – 'आकाश में उड़ते हुए कुंज पक्षी इस प्रकार करुण स्वर में बोल उठे कि सारा ताल उनकी चीत्कारपूर्ण पुकार से भर गया। भला, जिनका वियोग अपने इष्ट गोविन्द से है उनकी क्या दशा होगी और वे किस आर्त स्वर के साथ उन्हें पुकारते होंगे ?'[२] इसके अतिरिक्त कबीर ने अपनी रचनाओं में संत जयदेव तथा संत नामदेव का नामोल्लेख किया है, जो उनके पूर्ववर्ती संतों में गिने जाते हैं।[३]

इस प्रकार उपर्युक्त बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीर ने उपलब्ध सामग्री का सदुपयोग भली प्रकार किया है।

प्रेमाश्रयी शाखा

हिन्दी साहित्य जगत में प्रेमगाथाओं की एक सुदृढ़ परंपरा है। कुछ समय पूर्व तक इन प्रेमकथाओं का नाम मात्र ज्ञात था, कुछ के नाम तक अज्ञात थे। प्रेमगाथा-परंपरा का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमगाथाओं का आधार और मूलस्रोत कोई न कोई प्रेम-कथा होती है। कवि उस कथा में अपने कल्पना-विलास का सौन्दर्य भर देता है। इस प्रेम-कथा को कवि प्राय: दोहा, चौपाई, छन्द में प्रबन्धकाव्य की किसी परंपरा के अनुसार प्रस्तुत करता है, इस कथा में लोकतत्व की प्रधानता होती है। ऐतिहासिक तथ्यों को भी लोकवार्ता के माध्यम से गृहीत किया जाता है।[४]

---

१. राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
   जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल।।
   – ढोला मारू रा दूहा, मूल पाठ दूहा ५३, पृ० १७.

२. अंबर कुंजां कुरलियां, गरजि भरे सब ताल।
   जिनि थें गोविंद बीछुटे, तिनके कौंण हवाल।।
   – कबीर ग्रन्थावली, साखी २, पृ० ११७.

३. संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव।। – क०ग्रं०, पद ३८७, पृ० ५६७.

४. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य – डा० शिवसहाय पाठ, पृ० ४८-४९.

सूफी प्रेमाख्यानक परंपरा के कवि अपने काव्य में कथा का वही रूप ग्रहण करते हैं जो जन-साधारण में सर्वप्रचलित है। वे लोक-जीवन, लोकगीत अथवा लोक-कथाओं का एक रूप है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सूफी प्रेम-काव्य गुणाढ्य की बृहत्कथा से चली आती हुई प्रेम-कथाओं की परंपरा में आते हैं, ये सभी कथाएं लोकजीवन की परंपरा से गृहीत हैं। परिणामत: हम देखते हैं कि सभी सूफी प्रेमकाव्यों में अद्भुत साम्य है। चन्दायन, मृगावती, पद्मावत, मधुमालती, चित्रावली, कनकावली प्रभृति प्राय: सभी काव्यों की कथाओं का मूलस्रोत एक ही है - लोक-जीवन की कोई प्रेम-कथा।[1] सूफी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं, वे सब हिन्दुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं, जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने बहुत कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू है। मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति-सूत्र में बद्ध दिखाकर एक अखण्ड जीवन-समष्टि का आभास देना हिन्दू-प्रेम कहानियों का वैशिष्ट्य है। मनुष्य के घोर दु:ख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं, पशु-पक्षी भी संदेश पहुंचाते हैं। यह सब इन कहानियों में मिलता है।[2]

उपर्युक्त कथनों से यह अनुमान कर सकते हैं कि लोक प्रचलित कथानक ही प्रेमाख्यानकों के मूलस्रोत हैं। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि प्रेम-काव्य की कथायें अधिकतर काल्पनिक ही हैं, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ इतिहास की सहायता से अपने पद्मावत की कथा का निर्माण किया है। रत्नसेन की सिंहल-यात्रा काल्पनिक है और अलाउद्दीन का पद्मावती के आकर्षण में चित्तौर पर चढ़ाई करना ऐतिहासिक है।[3] अत: जायसी का पद्मावत कल्पना और इतिहास का मणिकांचन संयोग है। जायसी ने पद्मावत में चित्तौर, दिल्ली, अलाउद्दीन का जो वर्णन किया है वह ऐतिहासिक है, शेष समस्त वर्णन कवि-कल्पना प्रसूत है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१.
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२.
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५१८.

प्रेमगाथाओं की मूल कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है —

(१) नायक किसी दूत या अन्य माध्यम से नायिका की प्रशंसा सुनता है या दर्शन करता है और उसपर मुग्ध हो जाता है या दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं।

(२) नायक नायिका को प्राप्त करने के लिए गृह-त्याग कर चल पड़ता है।

(३) मार्ग के प्रत्यूह-मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु वह उन्हें पार कर जाता है।

(४) उसकी रक्षा भी होती है।

(५) दैवी या अमानवीय शक्ति उसकी सहायता करती है, अन्त में वह नायिका को प्राप्त कर लेता है और घर लौटता है।

(६) लौटते समय भी विघ्न आते हैं, किन्तु वह पार हो जाता है।

(७) अंत में मिलन होता है।

(८) दु:खान्त।

किसी न किसी रूप में ये तन्तु प्राय: सभी प्रेमगाथाओं में मिलते हैं। एक आठवां तन्तु दु:खान्त का है, जिसमें किसी कारण से नायक-नायिका में व्यवधान हो जाता है और एक या दोनों की मृत्यु हो जाती है।[१] इसके अलावा सभी प्रेम-गाथाओं में बारहमासा, युद्धवर्णन, सती होना आदि वस्तुओं का भी उपयोग हुआ है।

सूफी कवि जायसी ने स्थान-स्थान पर हिन्दू धर्म की रीतियों और कथाओं का प्रयोग किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि जायसी हिन्दू धर्म के ग्रंथों से नितांत अपरिचित नहीं थे। उन्होंने सूफी फकीरों और साधु-संतों का सत्संग किया था। जायसी के 'पद्मावत' के अनेक स्थानों पर वेदों के नाम दिये गये हैं।[२] उन्होंने एक और स्थान पर चारों वेद, अमरकोश,

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन : डा० सत्येन्द्र, पृ० २७३-२७४.

२. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६९.

महाभारत, पिंगल, गीता, भास्वती ज्योतिष, व्याकरण, पुराण आदि धार्मिक ग्रंथों का उल्लेख किया है ।[१] इसके अतिरिक्त जायसी ने धर्म-ग्रंथों का प्रतिपादन `पद्मावत` के आरंभ में किया है ।[२] इसी प्रकार `पद्मावत` के `स्तुतिखण्ड` में मुस्लिम धार्मिक-ग्रंथ `कुरान` का संकेत मिलता है ।[३]

जायसी के अन्य काव्य-ग्रंथों में भी इस प्रकार का प्रभाव परिलक्षित है । `आखिरी कलाम` की रचना कुरान तथा अन्यान्य धर्म-ग्रंथों के आधार पर हुई है ।[४] इसी तरह सूफी कवियों की रचनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों के धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव अवश्य पड़ा है ।

कृष्ण-भक्ति-शाखा :

संस्कृत साहित्य के विभिन्न पुराण ग्रंथों का प्रभाव मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्यों पर पड़ा है । निम्नलिखित ग्रंथों का प्रभाव इन ग्रंथों पर देखा जासकता है --

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का महान् ग्रंथ है और भक्तिशास्त्र का सर्वस्व है । वैष्णव आचार्यों का यह उपजीव्य ग्रंथ है । वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है । वैष्णव धर्म के अर्वांतरकालीन लगभग समस्त धार्मिक संप्रदाय भागवत से ही प्रभावित हैं; विशेषत: वल्लभ संप्रदाय तथा चैतन्य संप्रदाय, जो उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ भागवत पुराण को भी अपना उपजीव्य मानते हैं ।[५]

---

१. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १२३.
२. वही, पृ० ८.
३. वही, पृ० १२.
४. जायसी ग्रन्थावली (आखिरी कलाम), पद १४, पृ० १०५३.
५. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव - डा० शशि अग्रवाल, पृ० १८.

हिन्दी के कृष्ण भक्ति काव्य में भागवत की दार्शनिक और विशुद्ध भक्ति का प्रभाव पड़ा है। श्रीमद्भागवत में जिसप्रकार बाईस अवतारों का वर्णन है, उसी प्रकार हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी इन अवतारों का वर्णन किया है। वल्लभ संप्रदाय और उस संप्रदाय के कवियों पर भागवतपुराण का बड़ा प्रभाव पड़ा है। भागवत का भक्ति-निर्भर काव्यात्मक वर्णन ही कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में किया है। इसलिए वे काव्य अधिक सरस और रससिक्त हुए।

वैष्णव आचार्यों में श्री माध्वाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्यदेव आदि के संप्रदायों में श्रीमद्भागवत का प्रभाव है। श्री वल्लभाचार्य ने भागवत को व्यास की 'समाधि-भाषा' कहा है। उनका 'पुष्टि संप्रदाय' भागवत के वाक्य - 'पोषणं तदनुग्रह:' के आधार पर स्थापित हुआ।

श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-लीला, अन्य कथावस्तु और विभिन्न पौराणिक विषयों का वर्णन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में मिलता है। हिन्दी कृष्ण-भक्त काव्य को प्रभावित करने वाले भागवतीय तत्वों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है — सामान्य और विशिष्ट। सामान्य में निर्गुण एवं सगुण भक्तों की आधार-भूमि मिलती है। इसमें भगवत्स्तुति, भगवन्नाम-महिमा, गुरु-महिमा, सत्संग, वैराग्य आदि आते हैं। एक ओर तुलसी,सूर आदि सगुण भक्तों ने भगवान की अपार महिमा और अमोघ शक्ति का उल्लेख किया है,तो दूसरी ओर कबीर आदि निर्गुणधारा के कवियों ने उसका अनुमोदन किया है। श्रीमद्भागवत मध्यकाल का सबसे समर्थ भक्तिशास्त्र होने के कारण सामान्य भक्ति तत्वों के लिए भक्त-कवियों का प्रधान उपजीव्य रहा है। विशिष्ट तत्वों को चार श्रेणी में रखा जा सकता है - श्रीकृष्ण की विविध लीलाएं, श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी, श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व और श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम।

कृष्ण-लीला का सबसे बृहत और लोक-विश्रुत आधार-ग्रंथ है भागवत। महाभारत, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण आदि पूर्ववर्ती समस्त ग्रंथों में श्रीकृष्ण की जो लीलायें वर्णित हैं उनका पूर्ण विकसित रूप श्रीमद्भागवत में व्यक्त किया गया है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों में महाकवि सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन पर भागवत का प्रभाव पड़ा है। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का आधार भी यही था।

कुम्भनदास (संवत् १५२५-१६४०) :

अष्टछाप के सबसे वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास श्रीमद्भागवत के गोपी-प्रेम से विशेष प्रभावित थे और गोपियों की रूपासक्ति के प्रभाव उन्होंने श्रीमद्भागवत से लिया है। देखिए —

> कबहुं देखि हौं इन नैननु ।
> सुन्दर स्याम मनोहरि मूरति अंग अंग सुख दैननु ।
> वृन्दावन-विहार दिन-दिन प्रति गोपवृन्द संग लैननु ।।[1]

उपर्युक्त पद का वर्णन भागवत में यों मिलता है —

> चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
> यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
> पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
> द्याम: कथं व्रजमथो करवाम किंवा ।।[2]

इसी प्रकार कुम्भनदासजी ने श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन, लीला-गान, रास-लीला आदि वर्णनों में श्रीमद्भागवत की कथा का प्रभाव ग्रहण किया है।

सूरदास (संवत् १५३५-१६४०) :

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भागवत का प्रभाव आद्यंत मिलता है। कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास ने श्रीमद्भागवत को सर्वाधिक उपजीव्य बनाया है। `सूरसागर` में `भागवत` के प्रथम स्कंध की प्रथम कथा से लेकर सप्तम स्कंध तक की कथायें बिलकुल नहीं हैं। इसके पश्चात् आठवें अध्याय की कथा से अठारहवें अध्याय तक की कथायें भागवत के अनुसार हैं। इसके बीच ग्यारहवें, बारहवें अध्याय के प्रकरण सूरसागर में नहीं हैं।

---

१. अष्टछाप परिचय (कुम्भनदास काव्य-संग्रह), पृ० १०७.
२. श्रीमद्भागवत, १० २९ ३४.

भागवत के द्वितीय स्कंध की अनेक कथाओं का आधार सूरसागर में मिलता है । उसके दूसरे, तीसरे, छठे, आठवें और दसवें अध्याय सूरसागर में नहीं हैं । भागवत के तृतीय स्कंध में तैंतीस अध्याय हैं । इनमें १३,से १६, २१, २३-२५, २८, ३१ और ३३ वें अध्यायों का संक्षिप्त परिचय ही सूरसागर में मिलता है । चौथे स्कंध के अन्तर्गत सूर ने भागवत के छठे, सातवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें, बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें अध्याय के प्रकरणों का उल्लेख किया है । शेष कथायें भागवत के समान विस्तार से नहीं मिलतीं । पंचम अध्याय में भागवत के पहले, दूसरे, तीसरे, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें से छब्बीसवें अध्याय तक के प्रकरणों को छोड़कर शेष अध्यायों का विषय संक्षेप में ग्रहण किया गया है । षष्ठ स्कंध में भी भागवत का प्रभाव है । इस स्कंध में भी सूरदास ने वर्णाश्रम धर्म के लम्बे प्रसंगों को छोड़कर केवल भागवत-कथा के सूत्र का निर्वाह किया है । सूरसागर के अष्टम स्कंध का श्रीगणेश 'गजामोचन' से होता है, जिसका उल्लेख भागवत के अष्टम स्कंध के द्वितीय अध्याय से प्रारंभ होता है । इसके अतिरिक्त सूरसागर के नवें, दसवें, द्वादश स्कंधों में सूरदास ने भागवत में प्रणीत कथाओं का आधार लिया है ।

सूरदास ने श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-लीला का सांगोपांग वर्णन सूरसागर में किया है । उन्होंने कहीं-कहीं श्रीमद्भागवत के श्लोकों का अनुवाद-सा ही कर दिया है । अब हम सूरसागर और श्रीमद्भागवत में आये कुछ पद्यांशों का उल्लेख करेंगे ।

सूरसागर —

कबहुं धरनि पर बैठि कै, मन में कछु गावत ।[१]

भागवत —

उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्दृशी दारुयंत्रवत् ।[२]

सूरसागर —

किलकत हरद दही, हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई ।[३]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १२२, पृ० ३०२.
२. श्रीमद्भागवत, १०:११:७.
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ११, पृ० २६३.

भागवत --

हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिंचन्त्यो जनमुज्जगुः ।[1]

जिस प्रकार भागवत ने सामान्य प्रेमलक्षणाभक्ति पर ज़ोर दिया, उसी प्रकार सूर ने उस भक्ति को अपनाया । अतः भागवत की अन्तरात्मा से सर्वाधिक तादात्म्य स्थापित करने वाला कृष्ण-भक्त कवि सूर ही है ।

परमानन्ददास (संवत् १५५०-१६४१) :

अष्टछाप-कवि परमानन्ददास ने अपने परमानन्दसागर में भागवतोक्त प्रेम-भक्ति को कृष्ण की चार अवस्थाओं - बाल, कुमार, पौगण्ड और किशोर - की लीलाओं के माध्यम से प्रतिपादित किया है । बाललीला के गान से `स्नेह`, कुमार लीला के गान से `आसक्ति`, पौगण्ड लीला के गान से `व्यसन` और किशोर लीला के गान से `तन्मयता` आदि भाव उपत्पन्न होते हैं ।

गोपियों के कृष्ण-लीला का गान एक पद में श्रीमद्भागवत के एक श्लोक के आधार पर नीचे उद्धृत किया गया है --

परमानन्दसागर --

हरि लीला गावत गोपी जन आनन्द में निसि दिन जाई ।
बाल चरित्र विचित्र मनोहर कमल नैन प्रवचन सुखदाई ।।
दोहन मण्डन खंडन लेपन, मण्डन गृह सुत पति सेवा ।
चारि याम अवकास नहीं पल सुमिरत कृस्न देव देवा ।।
भवन भवन प्रति दीप विराजत कर कंकन नूपुर बाजे ।
`परमानन्द` घोस कौतूहल निरखि पाँति सुरपति लाजे ।।[2]

श्रीमद्भागवत --

या दोहने वहनने मथनोपलेपप्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियो श्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना: ।।[3]

---

१. भागवत १०.५.१२.
२. परमानन्दसागर, पद ८१, पृ० २८.
३. श्रीमद्भागवत, १०.४४.१५.

कृष्णादास (संवत् १५५३-१६३६)

कृष्णादास ने भागवत के गोपीजनों की मधुर-भक्ति को विशेष रूप से ग्रहण कर राधा-कृष्ण की रास और निकुंज लीला का वर्णन किया ।[१] उनका काव्य मधुर-भक्ति-रस-प्रधान है । उन्होंने कृष्ण की विविध लीलाओं, रूप माधुरी, परब्रह्मत्व, गोपी-प्रेम आदि विषयों का भी वर्णन किया है । उन्होंने कृष्ण-जन्मोत्सव का जो वर्णन किया है[२], उसका तुलनीय श्लोक श्रीमद्भागवत में प्राप्त है ।[३]

गोविन्दस्वामी (संवत् १५६२-१६४२) :

गोविन्दस्वामी ने गुसाईं विट्ठलनाथ जी के व्याख्यानों से श्रीमद्भागवत का ज्ञान प्राप्त किया था । इनकी भक्ति सखा-भाव की थी ।[४] इनके द्वारा रचित ५७५ पदों में भागवतीय कृष्ण लीला, कृष्ण की रूपमाधुरी, कृष्ण के परब्रह्मत्व और गोपी-प्रेम के प्रमुखतया वर्णन के अतिरिक्त सामान्य भक्ति-तत्वों, तथा भक्ति की श्रेष्ठता, गुरु-महिमा आदि का भी वर्णन है । पुष्टि संप्रदाय के जो वर्षोत्सव श्रीमद्भागवत पर आधृत हैं उनका वर्णन भी गोविन्दस्वामी ने किया है । यहां गोविन्दस्वामी का एक पद दिया जारहा है, जो आगे दिये गये भागवत के श्लोक का अविकल अनुवाद है —

गोविन्दस्वामी —

अहो पिय कैसेके धरत मृदुल चरन धरनि ।
गिरि की कांकरी अति कठिन तृन अंकुर रसनाधर जियहिं
सुधि किरकरि छतियां जरनि ।
सरसि सुजात गरम की श्रिय मुसत हमारे कठिन उर
सहसा हो न धरि सकें डरनि ।।[५]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त, प्रथम खण्ड, पृ० २५१.
२. अष्टछाप परिचय (कृष्णादास काव्य संग्रह), पृ० २२६.
३. श्रीमद्भागवत, १०.५.
४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त, प्रथम खण्ड, पृ० २६६.
५. गोविन्द स्वामी, पद संग्रह, पद ३५७.

भागवत में –

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु, भीता: शनै: प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां न:[1]

छीतस्वामी (संवत् १५७२-१६४२)

गोसाईं विट्ठलनाथजी ने छीतस्वामी को भक्ति-मार्ग में रुचि दिलायी और श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् को सर्वस्वार्पण करने की शिक्षा दी ।[2] इस शिक्षा को ग्रहण करते हुए छीतस्वामी ने भागवदोक्त विशिष्ट तत्वों में विविध कृष्ण लीलाओं, श्री कृष्ण का रूपमाधुरी, श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व और गोपी-प्रेम आदि का वर्णन किया ।

गोचारण से ब्रज में आगमन का जो वर्णन छीतस्वामी के पदों में मिलता है[3], उसी अर्थ वाले श्लोक भागवत में प्राप्त हैं ।[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण सम्बन्धी जो वर्णन किया है उस सबमें भागवत का प्रभाव है ।

चतुर्भुजदास (संवत् १५८७-१६४२) :

चतुर्भुजदास ने अपने स्फुट पदों में कृष्ण के जन्म से गोपी-विरह तक की ब्रज-लीलाओं का वर्णन किया है ।[5] इनकी रचना में कृष्ण की बाललीला, विनय और विरह भावना के पदों का प्राचुर्य है ।[6] उन्होंने लीलागान, रूपमाधुरी, वेणु माधुरी, गोपी-प्रेम आदि विषयों का वर्णन किया है । माखन चोरी का एक पद देखिए –

घर घर डोलत माखन खात ।
ग्वाल बाल सब सखा संग लिएं सुने भवन धंसि जात ।

---

१. श्रीमद्भागवत १०.३१.१९.
२. अपथ मारग तजि भक्ति मारग रुचि श्री गिरिधर धरदई दिखाई ।
तन मन प्रान समर्पन कीनों श्रीभागवत विधि भई सिखाई ।।
– छीतस्वामी : जीवन और पदसंग्रह, पद ४२.
३. वही, पद १२०.
४. श्रीमद्भागवत, १० : २१ ७.
५. अष्टछाप परिचय, पृ० २७५.
६. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त, प्रथम खंड, पृ० २६३.

> जब ग्वालिन जल भरि घर आई तबहिं मजे मुसकात ।
> 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरनलाल सों नाहिंन कछु बसात ।[१]

इसी भाव का श्लोक भागवत में भी मिलता है ।[२] इसी प्रकार वन-भोजन, रासलीला आदि प्रसंग से लेकर अन्य वर्ण्य-विषयों में श्रीमद्भागवत का प्रभाव पड़ा है ।

नन्ददास (संवत् १५९०-१६४०)

अष्टछाप के कवियों में भक्ति-भाव के गांभीर्य, सर्वलितदृष्टि, रचना-विस्तार और काव्यत्व की दृष्टि से सूर और परमानन्ददास के बाद नन्ददास का ही नाम आता है ।[३] डा० दीनदयालु गुप्त ने नन्ददास के स्फुट पदों और उनके अतिरिक्त जिन १३ ग्रंथों को प्रामाणिक माना है, वे सभी 'कृष्ण भक्ति अथवा कृष्ण चरित से लगाव रखते हैं ।'[४] नन्ददासजी के पदों में श्रीमद्भागवत का माहात्म्य गाया गया है —

> जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि ।
> पसरि पर्‌यो अंधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि ।।
> तिमिर ग्रसति सब लोक-ओक लखि दुखित दया कर ।
> प्रगट कियो अद्भुत-प्रभाउ भागवत-विभाकर ।।[५]

नन्ददासजी ने कृष्ण-चरित के जिन अनेक विषयों का वर्णन किया है उनमें भागवत का प्रभाव पड़ा है । रासलीला का एक पद देखिए —

> कोउ मुरली संग रली रंगीली रसहिं बढ़ावति ।
> कोउ मुरली को छीनि छबीली अद्भुत गावति ।।
> ताहि सांवरो कुंवर रीझि हंसि लेत भुजनि भरि ।
> चुंबन करि सुख-सदन बदन तें दै तमोल ढरि ।।[६]

---

१. अष्टछाप परिचय (चतुर्भुजदास : काव्य संग्रह), पृ० २७६-२९६.
२. श्रीमद्भागवत १० ८
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त, भाग २, पृ० ८६५.
४. वही, प्रथम खण्ड, पृ० ३७४.
५. नन्ददास ग्रन्थावली (रास पंचाध्यायी) - संपादक व्रजरत्नदास, दो० १३-१४, पृ०
६. वही, दो० १६-१७, पृ० ९८.

श्रीमद्भागवत में इसी भाव का श्लोक मिलता है।[1] इसी तरह उनके अन्य वर्ण्य-विषयों में भी भागवत का प्रभाव पड़ा है।

संप्रदाय मुक्त हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि

श्रीमद्भागवत का प्रभाव केवल अष्टछाप के कवियों पर ही नहीं पड़ा बल्कि संप्रदाय मुक्त कृष्ण-भक्त हिन्दी कवियों पर भी पड़ा है। इन संप्रदाय मुक्त हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों में प्रमुख मीराबाई, रसखान, रहीम आदि हैं। इनकी रचनाओं में श्रीमद्भागवत का प्रभाव पड़ा है।

मीराबाई (संवत् १५५५-१६०३ वि०)

गिरिधर लाल की सन्निधि में पैर में घुंघरू बांधकर नाचती हुई मीरा के गीतों में स्पष्टतया श्रीमद्भागवत का प्रभाव दिखायी देता है। मीरा ने कृष्ण की बाललीला, वृन्दावन की प्रेम-लीला, कालिय-दमन, चीर-हरण, वेणु-वादन आदि का वर्णन किया है। इनमें श्रीमद्भागवत की झलक द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए मीरा के काव्य में श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का जो वर्णन मिलता है वह श्रीमद्भागवतानुमोदित है –

सांवरो नंद-नंदन दीठ पड्यां माई।
डार्यां सब लोकलाज सुध बुध बिसराई।
मोर-चन्द्रका कीरीट मुगट छब सोहाई।
केसर रो तिलक भाल, लोचन सुखदाई।
कुंडल झलकां कपोल अलकां लहराई।
मीरां तज सर वर ज्यों मकर मिलन धाई।
नटवर प्रभु भेष धार्यां, रूप जग लोभाई।
गिरिधर प्रभु अंग-अंग, मीरां बलि जाई॥[2]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मीरा के पदों में श्रीमद्भागवत का प्रभाव पड़ा है।

---

१. श्रीमद्भागवत १०.३३; १०.१३.
२. मीरा की पदावली संपादक श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४.

रसखान (संवत् १६४०-१६८५ के लगभग)

रसखान के बारे में विस्तृत वर्णन दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में मिलता है। वे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के कृपापात्र शिष्य थे। रसखान ने जो प्रेमी-हृदय पाया था वह किसी संप्रदाय विशेष के बन्धन में रह ही नहीं सकता था। उस हृदय को, जिसमें इश्क मजाजी - लौकिक प्रेम - लबालब भरा था, इश्क हकीकी - भगवत्प्रेम की ओर सदा के लिए मोड़ देने वाली शक्ति थी, श्रीमद्भागवत। एक दिन जब ये श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे तो उसमें कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम-प्रसंग को देखकर कुछ ऐसे भक्ति-विह्वल हो गये।[1] रसखान ने प्रेमाभक्ति, लीलागान, श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व, गोपी-प्रेम, वेणु-माधुरी आदि विषयों का वर्णन किया है। रसखान ने अपने एक लघुकाय ग्रंथ `प्रेमवाटिका` में जिन प्रेम तत्वों का रूप स्पष्ट किया है[2], वह श्रीमद्भागवत का ही स्पष्ट रूप है।[3] रसखान श्रीमद्भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानते हैं। देखिए -

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोकरियां छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।।[4]

रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना - संवत् १६१०-१६८३ वि०)

अब्दुर्रहीम खानखाना हिन्दी जगत में अपनी भक्ति, नीति, शृंगारमयी दोहावली एवं बरवै नायिका भेद आदि सरस रचनाओं के कारण अत्यंत लोकप्रिय

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास   आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६१.
२. रसखान और घनानन्द   संकलनकर्ता - स्व० बाबू अमरसिंह, पृ० १२-१४.
३. श्रीमद्भागवत ११.२०.३४.
४. रसखान और घनानन्द   संकलनकर्ता - स्व० बाबू अमरसिंह, पृ० २३.

हुए हैं। वे संस्कृत, फारसी और हिन्दी के प्रकांड पंडित थे। उनको संस्कृत-साहित्य से उत्कट प्रेम था। अतः उन्होंने श्रीमद्भागवत जैसे धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया। उनका `रासपंचाध्यायी` नामक ग्रंथ श्रीमद्भागवत को आधार मानकर रचा गया है। इसके अतिरिक्त उनकी कृष्ण-भक्तिपूर्ण कविताओं में भागवत का प्रभाव देखा जा सकता है। इन दृष्टांतों से स्पष्ट है कि संप्रदायमुक्त मध्ययुगीन हिन्दी भक्त कवियों के काव्यों पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव पड़ा है।

विष्णु पुराण

श्रीमद्भागवत के पश्चात पुराणों की श्रेणी में सबसे महत्वपूर्ण स्थान विष्णुपुराण का है। आचार्य रामानुज के `श्रीभाष्य` में इस पुराण के प्रमाण तथा उद्धरण की बहुलता प्राप्त होती है। हिन्दी भक्ति काव्यों पर इस पुराण के दार्शनिक सिद्धांतों और कृष्ण-चरित्र का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है।

ब्रह्मवैवर्त

मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति काव्यों को प्रभावित करने वाले पुराणों में ब्रह्मवैवर्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसमें चार खण्ड हैं - ब्रह्म खण्ड, प्रकृति खण्ड, गणेश खंड और कृष्ण-जन्म खण्ड। इन चारों में ब्रह्मा, देवी, गणेश और श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है। इसके आधे से अधिक भाग में कृष्ण के चरित्र का वर्णन है। अतः कृष्ण का सांगोपांग वर्णन इसमें अधिक मात्रा में मिलता है। इसमें राधा का वर्णन भी विशेष रूप में मिलता है। वैष्णव संप्रदायों में - खासकर गौड़ीय, वल्लभ, राधावल्लभी मतों में - राधा-कृष्ण की लीला, स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जो वर्णन मिलता है उसका मूलभूत स्वरूप ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलता है। इसमें कृष्ण गोपी और कृष्ण की शक्तिभूता राधा के चरित्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है।

इसके अतिरिक्त उस समय और भी अनेक पुराण-ग्रंथ प्रचलित थे, जिनमें पद्मपुराण, बृहन्नारदीयपुराण, वामनपुराण, मत्स्यपुराण, वाराहपुराण,

कूर्मपुराण, भविष्यपुराण, गरुड़पुराण, ब्रह्मांडपुराण, ब्रह्मपुराण, वायुपुराण, स्कंधपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण आदि प्रमुख हैं। इन सब का किसी न किसी रूप में प्रभाव मध्ययुगीन काव्य-ग्रंथों पर पड़ा है।

रामभक्ति शाखा

भक्तिकालीन राम-भक्ति काव्यों पर भी धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के प्रमुख कवि हैं गोस्वामी तुलसीदासजी। उनके रामचरितमानस, जानकी-मंगल, पार्वतीमंगल, गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका आदि काव्य-रचनाओं का आधार संस्कृत साहित्य की अनेक रचनाएं हैं।

रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदासजी के 'मानस' पर अनेक धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है - इनमें वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, श्रीमद्भागवत, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत के दो सौ से अधिक ग्रंथों के श्लोकों को भी चुन-चुन कर उन्होंने रूपान्तर करके मानस में भर दिया है।[१] मानस' का मूल उद्गम वाल्मीकिरामायण है। इसका कथांश भी उसी के अनुसार चलता है। रामचरितमानस के प्रारंभ में 'अध्यात्मरामायण' का प्रभाव अभिव्यक्त होता है। तुलसी ने मूलकथा 'वाल्मीकिरामायण' से, संवाद तथा विवेचन की शैली भक्तिपरक 'अध्यात्मरामायण' से, भाव प्रवणता और आकर्षण का मसाला धार्मिक एवं ललित साहित्य के अन्य उपयुक्त ग्रंथों से लिया है। इसीलिए गोस्वामी जी का कवि रूप 'नानापुराण निगमागमसम्मतं यद्' के बाद ही कह उठा 'रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतो पि'। भागवत का क्रम चलाकर मानों स्वत: व्यासजी ही सिद्ध कर गये हैं कि माधुर्य के लिए महाभारत के अतिरिक्त कुछ अन्यत्र भी - क्वचिदन्यतोऽपि' - टटोला जाय। गोस्वामीजी के 'मानस' में 'रामायण' और महाभारत' की प्रभविष्णुता के साथ ही साथ भागवत की भाव-प्रवणता भी पूरी मात्रा में आ विराजी।

---

१. तुलसीदास और उनका काव्य पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १४२.

अध्यात्म रामायण एवं रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदास के `मानस` में उमामहेश्वर संवाद के रूप में लिखित भाग में अध्यात्मरामायण का प्रभाव विशेष रूप से हुआ है । उसकी संवाद-शैली का भी प्रयोग मानस में है । अध्यात्मरामायण के उमा-महेश्वर को तुलसी ने प्रमुख वक्ता का स्थान दे डाला । अध्यात्मरामायण `श्रीराम हृदय` के अन्तर्गत `सीतारामभरुत्सुसंवाद` में सीता ने श्री शानापेदा `महामतिमान्` `कृतकार्य` हनुमान से राम-तत्व एवं राम-कथा का उल्लेख किया ।[१] उसी को शंकर ने पार्वती को जिज्ञासु जानकर वर्णित किया ।[२] पार्वती ने अपने हृदय के संशय की निवृत्ति करने के लिए शंकर से निवेदन किया कि "कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मास्वरूप होने पर भी राम अपने आत्मस्वरूप से अपरिचित थे और उन्हें वशिष्ठादि के उपदेश प्राप्त होने पर आत्म-बोध हुआ और यदि राम आत्मज्ञानी नहीं थे, साधारण जन की भाँति सीता के लिए विलाप करते थे, तो फिर सभी लोगों द्वारा उनका भजन क्यों किया जाता है ?[३] मानस में भी यह प्रसंग है, लेकिन उसमें निजी सौन्दर्य, माधुर्य एवं सुव्यवस्था है ।[४] मानस और अध्यात्म-रामायण दोनों की कथा में साम्य है । मानस में राम-जन्म के उपरान्त कौशल्या की राम के प्रति स्तुति भी अध्यात्मरामायण से पूर्ण साम्य रखती है । पंचवटी में स्थित राम का लक्ष्मण के प्रति आध्यात्मिक उपदेश भी अध्यात्मरामायण से प्रेरित है । अध्यात्मरामायण की जटायु-स्तुति से भी मानस के जटायु-प्रसंग का साम्य है । किष्किंधाकाण्ड की कथा में भी अध्यात्मरामायण का पूर्णाधार है । हनुमान प्रश्नावली[५], सुग्रीव मैत्री[६], बालि का राम के प्रति भक्ति-अर्पण[७],

---

१. अध्यात्मरामायण १.१.३१.
२. वही, १.१.७ से १६ तक
३. वही, १.१.१२ से १४ तक
४. ~~वही~~ मानस १.१०७.५ से १.१०८ तक
५. अध्यात्मरामायण ४.१.१२-१६; मानस ४.१.४.
६. अध्यात्मरामायण ४.१.४४ ; मानस ४.४.
७. अध्यात्मरामायण ४.२.६५-६६ ; मानस ४.९ से ४.१० तक.

तारा-राम संवाद[1], लक्ष्मण का क्रोधावेश सहित किष्किन्धा नगरी में प्रवेश करना[2] इत्यादि प्रसंगों से पूर्ण साम्य है ।

मानस और अध्यात्मरामायण में सुन्दरकाण्ड की कथावस्तु कुछ-न-कुछ भिन्न होते हुए भी कुछ प्रसंगों में पूर्ण साम्य है । रामस्मरण कर हनुमान का पर्वत पर आरोहण, जलनिधि का मैनाक पर्वत से आग्रह, देवता द्वारा हनुमान के बल-बुद्धि परीक्षणार्थ सुरसाप्रेषण एवं हनुमान का चातुर्य-प्रदर्शन, हनुमान सीता-संवाद का भक्ति-प्रमुख अंश, हनुमान-रावण-संवाद, मधुवन संवाद, राम का हनुमान की कृतज्ञता स्वीकार करना आदि प्रसंगों में नितांत साम्य है ।

मानस के उत्तरार्ध में वर्णित प्रसंग अध्यात्मरामायण के युद्ध-कांड में हैं । विभीषण-राम-मिलन के कतिपय अंश[3], शुक-रावण-संवाद[4] एवं सागर-निग्रह[5] आदि प्रसंगों में भी साम्य है ।

इसके अतिरिक्त अध्यात्मरामायण एवं रामचरितमानस की संदर्भ कथा में अधिक समानता है । अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अध्यात्म-रामायण एवं रामचरितमानस क्रमशः आधार एवं आधेय हैं और भक्ति-प्रवणता दोनों का मूल है ।

आनन्दरामायण एवं रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदासजी के 'मानस' में अन्य रामायणों की भाँति 'आनन्दरामायण' का भी प्रभाव देखा जा सकता है । आनन्दरामायण और 'मानस' की अनेक बातों में साम्य है । दोनों ग्रंथों के वन्दना-प्रकरण में अपूर्व साम्य है । देखिए –

---

१. अध्यात्मरामायण ४.३.१९-३५ ; मानस ४.६ से ४.१० तक.
२. वही, ४.५.२५-२८ वही ४.१८.८ से १९.२ तक.
३. वही ६.३ १-३४ वही ५.४१-४९..
४. वही ६.४ वही ५.५६- ३-७.
५. वही ६.३.६०-८५ वही ५.५७-५९.

रामं रामानुजं सीता भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसुनुं च प्रणमामि पुन: पुन: ।।[१]

कपिपति रीछ निसाचर राजा । अंगदादि जे कीस समाजा ।।[२]
बंदौं सबके चरन सोहाये । अधम सरीर राम जिन्ह पाये ।

रामकथा की अनन्तता 'आनन्द रामायण'[३] एवं 'मानस'[४] दोनों में समान रूप से वर्णित है। दोनों ग्रंथों के रामजन्मोत्सव[५], नामकरण संस्कार[६] आदि में नितांत साम्य है। राजा दशरथ एवं कौशल्या रामादि बालकों की लीला का आनन्दानुभव करते हैं। इसी प्रकार दोनों ग्रंथों में अन्य कार्यों में भी समानता है। राम का गुरु-गृह जाकर विद्याध्ययन[७], जनकपुरी यात्रा की मनोहर झांकी[८], धनुष-भंग-प्रसंग का वर्णन[९], धनुष भंग के लिए प्रस्थान[१०] आदि प्रसंगों में भी समानता है। राम-सीता विवाह-वर्णन[११], बारात का प्रत्यावर्तन सुनकर समस्त अयोध्यापुरी में स्वागतार्थ देव-विमोहक नाना आयोजन होना[१२] आदि में भी साम्य है। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रंथों में और भी अनेक बातों में समानता है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसी ने इस ग्रंथ से मानस-रचना के समय सहायता ली है।

श्रीमद्भागवत एवं रामचरितमानस

श्रीमद्भागवत का प्रभाव केवल कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर ही नहीं पड़ा है बल्कि समस्त भक्ति-साहित्य पर पड़ा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के

---

१. आनन्दरामायण, बालकांड, पृ० ३६.
२. मानस, बालकांड चौ० १, पृ० ५८.
३. आनन्दरामायण, यात्राकांड, १।७-८.
४. मानस, बालकांड, दोहा ३३, पृ० ८८.
५. आ.रा., बालकांड, पृ० २३३; मानस, बाल०, दोहा १९६, पृ० ३३८.
६. वही, सारकाण्ड, सर्ग २।१११ ; वही, दोहा १९६,१९७; पृ० ३३८-३४०.
७. वही, ,, २।२६ ; वही, बाल० चौ० ४, पृ० ३५३.
८. वही, बालकांड, पृ० २६६, वही, बाल० दोहा २१६, पृ० ३७७.
९. वही, सारकांड सर्ग, २।६२ ; वही, ,, दोहा २५६, पृ० ४२०.
१०. वही, बालकांड, पृ० ३०७ ; वही, बाल०, चौ० ४, पृ० ४२७.
११. वही, ,, पृ० ४१२ वही, ,, दोहा ३४२-३४६, पृ० ५७०-५७५.
१२. वही, ,, पृ० ४१३ वही, ,, दोहा ३४४-३४५; पृ० ५७२-५७४.

शब्दों में 'भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और 'भागवतपुराण' का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा ।'[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अमर ग्रंथ 'रामचरितमानस' में श्रीमद्भागवत की भक्ति के आदर्श का उल्लेख किया है । श्रीमद्भागवत के छायानुवाद 'मानस' के अनेक स्थलों पर हुए हैं । अत: इसमें भागवत का व्यापक एवं स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है ।

'भागवत' में भगवान्की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति को ही माना है ।[२] इसमें साधन एवं साध्य रूप में भक्ति का सांगोपांग मनोरम विवरण, सत्संग-महिमा, ज्ञान-भक्ति-समन्वय के सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है । मानस में भागवत की अजमगाती अन्तरात्मा का प्रवेश है । भागवत[३] के इस सिद्धान्त को सार रूप उक्ति तुलसीदास के मानस[४] में देख सकते हैं । श्रीमद्भागवत[५] एवं मानस[६] में कौशल्या के बाल-चरित्र-गान करते हुए वात्सल्य-विभोर होने का उल्लेख है । चारों भाइयों का स्नेह, सह-भोजन एवं पितृाज्ञा-पालन दोनों ग्रंथों में समान रूप से वर्णित है ।[७] राजा दशरथ द्वारा अपने पुत्र-के विवाह के समय ब्राह्मणों का वस्त्राभूषण से पूजन करने का उल्लेख दोनों में समान रूप से पाया जाता है—

भागवत —

अदिमर्न्वादातैर्वासि: स्रग्माल्य भूषणै: ।
विप्रास्त्रिय: पतिमतीस्तथा तै: समपूजयत् ।।[८]

मानस—

विप्रबधू सब भूप बोलाई । चैल चारु भूषन पहिराई ।।
बहुरि बुलाइ सुआसिनि लीन्हीं । रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १७.
२. भागवत ११.१४.२०.
३. वही, २.३.२०.
४. मानस, बालकाण्ड, चौ० १-४, पृ० २१३-२१५.
५. भागवत, बालकाण्ड, पृ० २३८.
६. मानस, बालकाण्ड, दोहा २००, पृ० ३४६.
७. (क) भागवत, बालकाण्ड, पृ० २४५; (ख) मानस, मानस, बालकांड, चौ० ४, पृ० ३४
८. भागवत, बालकांड, पृ० ४२३.
९. मानस, बालकांड, चौ० २-३, पृ० ५८४.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रंगभूमि में विराजमान राम-लक्ष्मण का रूप-वर्णन जिस प्रकार किया है[१], उसी प्रकार भागवत में कृष्ण-बलराम का कंस की रंग-भूमि में पदार्पण होते समय मिलता है ।[२] इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने `मानस` में `भागवत` का भाव ग्रहण किया है । उन्होंने `मानस` में `भागवत` का जो वर्णन किया है वह अत्यंत व्यापक एवं रमणीय है । भागवत के वर्षा और शरद्-ऋतु-वर्णन[३] की प्रतिछाया `मानस` के वर्षा और शरद्-ऋतु-वर्णन में देखी जा सकती है ।[४]

`मानस` में भगवान के विराट व्यंजक का जो वर्णन मिलता है[५] उसमें भागवत के कुछ श्लोकों की झलक मिलती है ।[६] उसी तरह भागवत के कलियुग वर्णन का प्रतिबिम्ब `मानस` की चौपाइयों में स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार `मानस` और `भागवत` का अनेक बातों में साम्य है ।

हनुमन्नाटक एवं रामचरितमानस :

रामचरितमानस के `सीता स्वयंवर प्रसंग` में हनुमन्नाटक की छटा प्रतिबिंबित होती है । सीता-स्वयंवर, जनक-संवाद, धनुष-भंग, परशुराम-संवाद और राम-विवाह की सूचना से प्रथम अंक की समाप्ति होती है । द्वितीय अंक में राम और सीता की शृंगार-चेष्टाओं का उल्लेख है । तृतीय अंक में कैकेयी का वरदान मांगना, राम का वन-गमन, स्वर्ण-मृग पर सीता का मोह आदि वर्णित हैं । राम वन-गमन के अवसर पर भरत-कैकेयी-संवाद में भरत की विह्वल कृत्रिमता और अस्वाभाविकता का स्पर्श करती है ।

---

१. मानस, बालकांड, दोहा २४०-२४१, पृ० ४०८-४०६.
२. भागवत, १०:४३:१७.
३. वही, १०:२०:८, ६, १५, १७, २०, २३, ३८, ३६, ४६.
४. मानस, किष्किन्धाकांड, पृ० ३४-४४.
५. वही, लंकाकांड, दोहा १४-१५, पृ० २०७-२०६.
६. भागवत, २:१:१६, ३८-३४.

`हनुमन्नाटक` में राजा जनक की सभा में बन्दीजन राजा के प्रण की घोषणा करते हैं ।[1] `मानस` में भी इसका वर्णन है, लेकिन धनुष के माहात्म्य का वर्णन तुलसी ने अधिक किया है, क्योंकि राम की महत्ता उस धनुष की महत्ता पर आश्रित है ।[2] सीता-हरण के बाद राम-सीतान्वेषण करते समय अप्रत्यक्ष रूप से सीता के नख-शिख सौन्दर्य का चित्रण करते हैं । इस वर्णन में दोनों ग्रंथों की शैली समान निर्वाह किया गया है ।[3] इसी प्रकार सिंधु तट पर विभीषण का राज्य-तिलक संपन्न होने का आलोचनात्मक विवेचन दोनों ग्रंथों में समान रूप में हुआ है ।[4]

उपर्युक्त बातों से समझ सकते हैं कि `हनुमन्नाटक` और `रामचरितमानस` के अनेक वर्णनों में समानता है ।

प्रसन्नराघव एवं रामचरितमानस

अन्य रामायणों की ही भांति गोस्वामी तुलसीदासजी मानस के अनेक स्थलों पर प्रसन्नराघव नाटक के भी ऋणी हैं । इसका रूप `मानस` में स्पष्ट रूप से फलकता है । गोस्वामीजी ने इस नाटक का सार-संचय कर पुष्पवाटिका एवं स्वयंवर प्रसंगों को मौलिक शैली से सुसज्जित कर दिया है ।

विश्वामित्र-जनक संवाद प्रसंग दोनों ग्रंथों में समानता रखते हैं ।[5] लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के अन्तर्गत लक्ष्मण ने अपनी सहनशीलता के कारण परशुराम का भृगुवंशी ब्राह्मण होने की बात कहना दोनों ग्रंथों में एक ही प्रकार से वर्णित है ।[6] अशोकवाटिका में बंदीकृत सीता के निर्भीक स्वर से रावण का तिरस्कार कर बोलने का उल्लेख दोनों ग्रंथों में नितांत समान है ।[7] इससे यह ज्ञात होता है

---

१. हनुमन्नाटक १।१८.
२. मानस, बालकांड, दोहा २५१, पृ ४२०; चौ० १-२, पृ० ४२०.
३. हनुमन्नाटक ५।१० ; मानस, अरण्य०, दोहा २९, चौ० ८, पृ० ५७३-५७४.
४. हनुमन्नाटक ७।१७ ; मानस, सुन्दर० दोहा ४९, पृ० ९१९.
५. प्रसन्नराघव, पृ० १५८-१५९ ; मानस, बाल०, दोहा २१६,चौ० ४,पृ० ३७३-३७४
६. प्रसन्नराघव, पृ० २१३; मानस, बाल०, चौ० ३, पृ० ४६२.
७. प्रसन्नराघव, पृ० ३३२; मानस, सुन्दर०, चौ० ४५, पृ० ८६.

कि `प्रसन्नराघव` के आधार प्रसंगों में भी तुलसी की मौलिक प्रतिभा अपनी आभा प्रकाशित करती है, जो स्वर्ण में सुगंधि के समान है ।

श्रीमद्भगवद्गीता एवं रामचरितमानस

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी प्रतिभा के कारण श्रीमद्भगवद्गीता की कुछ-न-कुछ भावोत्कर्ष उक्तियों का प्रयोग `मानस` में किया है । स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा कही गयी वाणी को[1] `मानस` के अवतार-प्रकरण में मान्यता दी है ।[2] इसके अतिरिक्त `मानस`[3] में श्रीमद्भगवद्गीता[4] के कुछ श्लोकों का प्रतिबिंब है ।

दोनों ग्रंथों में भगवान् का समदर्शित्व रूप समान रूप से वर्णित है ।[5] संतों के लक्षण का वर्णन करने में दोनों ग्रंथ साम्य रखते हैं । इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने `रामचरितमानस` की रचना के समय भगवद्गीता की भी सहायता ली है और उसके समान अर्थवाले दोहे `मानस` में भी मिल जाते हैं।

अंत में यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस में प्राचीन आर्ष ग्रंथों की उक्तियों का समावेश है ।

जानकीमंगल

`जानकीमंगल` में `अध्यात्मरामायण`, `हनुमन्नाटक`, `प्रसन्नराघव` आदि ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है । अयोध्या में महर्षि विश्वामित्र आते हैं । राजा दशरथ उनका यथाविधि स्वागत करते हैं । राजा मुनि के आगमन का कारण

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे
-गीता ४ ७-८

२. जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
- मानस,बाल०,चौ० ३-४, पृ० २२८.

३. मानस, अयोध्या०, चौ० ४, पृ० १४१.

४. गीता २।३४.

५. गीता, ५।१९ ; मानस, अयोध्या०, चौ० २-३, पृ० ३१५-३१६.

पूछते हैं और कारण सुनकर राजा अधीर एवं मूक हो जाते हैं। महर्षि वसिष्ठ के समझाने पर राजा राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं। इन स्थलों पर तुलसी ने `अध्यात्म रामायण` का अनुकरण किया है। इतना ही नहीं, माता-पिता, गुरु आदि से विदा लेकर राम-लक्ष्मण ऋषि का अनुगमन करते हैं। मार्ग में अनेक सुन्दर दृश्य होते हैं, तारका-वध करते हैं और इससे विश्वामित्र प्रसन्न होकर राम को अनेक अस्त्र देते हैं। मुनि के साथ दोनों भाई जनकपुर के धनुष-यज्ञ को देखने जाते हैं। मार्ग में अहल्योद्धार करते हैं। यहाँ तुलसी ने अध्यात्म-रामायण का अनुकरण किया है।

तुलसीदासजी ने राम-लक्ष्मण की रूप-माधुरी पर पुरजन के मोहित होने और धनुष की कठोरता और राजकुमार राम की सुकुमारता पर विचार करके सब लोगों के धनुर्भंग के सम्बन्ध में चिंतित हो जाने के सम्बन्ध में हनुमन्नाटक[१] की उक्तियों का आश्रय लिया है। उन्होंने `अध्यात्मरामायण`[२] के आधार पर ही स्त्रियों के झरोखों से झांकने का उल्लेख किया है।

`प्रसन्नराघव`[३] के अनुसार रंगभूमि में सीता और राम का एक दूसरे को देखना, बन्दीजन का राजा के प्रण की घोषणा करना आदि का वर्णन किया है। राजा जनक के मन में राम के धनुष तोड़ने के सम्बन्ध में जो शंका उत्पन्न होती है, वहाँ भी तुलसी ने `प्रसन्नराघव`[४] का अनुकरण किया है।

जब राम धनुष तोड़ने के लिए बद्धपरिकर हो जाते हैं तब लक्ष्मण द्वारा भू-भूधरादि को चेतावनी देने का उल्लेख हनुमन्नाटक[५] से लिया है। सीता का धनुष और राम दोनों के बारे में विचार कर चिंतित हो जाना और तरह-तरह के शकुन देखने का वर्णन भी हनुमन्नाटक के अनुरूप है।[६]

---

१. हनुमन्नाटक १।३६-३७.
२. अध्यात्मरामायण, बालकांड ६।३१-३२.
३. प्रसन्नराघव पद ६-१२, पृ० १४.
४. वही, पद १०-१३, पृ० ४७.
५. हनुमन्नाटक १।४०.
६. वही, १।३७, १।३६.

वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुसार राम-विवाह के बाद अयोध्या लौटते समय मार्ग में परशुराम मिलते हैं। उनके संवाद का यहाँ लोप है। इससे यह ज्ञात होता है कि जानकीमंगल में तुलसी ने अन्य धार्मिक ग्रंथों अनुकरण किया है।

पार्वती-मंगल

'पार्वती मंगल' की रचना मुख्य रूप से कुमारसंभव[१] के आधार पर हुई है। कथा के कुछ विस्तारों में 'शिवपुराण' का भी अनुकरण किया है। 'शिवपुराण' के अनुसार एक उक्ति ऐसी है कि मैना द्वारा उमा के भावी वर के बारे में नारद से पूछने पर वे गूढ़ शब्दों में उत्तर देते हैं।[२] 'कुमारसंभव' में नारद ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि यह कन्या प्रेम के कारण शिव की एकमात्र अर्धांगिनी होगी।[३]

इसके बाद माता-पिता की आज्ञा पाकर पार्वती तप करने जाती हैं। यहाँ तारकासुर का कोई प्रसंग नहीं है; लेकिन शिवपुराण और कुमारसंभव दोनों में सुरों का उक्त असुर से संत्रस्त होना पाया जाता है। आधार ग्रंथों में संत्रस्त देव ब्रह्मा से विनय करते हैं। ब्रह्मा की युक्ति के अनुसार इन्द्र काम को बुलाकर समाधिस्थ शिव के मन को क्षुब्ध करने के लिए भेजता है। 'पार्वतीमंगल' में सब देव मिलकर मनोज को बुलाते हैं।[४]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कुमारसंभव का अनुकरण कर 'पार्वतीमंगल' में शिव का बटु-वेष धर कर उमा की प्रेम-परीक्षा लेने का उल्लेख है। शिव-पार्वती के संवाद का आधार ही 'कुमारसंभव' है। पार्वती के अविचल प्रेम से मुग्ध होकर शिव प्रकट होते हैं और 'तवास्मि दास: क्रीतस्तपोभि:'[५] के अनुवाद-स्वरूप 'मंगल' में शिव को कहना पड़ता है 'पार्वती! तप प्रेम मोल मोहि

---

१. कुमारसंभव, सर्ग ५।६.
२. तुलसी रचनावली, पद २१-२२, पृ० ४१२.
३. कुमारसंभव १।५०.
४. तुलसी रचनावली पद २१, पृ० ४१२.
५. कुमारसंभव ५।८६.

लीन्हेउ ।[1]

गोस्वामीजी ने कुमारसंभव के आधार पर ही पार्वती का सखी-मुख से शिव के पास अपनी विनय भेजना, विवाह के निश्चित करने के लिए शिव का सप्तर्षियों को बुलाकर हिमवान् के पास भेजना, हिमवान् द्वारा उनका स्वागत करना, एवं वैवाहिक तिथि निश्चित कर उनका लौट जाना आदि का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त `पार्वती मंगल` की लग्न-पत्रिका, शिव की बारात, वर को देखना, मैना का मोह, शिव द्वारा मैना का मोह निवारण, मैना द्वारा द्वार पर शिव की नीराजना पाणिग्रहण आदि वर्णनों के लिए तुलसी ने शिवपुराण से सामग्री ली है। इसी तरह पार्वतीमंगल में कुमारसंभव और शिवपुराण दोनों का प्रभाव देखा जा सकता है।

श्रीकृष्ण गीतावली :-

यह राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास की कृष्ण के सम्बन्ध में लिखित इकसठ पदों की एक छोटी रचना है, जिसका आधारग्रंथ भागवतपुराण है।

गीतावली

तुलसीदासजी की `गीतावली` में वाल्मीकिरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, अध्यात्मरामायण, भागवत आदि ग्रंथों का अनुकरण हुआ है। `गीतावली` में अहल्योद्धार की घटना `अध्यात्मरामायण`[2] के अनुसार मिथिला-मार्ग में गंगा के समीप घटती है।

जिस प्रकार भागवत[3] में कंस के अखाड़े में दर्शक लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार कृष्ण का रूप देखते हैं, उसी प्रकार `गीतावली`[4] में धनुष यज्ञ-भंग

---

१. तुलसी रचनावली, पद ६, पृ० ४१६.
२. अध्यात्मरामायण, बालकांड ५।१४-१५.
३. भागवत १०.४३.१७.
४. तुलसीरचनावली, पद ६-७, पृ० ४२.

देखने आये राम को सभा के लोग देखते हैं । राम की सुकुमारता और धनुष की कठोरता के बारे में अधीर हो जाने का उल्लेख हनुमन्नाटक से लिया गया है ।[1] 'प्रसन्नराघव' नाटक के अनुसार ही जनक की वाटिका में राम-लक्ष्मण फूल लेने के लिए जाने का उल्लेख तुलसी ने किया है ।[2]

धनुष-भंग की बात में सब राजा पराजित होने पर जनक को बड़ी निराशा होती है और सब राजाओं को धिक्कारते हुए वे कहते हैं कि सप्त द्वीप और नव खंड भूमि के भूपाल यहाँ एकत्रित हुए हैं, शोक है कि जहाँ कन्या और कीर्ति का भारी लाभ है वहां से भी भरेश लोग मुड़ कर चल दिये हैं । धनुष को कोई हिला भी न सका, मानों पृथ्वी वीर-विहीन हो गयी हो अथवा सुभट कहीं जा छिपे हों ।[3] यह उक्ति हनुमन्नाटक के अनुकरण पर लिखी गई है ।[4] राजा जनक की धिक्कार भरी वाणी सुनकर लक्ष्मण उत्तेजित होकर राम से धनुष चलाने की आज्ञा मांगते हैं ।[5] इस प्रसंग में तुलसी ने हनुमन्नाटक का अनुकरण किया है ।[6] राम का धनुष चलाने जाना, धनुष भंजन करना, लोक विस्मित हो जाने के वर्णनों में तुलसी ने हनुमन्नाटक का अनुवाद किया है ।[7] धनुष भंग की घोर ध्वनि[8] का वर्णन हनुमन्नाटक में भी परिलक्षित है ।[9]

राजा दशरथ राम को युवराज पद देने के लिए गुरु वसिष्ठ से विनय करते हैं । इसके लिए सारी तैयारियाँ हुईं तब कैकेयी देवमाया से वशीभूत होकर कठिन कुटिलता का प्रयोग करती है ।[10] इस प्रसंग में कवि ने अध्यात्मरामायण[11] का अनुकरण किया है । राम-वन-गमन के समय उसे रोकने के लिए कौशल्या

---

१. हनुमन्नाटक १।३६-३७.
२. प्रसन्नराघव, पृ० ३४.
३. तुलसी रचनावली पद १३-१६, पृ० ५८.
४. हनुमन्नाटक १।३५.
५. तुलसी रचनावली पद १८-२१, पृ० ५८.
६. हनुमन्नाटक १।३८.
७. वही, १।४३.
८. तुलसीरचनावली पद १६-२०, पृ० ५६.
९. हनुमन्नाटक १।४४, ४५, ४६.
१०. तुलसीरचनावली, पद ८, पृ० ७१.
११. अध्यात्मरामायण, अयो० २।४४-५

का तर्क[१] और सीता-राम का संवाद[२] वाल्मीकि[३] और अध्यात्मरामायण[४] के अनुसार ही हुआ है ।

सीतापहरण के बाद सीताजी की खोज घर-घर जाकर करने पर अंत में अशोकवाटिका में उनका मिलना, `वाल्मीकि रामायण` के अनुसार वर्णित है । हनुमान द्वारा मुद्रिका डालने का प्रसंग `प्रसन्न राघव` नाटक से प्रभावित है ।[५] इसी प्रकार हनुमान-सीता का वार्तालाप भी `प्रसन्नराघव` का अनुकरण है ।[६]

विभीषण द्वारा रावण को समझाना और विभीषण पर पाद-प्रहार[७] करने का वर्णन `अध्यात्मरामायण`[८] और `हनुमन्नाटक`[९] का अनुकरण है । इस प्रकार `गीतावली` में भी `मानस` की तरह अनेक पूर्ववर्ती ग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट है ।

कवितावली :

तुलसीदास की `कवितावली` में कई ग्रंथों का प्रभाव है । `कवितावली` में वन-मार्ग में केवट की स्नेहमयी अटपटी उक्तियों का समावेश है[१०] वह हनुमन्नाटक के अनुकरण पर है ।[११] वन-मार्ग में सीता का थोड़ी दूर चलने पर थक जाने का उल्लेख हनुमन्नाटक से लिया गया है ।[१२] ग्राम वधुओं का प्रश्न और सीता के उत्तर का प्रसंग[१३] हनुमन्नाटक[१४] का प्रभाव सूचित करते हैं । [illegible] हनुमन्नाटक में `पथिक वधू` का शब्द कवितावली में `ग्राम वधु` शब्द में प्रयुक्त होता है।

---

१. तुलसीरचनावली पृ० ७१-७२.
२. वही, पृ० ७३.
३. वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग २ तथा सर्ग २६, २७, २९.
४. अध्यात्मरामायण, अयो० ४।७-१३.
५. तुलसीरचनावली, गीत २, पृ० १२१ ; प्रसन्नराघव, प० १४-१५, पृ० १२८.
६. प्रसन्नराघव पृ० १३१-१३२
७. तुलसीरचनावली, पद १२, पृ० १३३.
८. अध्यात्मरामायण, युद्धकांड ८।१२
९. हनुमन्नाटक ६।४७
१०. तुलसी रचनावली, कवित्त ६-८, पृ० १६५.
११. हनुमन्नाटक ३।५८-५९.
१२. वही, ३।१७
१३. तुलसीरचनावली, कवित्त २१-२२, पृ० १६६
१४. हनुमन्नाटक ३।१९.

मन्दोदरी-रावण-संवाद के प्रसंग की प्रेरणा वाल्मीकि रामायण और हनुमन्नाटक से ली गई है। हनुमान का लक्ष्मण के मेघनाथ की शक्ति से मूर्छित हो जाने पर औषधि लाने जाना और कालनेमी के छल का वर्णन 'अध्यात्मरामायण' के अनुकरण पर है। शरणागत विभीषण के लिए राम के चिंतित होने का प्रसंग हनुमन्नाटक के अनुकरण पर है।[१] इस प्रकार 'कवितावली' में हनुमन्नाटक और 'वाल्मीकिरामायण' का प्रभाव हुआ है।

विनयपत्रिका

यह गोस्वामीजी की प्रौढ़ रचना है, जिसकी रचना करने की प्रेरणा उन्हें जगद्धर भट्ट की 'स्तुति कुसुमांजलि' से मिली है। भट्टजी के कुछ भावों को गोस्वामीजी ने अपना लिया है। विनयपत्रिका के अनेक छन्दों में दैन्याभिनन्दन, शरणाश्रयण, कृपाक्रन्दन, करुणाक्रन्दन, दीनाक्रन्दन, तमःशमन, प्रभु-प्रसादन, करुणाराधन, उपदेशन, सिद्धि और भगवद्वर्णन के भाव मिल जाते हैं।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन काव्यों पर धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है, अर्थात् उस समय के कवियों ने पूर्ववर्ती साहित्य का अनुकरण किया है।

अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन धार्मिक स्थिति अव्यवस्थित थी। समाज में धर्म के नाम पर हमेशा झगड़ा होता रहता था। अनेक प्रकार की पूजा, उपासना, अनुष्ठान आदि प्रचलित थे। लोगों में बाह्या-डम्बरों की प्रधानता थी। धार्मिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था का पालन लोग अपनी इच्छा के अनुसार करते थे। जनता में अनेक प्रकार के लोकविश्वासों की जागृति हुई। धर्म का क्षेत्र इस प्रकार के बुरे हालात में पड़ा था। इस समय जिन कवि सर्वभौमों का आविर्भाव समाज में हुआ उनके द्वारा धार्मिक क्षेत्र सुधारने का प्रयत्न हुआ; अतः उन्हें धार्मिक व्यवस्था सुव्यवस्थित करने का मार्ग खोला।

---

१. हनुमन्नाटक ६।६९.

षष्ठ अध्याय

हिन्दी भक्तिकालीन काव्यों में उल्लिखित

सांस्कृतिक एवं कला सम्बन्धी वार्ते

हिन्दी के भक्तिकालीन काव्यों में संस्कृति और कला का पक्ष सदाम रूप से वर्णित है। हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल को सुवर्ण युग इसलिए माना जाता है कि इसी काल में काव्य का चरमोत्कर्ष हुआ था, ब्रज तथा अन्य हिन्दी भाषा-भाषियों के प्रांतों की संस्कृति का विशेष उत्कर्ष हुआ था। सूरदास ने अपने अनुपम गीतों में ब्रज-संस्कृति का उज्ज्वल चित्र खींचा था, तुलसी ने संपूर्ण उत्तर भारत की संस्कृति और कला का उन्नयन किया था। इसी तरह कबीर ने हिन्दू-मुसलमान संस्कृति की सुन्दर आलोचना सामने रखी तथा जायसी ने हिन्दू-मुसलमान संस्कृति का मणिकांचन संयोग प्रस्तुत किया। इन चार युग-प्रवर्तक कवियों की रचनाओं में हिन्दी भाषी प्रदेश की संस्कृति के सारे स्वरूप उभर आये हैं।

तत्कालीन जीवन के समूचे चित्रण प्रस्तुत करके भक्तिकालीन कवियों ने हिन्दू तथा मुसलमान जनता के सब आचार-विचार हमारे सम्मुख रखते हुए संस्कृति के हर पहलू की विस्तृत चर्चा की है। बाह्य और आन्तरिक आचार-विचार, वस्त्र-विशेष, आभूषण, कई प्रकार के संस्कार, उत्सव, पर्व आदि का सूक्ष्म और सुन्दर वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है। उस समय सभ्यता हिन्दू जाति की अर्जित संपत्ति थी। विविध जाति और धर्म के लोग भी इस अमूल्य संपत्ति की सुरक्षा करने में सतर्क थे। तुलसी जैसे कवि संस्कृति की शक्ति के उद्घाटक थे। सूर संस्कृति के सौन्दर्य के व्याख्याता थे, कबीर संस्कृति के कुपक्ष के कटु आलोचक थे, जायसी संस्कृति के मूलतत्व प्रेम की अद्भुत अभिव्यंजना करने वाले थे। इसलिए भक्तिकालीन काव्य संस्कृति के सांगोपांग आकलन और उत्कर्ष की खान हैं।

अब हम भक्तिकालीन विभिन्न काव्यग्रंथों में आये संस्कृति, सभ्यता और संस्कारों के प्रकरणों का परीक्षण और निरीक्षण करेंगे जो तत्कालीन जन-समाज में सर्वत्र प्रचलित था।

भक्तिकालीन काव्यों के आधार पर विभिन्न संस्कार

मध्ययुगीन अधिकांश कवियों ने समाज में प्रचलित सभी संस्कारों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। निर्गुण और सगुण भक्त कवियों के ग्रंथों में संस्कारों का उल्लेख मिलता है। संस्कारों की निश्चित संख्या के रूप दिखाने में वे भक्त कवि मतभेद रखते हैं।

कबीर ने अपनी रचनाओं में विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों का वर्णन किया है। सूफी महाकवि जायसी ने `पद्मावत` में पद्मावती के जीवन को लेकर सभी संस्कारों पर विचार किया है। वे संस्कार हैं - जन्मोत्सव, छठी संस्कार, जातकर्म, नामकरण, विद्यारंभ, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार। मध्ययुग के कृष्ण भक्त कवियों ने भी समाज में प्रचलित अनेकों संस्कारों का वर्णन किया है। विद्यापति ने बसंत-विवाह का उल्लेख अपनी `पदावली` में शास्त्रीय रीति से किया है। इसके साथ ही उन्होंने `जुमाओन` नामक प्रथा का चित्र भी उपस्थित किया है, जो तत्कालीन जनता में प्रचलित थी। `जुमाओन` शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए हरगुलालजी ने लिखा है - "विवाह के समय दही आदि मांगलिक वस्तुओं से दूल्हे को स्वेच्छापूर्वक छूना `जुमाओन` कहलाता है। ब्रज में वर का टीका या पलकाचार इसी प्रकार का होता है, जिसमें वर के साथ तरह तरह के उपहास किये जाते हैं।"[१] महाकवि सूरदास ने कृष्ण के जन्म से लेकर उनके अनेकों संस्कारों की चर्चा की है। उन्होंने अपनी अमूल्य रचना `सूरसागर` में मुख्य रूप से नौ संस्कारों का विस्तार से वर्णन किया है — पुत्रजन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्ष-गाँठ, कर्णछेदन, यज्ञोपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार। लेकिन सूर ने अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन राम-कथा के अन्तर्गत राजा दशरथ के देहान्त पर ही किया है। परमानन्ददास ने कृष्ण के जीवन सम्बन्धी सभी संस्कारों का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने अन्त्येष्टि संस्कार को छोड़ दिया है और `भूमि उपवेशन` के रूप में निष्क्रमण

१. मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - - हरगुलाल, पृ० २८६

संस्कार पर विचार किया है । नन्ददास ने तो केवल चार संस्कारों पर विचार किया है — जातकर्म, नामकरण, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार । रसखान ने छठी संस्कार और विवाह की विवेचना की है । रामभक्ति शाखा के प्रमुख प्रवर्तक तुलसीदास ने अपनी शब्दावली द्वारा श्रीरामचन्द्रजी के जीवन को लेकर, अन्त्येष्टि संस्कार को छोड़ कर, शेष सभी संस्कारों का चित्र उपस्थित किया है । उन्होंने अन्त्येष्टि-संस्कार का चित्र राजा दशरथ, गीधराज जटायु और राक्षस राजा रावण आदि के देहान्त पर किया है । इन संस्कारों के अलावा 'नहछू' को विशेष प्रधानता देने के उद्देश्य से 'रामललानहछू' की रचना की । तुलसीदासजी ने भी रामचन्द्रजी के जीवन से सम्बन्धी इन संस्कारों का वर्णन मुख्य रूप से मानस, गीतावली, कवितावली में किया है । लेकिन उन्होंने इन रचनाओं में वर्णित वैवाहिक प्रसंग को पर्याप्त न समझ कर दो स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की - जानकीमंगल और पार्वतीमंगल । इस प्रकार तुलसीदासजी की इन रचनाओं में लोक-जीवन की झलक कई रूपों में देखने को मिलती है । अधिकांश मध्ययुगीन कवियों ने जन्मोत्सव, जातकर्म, नामकरण और विवाह का तो अतीव उल्लास के साथ सविस्तार वर्णन किया है । अब हम भक्त कवियों के काव्य ग्रंथों के आधार पर विभिन्न संस्कारों का विस्तार के साथ वर्णन कर सकते हैं ।

जन्मोत्सव

जन-समाज में संस्कारों का प्रवेश जन्म से ही होता है । जन्मोत्सव का दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन है । लोग पुत्र का जन्म पुण्य का परिणाम समझते हैं । पुत्र-विहीन व्यक्ति का मुख प्रात:काल देखना अशुभ एवं अमंगलजनक माना जाता है । आस-पास के नर-नारी पुत्र-मुख के दर्शन करने को लालायित होते हैं । पुत्र के समान पुत्री का भी जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाया जाता है । पुत्र या पुत्री के जन्म में कोई भेद नहीं है ।

संत कवि कबीर ने पुत्र-जन्म पर मंगल-गीत गाये जाने का उल्लेख किया है ।[१] महाकवि सूरदासजी ने राम और कृष्ण दोनों के जन्मोत्सव का चित्र

---

१. संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद १, पृ० १.

उतारा है । राम के जन्म पर सखियां मंगल-गीत गाती हैं, ऋषि होम वेदोच्चारण करते हैं और अभिषेक कराते हैं । राजा दशरथ के यहाँ अधीनस्थ शासकों के यहाँ से 'टीका' आने का भी उल्लेख मिलता है ।[1] अयोध्या के प्रत्येक घर में मंगल बधाई होती है । मागध-बन्दी-सूत के लिए 'गो-गयन्द-हरचीर' लुटाए जाते हैं ।[2] पुत्र-जन्म के संतोष से राजा दशरथ अपनी सारी संपत्ति दान के रूप में देने लगे ।[3]

सूरदास और नन्ददास ने कृष्ण-जन्मोत्सव का बड़ा लौकिक चित्र उतारा है । पुत्र-जन्म के आनन्द से माता यशोदा नन्द से कहती है —

आवहु कंत, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाइ ।[4]

गोकुल में कृष्ण-जन्म के कारण चारों ओर हर्षारव उमड़ने लगता है । गांव-गांव से लोग पुत्र-दर्शन के लिए आते हैं ।[5] व्रज का प्रत्येक घर-द्वार बन्दनवार से सजाया गया था । महल के द्वार पर ऋषिगण अच्छत और दूब लिये खड़े थे । व्रजवासियों का आनन्द इतना था कि वे परस्पर हरद, दही और दूध चोवा, चन्दन अबीर आदि छिड़काने लगे ।[6] सारा गोकुल आनन्दाच्छादित हो नाचने लगा, गाने लगा । हर्षोन्माद मे नर-नारी अनेक प्रकार के बाजे बजा रहे थे, विशेषकर ताल, मृदंग, पनन-निवास, पंचविधि, झंज, मुरज-सहनाई आदि का सुन्दर निनाद सुनायी देता था । यशोदा की सखियां कंचन थाल में दूब, दधि, रोचन लेकर, साज शृंगार करके, पुत्र-दर्शन के लिए आयीं । नन्द के घर पर यशोदा

---

१. रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर ।
देस-देस तें टीकौ आयौ, रतन-कनक-मनि-हीर ।
-सूरसागर, नवम स्कंध, पद १८, पृ० १६२.

२. वही, पद १८, पृ० १६२.

३. देत दान राख्यौ न भूप कछु, महा बड़े नग हीर ।
भए निहाल सूर सब याचक, जे जांचे रघुबीर ।। - वही, पद १६, पृ० १६२.

४. वही, दशम स्कंध, पद १३, पृ० २६१.

५. परमानन्दसागर, पद ३, पृ० २.

६. अच्छत दूब लिये रिषि ठाढ़े, बारनि बंदनवार बंधाई ।
छिरकत हरद दही, हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई ।।
- सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १६, पृ० २६३.

की पाँच-पाँच सखियां मिलकर गीत गाने लगीं और सब जन्मोत्सव में मग्न हो गयीं ।[1] घर-घर चोवा, चन्दन, अबीर और दही आदि इतना अधिक छिड़का गया था कि लोग फिसल कर गिर पड़ने लगे ।[2] जन्मोत्सव के दिन ब्राह्मण बुलाये गये और उन्हें इच्छानुसार दान दिये गये । नन्द और यशोदा पुत्र दर्शन के लिए आये सब को दान देते रहे । ब्राह्मणों को गायें दान स्वरूप दी गईं । याचक लोगों को इतना धन दिया कि वे फिर याचक कहने योग्य नहीं रहे ।[3] ढाढ़ी और ढाढ़िन द्वार पर खड़े होकर बाजे बजाने लगे तो यशोदा और नन्द उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार अमूल्य संपत्ति देने लगे ।[4] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रज में पुत्र-जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था । आज भी ऐसी रीति चलती है ।

सूरदासजी के समान तुलसीदासजी ने भी अयोध्या के पुत्र-जन्मोत्सव का वर्णन अपने राम-काव्यों में बड़े विस्तार के साथ किया है । 'गीतावली' में पुत्र-जन्मोत्सव का वर्णन विशेष सुन्दर है । महाराज दशरथ ने पुत्र-जन्म का समाचार सुनकर गुरुजन और विप्रवृन्दों को बुलाया । राजमहल में बधाइयां बज रही थीं । स्त्रियां साज-शृंगार करके आयीं और प्रसन्न चित्त से आशीर्वाद देने लगीं । आनन्द में मग्न नगर के नर-नारियां नाच रहे थे । राजा दशरथ ने वस्त्र, घोड़े, हाथी, गौ, मणि और सुवर्ण आदि का दान किया ।[5] इस प्रकार

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २०, २४, पृ० २६५.

२. अति आनंद होत गोकुल में, रतन भूमि सब छाई ।
   नाचत वृद्ध, तरुन अरु बालक, गोरस-कीच मचाई ।।
   - वही, पद २१, पृ० २६४.

३. अति आनंद नंद रस भीने । परबत सात रतन के दीने ।
   कामधेनु तैं नैकु न हीनी । द्वै लख धेनु द्विजनि कौं दीनी ।
   नंद-पौरि जे जाँचन आए । बहुरौ फिरि जाचक न कहाए ।
   घर के ठाकुर कैं सुत जायौ । सूरदास तब सब सुख पायौ ।।
   - वही, पद ३२, पृ० २७१.

४. वही, दशम स्कंध, पद ३१, पृ० २७०.

५. गीतावली, बालकांड, पद १, पृ० १७-१८.

मध्ययुग के सगुण भक्त-कवियों ने जन्मोत्सव संस्कार का जो वर्णन किया है वह अत्यंत सरस और सुन्दर है ।

जातकर्म संस्कार

बालक के जन्म के बाद यह संस्कार मनाया जाता है । यह संस्कार पौराणिक है, नियमानुसार संपन्न होता है, क्योंकि इस संस्कार से शिशु के भविष्य की मेधा, आयु और बल की जानकारी होती है । अत: यह नवजात शिशु का प्रथम संस्कार है । इस अवसर पर देव-पितर-पूजन, नान्दी उपासना, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति-वाचन एवं दानादि अनेक कार्य संपन्न होते हैं । मध्ययुगीन भक्त कवियों ने जातकर्म संस्कार का जो वर्णन किया है वह अत्यंत महत्व का है । सूफी महाकवि जायसी ने राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती के जन्म के बाद दूसरे दिन प्रात: पंडितों का एकत्र होकर उसके जन्मफल बताने का उल्लेख किया है ।[1] सूर और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों बधाई के मंगल-गान से जातकर्म संस्कार प्रारंभ कर दिया ।[2] तुलसी ने सोहिलो से जातकर्म संस्कार का श्रीगणेश होने का उल्लेख 'गीतावली' में किया है ।[3] कृष्ण के जातकर्म संस्कार का कर्म गर्ग मुनि द्वारा कराने का उल्लेख परमानन्ददास ने किया है ।[4] तुलसी ने इस संस्कार का कार्य स्वयं पिता द्वारा संपन्न कराने का चित्र उतारा है । यहां अयोध्या में रामादि चारों पुत्रों के जन्म पर राजा दशरथ ने कुलगुरु वसिष्ठजी और अन्य गुरुजनों को बुलाया और उनके सान्निध्य में नांदी-मुख-श्राद्ध किया और जातकर्म

---

१. भा बिहान पंडित सब आए । काढ़ि पुरान जनम अरथाए ।
- पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६१.

२. आज गोकुल में बजत बधाई ।
नंद महर के पुत्र भयो हैं आनन्द मंगल गाई ।
- परमानन्दसागर, पद ३, पृ० २.

३. सहेली सुनु सोहिलो रे ।
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो सब जग आज ।
- गीतावली, बालकाण्ड, पद० २, पृ० १६.

४. गरग परासर अन्याचार्य मुनि जात कर्म करायो है ।
- परमानन्दसागर, पद ६, पृ० ३.

संपन्न किया । इसके बाद ब्राह्मणों को स्वर्ण, रत्न, धेनु, वस्त्र आदि दान के रूप में दिये गये ।[१] तुलसी ने गीतावली में भी इस ओर संकेत किया है ।[२] सूरदासजी ने नांदी मुख श्राद्ध और पितृ पूजा के वक्त गुरु और ब्राह्मणों को अनेक प्रकार की विशिष्ट वस्तुएं दान देने का चित्र खींचा ।[३] नन्ददास ने जातकर्म संस्कार से सम्बन्धित पितृ-पूजा की ओर संकेत किया है ।[४]

जातकर्म-संस्कार के लिए शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र और शुभ मुहूर्त शोधना परम आवश्यक है । सूरदासजी ने कृष्ण की जन्मपत्री में समय, नक्षत्र आदि का विचार किया है ।[५] विद्यापति ने जातकर्म-संस्कार का वर्णन प्रतीक रूप में वसंत के जन्म लेने पर किया है ।[६]

मध्ययुगीन कवि जातकर्म-संस्कार से सम्बन्धित हर्षोल्लास और आनन्द के लिए जिन-जिन वाद्ययंत्रों का इस्तेमाल होता था उनका वर्णन करना भी नहीं भूले । इस संस्कार के सुअवसर पर नगर के चारों ओर ध्वजा, पताका और वन्दनवार लगाये जाते थे ।[७] नर-नारी साज-शृंगार के साथ बधाई के गीत गाते हुए मंगल कलश में दूब, दधि, रोचन लेकर नंद महर के यहां जाते हैं ।[८] घर-घर में

---

१. नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह ।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहं दीन्ह ।।
- मानस, बालकाण्ड, दोहा १९३, पृ० ३३४.

२. गीतावली, बालकाण्ड, पद २, पृ० २०.

३. तब न्हाइ नंद भए ठाढ़, अरु कुस हाथ धरे ।
नांदीमुख पितर पुजाइ, अंतर सोच हरे ।
घसि चंदन चारु मंगाइ, बिप्रनि तिलक करे ।
द्विज-गुरु-जन कौं पहिराइ, सब कैं पाइ परे ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४, पृ० ६६.

४. पूजा पितर कराइ, दान करत अति भाय सौं ।
घर के मागध सूत, कगरत हैं ब्रज-राय सौं ।।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद २७, पृ० ३८१.

५. ग्रह-लग्न-नषत-पल सोधि, कीन्हीं बेद-~~[illegible]~~ धुनी ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४, पृ० २६५.

६. विद्यापति और उनकी पदावली कृष्णदेव शर्मा, पद १७४, पृ० ३००.

७. मानस, बालकाण्ड, दो० १, पृ० ३३४.

८. सू०सा०, दशम स्कं०, पद २२-२३, पृ० २६४-५; परमा०, पद ६, पृ० ३; नन्ददास० पद २७, पृ० ३८८-३८१.

आनन्द का बधावा बज रहे हैं। लोग अपने को भी भूल कर फांफ, बांसुरी, डफ, करताल, भेरि, मृदंग, पटह, निसान आदि बजा रहे हैं।[१] सूरदास ने इस कोलाहल और आनन्द के साथ बाजे बजाने का उल्लेख किया है।[२] तुलसी ने भी इसका वर्णन किया है।[३] इसके अतिरिक्त उस समय अत्यंत कोमल वाणी में मागध-सूत गुणगान करते हैं। सूर[४] और तुलसी[५] ने इसका अनुपम चित्र उतारा है।

इस आनन्दातिरेक के बाद दान का कार्य प्रारंभ होता है। कृष्ण के जातकर्म के बाद नन्द ने वहाँ जितने लोग आये उन सब को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दान किया। ब्राह्मण और गुरुजनों को अपने सबसे प्रिय धन दो लाख गायों को दान में दिया।[६] इसके बाद इष्टमित्र और बंधु-बांधवों को बुलाया और उन्हें अनेक प्रकार के दान-मान सहित विदा किया।[७] नन्द ने बंदीजन, मागध, सूत को नाम ले-लेकर जातकर्म संस्कार के उपरांत जो वस्तु वे चाहते थे उन्हें दी।[८] गोपवधुओं को देने के लिए सुन्दर साड़ियाँ और महंगे वस्त्र मंगाये गये और उनको दिये।[९] इसके बाद नन्द वहाँ उपस्थित अन्य लोगों के पास

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८, पृ० २६६.

२. वही, पद २४, पृ० २६७.

३. गीतावली, पद २, पृ० २०.

४. मागध सूत और बंदीजन ठाँर ठाँर जस गायो ।।
 - सूरसारावली, छन्द ३८६-३६३.

५. मागध सूत बंदी गुनगायक । पावन गुन गावहिं रघुनायक ।।
 - मानस, बालकाण्ड, चौ० ३, पृ० ३३५.

६. दोइ लाख धेनु का तेहि अवसर बहुतहिं दान दिवायो ।।
 - सूरसारावली, छन्द ३६२.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४, पृ० २६६.

८. बंदीजन-मागध-सूत, आँगन-भौन भरे ।
 ते बोलैं लै-लै नाउं, हित कोउ बिसरै ।
 - वही, वही, पद २४, पृ० २६६.

९. वही, वही, पद २४, पृ० २६६.

जाते हैं और उन्हें नाना प्रकार के उपहार देते हैं । किसी को गौ, किसी को चीर, किसी को आभूषण, किसी को पाटंबर, किसी को पुष्पमाला, किसी को घिसा हुआ चन्दन, किसी को `दूब-रोचना` और किसी को खाली प्रबोध देकर ही दान दिया जाता था ।[१] तुलसीदासजी ने भी `मानस`[२] और गीतावली[३] में जातकर्म-संस्कार के उपरांत दान-मान का उल्लेख किया है । इस प्रकार मध्ययुगीन भक्त कवियों ने जातकर्म संस्कार का जो महत्वपूर्ण चित्र खींचा है वह प्राचीन भारतीय परंपरा और पद्धति के अनुसार है और प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में इसका उत्तम स्थान है ।

छठी संस्कार

जन्म-दिन के छठे दिवस यह संस्कार संपन्न होता है । कुछ लोग इसे संस्कार की कोटि में नहीं रखते । मध्ययुगीन कवियों ने छठी पूजन संस्कार का प्रारंभ सोहिलों से अर्थात् बधाई से किया है । आस-पड़ोस की स्त्रियां और सखियां एकत्र होकर सोहिले गाने लगती हैं ।[४] इस संस्कार के अवसर पर सखियां रात भर जागती रहती हैं, क्योंकि छठी के दिन पूतना आदि के आक्रमण का भय होता है । वे स्त्रियां हर्षातिरेक के साथ इस संस्कार के अनेक कृत्य करती हैं । गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका संकेत `गीतावली` में किया है ।[५]

---

१. एकनि कौं गौ-दान समर्पत, एकनि कौं पहिरावत चीर ।
एकनि कौं भूषन पाटंबर, एकनि कौं जु देत नग हीर ।
एकनि कौं पुहुपनि की माला, एकनि कौं चंदन घसि नीर ।
एकनि माथै दूब-रोचना, एकनि कौं बोधति दै धीर ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २५, पृ० २६७.

२. मानस, बालकांड, चौ० ४, पृ० ३३८.
३. गीतावली, बालकांड, पद २, पृ० २९.
४. गौरि गनेस्वर बीनऊं (हो), देवी सारद तोहिं ।
गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो), मन-आखर दै मोहिं ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४०, पृ० २७४.

५. जागिय राम छठी सजनि रजनी रुचिर निहारि ।
- गीतावली, बालकाण्ड, पद ५, पृ० ३०.

छठी संस्कार अत्यंत हर्ष और आनन्द का उत्सव है। सूफी महाकवि जायसी ने पद्मावती के जन्म-संस्कार के उपरांत छठी-पूजन का सुन्दर वर्णन किया है -

भइ छठि राति छठी सुख मानी। सहस कोउ सौं रैनि बिहानी।[1]

सूरदास और तुलसीदास ने ब्रज और अयोध्या में सर्वप्रचलित छठी-संस्कार का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया है। उनके अलावा कृष्ण-भक्त-कवियों में परमानन्ददास और रसखान ने भी इस ओर अपनी निगाह डाली है। तुलसीदासजी ने इस संस्कार के अवसर पर देवी-देवताओं को न्योता भेजने का वर्णन किया है।[2] 'सूरसागर' में इस अवसर पर मालिन का बन्दनवार बांधना, केले लाना, सुनार लोगों का हीराजटित स्वर्ण हार बनाकर लाना, नाइन का महावर लाना, दाई को लाख टका, झूमक और साड़ी देना, बढ़ई का पालना बनाकर लाना, जाति-पांति की पहिरावनी करके पुत्र को काजल लगाना, ऐपन या बटे हुए चावल से चित्र बनाना आदि प्रथाओं का वर्णन मिलता है।[3] अंत में काजर रोरी ऐपन से छठी व्यवहार किया जाता है।[4] परमानन्ददास ने छठी-पूजन की ओर संकेत करते हुए कहा है -

मंगल दौस छठी कौ आयौ।
आनन्द ब्रजराज जसोदा मनहुं अधन धन पायौ।[5]

---

१. पद्मावत, जायसी : व्याख्या० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६१.

२. ज्यौं आजु काल्हि परहुं जागन होहिंगे, नेवते दिये।
ते धन्य पुन्य-पयोधि जे तेहि समै सुख-जीवन जिये।।
- गीतावली, बालकांड, पद ५, पृ० ३१.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४०, पृ० २७५.

४. काजर-रोरी आनहु (मिलि), करौ छठी कौ चार।
ऐपन की सी फूरी (सब), सखियनि कियौ सिंगार।
- वही, वही, पद ४०, पृ० २७५.

५. परमानन्दसागर, पद ३८, पृ० ३१.

छठी संस्कार में आनन्द के कारण सब लोग कुटुम्ब सहित मंगल गीत गाते हैं। बाल-वृद्ध सभी इस उत्सव में मग्न होकर नाचते हैं।[१] इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी ने नगर के चारों ओर अनेक प्रकार के सुन्दर चौक पुरने, सारे नगर को पताका, मण्डप, तोरण, कलश और दीपों से सजाने, देवताओं द्वारा बाजे बजाने, नाचने आदि की चर्चा की है।[२] तुलसीदासजी ने छठी-संस्कार के बाद उससे सम्बन्धित बारहौं संस्कारों का वर्णन 'गीतावली' में किया है, जो नवजात शिशु के बारहवें दिन का माना जाता है। उन्होंने इसका वर्णन संक्षेप में किया है।[३] 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड में लव-कुश के जन्म-संस्कार के अन्तर्गत छठी-संस्कार करके बारहवें दिन की रीति-विधि-विधान से मुनिवर वाल्मीकि के द्वारा संपन्न करने का उल्लेख तुलसीदास ने किया है।[४] मध्ययुगीन भक्त कवियों में केवल तुलसीदासजी ने ही बारहवें दिन की रीति की चर्चा की है।

नामकरण संस्कार

प्राचीन काल में हिन्दुओं ने नामकरण संस्कार को धार्मिक संस्कार की कोटि में रखा था। यह संस्कार पुरोहितों के द्वारा होता है। जहाँ अन्य संस्कारों के समय वाद्ययंत्रयुक्त गीत गाये जाते हैं, वहाँ इस संस्कार में वेद-मंत्रों की ध्वनि सुनायी देती है। विद्वानों ने नामकरण संस्कार की रीति से मानी है। मनु के अनुसार बालक का नामकरण संस्कार जन्म के पश्चात् दसवें या बारहवें दिन करना चाहिए।[५] उन्होंने भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों को उनकी

---

१. रसखान, पद २६, पृ० १७७.

२. गीतावली, बालकाण्ड, पद ५, पृ० ३०-३१.

३. छठी बारहौं लोक-वेद-विधि करि सुविधान विधानी।
राम-लखन-रिपुदवन-भरत धरे नाम ललित गुरग्यानी।।
- वही, बालकाण्ड, पद ४, पृ० २८.

४. मुनिवर करि छठी कीन्हीं बारहें की रीति।
बन-बसन पहिराइ तापस, तोषि पोषे प्रीति।।
- वही, बालकाण्ड, पद ३५, पृ० ४४०.

५. नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।
- मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ३०.

वर्ण-व्यवस्था के अनुसार नाम रखने का बोध कराया है ।[१] 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में कहा गया है कि शिशु के जन्म के पश्चात् ग्यारहवें दिन शिशु का नामकरण संस्कार संपन्न होना चाहिए ।[२] 'गोभिल गृह्य सूत्र' के अनुसार दसवें, बारहवें, सौवें दिन अथवा प्रथम वर्ष के अन्त में नामकरण करना चाहिए ।[३] 'आपस्तम्ब गृह्य सूत्र' के अनुसार जन्मदिन पर नक्षत्र के अनुसार एक नाम रख देना चाहिए ।[४]

नाम अखिल व्यवहार का हेतु है, वह शुभावह, कर्मों में भाग्य का हेतु है, नाम से ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है, अतः नामकरण-कर्म अत्यंत प्रशस्त है । शास्त्रों में चार प्रकार के नाम बतलाये गये हैं — नक्षत्र नाम, मासदेवता सम्बद्ध, कुलदेवता संबद्ध और लौकिक नाम ।[५] जातकर्म संस्कार पिता करता है, परंतु नामकरण संस्कार परिवार के आदि गुरु अर्थात् कुलगुरु द्वारा संपन्न होता है। वंश परंपरा के अनुसार आदि ज्योतिषि नक्षत्र, शुभ घड़ी, तिथि,ग्रह आदि शोध कर नामकरण किया जाता है ।

सूरदास[६], नन्ददास[७], परमानन्ददास[८] आदि कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण और बलराम का नामकरण संस्कार आदि ज्योतिषि मुनिवर गर्ग के द्वारा

---

१. मांगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ।। - मनुस्मृति,अ०२,श्लो० ३१.

२. पारस्कर गृह्यसूत्र १.१७.१.

३. गोभिल गृह्यसूत्र २.७.१५.

४. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १.१५.४.

५. हिन्दू संस्कार : डा० राजबली पाण्डेय, पृ० १०३.

६. (नंद जु) आदि जोतिषी तुम्हारे घर कौ, पुत्र-जन्म सुनि आयौ ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ ।
- सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ८६, पृ० २६०.

७. नन्ददास ग्रंथावली, अष्टम अध्याय, पृ० २१२.

८. जहाँ गगन गति गर्ग कह्यौ ।
यह बालक अवतार पुरुष है 'कृष्ण' नाम आनन्द लह्यौ ।
- परमानन्दसागर, पद ५५, पृ० १६.

संपन्न कराने का उल्लेख किया है। रामचरितमानस[1] और गीतावली[2] में गोस्वामी तुलसीदासजी ने अयोध्या के राजा दशरथ के चारों पुत्रों का नामकरण संस्कार वेद-विधि-विधान से कुलगुरु वसिष्ठजी के द्वारा संपन्न कराने का उल्लेख किया है। शास्त्रों में उल्लिखित नक्षत्र नाम, मास, कुलदेवता संबद्ध और लौकिक नामों में कुलगुरु वसिष्ठजी ने लौकिक नाम का प्रयोग कुल संस्कृति के अनुकूल किया। 'मानस' में इसका रूप देखिए –

जो आनन्द सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा।।
बिस्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।।
लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वशिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।।[3]

'गीतावली' में लव-कुश का नामकरण-संस्कार मुनिवर वाल्मीकि द्वारा संपन्न होता है।[4] सूफी महाकवि जायसी ने नामकरण संस्कार का उल्लेख संक्षिप्त रूप में किया है; किन्तु उन्होंने जन्म-नक्षत्र के अनुसार पद्मावती का नामकरण संस्कार कराया है।[5] इस सुअवसर पर मुनिजन स्वस्तीवचन और अग्नि होम करते हैं।[6] घर-घर में मोतियों से सुन्दर चौक पूरने, सर्वत्र कलश, चंवर, तोरण,

---

१. मानस, बालकाण्ड, चौ० १, पृ० ३३६.

२. गीतावली, बालकाण्ड, पद ६, पृ० ३४-३५.

३. मानस, बालकाण्ड, चौ० ३-४, दोहा १९७, पृ० ३४०.

४. गीतावली, उत्तरकाण्ड, पद ३५, पृ० ४४०.

५. कन्या रासि उदौ जग किया। पदुमावती नाउं जिसु दिया।
– पदुमावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६१.

६. मंगल स्वस्तिवाचन करि लीजै। लरिकनि कछुक नाउं धरि दीजै।।
गरगहि बरग गए लै नंद। अगिनहोत्र करि मंदहि मंद।
– नन्ददास ग्रंथावली, अष्टम अध्याय, पृ० २१२.

ध्वजा, पताका, चंदोवे से अलंकृत करने का वर्णन तुलसीदास ने किया है।[१] परमानन्ददासजी ने लोक-व्यवहार को स्पष्ट करने के उद्देश्य से गज-मोतियों का चौक पूरने और मंगल गान कराने की बात स्पष्ट रूप से व्यक्त की है।[२] नामकरण के अवसर पर गणेशजी, पार्वतीजी, शिवजी आदि की पूजा करने, गायों का दोहन कराने और हर्ष से मंगल और सुन्दर गीत गाये जाने का चित्रण प्रस्तुत किया है।[३] गोकुल में आनन्दातिरेक के कारण सब हर्षोल्लास में डूबने लगते हैं। परमानन्ददास ने इसका स्पष्ट चित्रण किया है।[४] तुलसीदासजी ने सुन्दर और विचित्र चौक पूरे जाने, अमुक चौक पर अमुक का नाम रखने, उनमें अरगजा सानने, देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि करने, ब्राह्मणों द्वारा चारों वेदों का पाठ करने, रानियों का पुत्रों को लेकर चौकों में बैठने और अंत में वसिष्ठजी द्वारा नामकरण संस्कार संपन्न करने का प्रसंग प्रस्तुत किया है।[५] ब्रज में नामकरण-प्रसंग में बच्चे के भविष्य के कार्यों को बताने की प्रथा थी। ऋषिराज गर्ग ने कृष्ण का नामकरण कर्म करते समय यशोदा और नन्द की ओर संकेत करते हुए कहा है –

धन्य जसोदा भाग तिहारौ, जिनि ऐसौ सुत जायौ।
जाके दरस-परस सुख तन-मन, कुल कौ तिमिर नसायौ।[६]

---

१. गीतावली, बालकांड, पद ६, पृ० ३४.

२. गज मोतिन के चौक पुराये नामकरन विधि ठानी।
मंगल गीत गवावत जसोमति बोलत अमृत बानी।।
- परमानन्दसागर, पद ५६, पृ० १९.

३. गनप-गौरि-हर पूजि कै गोवृन्द दुहाए।
घर-घर मुद मंगल महा गुन-गान सुहाए।
- गीतावली, बालकाण्ड, पद ६, पृ० ३४.

४. गोकुल आज कुलाहल पाई।
ना जानौं यह बस्ट महासिधि कहो कहां ते आई।
- परमानन्दसागर, पद २४, पृ० ६.

५. गीतावली, बालकाण्ड, पद ६, पृ० ३४-३५.

६. सूरसागर, दशमस्कंध, पद ८७, पृ० २९०.

नन्द-गृह आये विप्र, चारण, बन्दीजन और सज्जन लोग सब प्रकार के दान-मान पाकर संतुष्ट हुए ।[१]

आज भी भारतीय परंपरा और संस्कृति के अनुसार नामकरण-संस्कार अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है । पंडित या पुरोहित बच्चे की जन्म-कुण्डली के अनुसार ग्रह, लग्न, नक्षत्र आदि शोध कर नामकरण संस्कार करते हैं । इस सुअवसर पर संस्कार-कर्म संपन्न होने के बाद वहाँ उपस्थित याचकों को इच्छानुसार दान दिया जाता है और आमंत्रित लोगों को षट्रस और व्यंजनों से युक्त प्रीति-भोज या जेवनार किया जाता है । इससे यही अनुमान होता है कि आजकल की तरह मध्ययुग में भी नामकरण संस्कार धूम-धाम से मनाया जाता था ।

निष्क्रमण संस्कार :

नवजात शिशु को घर से पहली बार बाहर निकालने की प्रक्रिया को `निष्क्रमण` संस्कार कहते हैं । शिशु को चौथे मास में घर से बाहर निकालकर सूर्य और आदित्य का दर्शन कराते हैं । इस संस्कार के अवसर पर पिता बालक को बाहर ले जाता है और `तच्चक्षुर्देवहितम` मंत्र का उच्चारण करके उसे सूर्य का दर्शन कराता है ।[२] परवर्ती स्मृतियों में इस संस्कार का वर्णन विस्तार से हुआ है । `भविष्य पुराण` तथा `बृहस्पति पुराण` में इस संस्कार का बारहवें दिन संपन्न होने का उल्लेख मिलता है ।[३] मनु ने इस संस्कार का समय चतुर्थ मास तक माना है ।[४] अत: मालूम पड़ता है कि यह संस्कार बहुत पहले ही प्रचार में था ।

---

१. विप्र-सुजन-चारन-बंदीजन, सकल नंद गृह आए ।
   भूषन सुमन दूब-हरदी-दधि, हरषित सीस बंधाए ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८७, पृ० २९०.

२. पारस्कर गृह्य सूत्र १.१७.५.६.

३. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृ० २५० पर उद्धृत ।

४. चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
   - मनुस्मृति, अ० २, श्लो० ३४.

मध्ययुगीन कवियों ने इस संस्कार को कम ही महत्व दिया है । कृष्ण-भक्त कवियों में परमानन्ददास और राम-भक्त कवियों में तुलसीदासजी ने इस संस्कार का उल्लेख संक्षेप में किया है । अन्य कवियों ने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया । परमानन्ददास ने बालक कृष्ण को भूमि पर बैठाने के प्रसंग को उतारकर निष्क्रमण संस्कार की ओर संकेत किया है ।[१] तुलसीदासजी ने `कविता--वली` को छोड़कर अन्य काव्य-ग्रंथों में निष्क्रमण-संस्कार की ओर दृष्टि नहीं डाली है । `कवितावली` के बालकांड में इस ओर संकेत करके तुलसीदासजी ने लिखा –

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति लै निकसे ।[२]

उपर्युक्त प्रसंग का संकेत डा० उदयभानुसिंह के शब्दों में ऐसा है – `निष्क्रमण संस्कार के अवसर पर गोद में पुत्र को लेकर राजा दशरथ निकले और संस्कार समारोह में सम्मिलित किसी नारी ने इस शोभा का वर्णन अपनी उस सहेली से जाकर किया जो किसी कारणवश वहां उपस्थित नहीं हो सकी थी ।`[३] मध्ययुगीन काव्यों में आए निष्क्रमण संस्कार की खोज करने से ज्ञात होता है कि इस ओर कवियों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है ।

अन्नप्राशन संस्कार

निष्क्रमण संस्कार के पश्चात् अन्नप्राशन संस्कार संपन्न होता है । शिशु को प्रथम बार अन्न देने की प्रक्रिया को अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं । यह संस्कार प्राय: छठे मास में संपन्न होता है । षष्ठ मास ही इस संस्कार के लिए उपयुक्त है । इस विषय में मनु का मत है –

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ।।[४]

---

१. करते उतारि भूमि राखे कहि बालक कहा कीनों ।।
- परमानन्दसागर, पद ६१, पृ० २७.

२. कवितावली, बालकाण्ड, पद १, पृ० १.

३. तुलसीदर्शन मीमांसा : डा० उदयभानु सिंह, पृ० २९८.

४. मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ३४.

मध्ययुगीन कवियों ने लिखा है कि शिशु के खाने योग्य होने पर यह संस्कार संपन्न होता है। कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास और परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों के काव्यों में इस संस्कार की विस्तृत विवेचना मिलती है। तुलसीदास ने 'गीतावली' के उत्तरकांड में लव-कुश के जन्म-प्रसंग में इस संस्कार की ओर संकेत किया है। नन्द और यशोदा कृष्ण के अन्नप्राशन योग्य होने की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। नन्द ने विप्रों को बुलाया और शुभ दिन, राशि, घड़ी, नक्षत्र आदि निश्चित की। नन्द महर के यहाँ यशोदा की सखियाँ मंगल गीत गाने लगीं और ब्रज के घर-घर में आनन्दोल्लास की तरंगें उठने लगीं।[१] इस अवसर पर ग्राम की वधुएं, सखी-सहेलियाँ अपनी इच्छा के अनुसार बहुत-सी वस्तुएं भेंट के रूप में लायीं। यशोदा ब्रज की वधुओं को बुला लाती है और जेवनार तैयार कराती है। इस सुदिन में अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाये जाते हैं, जैसे घृत के पकवान, षट्रस व्यंजन आदि। उसके बाद यशोदा नन्द से आस-पास के घरों में बुलावा भेजने को कहती है।[२] आमंत्रित लोगों के आने पर नन्द इन सब को उचित आसन देते हैं। इसके बाद घर के भीतर जाते हैं जहाँ यशोदा बालक कृष्ण को नहलाकर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाती है। अन्नप्राशन या मुंह जुठारने की शुभ घड़ी जानकर नन्द बालक को लेकर सज्जन-मण्डली में आ बैठते हैं। इतने में यशोदा कंचन थाल में घृत, मधु, मेवा आदि लिये हुए और लायीं। नन्द उससे थोड़ा ले लेकर कृष्ण का मुंह जुठारते हैं। इसके बाद षट्रस व्यंजनों में से कुछ उसको देते हैं। परमानन्ददास ने भी अन्नप्राशन-संस्कार अतीव उल्लास के साथ मनाने का चित्रण किया है।[३]

---

१. जुवति महरि कौं गारी गावतिं, और महर कौ नाम लिए।
   ब्रज घर-घर आनंद बढ़्यौ अति प्रेम पुलक न समात हिए।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८८, पृ० २९१.

२. जसुमति नंदहिं बोलि कह्यौ तब, महर, बुलावहु जाति।
   आपु गए नंद सकल-महर-घर लै आए सब ज्ञाति।
   - वही, पद ८९, पृ० २९१.

३. यह मेरे लाल कौ अन्नप्रासन।
   भोजन बच्छना बहुत प्रियजनकौं देहु मनिमय आसन।।
   - परमानन्दसागर, पद ५१, पृ० १७.

उन्होंने इस अवसर पर कुलदेवी तथा देवताओं की पूजा, ब्राह्मणों का सम्मान, मागध-सूत आदि का सम्मान, दान देना, लोगों को मिष्टान्न खिलाने, वस्त्राभूषण पहनाने आदि का उल्लेख किया है ।[1] सूर ने भी अन्नप्राशन संस्कार के बाद सब आगन्तुकों को मन चाहा भोजन देने की ओर संकेत किया है ।[2] गोस्वामी तुलसीदासजी ने लव-कुश के अन्नप्राशन संस्कार का वर्णन करते हुए लिखा है —

नामकरन सुअन्नप्रासन बेद बाँधी नीति ।
समय सब रिषिराज करत समाज साज समीति ।।[3]

इससे यह अनुमान किया जाता है कि मध्ययुग में अन्नप्राशन संस्कार धूम-धाम से मनाया जाता था और इसका प्राचीन भारतीय संस्कारों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था । आज भी यह संस्कार ठाट-बाट से मनाया जाता है ।

वर्ष-गाँठ संस्कार

वर्षगांठ संस्कार तब मनाया जाता है जब बालक साल भर का होता है । यह संस्कार वर्ष में एक बार बालक की जन्मतिथि के दिन मनाया जाता है । भारतीय परंपरा के अनुसार वर्षगांठ के अवसर पर किसी एक डोरे में गांठ बांधने की प्रथा प्रचलित है । डोरे में गांठ बांधना एक वर्ष का प्रतीक माना जाता है । यह प्रथा धीरे-धीरे अब बहुत कम हो गयी है । देश-कालानुसार युग की बदलती हुई मान्यताओं ने अब धीरे-धीरे बहुत से परिवारों में इसका स्थान बालक जितने वर्ष का होता है उतनी मोमबत्ती बुझाने अथवा केक काटने की प्रथा ने ग्रहण कर लिया है ।[4]

---

१. परमानन्दसागर, पद ५०, पृ० १७.

२. महर गोप सबही मिलि बैठे, पनवारे परसाए ।
   भोजन करत अधिक रुचि उपजी, जो जाकैं मन भाए ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८६, पृ० २६१.

३. गीतावली, उत्तरकांड, पद ३५, पृ० ४४०.

४. मध्ययुगीन काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति ' हरगुलाल, पृ० ३३१.

वर्षगांठ संस्कार का वर्णन सूरदास और परमानन्ददासजी ने किया है। सूरदासजी ने बालक कृष्ण की वर्षगांठ का सुन्दर वर्णन किया है। उस सुदिन पर माता यशोदा बालक को स्नान कराती है। इसके बाद मनिमाला और सुन्दर वस्त्र पहनाती है। गले में मनिमाला, सिर पर चौतनी टोपी पहने, माथे पर डिठौना लगाये, आँखों में अंजन किये, शरीर पर निचोल पहने बालक कलबल बोलता है।[१] सूरदास ने उस समय डोरे में गांठ लगाने की ओर संकेत किया है।[२] बालक के वर्षगांठ समाचार के [redacted] पाने पर आस-पास की सखियां आती हैं। सखियों से यशोदा मंगल गीत गाने का आग्रह करती है।[३] परमानंददास ने भी इस प्रसंग का उल्लेख किया है।[४] यशोदा की आज्ञानुसार सखियां मोतियों से सुन्दर चौक पूरती हैं। विप्र लोगों को बुलाकर शुभ घड़ी निश्चित की जाती है। इसके बाद अच्छत-दूब-दल बांधकर लाल की गांठ जुठायी जाती है।[५] इस अवसर पर अनेक बाजे बजते हैं, ब्रज-ललनाएं ताल-लय से मंगल गीत गाती हैं। माता यशोदा बालक की छवि पर तृन तोड़ती है।[६] आज भी सारे भारतवर्ष में वर्षगांठ संस्कार धूम-धाम से मनाते हैं।

---

१. सिर चौतनी डिठौना दीन्हौं, आँखि आँजि पहिराइ निचोल।
   स्याम करत माता सौं भगरौ, अटपटात कलबल करि बोल।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६४, पृ० २६३.

२. सूर स्याम ब्रज-जन-मोहन-बरष-गांठि को डोरा खोल।।
   - वही, पद ६४, पृ० २६३.

३. अरी, मेरे लालन की आजु बरष-गांठि सबै
   सखिनि कौं बुलाइ मंगल-गान करावौ।
   - वही, पद ६५, पृ० २६३.

४. सुनियत आज सुदिन सुभरे गाई।
   बरस गांठ गिरिधरनलाल की बहोरि कुसल में आई।
   - परमानन्दसागर, पद १०, पृ० ५.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६५, पृ० २६३.

६. उमगीं ब्रजनारि सुभग, कान्ह बरष-गांठि उमंग, चहतिं बरष बरषानि।
   गावहिं मंगल सुगान, नीके सुर नीकी तान, आनंद अति हरषनि।
   कंचन-मनि-जटित थार रोचन, दधि, फूल-डार, मिलिबे की तरसनि।
   प्रभु बरष-गांठि जोरति, वा छबि पर तृन तोरति, सूर अरस परसनि।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६६, पृ० २६४.

चूड़ा-कर्म संस्कार :

इस संस्कार को `मुण्डन` या `चौल` भी कहते हैं। चूड़ा का अर्थ शिखा है। इस मुण्डन के पश्चात् केवल शिखा भर ही सिर पर रह जाती थी। आज भी जो इसे मानते हैं वे ऐसा ही करते हैं। अत: चूड़ाकर्म वह संस्कार है जिसके पश्चात् शिखा या चोटी रखी जाती है। `चौड़` शब्द `चूड़ा` से बना है, इसमें कोई संदेह नहीं। `ड` के स्थान पर `ल` बहुधा आ जाता है, अत: `चौल` शब्द बन गया।[१] यह संस्कार शिशु के जीवन के तीसरे वर्ष में संपन्न होता है।[२] मनु ने चूड़ाकर्म संस्कार के समय के बारे में इस प्रकार कहा है —

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मत: ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।।[३]

चूड़ाकर्म-संस्कार का विवरण मध्ययुगीन कवियों ने संक्षेप में किया है। तुलसीदासजी ने चूड़ाकर्म या मुण्डन-संस्कार का वर्णन `रामचरितमानस` और `रामाज्ञाप्रश्न` में संक्षेप में किया है। जातकर्म-संस्कार पिता ने किया, परंतु चूड़ाकर्म संस्कार गुरु द्वारा करा रहे हैं। तुलसी ने `मानस` में चूड़ाकरण संस्कार का समय तीसरा साल माना है, जिसका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। जातकर्म के समान इस संस्कार में ब्राह्मणों को अनेक दान-दक्षिणा दी जाती है। गुरुजी ने चारों राजकुमारों का चूड़ाकरण संस्कार किया।[४] `रामाज्ञाप्रश्न` में इसका वर्णन देखिए —

करनबेध चूड़ा करन, श्रीरघुबर उपबीत ।
समय सकल कल्यानमय, मंजुल मंगल गीत ।।[५]

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास पी. वि. काणे, पृ० २६०.
२. तृतीये वर्षे चौलं तु सर्वकामार्थसाधनम् ।
  - अत्रि स्मृति, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृ० २९८.
३. मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ३५.
४. चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई । बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई ।।
  - मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ३५०.
५. रामाज्ञाप्रश्न, दोहा २, पृ० १२.

'सूरसागर' में चूड़ाकरण संस्कार का वर्णन नहीं हुआ है, लेकिन 'नार छेदन' की ओर सूर ने संकेत किया है। कनगरिन द्वारा 'नार छेदन' न होने के बावजूद यशोदा ने उसे अपने गले का कंचन हार देने का वादा किया है। इतने में वह जल्दी 'नार छेदन' कर्म करती है। सूरदास ने इसका मणिकांचन वर्णन किया है।[१] इस प्रकार मध्ययुगीन भक्ति काव्य के सिंहावलोकन से यह ज्ञात होता है कि उस समय के काव्यों में चूड़ाकर्म संस्कार का वर्णन अत्यंत संक्षेप में हुआ है, जो शिशु के तीसरे वर्ष में सम्पन्न होता है। प्राचीन भारतीय संस्कार एवं संस्कृति में इस संस्कार का महत्वपूर्ण स्थान है।

कर्णवेध-संस्कार

कर्णवेध संस्कार शिशु के जन्म के तीसरे या पांचवें वर्ष में मनाया जाता है।[२] पारस्कर गृह्यसूत्र में कर्णवेध का उचित समय शिशु का तीसरा या पांचवां वर्ष बतलाया है।[३] यह संस्कार कुछ समय तक एक धार्मिक संस्कार के रूप में मनाया जाता था। इस अवसर पर विप्रों और ज्योतिषियों को दान-दक्षिणा देने का भी विधान है। इस संस्कार का मूल प्रयोजन केवल विधि-विधान न था, बल्कि कानों में अपनी इच्छा के अनुसार आभूषण पहनना भी था।

मध्ययुगीन भक्ति-काव्यों में कर्णवेध-संस्कार को अनेक धार्मिक तत्वों से समाविष्ट करके वर्णित किया गया है। बालक कृष्ण के कर्ण-वेध संस्कार के वक्त यशोदा विप्रों को बुला भेजती है और उनके सान्निध्य में तिथि, नक्षत्र, घड़ी आदि को निश्चित करके शुभ मुहूर्त निश्चित करने का उल्लेख परमानन्ददासजी ने किया है।[४] कर्णवेध के समय माता यशोदा बालक को वेदना या कष्ट न होने

---

१. कनगरिनि तैं हौं बहुत खिझाई।
कंचन-हार दिऐं नहिं मानति, तुहीं अनोखी दाई।
बेगिहिं नार छेदि बालक कौ, जाति बयारि भराई। -सू०सा०, दशम०, पद१६, पृ० २६२.

२. कात्यायन गृह्यसूत्र, १।२.

३. पारस्कर गृह्यसूत्र, परिशिष्ट १.

४. गोपाल के वेधकान की कीजे।
गुरुबल तिथिबल नक्षत्र बार बलि सुभघरी बिचार लीजे।
गनिक निपुन द्वै चारि बैठिके मतो बिचार्यो नीको।
मुहूरत जामैं दोस रहित सुख सागर है जीको।। -परमा०, पद ५३, पृ० ८८.

के उद्देश्य से उसके हाथ में सुहारी, पूरी और गुड़ पकड़ा देती है ।[१] माता इसके बाद बालक को गोद में लेकर ब्राह्मण श्रेष्ठ के पास बैठती है और वे वेद मंत्रोच्चारण के उपरांत कर्णछेदन के लिए सुई देते हैं ।[२] नाई जब कान पर सींक से 'रोचना' का चिह्न लगाता है, तब माता का हृदय धड़कने लगता है । माता यशोदा की आँखों में आँसू भर आये । इतने में नाई कर्णवेध कर्म करता है । बालक कृष्ण रोने लगता है, तो वह बालक को सांत्वना देने के उद्देश्य से नाई को धमकाती है । यशोदा और कृष्ण की घबराहट देखकर नन्द गोपी सब हँसने लगे । ब्रज-बालाएं मंगल गीत और बधाई गाती हैं । सूरदास ने इस प्रसंग का सुन्दर और सूक्ष्म वर्णन किया है ।[३] अष्टछाप के कवियों में कृष्णदास ने इस संस्कार के बाद यथोचित भोजन और गायों के दान देने का उल्लेख किया है । स्वजाति के लोगों को पहिरावनी देने का वर्णन भी है ।[४] राम-भक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने यद्यपि कर्णवेध संस्कार का स्वयं निरूपण नहीं किया है, तथापि राम के मुख से उसका उल्लेख कराकर उसकी मान्यता स्वीकार की है । उन्होंने मानस[५] और रामाज्ञाप्रश्न[६] में कर्णवेध का उल्लेख किया है । कर्णवेध संस्कार के अवसर पर आवत होना और दान देना आदि का परिचय प्राचीन भारतीय परिपाटी के अनुसार मध्ययुगीन भक्त कवियों ने किया है । आज भी यह संस्कार सर्वप्रचलित है ।

---

१. कान्ह कुंवर को कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की ।
बिधि बिहंसत, हरि हंसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८०, पृ० ३२१.

२. सूची पढ़ि दीनी द्विजवर देवा ।
जाते पीर न होय करन को हम करिहैं सब सेवा ।। -परमा०, पद ५४, पृ० १८.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८०, पृ० ३२१.

४. कुंवर को कर्णवेध करि लीने ।
जाति कुटुम्ब पाटम्बर पहिरो जिन जो मांग्यो सो दीनों ।
अन्नदान, गोदान, करि द्विज धन जो जाको अधिकारी ।।
- कृष्णदास, पद ८८८, पृ० ३५०.

५. जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ।।
कर्नबेध उपबीत बिआहा । संग संग सब भए उछाहा ।। -मानस, अयो०, दो० ३, पृ० १७

६. करनबेध चूड़ाकरन, श्रीरघुबर उपबीत ।
समय सकल कल्यानमय, मंजुल मंगल गीत ।। - रामाज्ञाप्रश्न, दोहा २, पृ० १३.

उपनयन :

इस संस्कार को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं, जो पुरोहितों के द्वारा कराया जाता है। उपनयन संस्कार या यज्ञोपवीत संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिए मान्य है। मनुस्मृति में प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए निश्चित वर्ष आंका है। ब्राह्मण का पंचम वर्ष में, क्षत्रिय का षष्ठ वर्ष में और वैश्य का अष्टम वर्ष में उपनयन संस्कार होना चाहिए।[१] उपनयन संस्कार के पूर्व बालक किसी भी प्रकार का आचरण करे तो भी उस पर कोई भी दोष का आरोप नहीं करता। इस संस्कार के बाद ही बालक की दिनचर्या नियमानुबद्ध हो जाती है, इसलिए धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है। बालक छात्र रूप में जिस संस्कार के बाद प्रविष्ट होता है उसे उपनयन संस्कार कहते हैं। इस उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता है, अर्थात् उसके नित्य जीवन में संयमन आता है।

प्राचीन काल से लेकर उपनयन का अर्थ अनेकों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य को धारण करने के उद्देश्य से हुआ है।[२] वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी और अध्यापक को आचार्य कहा जाता था। अथर्ववेद में इसका ऐसा उल्लेख मिलता है कि आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। वह तीन रात्रि उसे उदर में रखता है। जब वह जन्म ग्रहण करता है तो देवगण उसे देखने के लिए एकत्र होते हैं।[३] मनुस्मृति में ऐसा उल्लेख है कि द्वितीय जन्म (वैदिक या ब्रह्मजन्म) में जिसका प्रतीक मुंज से बनी मेखला का धारण करना है, सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता है।[४]

---

१. मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ३७.

२. उपनयनो ब्रह्मचारिणाम् — अथर्ववेद ११.५.३.

३. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।।
— वही, ११.५.५.

४. तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।।
— मनुस्मृति, २.१७०.

वर्तमान काल में उपनयन का शिक्षा सम्बन्धी अर्थ पूर्णतया विलुप्त हो गया है। द्विजन्मा के विवाह से पूर्व जो संस्कार विशेष किया जाता है उसे उत्तर भारत में 'जनेऊ' कहा जाता है, जिसका अर्थ 'धारण किये जाने वाले उत्तरीय का स्थानापन्न' है। अत: अनुमान किया जा सकता है कि उपनयन संस्कार एक धार्मिक संस्कार के रूप में प्राचीन काल से चला आता है।

उपनयन संस्कार कहीं कहीं विवाह के पूर्व और पश्चात् संपन्न होता है। कृष्ण और हलधर का यज्ञोपवीत संस्कार गोकुल में न होकर मथुरा में संपन्न होता है। यह तो कंस वध के पश्चात् की बात है। गोकुल में कृष्ण का उपनयन संस्कार क्यों नहीं हुआ? संभवत: आयु में छोटे होने के कारण कृष्ण और बलराम का का यज्ञोपवीत संस्कार गोकुल में नहीं हो सका। यह भी संभव है कि आभीर क्षत्रियों का महत्व उस समय क्षीण हो गया हो और उनके अन्तर्गत यज्ञोपवीत प्रथा का ही लोप हो गया हो। अत: कृष्ण जब मथुरा पहुंचे तब इस विस्मृत संस्कार को भी पूरा किया गया।[1] परमानन्ददास ने कृष्ण का उपनयन संस्कार पांचवेंवर्ष में मथुरा में संपन्न होने की ओर संकेत किया है।[2] तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में क्षत्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार ग्यारहवें वर्ष संपन्न होने का उल्लेख किया है। जब राजा दशरथ के चारों राजकुमारों की आयु ग्यारह वर्ष की हुई तब गुरु, पिता और माता ने यज्ञोपवीत किया।[3] तुलसी ने 'मानस' के अयोध्याकांड में उपनयन संस्कार का उल्लेख रामजी के मुख से कराया है।[4] और 'रामाज्ञाप्रश्न' में अन्य सभी संस्कारों के संपन्न होते

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३७३.

२. माई तेरो कान्ह कौन अब ढंग लाग्यो।
   मेरी पीठ पर मेलि कररा वह देत जात भाग्यो।।
   पांच बरस को स्याम मनोहर ब्रज में डोलत नांगो।
   'परमानन्ददास' को ठाकुर कांधे पर्यो न तागो।।
   - परमानन्दसागर, पद ६३, पृ० ३१.

३. भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।।
   - मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ३५२.

४. मानस, अयोध्याकाण्ड, चौ० ३, पृ० १७.

समय इस संस्कार की ओर संकेत किया है ।[१] `सूरसागर` में यज्ञोपवीत के कई पद मिलते हैं । ऋषिराज गर्ग दोनों को गायत्री मंत्र का उपदेश देते हुए हरि और हलधर को `जनेऊ` देते हैं । इसके बाद दावत होती है । इस संस्कार के संपन्न होने के बाद सुन्दर और अलंकृत गार्य ब्राह्मणों को दान की जाती है । स्त्रियां मंगल गीत गाती हैं और देवकीजी आनन्दातिरेक से सर्वस्व न्यौछावर करती हैं ।[२] मथुरा में आज मंगलकारी दिन है । लोक-लोक से टीका आता है । बाजे बजाने की ध्वनि से चारों ओर कोलाहल मच रहा है । ढोल, निसान, शंख आदि का शब्द सुनायी पड़ता है । हरि और हलधर पर `रतन-पट सारी` आदि वस्तुएं माता निछावर करती है ।[३] `सूरसारावली` में एक स्थान पर यज्ञोपवीत का उल्लेख मिलता है, जिसमें देवताओं द्वारा बालक को भिक्षा देने का वर्णन है ।[४] इस तरह इस यज्ञोपवीत संस्कार को एक धार्मिक संस्कार की कोटि में रखा जा सकता है । पुराने समय में ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत के बाद गुरुकुल जाते थे और उन्हें आचार्य के निर्देशानुसार भिक्षा मांगने जाना पड़ता था । आजकल यह संस्कार केवल ब्राह्मणों का संस्कार रह गया है ।

वेदारंभ संस्कार

उपनयन संस्कार के बाद वेदारंभ संस्कार का प्रारंभ होता है । बालक के विद्याध्ययन प्रारंभ करते समय यह संस्कार संपन्न होता है । बालक जब अध्ययन

---

१. करनबेध चूड़ाकरन, श्रीरघुबर उपबीत ।
   समय सकल कल्यानमय मंजुल मंगल गीत । — रामाज्ञाप्रश्न, दोहा २, पृ० १३.

२. हरि हलधर कौं दियौ जनेऊ, करि षटरस ज्योनारि ।।
   जाके स्वास उसांस लेत मैं प्रगट भए श्रुति चार ।
   तिन गायत्री सुनी गर्ग सौं प्रभु गति अगम अपार ।।
   बिधि सौं धेनु दईं बहु बिप्रनि, सहित सर्व सिंगार ।
   जदुकुल भयौ परम कौतूहल, जहंतहं गावति नार ।।
   मातु देवकी परम मुदित ह्वै, देति निछावरि वारि ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०६५, पृ० १२२६.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०६६, पृ० १२२६.

४. यज्ञोपवीत विधोक्त कियौ विधि सब सुर भिक्षा दीन्हीं ।।
   - सूरसारावली, छन्द ३३२.

के योग्य होता है तो माता-पिता उसे गुरु के पास भेजते हैं । गुरु पहले पहल उसे गायत्री मंत्र से शिक्षा-दीक्षा का श्रीगणेश करते हैं । शिष्यों को वेदाध्ययन के प्रारंभ और अवसान में गुरु के चरणों की वन्दना करनी होती है। मनुस्मृति में इसका उल्लेख है ।[1]

विद्वानों ने इस संस्कार के लिए निर्दिष्ट समय का आयोजन भी किया है । वेदारंभ संस्कार का आयोजन कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी से लेकर आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी तक शुभ तिथि, दिवस और नक्षत्र में किया जाता था । इसमें सरस्वती और विद्यादेवी के अतिरिक्त हरि, लक्ष्मी और सूत्रकारों की पूजा होती थी और इन देवताओं के उद्देश्य से हवन किया जाता था । कालान्तर में इस संस्कार में गणपति की पूजा का विधान भी आ गया ।[2]

उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार के बाद बालक को गुरुकुल भेजा जाता था और उसकी शिक्षा का श्रीगणेश होता था । पहले तो उपनयन में ही वेद-विद्या की दीक्षा का भाव समाहित था, परन्तु जैसे जैसे उपनयन दैहिक संस्कार बनता चला गया, वैसे वैसे ही वेद-विद्या की दीक्षा का भाव उसमें से लुप्त होता चला गया । कालान्तर में यह पृथक् संस्कार बन गया ।[3] 'सूरसारावली' में यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् वेदारंभ संस्कार संपन्न होने का उल्लेख है । वेदारंभ के लिए मथुरा से अवन्तीपुर भेजे जाने का उल्लेख मिलता है ।[4] तुलसीदासजी ने राजा दशरथ के चारों पुत्रों के यज्ञोपवीत के बाद शास्त्रानुसार उन्हें गुरुकुल भेजने की बात प्रकट की है । अत: राजा दशरथ चारों कुमारों को गुरुकुल में

---

१. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
   संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलिः स्मृतः ।।
   - मनुस्मृति, अ० २, श्लोक ७१.

२. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका डा० रामजी उपाध्याय, पृ० ११६.

३. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - हरगुलाल, पृ० ३०२.

४. सूरसारावली, छन्द ५३७.

पढ़ने को भेजते हैं ।[1] सूफी महाकवि जायसी ने सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती का वेदारंभ पांच वर्ष की आयु में संपन्न कराया ।[2] भक्तिकालीन अन्य कवियों ने वेदारंभ संस्कार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है । इसी कारण समूचे मध्ययुगीन काव्यों में शिक्षा का यथावत् कोई उल्लेख नहीं मिलता है । आजकल गुरुकुल शिक्षा प्रणाली प्रचलन में नहीं है ।

विवाह संस्कार

हिन्दू संस्कारों में विवाह सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यह गृहस्थाश्रम की आधार शिला है । मनु ने इसे स्त्री-पुरुषों के संबंधों की मर्यादा में रखने वाली कल्याणकारी लौकिक प्रथा माना है ।[3] ऋग्वेद और अथर्ववेद में वैवाहिक रीति-रिवाजों को काव्यमय अभिव्यक्ति प्राप्त हो चुकी थी ।[4] उपनिषद काल में व्यक्तित्व के विकास के लिए गृहस्थाश्रम अनिवार्य माना जाता था तथा विवाह को किसी भी दृष्टि से हीन नहीं समझा जाता था ।[5] स्मृतियों के काल में आश्रम-व्यवस्था को ईश्वरीय माना जाने लगा और फलस्वरूप उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का पवित्र धार्मिक कर्तव्य हो गया ।[6] यूनान जैसे प्राचीन देश में विवाह को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उसे एक पवित्र संस्कार समझा जाता था ।[7] मनुस्मृति में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच - नामक आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख पाया जाता है ।[8] याज्ञवल्क्य स्मृति[9] एवं आश्वलायनगृह्यसूत्र[10]

---

१. भए कुमार जबहिं सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ।।
   गुरु गृह गए पढ़न रघुराई । अलप काल विद्या सब पाई ।।
                          - मानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० ३५२.
२. पांच बरिस महं भई सो बारी । दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी ।
                          - पद्मावत : व्याख्या० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल,पृ० ६२.
३. एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्री पुंसयोः शुभा । मनुस्मृति,६।२५.
४. ऋग्वेद १०.८५ तथा अथर्ववेद १४.१, २.
५. हिन्दू संस्कार : डा० राजबली पाण्डेय, पृ० १९६.
६. वही, पृ० १९६.
७. ए हिस्ट्री आव द फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजूकेशनल इंस्टिट्यूशन -
                          -विलिस्टाइन गुडसेल, पृ० ८६.
८. मनुस्मृति ३।२१.
९. याज्ञवल्क्य स्मृति १.५८-६१.   १०. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १।६.

में भी विवाह के इन्हीं प्रकारों की मान्यता दी गयी है । मनु ने इनमें से प्रथम चार को प्रशस्त अथवा समाज द्वारा प्रशंसनीय एवं शेष चार को अप्रशस्त माना है ।[1]

रामायण और महाभारत कालीन समाज में अंतर्जातीय विवाह और प्रतिलोम दोनों प्रकार की विवाह-प्रथा प्रचलित थी । इसमें पति शूद्र और पत्नी आर्य होती थी । इस समय स्वयंवर प्रथा थी, जिसके अनुसार स्वयं पति का वरण किया जाता था । प्राचीन काल में दो प्रकार की स्वयंवर प्रणालियां थीं - एक तो वह जिसमें स्वयं कन्या उपस्थित विवाहार्थियों में से किसी को पति चुन लेती है[2]; दूसरी वह थी जिसमें पूर्व निर्धारित शर्तों को पूरा करने वाले को ही कन्या वरण करती है । स्वयंवर की यह दूसरी प्रणाली रामायण-महाभारत काल में प्रचलित थी । वे दिन स्वयंवर विशाल, वैभवपूर्ण राजकीय महोत्सव हुआ करते थे, जिनका प्रचार क्षत्रिय राजाओं-महाराजाओं के वर्गों में सीमित था । ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों की कन्याओं के विवाह में स्वयंवर का रिवाज नहीं था ।[3]

भारत में विवाह की विभिन्न पद्धतियां और प्रयोग प्रचलित थे । प्रारंभ में धर्मशास्त्रों में केवल वैदिक कर्मकाण्डों का ही समावेश था । लेकिन आगे चलकर पुरोहितों ने इसमें और भी अनेक मान्यताओं का प्रचलन किया । उन्होंने विवाह को धार्मिक संस्कार का रूप प्रदान किया और उसमें अन्यान्य कुलाचारों, शास्त्रविहित कृत्यों तथा मांगलिक अनुष्ठानों का समावेश कर दिया । भारत के [redacted] भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न पद्धतियां तथा प्रयोगों का अनुकरण किया जाता है । परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वैवाहिक क्रियायें भी भिन्न-भिन्न हैं । किन्तु धार्मिक और सामाजिक रूढ़िवाद भारत में इतना

---

१. मनुस्मृति ३.२४-२५.

२. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० १५६६.

३. रामायणकालीन समाज डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास, पृ० ११४.

प्रबल है कि संस्कारों की प्रमुख रूपरेखा वैदिक युग से वर्तमान काल तक अविच्छिन्न रही है, तथा उसके साधारण तत्व समस्त देश में एक एक समान हैं । साधारणतः पद्धतियों तथा प्रयोगों से वाग्दान, विवाह का दिन, मृदाहरण, गणपति-पूजा, घटिका, वैवाहिक स्नान, वर यात्रा, मधुपर्क, वधू का सत्कार, वधू को वस्त्रोपहार समंजन, गोत्रोच्चार, कन्यादान, प्रतिबन्ध, एक महत्वपूर्ण प्रश्न, रक्षा-सूत्र, वधू के विकास का संकेत, राष्ट्रभृत तथा अन्य यज्ञ, पाणिग्रहण, अश्मारोहण, स्त्रियों द्वारा यशोगान, अग्नि-प्रदक्षिणा, सप्तपदी, वधू का अभिषिंचन, हृदयस्पर्श, वधू को आशीर्वाद, वृषभ-चर्म पर बैठना, स्थानीय प्रथायें, विवाह की दक्षिणा, सूर्य-दर्शन तथा ध्रुव-दर्शन, त्रिरात्र-व्रत, वधू का उद्वाह और उसे आशीर्वाद, गृह-अग्नि की प्रतिष्ठा, चतुर्थी-कर्म, स्थाली-पाक, विवाह-मण्डप का उत्थान आदि पद्धति स्वीकृत हैं ।[१] इस प्रकार हिन्दू संस्कारों में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है ।

मध्ययुगीन निर्गुण और सगुण कवियों के काव्यों में विवाह का बड़ा सांगोपांग वर्णन मिलता है । संतों ने आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से जीवन के सभी पक्षों को ग्रहण किया है । उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम सम्बन्ध को विवाह के रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है । सूफी कवियों ने भी इसका अनुकरण किया । यद्यपि उन्होंने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को दिखाकर विवाह संस्कार का उल्लेख किया है, तो भी उसमें विवाह की लोकप्रचलित रीतियों का वर्णन अत्यंत विशद रूप में किया है । सूफी कवि जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती के विवाह का जो वर्णन किया है वह लोकाश्रित एवं लोकानुमोदित है । मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य और राम-काव्य में विवाह का बड़ा सांगोपांग वर्णन मिलता है । सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास प्रभृति ने कृष्ण-भक्ति-काव्य रचकर उसमें मानव-जीवन के विभिन्न संस्कारों का वर्णन किया है । सूरदास ने 'सूरसागर' के चतुर्थ स्कंध में शिव-पार्वती, नवम स्कन्ध में हलधर-रेवती, राम-सीता और दशम स्कंध में वसुदेव-देवकी, राधा-कृष्ण, अनिरुद्ध-उषा, सांब-लक्ष्मणा,

---

१. हिन्दू संस्कार डा० राजबली पाण्डेय, पृ० २६३-२८५.

अर्जुन-सुभद्रा आदि के विवाह का वर्णन मुख्य रूप से किया है । परमानन्ददास ने राधा-कृष्ण के विवाह का विशद वर्णन किया और वाग्दान, सगाई, टीका आदि वैवाहिक कुलाचारों का भी उल्लेख किया है । `नन्ददास ग्रंथावली` में रूपमंजरी, देवकी, राधा और रुक्मिणी के परिणय का वर्णन मिलता है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने विवाह संस्कार को मंगल संस्कार की कोटि में रखा है । यद्यपि अन्य सभी संस्कार मंगलकारी हैं, तो भी विवाह संस्कार का वर्णन तुलसी ने विस्तृत रूप से किया है । उन्होंने `रामचरितमानस` के बालकाण्ड में शिव-पार्वती और राम-सीता के विवाह का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने `पार्वती-मंगल` में शिव-पार्वती के विवाह और `जानकी मंगल` में राम-सीता के विवाह का सविस्तार वर्णन करके विवाह संस्कार की प्रधानता व्यंजित की है ।

मध्ययुगीन काव्य-ग्रंथों में विवाह संस्कार सम्बन्धी समग्र-रीतियों को दो भागों में विभाजित किया है — एक शास्त्र सम्मत और दूसरा कुलाचार । शास्त्र सम्मत के अन्तर्गत वर-वधू गुण परीक्षा, वर-प्रेक्षण, वाग्दान, निमंत्रण, मंडपकरण, वर सत्कार, वधू-गृहागमन, समंजन, अग्नि प्रदक्षिणा, गृह-प्रवेश, स्त्रियों का यशोगान आदि आते हैं । कुलाचार में सगाई, टीका, लग्न लिखवाकर भेजना, देवी-पूजा, हल्दी-तेल चढ़ाना, वर की सज्जा, सेहरा गाना, वर का टीका या पलकाचार, विवाहोपरांत वर के घर लौटने पर सुवासिन आदि का द्वार रुकाई मांगना, गाली गाना, कंकण खोलना, नव वधू का मुंह देखना और उपहार देना आदि का समावेश है । अब हम मध्ययुगीन काव्यों में आयी हुई विवाह की सभी रीतियों का क्रमानुसार वर्णन करेंगे ।

वर की तलाश करना

कन्या के सयानी होने पर उसके लिए योग्य और अनुरूप वर को खोजने की जिम्मेदारी माता-पिता पर निर्भर रहती है । कन्या का योग्य वर के साथ विवाह संपन्न होने की चिंता माता-पिता को अधिक होती है । इसी प्रकार जब पार्वती विवाह के योग्य हुई तो माता मैना और पिता हिमवान ने महर्षि

नारद से चर्चा की । तब नारद ने शिव मंगला पार्वती के योग्य वर शिव का परिचय दिया ।[1] नारद मुनि की बात समझ में न आने के कारण माता मैना ने पिता हिमवान से कहा –

> जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा । करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा ।।
> न त कन्या बरु रहउ कुआँरी । कंत उमा मम प्रानपिआरी ।।[2]

कन्या के लिए उचित वर की प्राप्ति के लिए माता-पिता को प्रतीक्षा होती है ।[3] नारद मुनि ने उमा के वर के पागल होने का समाचार दिया । तब माता-पिता तो अत्यंत दुःखी हुए । तुलसीदासजी ने ऐसे मार्मिक प्रसंग की कल्पना की । माता-पिता तो हमेशा कन्या को योग्य वर प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हैं । नारदजी की बात सुनकर वे पार्वती के प्रति अपने अपार स्नेह का परिचय दिखाते हैं ।[4] हिमवान् और मैना की प्रार्थना से नारदजी उन्हें भाग्य-दोष के नाश का उपाय भी बता देते हैं ।

जायसी के समय में लड़की को यह अधिकार था कि वह अपने योग्य वर की तलाश करे । पद्मावती जब सयानी हुई तो उसने अपना हाल हीरामन तोते से कहा । हीरामन तोते ने उसके लिए अनुरूप वर की तलाश करने का वादा किया । पद्मावती के पिता इससे क्रुद्ध हुए और उसको मारने की आज्ञा दी ।

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग में कन्या के लिए वर की तलाश माता-पिता करते थे और कभी-कभी कन्या स्वयं अपने योग्य वर की तलाश में निकल पड़ती थी । पहले प्रकार की प्रथा आज भी सर्वप्रचलित है ।

---

१. बिधिलोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही ।
हिमवानु कन्या जोगु बरु बाउर बिबुध बंदित सही ।।
- पार्वती मंगल, पद २, पृ० ८.

२. मानस, बालकाण्ड, चौ० २, पृ० १५२.

३. जौं न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू । गिरि जड़ सहज कहिहि सब लोगू ।।
- मानस, बालकांड, चौ० ३, पृ० १५२.

४. पार्वतीमंगल, दोहा १८, पृ० ६.

कन्यावालों का वर के घर जाना

मध्ययुग में विवाह पक्का हो जाने के पहले लड़के को देखने के लिए कन्या वालों की तरफ से जाने की प्रथा थी । कन्यावालों को लड़का पसन्द आने पर विवाह का कार्य सौंपा जाता था । माता यशोदा कृष्ण से कहती हैं कि तुम लड़कपन छोड़ दो, बाबा ने तुम्हारे विवाह की बात कर ली है । वे लोग कल यहां आयेंगे । अगर वे तुम्हारी चोरी की बात सुनेंगे तो डरेंगे और नयी दुलहिन हंसेगी । इसलिए कुछ तुम कुछ सज-धज कर रहो और वे तुम्हारी प्रशंसा करेंगे ।[1] परमानन्ददास ने भी इस ओर संकेत किया है ।[2] नन्ददास ने बुरे लड़के के साथ सगाई तक विवाह न होने की बात कही है ।[3] यह बात समाज में सर्वप्रचलित है कि गरीब कन्या के लोग वर के अयोग्य होने पर भी उसके साथ कन्या की शादी कराते हैं । इसका उदाहरण हमें तब मिलता है जब यशोदा कृष्ण से पालने में ही उसकी सगाई की बात कहती है । इससे यह विदित होता है कि मध्ययुग में बाल-विवाह की प्रथा सर्वप्रचलित थी । खूबसूरत कन्या को देखने पर उसके माता-पिता से वर-पक्ष के लोग कन्या की याचना करते हैं ।[4] अगर वर अयोग्य है तो कन्या-पक्ष के लोग इस याचना को अस्वीकृत करते हैं ।[5] विवाह योग्य युवक और युवती से हो जाने पर परिवार के लोग और किसी वस्तु की मांग नहीं करते थे ।

---

१. छांडो मेरे लालन ! ललित लरिकाई ।
ऐहैं सुत ! देखनहार कालि तेरे,
बबै ब्याह की बात चलाई ।।
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि,
हंसिहैं नइ दुलहिया सुहाई ।
उबटौ न्हाहु, गुहौं चुटिया बलि,
देखि भलो बर करिहिं बड़ाई ।। – श्रीकृष्णगीतावली, पद १३, पृ० २०.

२. परमानन्दसागर, पद ३०८, पृ० १०३.

३. नन्ददासग्रंथावली, पद ५, पृ० १७०.

४. नन्ददास ग्रंथावली, पद २, पृ० १७०.

५. वही, पद ७, पृ० १७१.

अतः दोनों परिवारों का स्नेह बन्धन विवाह के लिए मुख्य था ।[१] समान जाति वालों के साथ विवाह होते थे ।[२] इससे यह मालूम होता है कि मध्ययुग के कृष्ण-भक्त कवियों के समय में यह प्रथा प्रचलित थी ।

वर का कन्या को देखने जाना

विवाह की यह रीति आज भी सर्वप्रचलित है । अपनी कन्या के लिए योग्य और अनुरूप वर प्राप्त होने पर कन्या के माता-पिता लड़के को कन्या को देखने के लिए आमंत्रित करते थे । वृषभानु राधा की सगाई कृष्ण के साथ होने पर उसे बुलाते हैं ।[३] तुलसीदास ने धनुष-भंग के बाद विवाह की बात वंश-व्यवहार और वेदविचारानुसार करने की ओर संकेत किया है ।[४]

वाग्दान

लड़के को लड़की पसंद आने पर लोक-व्यवहार के अनुसार विवाह का वाग्दान हो जाता है । लड़की को पसंद आने पर उसको साज-शृंगार करने के बाद माता नवदंपति के रूप-सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है ।[५] यशोदा कृष्ण की सगाई के अवसर पर घर सजाती है और मोतियों से चौक पुरवाती है । नन्द महर के घर बधाई बजती है और मंगल-गान होते हैं ।[६]

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पद ४, पृ० १७०.

२. अपने लाल को ब्याह करूंगी बड़े गोप की बेटी ।
बासों हमरी जतिया बारी भोजन भेटा भेटी । -परमानंद०, पद ३१३, पृ० १०५.

३. नन्दी स्वर तें नन्द जसोदा गोपनि न्योति बुलाए ।
हमरी लली, तुम्हारे लालन यह कछ आए अनूप ।। - कुम्भनदास, पद सं० १०.

४. तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस ब्यवहारु ।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुर, बेद बिदित आचारु ।।
- मानस, बालकाण्ड, दोहा २८६, पृ० ४७८.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७०४, पृ० ५०७.

६. सुनति सगाई स्याम, ग्वाल सब अंगनि फूले;
नाचत गावत चले, प्रेम रस में अनुकूले ।
जसुमति रानी घर सज्यौ मोतिन चौक पुराइ;
बजति बधाई नन्द कें 'नंददास' बलि जाइ ।।
- कि औरी सोहागी ।। -नंददासग्रंथावली, पद २८,
पृ० १७४.

यशोदा गोपियों को एकत्र करके मंगलाचार करती है । कृष्ण को सजा-बजा कर रत्नजटित चौकी पर बिठाया जाता है । वर को विप्र तिलक देता है, अक्षत लगाता है । इसी समय वाद्य बजते हैं, भारी हलचल मचती है, यशोदा वस्त्र और आभूषण दान देती है ।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-सीता के विवाह का वाग्दान धनुष-भंग के बाद करने की ओर संकेत किया है । राजा जनक की एक शर्त थी कि शिव-धनुष तोड़ने वाले के साथ जनकजा की शादी होगी । धनुष भंग के बाद जनक-पुत्री सीता ने रामचन्द्र जी के उर पर जयमाला डाल दी और दोनों की सगाई एवं वाग्दान हुए ।[२]

बरछा

`बरछा` का विवाह की लोक-रीतियों में प्रमुख स्थान है । यह शब्द स्वयं ही अपना अर्थ व्यक्त करता है । इसमें कन्या पक्ष वाला वर पक्षवाले से विवाह की बातचीत पक्की करके कुछ `पत्रं पुष्पं` ठहरौनी स्वरूप देता है । यह सर्वप्रथम वैवाहिक कृत्य है । इसे करने के बाद दोनों पक्ष विवाह करने के लिए वचन-बद्ध हो जाते हैं ।[३] पाणिग्रहण के पहले पद्मावती के पिता बरछा करते हैं और वर रत्नसेन टीका चढ़ाता है ।[४] परमानन्ददास ने राधा-कृष्ण के विवाह से पूर्व भी कन्या-पक्ष की ओर से अर्थात् वृषभानु के महल से वर के यहाँ टीका भेजने का उल्लेख किया है ।[५] गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस[६] और

---

१. बैठे आप रतन चौकी पर नर नारिन की भीर सुहाई ।।
 विप्र प्रवीन तिलक कर मस्तक अच्छप धाप लियो अपनाई ।
 बाजत ढोल भेरि और महुवर नौबत धुनि घनघोर बजाई ।।
 फूली फिरत जसोदा रानी वारि कुंवर पर बसन लुटाई ।
 - परमानन्दसागर, पद ३०६, पृ० १०२.

२. सोहत जनु जुग जलज सनाला । ससिहिं सभीत देत जयमाला ।।
 गावहिं छवि अवलोकि सहेली । सिय जयमाल राम उर मेली ।।
 - मानस, बालकांड, चौ० ४, पृ० ४४४.

३. पद्मावत में लोक-तत्व : डा० रवीन्द्र भ्रमर, पृ० १८९.

४. मिला सुबस अस उजियारा । भा बरोक औ तिलक संवारा ।
 - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३११.

५. वृषभान गोप टीका दे पठयो सुन्दर जाति कन्हाई ।। -परमा०, पद ३०६, पृ० १०२.

६. मानस, बालकांड, चौ० १, पृ० ४५८.

जानकी मंगल[1] में धनुष-भंग के बाद वर-पक्ष के यहाँ दूत भेजने का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार इस वैवाहिक कृत्य के बाद दोनों पक्ष के लोगों में विवाह का निश्चय हो जाता है ।

लग्न एवं तिथि निश्चय करना

बरछा चढ़ाने और टीका काढ़ने के बाद सबसे पहले होने वाला वैवाहिक कृत्य है लग्न और तिथि निश्चय करना । साधारणत: लड़की के यहाँ लग्न-पत्रिका तैयार की जाती है । बाद में उसे लड़के के यहाँ भेज दिया जाता है । इसमें कुछ धन-राशि एवं पान-फूल के साथ-साथ कन्या एवं वर की राशि पर विचार, विवाह का योग,तिथि आदि पर विचार होता है ।[2] जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती के विवाह की लग्न और तिथि को तैयार करने की ओर संकेत किया है ।[3] नन्ददास ने 'लग्न' लिखवाकर वर के घर में भेजने की बात कही है ।[4] गोस्वामी तुलसीदासजी ने जानकीमंगल में राजा जनक द्वारा शतानन्द मुनि के हाथों राजा दशरथ का लग्नपत्रिका भेजने की ओर संकेत किया है ।[5] उन्होंने मानस में पार्वती के पिता हिमवान द्वारा शिवजी की प्रभुता को मन में ध्यान करके लग्न-पत्रिका तैयार करने का वर्णन किया है ।[6] इसके अतिरिक्त हिमवान ने

---

१. कौसिकहि पूजि प्रसंसि आयसु पाइ नृप सुख पायऊ ।
   लिखि लगन तिलक समाज सजि कुलगुर हि अवध पठायऊ ।।
   - जानकीमंगल, दोहा ११४, पृ० ३३.
२. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति —हरगुलाल,पृ० ३११.
३. लगन धरी औ रचा बिवाहू ।
   - पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल,पृ० ३१२.
४. नन्ददासग्रंथावली, पद ५८, पृ० २६८.
५. नृप मुनि आगे आइ पूजि सनमानेउ ।
   दीन्हि लगन कहि कुसल राउ हरषानेउ ।।
   - जानकीमंगल, दोहा १५७, पृ० ३४.
६. हृदय बिचारि संभु प्रभुताई । सादर मुनिवर लिए बोलाई ।।
   सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई । बेगि बेदबिधि लगन धराई ।।
   - मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ९८०.

लग्न-पत्रिका ऋषियों को दी और ऋषियों ने उसे ब्रह्मा को दिया, जिसे उन्होंने सबको पढ़ सुनाया और सुनकर सब हर्षित हुए ।[१] इससे यह बात स्पष्ट है कि उस समय आजकल की तरह लोगों में विवाह के लिए लग्न और तिथि तय करने की प्रथा थी ।

बरात को निमंत्रण देना

सगाई के बाद विवाह की बातें बहुत ही द्रुतगति से चलने लगती हैं । इस समय सबसे पहले दोनों पक्ष वालों में यह बात तय की जाती है कि विवाह में कितने लोग वर के साथ आयेंगे, कौन-कौन वस्तु आवश्यक है, बारात के बड़ी दूर से आने पर उन्हें विश्राम करने या ठहरने के लिए क्या-क्या प्रबन्ध होगा ? विवाह में आने के लिए लोगों को पहले निमंत्रण भेजा जाता है । जायसी ने प्रत्येक घर में न्यौता भेजने की बात कही है ।[२] बारात में सभी ग्वाल-बाल आयेंगे - यह सुनकर कृष्ण प्रसन्नचित्त हो गये । इसके अतिरिक्त बल भैया भी आने वाले हैं ।[३] नन्द महर के यहाँ यशोदा के नाम पर यह संदेश आया कि यशोदा, अब तुम वर और कन्या पक्ष के लोगों को नेवता भेजती हो, इससे हम आनंद में मग्न हैं । बारात चलने की तैयारी की जाती है और आभूषण और वस्त्र बनवाये जाते हैं ।[४] सूरदास ने राधा-कृष्ण के विवाह का जो वर्णन किया है वह गांधर्व विधि-विधान से कुंजमण्डप में होता है । विवाह में उपस्थित होने के लिए गोपिकाओं को मुरली बजाकर नेवते दिये जाते हैं ।[५] सूरदास के समय

---

१. मानस, बालकांड, चौ० ३-४, पृ० ८८०; पार्वतीमंगल, पृ० २४.

२. सिंघल नेवत फिरा सब काहू ।
- पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१२.

३. ग्वाल बाल सब बरात चलैंगे और चलैं बल भैया ।
'परमानन्द' नंद के आनन्द हंसि हंसि लेत बलैया ।।
- परमानन्दसागर, पद ३०७, पृ० १०२.

४. वही, पद ३०९, पृ० १०३.

५. गोपीजन सब नेवते आईं । मुरली धुनि तें पठइ बुलाई ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३०.

पीले चावल बाँटकर निमंत्रण देने की प्रथा प्रचलन में थी । राधा-कृष्ण के विवाह में 'छप्पन कोटि' बाराती शामिल होते हैं ।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'पार्वतीमंगल' में पार्वती-परिणय के समय हिमवान द्वारा पर्वत, वन, नदी, समुद्र, सरोवर सभी को न्योता भेजने का वर्णन किया है ।[२] बारातों को निमंत्रण भेजना और कन्या पक्ष वालों के घर में पहुंचते समय उन्हें कौन-कौन वस्तुएं अनिवार्य हैं - इन बातों का ध्यान आज भी लोगों में होता है ।

हल्दी-तेल चढ़ाना :

मध्ययुग में विवाह के पूर्व दूल्हे और दुल्हन के शरीर पर हल्दी और तेल चढ़ाने की प्रथा थी । कबीरदासजी ने विवाह के समय सखी-सहेलियों का मंगल गान करना और हल्दी चढ़ाने का उल्लेख किया है ।[३] कृष्णदास ने कृष्ण के स्नान करने के समय हल्दी चढ़ाने और उबटन लगाने का वर्णन किया है ।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी ने कुलरीति से हल्दी चढ़ाकर मंगल गीत गाने का उल्लेख किया है ।[५]

देवी पूजन

विवाह के पूर्व कन्या अपने को योग्य वर को प्राप्त करने के लिए देवी-पूजा करती थी । मध्ययुगीन काव्यों में देवी-पूजन का उल्लेख मिलता है । वसंत पंचमी के दिन सखियों सहित पद्मावती साज-शृंगार कर महादेव के मठ में जा पहुंची ।

---

१. चले साजि बरात आयो कोटि छप्पन अति बली ।
- सूर,सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८७, पृ० १५०७.

२. पार्वतीमंगल, दोहा ८४, पृ० २५; मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ९८४.

३. सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथे हलद चढ़ाई ।।
- कबीर ग्रंथावली, पद २२६, पृ० ४७२.

४. हरद चढ़ावैं हृदय लगावैं, उबट न्हवावैं सब ब्रजनारी ।
कृष्णदास गिरिधरन छबीले रंग रंगीले की बलिहारी ।।
- कृष्णदास, पद ८८६.

५. प्रथम हरदि बंदन करि मंगल गावहिं ।
करि कुल रीति कलस थपि तेलु चढ़ावहिं ।।
- जानकीमंगल, दोहा ११५, पृ० ३४.

इसके बाद वह देवता के द्वार पर पहुंची और मंडप के अन्दर घुसकर देवी-पूजन करने लगी । उसने देवता से प्रार्थना की कि उसकी अन्य सहेलियां विवाहिता हैं, केवल वही अविवाहिता है । उसे भी अनुरूप वर प्राप्त कराने सहायता करे । अंत में उसने यह मनौती की कि अगर उसकी कामना सफल होगी तो वह एक कलश चढ़ायेगी ।[1] सूरदास ने रुक्मिणी-विवाह-प्रसंग में गौरी-पूजन का उल्लेख किया है ।[2] उन्होंने देवी-पूजन का उल्लेख राधा-कृष्ण के गांधर्व विवाह के अन्तर्गत भी किया है ।[3] नन्ददासजी ने रुक्मिणी के देवी-पूजन का वर्णन यों किया है –

> जहं देवी अंबिका, नगर बाहर मठ ऊजल ।
> ह्वै आई कुल रीति चली दुलही तिहि पूजन ।।
> \+ + + +
> विधिवत् देवी अरचि परचि बहु वंदन करिकै ।
> बिनती कीनी कुंवरि गौरि-पद-पंकज परिकै ।।
> अहो ! देवि, अंबिके ! गौरि, ईश्वरि, सब लायक ।
> महा-माय, बरदाय, सु संकर तुमरे गायक ।।
> तुम सब जिय की जानति तुम सौं कहा दुराऊं ।
> गोकुल-चंद गुविंद, नंदनंदन पति पाऊं ।।[4]

---

१. पदुमावति गै देव दुवारू । भीतर मंडप कीन्ह पैसारू ।
+ + + +
बर संजोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन हींछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि ।।
– पदुमावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१७-८

२. रुकमिनि देवी मंदिर आई ।
धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई ।।
+ + + +
कुंवरि पूजि गौरी बिनती करि बर देहु जादवराई ।
– सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८२, पृ० १५०३.

३. वही, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ४३०.

४. नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ९८, १०२, १०३, १०४, पृ० १८२.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने सीताजी का विवाह-पूर्व देवी-पूजन करने का वर्णन किया है ।[१] देवी शारदा सीताजी पर प्रसन्न हो जाती है ।[२] गोस्वामीजी ने जनक-वाटिका में सीताजी जो देवी-पूजन करती हैं उसका भी उल्लेख किया है ।[३]

मंडप छाना और चौक पूरना

हमारे यहाँ विवाह के लिए मंडप तैयार करने की प्रथा प्रचलित थी । सुन्दर मणिखचित मंडप बनवाये जाते थे । मंडप के बीच वेदी बनाने का कार्य बड़ी सावधानी से शुभ समझ कर किया जाता था । सीता के विवाह में वसिष्ठ कन्या-पक्ष के पुरोहित शतानन्द की सहायता से मंडप के बीच विधिपूर्वक वेदी बनाकर उसे गंध-पुष्पों, अंकुरों से युक्त घड़ों, अक्षतों, दर्भों, होम करने के सुवर्ण-पात्रों से सजाया गया ।[४] कबीरदासजी ने आत्मा-परमात्मा के विवाह के समय वेदी तैयार करने[५], और पांच लोग मिलकर मंडप के छाने[६] का वर्णन किया है । पद्मावतकार ने मुक्तामणियों से जटित मंडप छाने और भूमि पर लाल बिछावन बिछाने की ओर संकेत किया है । मंडप के नीचे चंदन के खंभे हैं । मणियों के दीपक दिन-रात

---

१. सेवत तोहि सुलभ फल चारी । बरदायनी पुरारि पिआरी ।।
देवि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ।।
मोर मनोरथ जानहु नीके । बसहु सदा उर पुर सबही के ।।
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही । अस कहि चरन गहे बैदेही ।।
- मानस, बालकाण्ड, दो० १-२, पृ० ३९९-४००.

२. मानस, बालकाण्ड, पृ० ४००-४०१.

३. मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता । गई मुदित मन गौरिनिकेता ।।
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा । निज अनुरूप सुभग बरु मागा ।।
- वही, बालकाण्ड, दो० ३, पृ० ३८८.

४. रामायणकालीन समाज : डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास, पृ० १२४-१२५.

५. सरीर सरोवर बेदी करिहूं, ब्रह्मा बेद उचार । - क०ग्रं०, पद १, पृ० ३३३.

६. पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई ।
पूरि सुहाग भर्यौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई ।।
- वही, पद २२६, पृ० ४७२.

जाती हैं । सारे नगर में आनन्द छा जाता है ।[१] 'सूरसागर' में कदली खंभों, विचित्र किसलय दल एवं नाना प्रकार के पुष्पों के योग से मंडप छाने का उल्लेख पाया जाता है ।[२] परमानन्ददास ने कुंज के नये-नये पत्ते तोड़कर बंदनवार बनाकर मंडप छाने का चित्रण किया है ।[३] विद्यापति ने वसन्त के विवाह के समय मंडप छाने का प्रतिपादन किया है ।[४] सूरदास ने मंडप के ऊपर फूल, लाल कपड़े और नाना प्रकार के फूल-पत्ते छाने की ओर संकेत किया है । इसके अतिरिक्त मंडप के नीचे वेदी या चौरी का निर्माण शुभ मुहूर्त में संपन्न होने का चित्र भी खींचा है ।[५] सखियाँ कन्या को उबटन लगाकर स्नान कराने के बाद सुंदर वस्त्राभूषणों से सोलहों शृंगार कराकर चौरी में लाती हैं ।[६] चौरी के पास जो मोतियों का चौक पूरा गया है उसके पास वर को बिठाया जाता है ।[७] सूरदास के राधा-कृष्ण के विवाह में भी वेदी बनाने का उल्लेख है । उनका विवाह गांधर्व-विधि से संपन्न हुआ ।[८] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' में शिव-पार्वती-विवाह-प्रसंग में भवानी को शिव के पास मंडप में लाने का उल्लेख किया है ।[९] राम-सीता के विवाह में राजा जनक ने परिवारों को बुलाकर

---

१. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१२.

२. कदली जुथ अनूप किसल दल, सुरंग सुमन लै मंडप छावहु ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८६, पृ० १५०६.

३. परमानन्दसागर, पद ३१८, ३१४; पृ० १०६, १०५.

४. विद्यापति पदावली, पृ० ३२०.

५. सोधि महूरत चौरी विधि रची ।।
रची चौरी आपु ब्रह्मा जटित खंभ लगाइ कै ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८७, पृ० १५०७.

६. वही, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३०.

७. आरती कर लिये रतन चौक में बैठारे सुन्दर सुखदाई ।
- परमानन्दसागर, पद ३१६, पृ० १०६.

८. छाए जु फूलनि कुंज मंडप, पुलिन में वेदी रची ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३०.

९. छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ ।
- मानस, बालकाण्ड, पृ० १६४.

विचित्र मंडप बनाने की आज्ञा दी ।[१] उन्होंने स्वर्ण के केले के खंभ बनाये[२], मंडप में हरे मणि के पत्ते और फल बनाये और पद्मराग मणियों के फूल बनाये ।[३] हरे मणि के बांसों से मंडप बनाया[४], मंडप की तैयारी पान की लता से करके और पच्चीकारी करके की गयी ।[५] मंडप में चित्रकला की कारीगरी थी ।[६] इस समय अनेक प्रकार के चौक पूरने की कला बदिाण में थी, जिसके निर्माण के लिए संगमरमर का चूर्ण प्रयुक्त होता था ।[७] मंडप की और सुंदरता की वस्तुएं देखिए –

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नीलमनि कोरि ।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि ।।
रचे रुचिर बर बंदनिवारे । मनहु मनोभव फंद संवारे ।।
मंगल कलस अनेक बनाए । ध्वज पताक पट चंवर सोहाए ।।
दीप मनोहर मनि मय नाना । जाइ न बरनि विचित्र बिताना ।।
जेहि मंडप दुलहिनि वैदेही । सो बरनै असि मति कवि केही ।।[८]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जिस प्रकार `मानस` में मंडप और वैदिका निर्माण का चित्र उतारा है, उसी प्रकार उन्होंने `पार्वतीमंगल`[६] और `जानकीमंगल`[१०] में भी मंडप का उल्लेख किया है ।

---

१. मानस, बालकांड, चौ० ३, पृ० ४७६.
२. वही, बाल०, चौ० ४, पृ० ४७६.
३. वही, ,, दोहा २८७, पृ० ४८०.
४. वही, ,, चौ० १, पृ० ४८०.
५. वही, ,, चौ० २, पृ० ४८०.
६. वही, ,, चौ० ३, पृ० ४८०.
७. वही, ,, चौ० ४, पृ० ४८१.
८. वही, ,, दोहा २८८, पृ० ४८१.
६. कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन ।
   हरषित लगीं सुआसिनि मंगल गावन ।। – पार्वतीमंगल, दोहा८६, पृ० २६.
१०. जानकीमंगल, दोहा १३८, पृ० ३६.

वर की सज्जा

बारात में वर और उसकी वेषभूषा का स्थान प्रमुख है। जायसी ने मौरधारी, लाल रंग का जामा पहनने वाले, सिर पर छत्र लगाने वाले और घोड़े पर सवार होने वाले रत्नसेन का उत्कृष्ट चित्र वर रूप में उपस्थित किया है।[१] परमानन्ददास ने कृष्ण को वर रूप में आते समय मौरधारी कहा है।[२] नन्ददास ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[३] सूरदास ने मोर-मुकुट धारण करने वाले कृष्ण का चित्र उतारा है।[४] नन्ददास ने विवाह के समय जरी के वस्त्र पहनने का उल्लेख किया है।[५] रुक्मिणी-हरण के समय वर कृष्ण रथ पर बैठकर आता है।[६] नीली घोड़ी पर आने वाले दूल्हे कृष्ण का चित्रण परमानन्ददास ने किया है।[७] गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिवजी का बैल पर बैठ कर आने का उल्लेख किया है।[८]

बारात के आगमन पर वर को देखने की लालसा

भारतवर्ष का एक पुराना नियम है कि वर के आने पर उसको देखने की लालसा एवं उत्कण्ठा से स्त्रियां अट्टालिकाओं के ऊपर चढ़ती हैं। सज-धज कर

---

१. पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१३.
२. नव बेलांगी मौर धर्यो सिर ऊपर पनरथ ढांप बदन की ।
- परमानन्दसागर, पद ३१०, पृ० १०३.
३. मौर बंध्यो सिर कानन कुण्डल मरगवट मुलहिं सुभायं ।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद ५६, पृ० ३६६.
४. मोर मुकुट रचि मौर बनायौ । माथे पर धरि हरि वर आयौ ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३०.
५. पहिरि जरकसी पट आभूषन अंग अंग नैनि रिझायं ।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद ५६, पृ० ३६६.
६. नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ७१, पृ० १८०.
७. अति उमंग नीली घोरी चढ़ि और छबि कुंवर तुरग की ।।
- परमानन्दसागर, पद ३१०, पृ० १०३.
८. बरु बौराह बसह असवारा । व्याल कपाल बिभूषन छारा ।।
- मानस, बालकांड, चौ० ४, पृ० ९८६.

कर बाजे बजाकर जब बारात कन्या के घर के दरवाजे पर पहुंचती है तब पद्मावती अपनी सखियों सहित अपने भावि पति को देखने की लालसा से चौरहरे पर चढ़ गयी। यहां यह बात स्मरण रखने योग्य है कि इसके पहले एक बार पद्मावती ने रत्नसेन को, जो उसका पति होने वाला है, शिव-मंदिर में देखा था। इस घटना के होते हुए भी कवि ने जब 'द्वार-पूजा' के समय का एक अत्यंत आकर्षक चित्र उपस्थित किया है। राजमहल की अट्टारियों पर चढ़कर पद्मावती ने उस भीड़-भाड़ में अपने भावि वर की झलक देखी। उस समय दुल्हा और दुल्हिन की जो आन्तरिक [redacted] दशा होती है, उसका कवि ने मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक ढंग से वर्णन किया है।[1] नन्ददास ने स्त्रियों की अभिलाषा प्रकट की है।[2] दुल्हिन का अनेक वेषभूषा धारण करके दुल्हे को देखने की इच्छा प्रकट करने का उल्लेख सूरदास ने भी किया है।[3] सीता-विवाह के समय जब बारात जनकपुरी के पास पहुंची तब सबके हृदय में हर्ष उमड़ने लगा। राजमहल के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ है, सब लोग बारात देखने को उत्सुक हैं। नर लोग नीचे हैं और नारियां अटारियों पर चढ़कर देख रही हैं। इसके अतिरिक्त उस समय आरती करने के लिए मंगलद्रव्य भरी थालियां उनके हाथों में थीं।[4] उपर्युक्त प्रकार की सभी सहज इच्छाएं प्राचीन काल से देखी जा सकती हैं।

बारात का स्वागत :

बारात जब कन्यापक्ष के ग्राम के समीप पहुंचती है, तब उसका स्वागत करने के लिए कन्या-पक्ष की तरफ से लोग जाते हैं। उसके प्रथम स्वागत को

---

१. हुलसे नैन दरस मद माते। हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओप रवि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई।
\+ \+ \+ \+
अंग अंग सब हुलसे कोउ कतहूं न समाई।
ठांवहिं ठांव बिमोहा गइ मुरछा गति आइ।।
- पद्मावत : व्याख्या श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१८.

२. नन्ददास ग्रंथावली, पद ५६, पृ० ३६६.

३. सूरदास, दशम स्कंध, पद १०७५, पृ० ६३२-६३३.

४. महा भीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पषान पबारे।।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिए आरती मंगलचारी।।
- मानस, बालकांड, दो० २, पृ० ५६६.

'अगवानी' या 'आगौनी' कहते हैं। जायसी ने पान-फूल और सिंदूर से स्वागत करने का उल्लेख किया है।[१] विद्यापति ने वसंत के विवाह के समय बारात की अगवानी लेने का वर्णन किया है।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी के 'मानस' में राम-सीता-विवाह-प्रसंग में बारात के आते समय लोग हाथी-घोड़े और रथ सजाकर अगवानी के लिए चले।[३] अगवानी की तैयारी के अनुसार स्वागत का उत्साह बढ़ता है। राजाओं में अगवानी के समय वैसी ही तैयारी होती है। अगवानी के बाद स्वागत-सत्कार होता है। जब बारात आयी तब सीताजी ने उचित प्रकार से बारात का आतिथ्य-सत्कार करने का प्रबन्ध किया।[४] दुलहिन के द्वारा वर को स्वागतार्थ उसके गले में माला डालने का उल्लेख नन्ददास ने किया है।[५] परमानन्ददास ने कृष्ण का तिलक कराकर आरती करायी है।[६] नन्ददास ने टीके के बाद कृष्ण की आरती उतारे जाने का उल्लेख किया है।[७] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'पार्वतीमंगल' में शिवजी की आरती सास के द्वारा संपन्न होने का चित्र उतारा है।[८] 'जानकीमंगल' में भी वर के स्वागत का

---

१. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३२०.
२. विद्यापति की पदावली, पृ० ३२०
३. आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान।
   साजि गज रथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान।।
   - मानस, बालकाण्ड, दोहा ३०४, पृ० ५०५.
४. जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई।।
   हृदय सुमिरि सब सिद्धि बुलाई। भूप पहुनाई करन पठाई।।
   - वही, वही, चौ० ४, पृ० ५०७.
५. सखी कहें जुरि बिप्र सौं पुहुपन तें बनमाल; राधे के कर कुंवरके गर मेलौं नंदलाल
   - नन्ददास ग्रंथावली, पद २७, पृ० १७४.
६. परमानन्दसागर, पद ३१७, पृ० १०६.
७. टीको करि आरती उतारी मंडप में पधराए।।
   - नन्ददास ग्रंथावली, पद ६०, पृ० २६६.
८. मनि चामीकर चारु थार सजि आरति।
   रति सिहाहिं लखि रूप गान सुनि भारति।
   भरी भाग अनुराग पुलकि तन मुद मन।
   मद मत्त गजगवनि चलीं बर परिछन।।
   बर बिलोकि बिधु गौर सुअंग उजागर। - पार्वती मंगल, दोहा ११८-११६,
   करति आरती सासु मगन सुख सागर।। १२०, पृ० ३३-३४.

वर्णन मिलता है ।[१] इससे यह मालूम होता है कि विवाह की यह रीति और पद्धति बहुत प्राचीन काल से चली आरही है ।

द्वारपूजा

यह कन्या-पक्ष की तरफ से की जाने वाली प्रथा है । जब बारात आती है तो उसके कुछ पहले ही द्वारपूजा संपन्न होती है । कबीर ने द्वार पर बारात के आने, मंगलाचार होने का उल्लेख किया है ।[२] इसके अलावा उन्होंने बारात के आगमन के पूर्व द्वाराचार होने का संकेत भी किया है ।[३] जायसी ने भी इसका चित्र उतारा है ।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी ने `जानकीमंगल` में वर की पूजा करके सुन्दर सिंहासन देने की बात कही है ।[५] शिव-पार्वती के विवाह-प्रसंग में इसका संकेत मिलता है ।[६]

मधुपर्क

श्वसुर द्वारा वर का प्रथम सत्कार मधुपर्क में होता है । कांसे के बर्तन में दही, घृत तथा मधु का घोल तैयार किया जाता है, जिसे मधुपर्क कहते हैं ।[७] राधा-कृष्ण के विवाह के समय मधुपर्क देने का उल्लेख मिलता है ।[८] `पार्वतीमंगल` में शिवजी को हिमवान ने मणि-आसन देकर मधुपर्क किया ।[९]

---

१. जानकीमंगल, दोहा १३२, १३३, १३४, पृ० ३८.
२. कबीर ग्रंथावली, पद १, पृ० ३३३.
३. पुरि सुहाग भयो बिन दुलह, चौक के रंगि धर्यो सगो भाई ।।
- वही, पद ३२६, पृ० ४७२.
४. बाजत आवै राज मंदिर कहं होइ मंगलाचार ।
- पद्मावत, पृ० ३१५.
५. करहि पूजि नृप दीन्ह सुभग सिंहासन । - जानकीमंगल, दोहा १४०, पृ० ४०.
६. पार्वतीमंगल, दोहा १२०, पृ० ३४.
७. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हरगुलाल, पृ० ३१७.
८. अधर-मधु मधुपरक करि कै, करत आनन हास । -सू०सा०, दशम०, पद १०७१, पृ० ६३.
९. अरघ देइ मनि आसन पर बैठायउ ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अचवायउ ।। - पार्वतीमंगल, दोहा १२१, पृ० ३४.

शाखोच्चारण

वर-वधू के वंश आदि के परिचय देने को `शाखोच्चारण` कहते हैं । यह विवाह के समय संपन्न होता है । शिव-पार्वती-विवाह-वर्णन में तुलसीदासजी ने मधुपर्क के बाद शाखोच्चारण का वर्णन किया है ।[१]

पाणिग्रहण

बारात के आगमन पर लीपी हुई चौक पर वर-वधू बैठते हैं । बारातियों को दावत दी जाती है और वर को वधू का पाणिग्रहण कराया जाता है ।[२] मंडप के छत्र की छाया में वर बैठता है और उसके पास अप्सरा के समान वधू भी बैठती है । दूल्हा और दुल्हिन की गांठ जोड़ी जाती है । पंडित और पुरोहित वेद-मंत्रोच्चारण करते हैं । इसके बाद वधू वर के गले में जयमाला डालती है और वर वधू के गले में जयमाला डालता है । फिर कन्या की अंजलि में जल भरकर और उसका हाथ लेकर उसका यौवन और जन्म पति को सौंपा जाता है एवं वर उसे स्वीकार करता है ।[३] सूरदास की `सूरसारावली` के अनुसार राम-सीता का विवाह वेद-विधि से संपन्न होता है । इसमें इस समय होम हवन के अतिरिक्त द्विज, गणपति, सूर्य, शुक, महेश आदि की पूजा होती है ।[४] अन्य देवताओं की उपासना भी होती है । वेद-ध्वनि और मंगलाचार के बाद यह क्रिया संपन्न होती है । इसमें कन्या का हाथ वर को सौंप दिया जाता है । सूरदास ने विवाह का स्पष्ट विवरण दिया है ।[५] नन्ददास ने इसके लिए `हथलेवा` शब्द का

---

१. वर दुलहिनिहि बिलोकि सकल मन रहसहिं ।
   साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहसहिं ।। - पार्वतीमंगल, दो० १२९, पृ० ३६.

२. कबीर बीजक, पृ० १४७.

३. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३२६-३२७.

४. वेद सास्त्र मथि करि व्याह बिधि सोइ कीन्हीं नृपराय ।
   - सूरसारावली, छंद २३३.
   तथा
   होम हवन द्विज पूजा गनपति सूरज सुक्र महेस । - वही, छंद २३४.

५. ता परि पानिग्रहण बिधि कीन्ही । - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३१.

प्रयोग किया है ।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने `जानकीमंगल` में विवाह के समय वर-वधु के नाम लेकर मंगल गीत गाने, गणेश और पार्वती की पूजा करने का उल्लेख किया है ।[२] पर्वतराज हिमवान ने सब प्रकार के लौकिक और वैदिक कर्मों को करके हाथ में जल और कुश लिया और कन्यादान का संकल्प किया । इसके पश्चात् कुलदेवताओं की पूजा की ।[३] गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिव-पार्वती-विवाह-वर्णन में इसका उल्लेख किया है ।[४]

अग्नि प्रदक्षिणा :

अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह संपन्न कराना प्राचीन काल की प्रथा है । विवाहोपरांत वर और वधु अग्नि के चारों ओर घूम कर जीवन भर साथ रहने की प्रतिज्ञा करते हैं । साधारण लोग इसे `भांवर` या `फेरे लेना` कहते हैं । जब तक वर और वधु पाणिग्रहण के पश्चात् गांठ जोड़कर सात भांवरे नहीं ले लेते तब तक विवाह पूर्ण रूप से संपन्न नहीं माना जाता ।[५] सप्तपदी के बारे में मनु का कथन सुनिए —

> सगोत्राद् प्रसूयते नयि विवाहात् सप्तमे पदे ।
> पाणिग्रहणमन्त्रास्तु नियतं दारलक्षणम् ।
> तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विवाहात् सप्तमे पदे ।।[६]

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पद ६०, पृ० २६६.

२. लै लै नाउं सुवासिनि मंगल गावहिं ।
कुंवर कुंवरि हित गनपति गौरि पुजावहिं ।।
- तुलसी के चार दल (जानकीमंगल), दोहा १६०, पृ० २३६.

३. पार्वतीमंगल, दोहा १३०, १३१, पृ० ३६.

४. असि विवाह के विधि श्रुति गाई । महामुनिन्ह सो सब करवाई ।।
गहि गिरीस कुस कन्या पानी । भवहि समरपीं जानि भवानी ।।
- मानस, बालकाण्ड, दो० १, पृ० १६५.

५. The majority view is that the parties become husband and wife at the end of Saptapadi.
- The Position of women in Hindu Civilization -
- Dr. A.S. Altekar., P.97.

६. मनुस्मृति, ८।७०.

कबीरदासजी ने विवाह वेदी पर वेद-विधान के अनुसार यज्ञ कराना, इसके बाद वर-वधू का भांवर में घूमना आदि का उल्लेख किया है ।[१] उन्होंने अनेक रंगों की परिक्रमायें कर गठ-बंधन करने का चित्रण किया है ।[२] वर-वधू के गांठ बांधने के बाद विप्र और पण्डित लोग कन्या राशि का नाम रटकर वेद-मंत्रोच्चारण करते हैं । शुभ मुहूर्त और शुभ घड़ी जानकर वर-वधू मालाओं का आदान-प्रदान करते हैं । इसके बाद सात भांवरें पड़ती हैं ।[३] कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास[४] और परमानन्ददास[५] ने विवाह में भांवर लेने की बात कही है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने `रामचरितमानस` के राम-सीता-विवाह-प्रसंग में भांवर लेते समय जय-जयकार होना और सब लोगों के आनन्द में मग्न होने की ओर संकेत किया है ।[६]

मंडप में गाना होना

विवाह के समय वेद-मंत्रों की ध्वनि के साथ-साथ मंडप में स्त्रियों का गानालाप भी होता है । गीत और मंत्रोच्चारण का सम्मिलित रूप से होने का वर्णन सूरदास ने किया है ।[७] विद्यापति ने प्रतीकात्मक शैली में मधुकर की गुंजार को स्त्रियों का मंगलगान और कोकिल के बोलने को विप्रों का मंत्रोच्चारण कहा है ।[८]

---

१. सरीर सरोवर बेदी करिहूं, ब्रह्मा बेद उचारा ।
   रामदेव संगि भांवरि लैहूं, धंनि धंनि भाग हमारा ।।
   - कबीर ग्रंथावली, पद १, पृ० ३३३.

२. वही, पद २२६, पृ० ४७१-४७२.

३. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३२७-२८.

४. ता परि पानि-ग्रहण विधि कीन्ही । तब मंडप भ्रमि भांवरि दीन्ही ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३१.

५. भामर लेत प्रिया और प्रीतम तन मन दीजै वार ।। - परमा०, पद ३१४, पृ० १०५

६. कुंअरु कुंअरि कल भांवरि देहीं । नयन लाभु सब सादर लेहीं ।।
   प्रमुदित मुनिन्ह भांवरी फेरी । नेगसहित सब रीति निबेरी ।।
   - मानस, बालकाण्ड, चौ० १, ४, पृ० ५३८-५३९.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३१.

८. विद्यापति पदावली, पृ० ३२०.

परमानन्ददास ने स्त्रियों के मंगलाचार का उद्देश्य वर-वधू को चिरजीव रहने के लिए माना है।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने कोकिलबयनी कामिनियों का परिहास करते हुए गीत गाने का उल्लेख किया है।[२] स्त्रियां आनन्दमग्न होकर गीत गाती हैं।[३] `पार्वतीमंगल` के आधार पर उस समय ब्राह्मण लोग वर-वधू को आशीर्वाद देकर वेदोच्चारण कर रहे थे। इसके अलावा गाना एवं फूलों की वर्षा हो रही थी।[४] उन्होंने `मानस` में स्त्रियों के गानालाप का उल्लेख किया है।[५]

मांग में सिंदूर भरना

यह भी एक प्रकार का वैवाहिक कृत्य है। हिन्दू विवाह की रीति और पद्धति के अनुसार केवल सौभाग्यवती स्त्रियां ही अपनी मांग में सिंदूर भरती हैं। लड़की की मांग पर सिंदूर भरना विवाह संस्कार का पहला कर्म है। सिंदूर दान करने से वह वधू कहने योग्य हो जाती है। मांग में सिंदूर भरने से ही वह सौभाग्यवती होती है। जायसी ने पद्मावती की कौमारावस्था में उसकी मांग में सिंदूर भरने की ओर संकेत किया है। `पद्मावत` के नख-शिख-खंड में हीरामन तोते ने राजा रत्नसेन से इसका वर्णन विशेष रूप से किया है।[६] पद्मावती की रूप-चर्चा जब राघवचेतन ने अलाउद्दीन के समक्ष की, तब उसने पद्मावती को सौभाग्यवती की कोटि में रखा।[७] मैथिलकोकिल महाकवि विद्यापति ने बसंत-विवाह-प्रसंग में मांग में सिंदूर भरने का उल्लेख किया है।[८] गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी मांग में सिंदूर भरने का प्रतिपादन `पार्वतीमंगल`[९] और

---

१. सजनी री गावो मंगलचार।
   चिरजीवो वृषभान नंदिनी दुलह नन्दकुमार।। परमानंदसागर, पद ३१४, पृ० १०५.
२. गान करहिं पिकबैनि सहित परिहासहि।। - जानकीमंगल, दोहा १०३, पृ० ३७.
३. वही, दोहा १३७, पृ० ३८.
४. बिप्र बेद धुनि करहिं सुभासिष कहि कहि।
   गान निसान सुमन फरि अवसर लहि लहि।। -पार्वतीमंगल, दो० १२८, पृ० ३५.
५. मानस, बालकाण्ड, चौ० १, पृ० १६५; दोहा ३२४, पृ० ५३८.
६. [illegible] बरनौं मांग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं।
   बिन सेंदुर अस जानहुं दिया। उजियर पंथ रैनि महं किया।।
   - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ११३.
७. वही, पृ० ६६४.
८. विद्यापति पदावली, पृ० ३२०.
९. बंदन बंदि ग्रंथि बिधि करि धुव देखेउ।
   -पार्वती मंगल, दो० १३२, पृ० ३६.

`जानकीमंगल`[१] में किया है । `रामचरितमानस` में भी इसकी ओर संकेत मिलता है ।[२]

लावा बिखेरना

पाणिग्रहण के पश्चात् वर-वधू के अग्नि-प्रदक्षिणा की परिसमाप्ति पर वहां उपस्थित लोग वर-वधू की शुभ-कामना के लिए होमादि का लावा वहां बिखेरते हैं । विद्यापति ने प्रतीकात्मक शैली में वसंत-विवाह में बेली पुष्प को लावा बिखेरने का काम दिया है ।[३] गोस्वामी तुलसीदासजी ने लावा-विधान एवं होम-विधान का उल्लेख `पार्वतीमंगल`[४] और `जानकी मंगल`[५] में किया है ।

जुआ खेलना

मध्ययुगीन कवियों ने विवाह के बाद जुआ खेलने को भी वैवाहिक कृत्य की कोटि में रखा है । सूरदास ने राम-सीता के विवाह के बाद उनके सोने की कुंडी में पुंगीफलयुक्त निर्मल जल डालकर जुआ खेलने का उल्लेख किया है ।[६] `रुक्मिणीमंगल` में वर-वधू के जुआ खेलने का संकेत मिलता है ।[७] परमानन्ददास ने राधा-कृष्ण के पासा खेलने का वर्णन किया है ।[८] राम-सीता को चतुर स्त्रियां बड़े कौतुक के साथ जुआ खिलाती हैं ।[९] `पार्वतीमंगल` में भी इसका संकेत मिलता है ।[१०]

---

१. जानकीमंगल, पद ९८, पृ० ४१.
२. राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जात विधि केहीं ।।
 - मानस, बालकांड, दो० ४, पृ० ५३६.
३. विद्यापति पदावली, पृ० ३२०.
४. लावा होम विधान बहुरि भांवरि परी ।। - पार्वतीमंगल, दो० १३१, पृ० ३६.
५. सिंदूर बंदन होम लावा होन लागी भांवरीं । - जानकीमंगल, पद ९८, पृ० ४१.
६. सूरसागर, नवम स्कंध, पद २५, पृ० १९४.
७. जुआ जुआति खिलाइ कुल ब्यौहार सकल कराइयौ ।
 - वही, दशम स्कंध, पद ४१८७, पृ० १५०८.
८. परमानन्दसागर, पद ६३३, पृ० २२१.
९. जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह ।
 जीति हारि मिस देहिं गारि दुहु रानिन्ह ।। -जानकीमंगल, दो० १५०, पृ० ४२.
१०. पार्वतीमंगल, दोहा १३५, पृ० ३७.

गाली गाना

मध्ययुगीन वैवाहिक रीति में स्त्रियों द्वारा गाली गाने की भी प्रथा प्रचलित थी। राम के विवाह में जुआ खेलते समय स्त्रियां गाली गाती हैं।[१] कृष्ण के विवाह के समय अनेक गालियां गायी जाती हैं।[२] सूरदास ने ससुराल में ज्योनार के बीच में गालियां गाने की ओर संकेत किया है।[३] `पार्वतीमंगल` में जुआ खेलते समय नारियों द्वारा गाली गाने का वर्णन है।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी ने `जानकीमंगल` में भी जुआ खेलते समय गाली देने का उल्लेख किया है।[५]

दायज या दहेज :

विवाह के बाद वर को दहेज रूप में अपार धन-संपत्ति दी जाती थी। रामायण-काल में वर को उपहार दिये जाते थे, पर वे सर्वथा स्वेच्छाजन्य थे, आज की तरह दहेज के रूप में उनकी मात्रा निश्चित नहीं की जाती थी। कन्यादान के समय जो धन दिया जाता था वह कन्या-धन कहलाता था। राजा जनक सीता के विवाहोत्सव पर प्रचुर कन्या-धन देते हैं — गौएं, कम्बल, रेशमी और सूती वस्त्र, अलंकृत हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सिपाही, सखी रूप में सौ कन्यायें, अनेक दास-दासियां, बहुत से मोती, मूंगे और सुवर्ण।[६] मध्ययुग के कवियों ने दहेज-प्रथा का सुन्दर वर्णन किया है। जायसी ने `पद्मावत` में राजा गंधर्वसेन द्वारा

---

१. गावत नारि गारि सब दे दे। - सूरसागर, नवम स्कंध, पद २५, पृ० ११४.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१८८, पृ० १५०८.

३. वही, वही, पद १२१३, पृ० ४८६-४६०.

४. पार्वतीमंगल, दोहा १३५, पृ० ३७.

५. चतुर नारि वर कुंअरिहि रीति सिखावहिं।
देहिं गारि लहकौरि समौ सुख पावहिं।।
जुआ खेलावन कौतुक कीन्ह सयानिन्ह।
जीति हारि मिस देहिं गारि दुहु रानिन्ह।।
- जानकीमंगल, दोहा १४६-१५०, पृ० ४२.

६. वाल्मीकि रामायण, १।७४।३-६.

रत्नसेन को दिये गये दहेज का वर्णन किया है ।[१] वसुदेव-देवकी के विवाहोपरांत राजा कंस ने अनेक चीजें देह रूप में दीं ।[२] नन्ददास के अनुसार कंस ने वसुदेव को दहेज रूप में जो वस्तुएं दीं उनकी गणना इस प्रकार है —

> अष्टसत रथ कंचन के नये । गज सत चारि मत्त हुति भये ।।
> पंद्रह सहस सुभग किक्यान । कनक मरे, नग जरे पलान ।।
> बर बरनी, तरुना रंग भीनी । दासी दोनि तीनि सत दीनी ।।[३]

सत्यभामा के विवाह के अवसर पर कृष्ण को बहुत सी वस्तुएं मिलीं ।[४] उसी प्रकार सत्या के पाणिग्रहण के बाद भी कृष्ण को अपार धन राशि मिली ।[५] अनिरुद्ध को बहुतसी वस्तुएं उषा के पिता ने दहेज रूप में दी थीं ।[६] गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस[७], पार्वतीमंगल[८], और जानकीमंगल[९] में शिवजी और रामजी को बहुत सी वस्तुएं दहेज रूप में प्राप्त होने की ओर संकेत किया है ।

गृह-प्रवेश

वधू को साथ लेकर वर शुभ मुहूर्त में अपने घर को लौटता है और शुभ लग्न में अपने घर में प्रवेश करता है । जब वर वधू के साथ गृह में प्रवेश करता है तब भगिनी आरती उतारती है और मां पानी उतार कर पीती है ।[१०] घर के द्वार

---

१. दाइज कहौं कहां लगि लिखि न जाइ तत दीन्ह ।।
   - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल,पृ०३२८.
२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४, पृ० २५६.
३. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १६२.
४. और बहुत दायज दीन्हे उन, करि बिवाह व्यौहार ।
   - सूरसागर,दशम स्कंध, पद ४१६१, पृ० १५१३.
५. ताकै पिता ब्याह तब कीन्हौं । दाइज बहु प्रकार तिन दीन्हौं ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१६३, पृ० १५१४.
६. बहुरि उषा कहँ ब्याहि दाइज सहित, हरि हाथ करत निज पुरी बार ।।
   - वही, दशम स्कंध, पद ४१९९, पृ० १५२१.
७. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो० ४, पृ० १६६; दो० १, पृ० ५४२-५४३.
८. पार्वतीमंगल, पद १५, पृ० ३७.
९. दाइज भयउ बिबिध बिधि जाइ न सो गनि ।
   दासी दास बाजि गज हेम बसन मनि ।। - जानकीमंगल,दोहा १५६, पृ० ४४.
१०. सूरसागर, दशम स्कंध, ४१८७, पृ० १५०७.

पर पहुंचते ही बहिन माई से 'द्वार रुकाई' मांगती है। परमानन्ददास ने इसका उल्लेख किया है।[1] जब रामजी सीता सहित अयोध्या लौट आये तब राजगृह में कोलाहल मचा। अब सब लोग परिछन का सामान सजाने लगे। मातायें वर और वधू का परिछन करती हैं। मातायें धूप-दीप आदि लेकर परिछन करने चलीं।[2] इसके बाद राम ने सीता सहित शिव-पार्वती और गणेशजी का स्मरण करके पुर में प्रवेश किया।[3] इस प्रकार वर का वधू के साथ गृह-प्रवेश करना एक मंगल कृत्य माना जाता है।

मुंह दिखाई

गृह-प्रवेश के बाद 'मुंह दिखाई' की रस्म होती है। आस-पड़ोस के लोग, परिवार के अन्य सभी लोग नव वधू को देखने आते हैं और उसको अनेक प्रकार की भेंट देते हैं, जो उसका निजी धन होता है। मध्ययुग के कवियों ने इसका वर्णन बहुत कम किया है।

कंकण खोलना

वर-वधू के हाथ में विवाह के पूर्व जो कंकण बांधा जाता है वह विवाह के पश्चात् दूसरे दिन खोला जाता है। सूरदास ने वर के द्वारा वधू के घर पर उसके कंकण खोलने का उल्लेख किया है। सखियां कृष्ण से कहती हैं कि यदि कंकण खोलने में असमर्थ हो तो सहायता के लिए माता यशोदा को बुलाओ या राधा के पैर पकड़ो।[4] सूरदास ने नवम स्कंध में ऐसा वर्णन किया है कि

---

१. परमानन्दसागर, पद ३१६, पृ० १०६.

२. कनक थार भरि मंगलन्हि, कमल करन्हि लिएं मात।
   चलीं मुदित परिछनि करन, पुलक पल्लवित गात।।
   - मानस, बालकाण्ड, दोहा ३४६, पृ० ५७५.

३. वही, वही, चौ० ४, पृ० ५७६.

४. प्रथम ब्याह बिधि होइ रह्यौ हो कंकन-चार बिचारि।
   बड़े होहु तौ छोरि लेहु जौ, सकल घोष के राइ।
   कै कर जोरि करौ बिनती, कै छुवौ राधिका-पाइ।।
   छोरहु बेगि कि आनहु अपनी, जसुमति माइ बुलाइ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३१.

राम-सीताके कंकण खोलने में असमर्थ होते हैं और सखियां हास-परिहास करती हैं और माता कौशल्या को बुलाने की सलाह देता है ।[१] इस प्रकार कृष्ण भी राधा को कंकण खोलने की आज्ञा देते हैं और उसे असमर्थ देखकर वृषभानु को बुलाने की सलाह उनकी सखियां देती हैं ।[२] आज यह प्रथा विवाह के दूसरे दिन होती है और यह वर के घर में संपन्न होती है ।

विदाई

विवाह से संबंधित उपर्युक्त सब संस्कारों के अलावा एक और मुख्य संस्कार है और वह है कन्या की विदाई । कृष्णदास ने विदा होती हुई राधा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है । वर के घर जाते समय राधा सगे संबंधियों से लिपट लिपट कर रोती है । इस समय पिता वृषभानु उसे सांत्वना देते हुए कहते हैं कि अकुलाओ मत, मैं जल्दी तुम्हारे भैया को भेजूंगा और तुम्हें बुला लूंगा।[३] पार्वती को पति-गृह भेजते समय माता मैना और सखियां आंसु भरे नेत्रों से कहती हैं कि संसार में स्त्रियों का जन्म वृथा है ।[४] जनकपुर से सीता सहित जाते समय रामचन्द्रजी ने विदा मांगी और यह सुनकर सास शोक से भर गयीं और संकोच छोड़कर प्रेमपूर्वक उनके चरणों पर गिर पड़ीं ।[५] अन्य रानियां दीन होकर चारों बालिकाओं को बारंबार हृदय से लगाने लगीं ।[६]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २५, पृ० १९४.

२. सहज सिथिल पल्लव तैं हरि जू, लीन्हौ छोरि संवारि ।
   किलकि उठीं तब सखी स्याम की, तुम छोरौ सुकुमारि ।।
   + + +
   अब जिनि करहु सहाइ सखी री, छाड़हु सकल सयान ।
   दुलहिनि छोरि दुलह कौ कंकन, बोलि बबा वृषभान ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७३, पृ० ६३१-६३२.

३. कृष्णदास, पद ८९६.

४. पार्वतीमंगल, दोहा १४४, पृ० ३९; मानस,बाल०,चौ० ३, पृ० ११७.

५. जानकीमंगल, दोहा १६६, पृ० ४६.

६. जन जानि करब सनेह बलि, कहि दीन बचन सुनावहिं ।
   अति प्रेम बारहिं बार रानी बालकन्हि उर लावहीं ।।
   - जानकीमंगल, पद २१, पृ० ४७.

इस प्रकार मध्ययुगीन कवियों ने विवाह संबंधी सब संस्कारों का यथातथ्य चित्रण किया है, जिसमें तत्कालीन अनेक कुलाचारों, मान्यताओं, मांगलिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक व्यवहारों की अभिव्यक्ति हुई है । इससे यह स्पष्ट है कि इस संस्कार की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है । जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के विवाह का जो वर्णन किया है वह हिन्दू विवाह की रीति और पद्धति के अनुसार है । इस वर्णन से उन्होंने अपने समय में प्रचलित रीति-रिवाजों पर प्रकाश डाला है । ये रीति-रिवाज आज भी सर्वप्रचलित और सर्वतोन्मुखी हैं । इस प्रकार जायसी का विवाह-वर्णन हिन्दू-समाज में प्रचलित रीति और पद्धति के अनुसार है । सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त कवियों ने अपने काव्यों में जो वैवाहिक कृत्यों का वर्णन किया है, वह सब लोकप्रचलित और लोकाश्रित है और इन पद्धतियों और रीतियों का प्रचलन आज भी जन-समाज में है ।

अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि-संस्कार जीवन के अन्त्य का संस्कार है । मृत व्यक्ति का अन्त्येष्टि संस्कार इसीलिए किया जाता है कि जीवित रहते समय जीवन के सभी संस्कारों से जिस प्रकार वह इस दुनियां में संतोष का अनुभव करता है, उसी प्रकार मरणोत्तर संस्कार से उसे परलोक में मुक्ति मिल जाय । मृत्यु के बाद आत्मा शरीर से पृथक् हो जाती है । आत्मा जब तक शरीर में रहती है तब तक आदमी जीवित समझा जाता है । मृत व्यक्ति के प्रति भय और स्नेह के कारण जीवित व्यक्ति अन्त्येष्टि संस्कार धूम-धाम से मनाते हैं । अन्त्येष्टि संस्कार करते समय जीवित व्यक्तियों का यह विश्वास है कि मृत व्यक्ति मरा नहीं, वह घर के आसपास ही विद्यमान है । मृत व्यक्ति के साथ जीवित व्यक्तियों के रक्त-संबंध की एकता पर विचार करके वे उस मृत व्यक्ति की आत्मा को शांति पहुंचाने के उद्देश्य से शव-दाह का कर्म प्रारंभ करते हैं । इस संस्कार में सर्वप्रचलित रीति के अनुसार इसके अंतर्गत शव को स्नान कराना, दान देना, अर्थी तैयार करना, शव-यात्रा, चिता तैयार करना, चिता पर विधवा का लेटना, दाह कपाल-क्रिया, उदक कर्म, अशौच, शोकार्तों को सांत्वना देना,

अस्थि संचयन, पिण्डदान, होम आदि कर्म आते हैं ।

मध्ययुगीन काव्य ग्रंथों में अन्त्येष्टि संस्कार से संबद्ध आचारों का वर्णन बहुत कम स्थानों पर हुआ है । भारतीय काव्यों में मृत्यु और उससे संबद्ध आचारों का वर्णन निषिद्ध माना गया है और भक्त कवियों ने इस निषेध का पालन किया है । जहां कहीं कथा के प्रवाह में या ज्ञानोपदेश देने के लिए मृत्यु-संस्कार के वर्णन की आवश्यकता पड़ी है, तत्संबंधी रीतियों को बहुत संक्षेप में कह दिया गया है ।[१] भक्तिकालीन कवियों में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में मृत्यु-संस्कार से सम्बद्ध संक्षिप्त वर्णन मिलता है । कबीर ने अपनी 'ग्रंथावली' में मृत्यु संस्कार की ओर संकेत किया है । उनका उपदेश है ऊंचे-ऊंचे महल में रहने वाले अमीर और धनी आदमी, गर्व मत करो ! जीवन क्षण भर का है । मृत्यु के बाद शरीर से कोई उपयोग नहीं । मृतक की हड्डियां लकड़ी के समान जलायी जायेंगी और शरीर को अत्यंत सुन्दरता देने वाली केश-राशि की बात तो क्या कहना है, वह तो घास के समान जल जाती है । जीवित रहते समय शरीर का पोषण खीर, मिष्टान्न, घी आदि स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों से किया जाता है, परन्तु मृत्यु के बाद शरीर का स्थान घर से बहुत दूर श्मशान में है । श्मशान में जहां चंदन आदि सुगन्धित पदार्थों के अंगारों से युक्त लकड़ी की चिता तैयार की जाती है, मृत शरीर को उस चिता में रखकर जलाया जाता है । इस शरीर को बारह प्रकार की अग्नियां जलाकर नष्ट करती हैं । जीवित रहते समय जिस व्यक्ति ने परिवार का पालन-पोषण किया है उस घर के लोग मृत्युपरांत थोड़ी देर सिर पीटकर रोते हैं । इसके बाद घर से उसे निकाल देते हैं । मानव अपार धन-संपत्ति दुःख उठा-उठा कर संचित करते हैं । लेकिन मृत्यु के बाद लाल रंग के पांच गज का वस्त्र ही ऊपरी रह जाता है ।[२] कबीर आगे कहते हैं कि मरना कुछ नहीं, केवल मिट्टी का दूसरी मिट्टी में मिल जाना ही है ।[३] 'कबीर बीजक' में अन्त्येष्टि संस्कार

---

१. हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व : डा० रवीन्द्र भ्रमर, पृ० २१६.
२. कबीर ग्रन्थावली, साखी १६, पृ० १६५; पद ६३-६५, पृ० ३६२-३६३; पद १००, पृ० ३६६.
३. वही, पद ४५, पृ० ३४५.

का वर्णन मिलता है ।[१] सूफी प्रेमाख्यानक कवि जायसी ने `पद्मावत` में पद्मावती-नागमती-सती-खण्ड में राजा रत्नसेन के अन्त्येष्टि संस्कार का चित्र उतारा है ।[२] सूरदास और तुलसीदास ने राजा दशरथ के अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख किया है । `सूरसागर` में अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन नवम स्कंध में राजा दशरथ के देहान्त-प्रसंग में मिलता है । गुरु वसिष्ठजी के आदेशानुसार अयोध्या में राजा दशरथ का अन्त्येष्टि संस्कार संपन्न होता है ।[३] सूरदास ने मृतक की तीन गतियों का उल्लेख किया है ।[४] उनके समय मृत प्राणि के भूत बन जाने का विश्वास सर्वप्रचलित था । वैदिक काल से भारत में प्रचलित मृतक की तीन अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए सूर ने यह व्यक्त किया है ।[५] मृत्यु संस्कार के अन्तर्गत कपाल-क्रिया की प्रथा भी उस समय प्रचलन में थी ।[६] सूरदास ने राजा दशरथ, शबरी और जटायु की अन्त्येष्टि का जो चित्रण किया है वह तत्कालीन प्रचलित रीति और पद्धति के अनुसार है । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद एक बड़ा विमान बनाकर शव को उसमें रखकर सब लोग गुरु वसिष्ठजी और सारे अयोध्यावासियों सहित सरयू के किनारे श्मशान घाट पर चले गये । वहां पहुंच कर `चंदन-अगर-सुगन्ध घृत` आदि से चिता बनायी जाती है । तदुपरांत उस चिता पर राजा का शव रखकर भस्म किया जाता है । इसके पश्चात् तिलांजली

---

१. कबीरबीजक, पृ० २३०.

२. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८७३.

३. सूरसागर, नवम स्कंध, पद ५०, पृ० २०२.

४. वही, प्रथम स्कंध, पद ८६, पृ० २८.

५. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै ।

+ + +

जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेइ देखि घिनैहैं ।
घर के कहत सवारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं ।
- सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ८६, पृ० २८.

६. छे देही घर बाहर जारी, सिर ठौंकी [illegible] लकरी ।
मरती बेर सम्हारन लागे, जो कछु गाढ़ि धरी ।
- वही, प्रथम स्कंध, पद ७९, पृ० २४.

दी जाती है।[१] इसी प्रकार जटायु और शबरी के मर जाने पर रामजी उनका शव-दाह कर्म करते हैं[२] और तिलांजलि देते हैं।[३] महाराज दशरथ के मृत्यु-संस्कार का कर्म पुत्र भरत ने किया। शव दाह-कर्म के बाद जो शेष-क्रियायें होती हैं उनका उल्लेख भी सूरदास ने किया है।[४] उस समय कापल-क्रिया करने वाले पुत्र के सिर का मुण्डन करने का नियम था। चित्रकूट में पहुंचते समय भरत का मुण्डित सिर देखकर किसी के मरने की बात विचार कर रामजी दुःखी होते हैं। भरत और सारे अयोध्यावासियों के मुंह से पिता दशरथ की मृत्यु की बात सुनकर रामजी बेहोश होकर गिर पड़ते हैं।[५]

महाकवि सूरदासजी के समान प्राचीन भारतीय परिपाटी के अनुसार गोस्वामी तुलसीदासजी ने `रामचरितमानस` में अन्त्येष्टि-संस्कार का उल्लेख किया है। लेकिन इसमें थोड़ा-सा अन्तर है। गोस्वामीजी ने `मानस` के तीन स्थल पर अन्त्येष्टि संस्कार का चित्र उतारा है। इन तीनों संस्कारों का उल्लेख राजा दशरथ, गीधराज जटायु और राक्षसराज रावण के देहान्त के वर्णन के समय होता है। इनमें सबसे पहला राजा दशरथ के अन्त्येष्टि-संस्कार का है। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भरत ने वैदिक, पौराणिक तथा स्मार्त विधि-विधान से अन्त्येष्टि कर्म किया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अन्त्येष्टि

---

१. चंदन अगर सुगंध और घृत, विधि करि चिता बनायौ।
   चले विमान संग गुरु-पुरजन, तापर नृप पौढ़ायौ।
   भसम अंत तिल-अंजलि दीन्हीं, देव विमान चढ़ायौ।
   - सूरसागर, नवम स्कंध, पद ५०, पृ० २०३.

२. श्रीरघुनाथ जानि जन अपनौ, अपनैं कर करि ताहि जरायौ।
   - सूरसागर, नवम स्कंध, पद ६६, पृ० २०८.

३. सूरज प्रभु अति करुना मई। निज कर करि तिल-अंजलि दई।
   - वही, वही, पद ६७, पृ० २०८.

४. सूरसागर, नवम स्कंध, पद ५०, पृ० २०३.

५. भ्रात-मुख निरखि राम बिलखाने।
   मुंडित केस-सीस, बिह्वल दोउ, उमंगि कंठ लपटाने।
   तात-मरन सुनि श्रवन कृपानिधि धरनि परे मुरझाइ।
   - वही, नवम स्कंध, पद ५२, पृ० २०३.

संस्कार के कुछ विधि-विधानों और उसके लिए प्रयुक्त होने वाली कुछ वस्तुओं का निर्देश स्पष्ट रूप से किया है। वैदिक रीति से मृत व्यक्ति के शव को नहलाना, उसको उपयुक्त वाहन में रखकर एक पवित्र नदी के समीप ले जाना, चन्दन-अगर आदि सुगंधित काष्ठ सामग्री द्वारा चिता का निर्माण करके उसमें शव का दाह करना, तिलांजली देना, शास्त्रीय रीति से अन्त्येष्टि क्रिया करने वाले का शुद्ध होना, ब्राह्मणों को दान देना (दान के अन्तर्गत दी जाने वाली वस्तुओं में धेनु, घोड़े, हाथी, नाना प्रकार के वाहन, सिंहासन, वेष-भूषा, अन्न, भूमि. धन और गृह आदि वस्तुएं आती हैं) आदि का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है।[१] तुलसीदासजी ने `मानस` के अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड और लंकाकाण्ड में इस संस्कार के सूचक `क्रिया` शब्द का प्रयोग किया है, जो प्राय: किसी भी कार्य का बोधक होते हुए भी इसके अर्थ में रूढ़ हो चला है। एक तो तभी हुआ जब रामजी को पिता की मृत्यु का समाचार मिला और गुरु के आदेश से रामजी ने वैदिक विधि से पितृ-क्रिया की।[२] `क्रिया` शब्द का दूसरा प्रयोग तुलसी ने अरण्यकांड` में किया है। रामजी ने सीताजी की खोज करते समय जंगल में गीधराज जटायु का दाह-कर्म आदि सारी क्रियाएं यथायोग्य अपने हाथों से कीं।[३] `क्रिया` शब्द का और एक उल्लेख `लंकाकांड` में प्राप्त है। राक्षसराज रावण के देहान्त पर लंकाकी प्रजा शोक से आकुल हो उठी। रामजी की आज्ञा पाकर भाई विभीषण ने देश और काल को मन में विचार कर विधिवत् क्रिया की। इसके उपरांत मन्दोदरी आदि रानियों ने तिलांजली दी।[४] तुलसीदासजी अंत्येष्टि संस्कार के उदक कर्म और अशौच क्रिया का उल्लेख करते हुए लिखते हैं –

---

१. मानस, अयोध्या०, चौ० १-४, दोहा १७०, पृ० २३७-२३८.

२. करि पितु क्रिया वेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक राम तरनी ।।
जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला ।।
- वही, वही, चौ० , पृ० ५३८.

३. अविरल भगति मांगि बर, गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम ।।
- वही, अरण्य०, दोहा ३६, पृ० ६०६.

४. वही, लंकाकांड, चौ० ४, दोहा १०५, पृ० ८८८.

नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा । सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा ।।
मरम हेतु निज नेहु बिचारी । भे अति बिकल धीर धुरधारी ।।

\+ \+ \+ \+

मुनिबर बहुरि राम समुझाए । सहित समाज सुसरित नहाए ।।
ब्रतु निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा । मुनिहु कहे जलु काहु न लीन्हा ।।[१]

इस प्रकार मध्ययुगीन भक्त कवियों की रचनाओं में अंत्येष्टि संस्कार का जो चित्रण मिलता है वह प्राचीन परिपाटि और पद्धति के अनुसार ही है ।

कला संबंधी विचार

मानव समाज की हृदयाभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन कला है । कला या सौन्दर्य से मानव जीवन का प्रत्यक्ष विकास होता है । कला समाज के जीवन-सौन्दर्य की सफल अभिव्यंजना है । यह तो अनेक प्रकार की है । यह अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति है । व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि कला एक नहीं अनेक है । कामसूत्र में ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है । लेकिन कलाओं के बारे में सरसरी निगाह डालने से ज्ञात होता है कि कलायें दो प्रकार की हैं - ललित और उपयोगी । इनमें ललितकलायें संख्या में पांच हैं, जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । पांच ललितकलाएं हैं — वास्तुकला, मुर्तिकला, चित्रकला, संगीत-कला और काव्य-कला । अब हम इन विभिन्न कलाओं का विकास मध्ययुगीन काव्यग्रंथों के आधार पर निर्धारित कर सकते हैं ।

वास्तुकला

वास्तुकला सबसे निम्नकोटि की है । ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी, चूने आदि की सहायता से मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि इमारतों का निर्माण किया जाता है, वही वास्तुकला के अन्तर्गत है । कलाकार इन मंदिरों आदि का निर्माण स्वयं न करके मजदूरों की मदद से करता है ।

---

१. मानस, अयोध्याकांड, चौ०२४, ~~[illegible]~~ पृ० २५७-२५८.

मध्ययुगीन भारत की वास्तुकला का उत्तम रूप तत्कालीन काव्यों में व्यंजित है। उस समय मुगल बादशाहों ने वास्तुकला की उन्नति के लिए भारी प्रयत्न किया है। उनकी निर्माण-कला की पटुता देखिए – बादशाह बाबर ने 'जामामस्जिद' का निर्माण करवाया, अकबर ने भव्य भवनों का निर्माण करवाया, अकबर के द्वारा बनवाया गया फतहपुर सीकरी का राजमहल अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। इसके अलावा दीवानेआम, दीवानेखास, पुस्तकालय, टकसाल, पंचमहल आदि का निर्माण अकबर ने करवाया। अकबर के कला-कौशल के बारे में कहें तो उसके शासन-काल में इतनी सुन्दर इमारतें बनीं कि उसके बाद भी उसके उत्तराधिकारियों ने स्थापत्य कला के विकास में अपूर्व योग दिया तथा अनेक भवनों का निर्माण करवाया।[१] शाहजहाँ और जहाँगीर भी निर्माण-कला में पीछे नहीं रहे। शाहजहाँ ने ताजमहल का निर्माण अपनी प्रेमिका की स्मृति में करवाया था। उसके बाद मुगल बादशाहों के कला-प्राप्त का पतन प्रारंभ हुआ।

मध्ययुगीन भक्त कवियों ने उस समय के राजवंशों की कला की उन्नति का चित्रण अपनी काव्य-सुमनों में किया है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने तत्कालीन प्राचीन वास्तुकला का स्वरूप अपनी रचनाओं द्वारा स्पष्ट किया है। कबीर ने इसकी रूपरेखा नाममात्र के लिए दी है। संत कवि कबीर के समय वास्तुकला की उन्नति हुई थी। उन्होंने लिखा है कि लोग अपने वैभव और ऐश्वर्यसूचक ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकायें बनवाते थे।[२] जायसी ने हिन्दू और मुसलमानों की कला-निपुणता का परिचय 'पद्मावत' में किया है। राजा गन्धर्वसेन तथा राजा रत्नसेन का महल इसका उत्तम नमूना है। सिंहलद्वीप में मठ और मंडप सुशोभित हैं, जो जप-तप करने के लिए हैं।[३]

---

१. भारतीय संस्कृति का इतिहास : दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृ० ४३२.

२. कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
   कालिह परयूँ भ्वै लेटणाँ, ऊपरि जामै घास ।। – कबीरग्रंथावली, सा० १०, पृ० १६३.

३. मढ़ मंडप चहुँ पास संवारे। जपा तपा सब आसन मारे।
   – पद्मावत : व्याख्या० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४.

सिंहलद्वीप में इन्द्रपुरी के समान आकाश तक छूने वाले महल थे ।[१] वहां राजा के निवास के लिए कैलाश नामक भवन सुसज्जित है, उसमें हीरे की ईंट और कपूर का गारा लगा है । वह रत्न जड़कर आकाश तक ऊंचा बनाया गया था ।[२] चित्तौड़गढ़ का जो वर्णन मिलता है, वह तत्कालीन निर्माण कला के लिए गौरव की बात थी ।[३] मध्ययुगीन कृष्ण काव्यों में वास्तुकला या निर्माण-कला के रूप कई स्थानों में वर्णित हैं । अष्टछाप के प्रमुख कवि सूरदास ने मथुरा-वर्णन में स्वर्णकोट, हीरे और रत्न से जड़े कंगूरे, नवधाभक्ति से भरे ऊंचे-ऊंचे मणिमय भवन[४], कोस-कोस पर करोड़ों तीर्थों का विराजना,[५] महल-महल में मणिपासा लगा होना आदि का परिचय दिया है[६], जो सूरकालीन वास्तुकला का स्वभाव व्यक्त करता है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी वास्तुकला का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से राजा रावण की नगरी लंका के सोने के परकोटे और मणि जटित घर[७], अयोध्या के मणियों से बने हुए आलीशान अटारियों[८] आदि का वर्णन किया है ।

---

१. ऊंची पंवरी ऊंच अवासा । जनु कविलास इन्द्र कर बासा ।
- पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४२.

२. वही, पृ० ५६.

३. वही, पृ० ७३०-७३६.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३०६६, पृ० १२२७.

५. मथुरा दिन-दिन अधिक बिराजै ।
तेज, प्रताप राइ केसौ कैं, तीनि लोक पर गाजै ।।
पग पग तीरथ कोटिक राजैं, मधिविश्रांत बिराजै ।
- वही, वही, पद ३०६८, पृ० १२२७.

६. वही, वही, पद ३११०, पृ० १२३०-१२३१.

७. कनक कोट विचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना ।
चउहट्टा हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु विधि बना ।।
- मानस, सुन्दरकांड, छन्द १, पृ० ७६.

८. वही, उत्तरकांड, चौ० २, पृ० ५५.

`सूरसागर` में वर्णित नन्द के घर का कनकमय प्रांगण तथा मणि खचित खम्भ[1] तथा `मानस` में उल्लिखित मूंगों से बनी हुई देहलियां, मणि के खम्भ, सोने की दीवार, मनोहर लम्बे चौड़े घर के स्फटिक आंगन[2] आदि तत्कालीन स्वर्णकार और मणिकार की कलाओं को अभिद्योतित करते हैं। विद्यापति ने वास्तुकला के प्रतीक रूप में रत्न-मंदिर और मणिजटित खंभ का जो वर्णन किया है, उससे तत्कालीन जनता की संपन्नता भी ज्ञात होती है।[3] गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो घर-घर पर मणिदीप जलाने तथा मणियों से जड़ी हुई खिड़कियों की शोभा का परिचय अयोध्या की संपत्ति का ज्ञान कराने के उद्देश्य से किया है।[4] कवि ने काल्पनिक रूप में स्वर्ण-खंभ एवं नगजड़ित पटली का वर्णन किया है। यह तत्कालीन जनसाधारण की उच्चता और कलात्मकता का अभिद्योतन अवश्य करता है।[5] `सूरसागर` के दशमस्कंध में `द्वारिका प्रवेश` शीर्षक के अन्तर्गत वास्तुकला का पर्याप्त दिग्दर्शन होता है।[6] नन्ददासजी ने घटाओं, सूर्य किरणों से झलकनेवाली धवल पताकाओं, तथा केवल दर्शन मात्र से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करने वाले द्वारिका-महल के सिंहद्वार का वर्णन किया है।[7] सूरदास `सूरसागर` के द्वारिका-शोभा-प्रसंग में कंचनकोट का वर्णन करना नहीं भूले।[8] परमानन्ददास ने कहीं-कहीं फूलों और लताओं से मंडप

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०८, पृ० २९८; पृ० ११६, पृ० ३००; पद ११७, पृ० ३०१.

२. मानस, उत्तरकांड, पृ० ५६.

३. विद्यापति पदावली, पृ० २७४.

४. धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहु रवि ससि दुति निंदत।।
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहि। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं।।
- मानस, उत्तरकांड, चौ० ४, पृ० ५६.

५. रचि खंभ कंचन के रुचिर, रचि रचत मरकत मयारि।।
पटुली लगी नग नाग बहु रंग, बनी डांड़ी चारि।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८३१, पृ० ११२१.

६. वही, वही, पद ४१६५, पृ० १४१८-१४१९.

७. नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १७७-१७८.

८. मनमोहन खेलत चौगान।
द्वारावती कोट कंचन में, रच्यो रुचिर मैदान।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१९७, पृ० १४१९.

तैयार करने का उल्लेख किया है, जो आधुनिक बंगलों की चित्रकला जैसा है।[१] 'सूरसागर' के श्रीकृष्ण-विवाह-वर्णन में कुंजों से मंडप तैयार करने का चित्र है।[२] जायसी ने रत्नसेन पद्मावती-विवाह खंड में मंडप की सुन्दरता दर्शायी है।[३] महाकवि विद्यापति ने काल्पनिक रूप में वसंत के विवाह के लिए तरुओं से मंडप तैयार करने की ओर संकेत किया है।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-सीता-विवाह के समय जिस मंडप का वर्णन किया है वह तत्कालीन कारीगरों की कला-कुशलता का द्योतक है।[५] परमानन्ददास ने वंदन के 'बंगला' तैयार करने का उल्लेख किया है।[६] नन्ददास ने कुंज-भवनों का जो वर्णन किया है उस पर भ्रमरों की गुंजार, सुक, पिक एवं चातक का मधुर स्वर आदि का दर्शन कराया है।[७]

मध्ययुग के अधिकांश कवियों ने भवन-निर्माण सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। अमीरों के आलीशान महल थे। जायसी ने सिंहल द्वीप के गढ़ का अनुपम वर्णन किया है। वह आकाश छू रहा है, ऊपर जाने से इन्द्रपुरी की सुन्दरता दृष्टिगत होती है। उस कोट में नौ बांके द्वार (पंवरी), नौ खंड या मंजिल हैं। कंचन के परकोटे पर जड़े हुए कंगूरे हैं। उनकी ऊँचायी का वर्णन नहीं किया जा सकता।[८] कृष्ण-भक्त कवियों के समय ब्रज में महल का

---

१. फूलन के बंगला बने अति छाजे बैठे लाल गोवरधन धारी।
- परमानन्दसागर, पद ७५०, पृ० २६१.

२. द्वार जु फूलनि कुंज मंडप, पुलिन में बेदी रची।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३०.

३. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१२.

४. विद्यापति पदावली, पृ० २९१.

५. मानस बालकांड, चौ० १, २, ३, पृ० ४८०-४८१.

६. परमानन्दसागर, पद ७३६, पृ० २५६.

७. नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ३०, ३१, पृ० १७७.

८. पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४७.

ऊपरी भाग अटनि[१] तथा चौबारा[२] नाम से जाना जाता था । गोस्वामी तुलसीदासजी के समय अयोध्या में अंत:पुर के अलावा कोपभवन भी होता था ।[३] मध्ययुग में प्रत्येक घर में झरोखे अथवा गवाक्ष होते थे, जिनसे होकर स्त्रियाँ झाँकती थीं । राजा रत्नसेन और शाह के शतरंज खेलते समय पद्मावती के खेल देखने झरोखे में आने का उल्लेख जायसी ने किया है ।[४] परमानन्ददास ने झरोखे पर मोर आदि पक्षियों के बैठने की ओर संकेत किया है ।[५] रानियों का कक्ष अन्त:पुर कहलाता था ।[६] प्रत्येक घर में रसोई होती थी ।[७] अमीर और राजा महाराजाओं के द्वार पर पौरिया होने का उल्लेख मध्ययुगीन कवियों ने किया है । जायसी के अनुसार राजा रत्नसेन के गढ़ में सात पौरियां थीं ।[८] नन्ददासजी ने भी इस ओर संकेत किया है ।[९] सामान्य रूप से घर के भीतर ऊपर से खुला हुआ आंगन हुआ करता था और वहां लोग खाते-पीते थे, बालक खेलते थे ।[१०] परमानन्ददास ने `बाखर` का उल्लेख किया है, जो सारे घर के निश्चित परकोट थे ।[११] सम्मिलित आंगन, मार्ग, कुंआ आदि बाखर की विशेषता थीं । इसलिए यह बाखर जनता के संगठन और सौहार्द्र के लिए सहायक था ।

---

१. चढ़ि चढ़ि अटनि, झरोखनि झांकत नवल किसोरी ।
   चंद उदै बिनु जैसे आतुर [illegible] त्रिषित चकोरी ।
   - नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ७७, पृ० १८०.

२. मीरा माधुरी, पद ७५, पृ० २०.

३. बड़ कुघातु करि पातकिनि, कहेसि कोपगृह जाहु ।
   - मानस, अयोध्याकांड, दोहा २२, पृ० ३७.

४. दरपन साहि भीत तहं लावा । देखौं जबहि झरोखें आवा ।
   - पद्मावत श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७५१.

५. बैठे मोर झरोखा बोलत मारग सिंचित चन्दन । - परमानंद०,पद ४६४,पृ० १६७.

६. तिहि छिन द्विजवर बत्यों-बत्यौ अन्त:पुर आयौ । -नन्द०ग्रं०,दो० ७८,पृ० १८१.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५४०, ५४२, पृ० ४४६.

८. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७३१.

९. प्रभु जाम अलम्य, पौरिया पायनि लटक्यौ ।।
   - नन्ददासग्रंथावली, दोहा ४४, पृ० १७८.

१०. परमानन्दसागर, पद ६११, पृ० २१३.

११. गोरस की लेवा जानति हौं याही बाखर मांझ ।।
   - वही, पद ४२६, पृ० १४४.

मध्ययुगीन काव्यों में निर्माण-कला का जो वर्णन प्राप्त है, उसमें देवी का मठ, देवालय, मंदिर, शिवालय आदि उल्लेखनीय हैं। नन्ददास ने देवी-मठ का वर्णन किया है।[१] विवाह के पूर्व देवी-मठ के पूजन के बाद देवालय जाने का उल्लेख मिलता है।[२] मंदिर में पूजा के लिए जाने का वर्णन अधिकांश मध्ययुगीन कवियों ने किया है।[३] गोस्वामी तुलसीदासजी ने मंदिर के स्थान पर 'भवन' शब्द का प्रयोग किया है।[४] नन्ददासजी ने एक स्थान पर मंदिर शब्द का प्रयोग किया है, जो धर्माचरण निमित्त निर्मित भवन के अतिरिक्त रानी के महल के लिए भी प्रयुक्त है।[५] सूरदास ने मंदिर[६] और भवन[७] शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन कवियों ने वेदिका, यज्ञशाला आदि के निर्माण का भी उल्लेख किया है, जो तत्कालीन वास्तुकला का परिचायक है। सूरदास ने वेदिका-निर्माण का उल्लेख नवरात्र देवी-पूजन के अवसर पर किया है।[८] इस प्रकार मध्ययुगीन कवि अपने प्रांगण में अवस्थित धर्माचरण

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, दोहा ६८, पृ० १८२.

२. देवी द्वार पखारि पाय दुलहिनी सुहाई।
   पलहिं जलज से बरनन बलि देवालय आई।। - वही, दोहा १०१, पृ० १८२.

३. मानस, उत्तरकांड, दोहा १०६, पृ० ९८५.

४. गई भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी।।
   - वही, बालकांड, चौ० २, पृ० ३६८.

५. लै गयो जहं रुकमिनि को मंदिर। बैठे तहं जदुनायक सुंदर।।
   - नन्ददास ग्रंथावली, पृ० १८७.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४२३७, पृ० १५३६; पद ४२४६, पृ० १५४२.

७. बिदा कियौ पहुंच्यौ निज नगरी, हेरत भवन न पायौ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४२४६, पृ० १५४२.

८. सूर-निर्णय प्रभुदयाल मीतल, पृ० २३२.

एवं कर्मकांड निमित्त अनेकानेक भवनों की स्थापत्य-कला का वर्णन किये बिना नहीं रह सके। उन्होंने तत्कालीन कला की उन्नति जो अयोध्या, मथुरा, गोकुल आदि में हुई, उसका विस्तार से वर्णन किया है। चित्तौड़, सिंहलद्वीप, अयोध्या, मथुरा आदि प्रदेशों की स्थापत्य-कला की उन्नति का दिग्दर्शन इन भक्त कवियों ने किया है। विकासशील अनेक संस्कृतियों की छत्रछाया में अयोध्या, मथुरा, चित्तौड़, सिंहलद्वीप रहे, जिससे वहां अद्भुत वास्तु-निर्माण भी दर्शित होता आया। इसलिए इन प्रदेशों की कला कवियों का विषय रही।

चित्रकला

चित्रकला का मूर्त आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी, दीवार, चमड़ा आदि है। इन पर चित्रकार तूलिका और रंगों की सहायता से विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है। चित्रकार चित्रपट पर अपने मानसिक भावों का अंकन अधिक सफलता और प्रभाव के साथ करता है। वह मूर्तिकार की अपेक्षा विभिन्न मानसिक भावों का जैसे करुणा, आह्लाद, क्रोध, भय, संतोष आदि का - अंकन अधिक मात्रा में कर सकता है। मध्ययुग में चित्रकला की उन्नति अधिक मात्रा में नहीं हुई थी, क्योंकि मुसलमानों को हिन्दुओं की मूर्ति पूजा से सम्बन्धित चित्र रचना पसंद नहीं थी। हुमायूं, जहांगीर और शाहजहां चित्रकला की ओर अपनी रुचि रखते थे, लेकिन औरंगजेब के काल में आकर सब कल का पतन हुआ। कतिपय मध्ययुगीन भक्त कवियों ने तत्कालीन चित्रकला का उल्लेख किया है। कबीर ने चित्रकला का प्रतिपादन नाम मात्र के लिए भी नहीं किया। सूर के समय ब्रज की चित्रकला उसकी उन्नति तक पहुंच गयी थी। `सूर-सागर` में चित्रकला के विविध रूप मिलते हैं। पृथ्वी पर विविध प्रकार के रंग-गोपियों का रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करना, वन धातु घिस कर ललाओं का कृष्ण के अंग-प्रत्यंग पर चित्र बनाना और रंग भरना आदि इसके उदाहरण हैं। त्यौहार और उत्सव के अवसर पर चित्रकला का भी प्रयोग होता था।[१]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १७५८, पृ० ८६३; पद ६७२, पृ० ४६६; पद ४२६, पृ० ४०३; पद २८३१, पृ० ११२३-११२४; पद ३७८२, पृ० १३६४.

कृष्ण के शरीर पर लताओं द्वारा धातु चित्र बनाने का चित्रण नन्ददास ने भी किया है ।[१] मध्ययुगीन कृष्ण-काव्यों के आधार पर यह भी सत्य सिद्ध होता है कि हमारे विवेच्य समय में चित्रकला की ओर स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक आकृष्ट थीं । महावर देते समय स्त्रियों का पैरों पर विभिन्न चित्र बनाने का उल्लेख नन्ददास ने किया है ।[२] प्रियतम के चित्त को और भी आकृष्ट करने के उद्देश्य से स्त्रियाँ पैरों की शोभा महावर से बढ़ाती हैं ।[३] इसके अतिरिक्त अपने शरीर पर नाना प्रकार के सुगन्ध द्रव्यों का लेपन करती हैं ।[४]

विभिन्न उत्सव और पर्वों के अवसर पर अपने घर पर नाना प्रकार के चित्र लगाये जाते थे । विद्यापति ने नागपंचमी के अवसर पर हल्दी और तवे की कालिख के काले नाग के चित्र अपने घर के द्वार पर बनाये जाने का उल्लेख किया है ।[५] सूरदास ने नवरात्र के देवी-पूजन के मांगलिक अवसर पर चित्रों से युक्त कलासंपूर्ण वेदी बनाने की ओर संकेत किया है ।[६] दीपावली के अवसर पर जो चौक पूरा जाता है उसका वर्णन परमानन्ददास के शब्दों में देखने लायक है।[७] सूरदास ने विभिन्न गज-मोतियों का चौक पूरने का उल्लेख किया है ।[८] उन्होंने ऐपन से थापे बनाने का प्रतिपादन अन्नकूट-प्रसंग में किया है ।[९] इसके अलावा

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पद ८७, पृ० २३८.
२. वही, पद ६२, पृ० ३००.
३. नखनि रंग जावक की सोभा, देखत पिय-मन भावत ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५४, पृ० ६२३.
४. स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग ।
 मलयज-पंक कुंकुमा मिलिकै, जल जमुना इक रंग ।। - वही, वही, पद ११६२, पृ० ६५६.
५. विद्यापति पदावली, पृ० २१३.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७२, पृ० ६३१.
७. परमानन्दसागर, पद २५३, पृ० ८०.
८. सूर-निर्णय, पृ० २४०.
९. वही, पृ० २३४.

परमानन्ददास ने गाय खिलाने के प्रसंग के पदों में गायों की पीठ पर चित्र बनाने का उल्लेख पत्र रचना में[१], जसोदा द्वारा देव जगावत के अवसर पर चौक पूरने और दीपक जलने का[२], रामनौमी के शुभावसर पर चौक पूरने[३] और पुत्र-जन्म के बाद कलात्मक साथिये बनाये जाने का[४] उल्लेख किया है। नन्ददास ने भी पुत्र-प्राप्ति के बाद साथिये बनाये जाने का प्रतिपादन किया है।[५] मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य में समाहित चित्रकला की पूर्ण परिणति परमानन्ददास ने यों की है –

पौढ़े रंग महल गोविन्द ।
राधिका संग सरद रजनी उदित पून्यौ चंद ।।
विविध चित्र विचित्र चित्रित कोटि कोटिक बंद ।
निरखि निरखि विलास विलसत दंपती सुख कंद ।।
मलय चंदन अंग लेपन परस्पर आनंद ।
कुसुम बीजना व्यार ढोरै सजनी 'परमानंद' ।।[६]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजा राम के शासन के समय अयोध्या के प्रत्येक घर में सुन्दर चित्रशाला संवारने का वर्णन किया है।[७] इसके अलावा उन्होंने

---

१. धौरी धूमर धौरी धूमर गैया सोभा कही न जाई ।।
सोने सींग घंटा अरु कठुला पीठ पत्र समुदाई ।।
- परमानन्दसागर, पद २५४, पृ० ८०.

२. देव जगावत जसोदा रानी बहु उपहार पूजा के करिकै ।
इच्छुक दण्ड मंडप पौहफन के चौक बहु दिसि दीवा धरिकै ।।
- वही, पद ३०४, पृ० १०१.

३. वही, पद ३३७, पृ० ११५.

४. धरति साथिये, तोरन बांधति दधि छिरकायी है ।
- वही, पद ६, पृ० ३.

५. घर घर बोहारति अष्ट महासिधि, द्वारे सथिया पूरति नौ निधि ।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद २४, पृ० ३८६.

६. परमानन्दसागर, पद २४७, पृ० ७८.

७. चारु चित्रसाला गृह, गृह प्रति लिखे बनाई ।
रामचरित जे निरख मुनि, ते मन हरहिं चौराइ ।।
- मानस, उत्तरकांड, दोहा २७, पृ० ५६.

बच्चों की पोशाक पर विभिन्न रंग वाले चित्र रचने की ओर संकेत किया है ।[१]

अंत में यही कहा जा सकता है कि मध्ययुग में चित्रकला की इतनी लोकप्रियता होने पर भी प्राचीन चित्रकला की अभिव्यंजना करने वाले लगभग समग्र चित्र अनुपलब्ध हैं । इसका एकमात्र कारण यही है कि औरंगजेब के समय में जो बड़ी बरबादी हुई, उसके फलस्वरूप प्राचीन इमारतों के साथ उनके चित्र भी नष्ट हो गये ।

मूर्तिकला

इस कला का मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी के टुकड़े हैं । मूर्तिकार वास्तुकार से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है । मूर्तिकार अपने प्रस्तर खण्ड या धातु खण्ड में जीवधारियों की प्रतिछाया बड़ी सुगमता से संगठित कर सकता है । यही कारण है कि मूर्तिकला का उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता प्रदर्शित करना है ।[२] मूर्तिकार कभी-कभी अपनी निर्माण-कला में शारीरिक सौन्दर्य, आह्लाद, करुणा आदि के द्वारा मानसिक अभिव्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण करता है । मध्ययुग में जो मूर्तिकला का विकास हुआ, वह तत्कालीन वर्णित देवी-देवताओं की उपासना का दर्शन कराता है । उस समय हिन्दू लोग मूर्तिपूजा के पक्षपाती थे, तो मुसलमान उसके विरोधी थे । मध्ययुग के भक्त कवियों ने मूर्तिपूजा के प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्णन करके तत्कालीन मूर्तिकला की उन्नति का प्रत्यक्षीकरण किया है । कबीर ने हिन्दुओं की मूर्तिपूजा का खण्डन किया । जायसी ने मूर्ति-कला का उल्लेख 'पद्मावत' में किया है । सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने मूर्तिकला का चित्रण कृष्ण-काव्यों में किया है । ब्रजप्रदेश की मूर्तिकला समस्त उत्तर भारत के लिए गौरव की वस्तु है । तुलसीदासजी ने अयोध्या और लंका नगरी की मूर्तिकला की उद्घोषणा की है । कबीरदास ने

---

१. कुलही चित्र विचित्र झंगुलीं । निरखत मातु मुदित मन फूलीं ।।
- गीतावली, बालकांड, पद ३१, पृ० ७१.

२. साहित्यिक निबन्ध राजनाथ शर्मा, पृ० २२५.

मूर्तिपूजा का विरोध करके उसका खण्डन-मण्डन करने की कोशिश की । हिन्दुओं की मूर्तिपूजा का उन्होंने विरोध किया । कबीर के मूर्ति-पूजा-विरोध से हम अनुमान कर सकते हैं कि उस युग में मूर्तिपूजा सर्वसाधारण में प्रचलित थी और उस कला का भी विशेष विकास हुआ था । इस सम्बन्ध में कबीर के उद्गार देखिए —

भूली मालिनी है गोव्यंद जागतौ जगदेव,
तूं करै किसकी सेव ।। टेक ।।
भूली मालनि पाती तोड़ै, पाती पाती जीव ।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नर जीव ।।
टांचणहारै टांचिया, दे छाती ऊपरि पाव ।
जे तूं मूरति सकल है तौ घड़णहारे कौं खाव ।।
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारा ले गया दे मूरति कै मुहि छार ।।
पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव ।
तीनि देवौं एक मूरति करै किसकी सेव ।।
एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा ।
एक न भूला दास कबीरा जाकै रांम अधारा ।।[१]

सूफी महाकवि जायसी ने मूर्तिकला का उल्लेख `पद्मावत` के `बसंत खंड` में किया है ।[२]

मूर्तिकला का प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्णन मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भी किया है । मूर्तिकला में देवी-देवताओं की उपासना का दर्शन होता है । नन्द हाथ-पैर धोकर मंदिर में प्रवेश करते हैं । वे फल-फूल आदि और यमुना-जल की झारी लिये जाते हैं । पूजा के स्थान को शुद्ध करके मूर्ति की आराधना करते हैं । कृष्ण भी इसी बीच में वहां आ जाते हैं ।[३] नन्द के देवताओं को पवित्र जल से

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ११८, पृ० ४५६.
२. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१८.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६०, पृ० ११८.

नहलाया । बाद में फल-फूल देवता को भेंटस्वरूप दिये । इसके उपरांत शालिग्राम की आरती उतारी । कृष्ण ने इतने में अपनी बालसुलभ चंचलता वहां दिखाई । कृष्ण ने वहां आकर शालिग्राम को मुख में डाल लिया ।[१] मध्ययुग के कृष्ण काव्यों में नन्ददास की कृतियों में कात्यायनी[२], देव-गोवर्धन[३], इन्द्र[४], शेष, गणेश, शिव, शुक[५], व्रजदेवी[६], शारदा, नारद, सनक, सनन्दन[७] आदि अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों का उल्लेख मिलता है । परमानन्ददास ने गनगौर[८] और सूरदास मदनमोहन ने षष्ठी[९] का प्रतिपादन किया है । नन्ददास ने देवताओं को बलि देने का उल्लेख किया है ।[१०] इन सब का तात्पर्य यही है कि मथुरा की मूर्तिकला इतनी लोकप्रिय हुई कि उसका प्रसार भारत के अन्य प्रदेशों तथा बृहत्तर भारत में हुआ ।

भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस कला का विस्तार से वर्णन नहीं किया है । उन्होंने विभीषण के घर में राम-मंदिर की स्थापना करने का और विभीषण द्वारा वहां नये-नये तुलसीवृक्ष लाने का चित्र उतारा है ।[११]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६२, पृ० ३४८-३४६.
२. कात्यायनि तें यों बर पाइ । बहुरि घसीं जमुना-जल आइ ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पृ० २१८.
३. कहो जू ! दान लेहो कैसें हम तों देव-गोवरधन पूजन आईं;
- वही, पृ० ३१२ (पद ११४)
४. वही, पृ० २६४.
५. वही, दोहा ८७, पृ० २८.
६. जो व्रजदेवी निरतति मंडल रास महा छवि ।
तिहि कोउ कैसें बरनै ऐसो कौन आहि कवि ।। - वही, दोहा १३३, पृ० ३६.
७. निरखत सारद नारद संकर सनक सनंदन ।
हरषत बरषत फूलन जै जै जै नंदनंदन ।। - वही, दोहा १३३, पृ० ३६.
८. परमानन्दसागर, पद ७२३, पृ० २५१.
९. सूरदास मदनमोहन, पृ० २५.
१०. पहिलैं गोधन पूजा कीनीं । तब बलि लै गोबरधन दीनीं ।।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १६७.
११. सयन किएं देखा कपि तेही । मंदिर महुं न दीखि बैदेही ।।
भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मंदिर तहं भिन्न बनावा ।।
रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ ।
नव तुलसिका बृंद तहं, देखि हरष कपिराइ ।।
- मानस, सुन्दरकांड, चौ० ४, दोहा ५, पृ० ८०

उन्होंने इसके अलावा वैष्णव-काशी के बिन्दुमाधव तथा उनके बायें ओर लक्ष्मी की मूर्ति का अष्टयामपरक शृंगार वर्णित किया है ।[१] इस प्रकार कहें तो कह सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में मूर्तिकला अवरुद्ध नहीं थी ।

काव्यकला

इसका अमूर्त आधार कवि का भावुक हृदय है । परंतु उसके मूर्त आधार कागज, कलम, स्याही आदि माने जाते हैं । इसके लिए सम्मुख भौतिक उपकरण की आवश्यकता नहीं । इनके (भौतिक उपकरण के) उपयोग से काव्य की उत्कृष्टता में कोई योग नहीं होता । काव्य का वास्तविक आधार तो शाब्दिक संकेत या अक्षर हैं । मन को इनका ज्ञान आँखों और कानों द्वारा होता है । जीवन की घटनाओं या प्राकृतिक दृश्यों के जो प्रत्यक्ष या काल्पनिक रूप मस्तिष्क या मन में अंकित होते हैं वे केवल भावमय होते हैं । ये शाब्दिक संकेत उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं । ये शाब्दिक संकेत या अक्षर भाषा के भी मूलाधार हैं और नाद इन सबके मूल में स्थित है । सार्थक नाद ही भाषा कहलाता है । भाषा के द्वारा भावों को व्यक्त किया जाता है । भाषा के अभाव में भावों का पूर्ण एवं सफल अभिव्यक्तीकरण असंभव है । इसलिए काव्य की साधना वास्तव में भाषा द्वारा भाव की साधना है ।[२] इस उक्ति का स्पष्टीकरण और शब्दों में यों किया जा सकता है — 'भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है जिसके द्वारा काव्य-कला विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है । इस संबंध स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है, जिसका उपयोग कवि करता है ।'[३]

मध्ययुग के सभी काव्यों में काव्यकला की गौरवपूर्ण बात झलकती है । कृष्ण-भक्ति-काव्यों में इसका अच्छा रूप दिखाई पड़ता है । गीत, छन्दोयुक्त रचनायें आदि सभी काव्य कला के लिए उत्तम उदाहरण हैं । मध्ययुगीन भक्त-कवियों ने जिन-जिन रचनाओं की रचना की है उन सब में काव्य-कला की

---

१. विनयपत्रिका, पद ६१.
२. साहित्यिक निबन्ध : राजनाथ शर्मा, पृ० २२७.
३. वही, वही, पृ० २२७.

उन्नति द्रष्टव्य है। संत कबीर की साखी, पदावली और रमैनी सुन्दर काव्य रूप हैं। अधिकांश संतों ने दोहे छन्द का सुन्दर प्रयोग किया है। उनके व्यंग्य और उपदेश दोनों में निखर उठे हैं। पदों की रचना में कबीर जैसे संत सफल हुए थे। जायसी ने मसनवी शैली में अपने 'पद्मावत' की रचना की। संत और सूफियों की रचनाओं में काव्यात्मकता कम है, क्योंकि वे ज्ञान प्रधान और प्रेम प्रधान हैं। लेकिन कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कवियों के काव्य पूर्ण अर्थ में काव्य हैं। सूरदास ने 'सूरसागर' की रचना पदों में की है। सभी पद पाठकों के मन को आनन्दाप्लावित करने वाले हैं। स्वाभाविक होने के साथ भावभंगिमा में भी वे उत्कृष्ट हैं। एक उदाहरण सूरदास के पदों से देखिए —

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं [redacted] न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगिहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावैं।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावैं।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै ॥[१]

सूरदास के सब पद काव्यात्मकता की उच्चकोटि के हैं। उनके समान अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में भी काव्य-कला का उत्कृष्ट सुन्दरतम निदर्शन प्राप्त होता है।

राम-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसी ने जिन-जिन काव्यों की रचना की है वे काव्यात्मकता में अतुल्य हैं। कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में जो स्वाभाविक सौन्दर्य है वह पूरा-पूरा उनमें आया नहीं है; लेकिन उनमें काव्य कला के सारे तत्त्व निहित हैं। काव्यगत सौन्दर्य में भी वे आगे हैं। तुलसीदास ने जैसे काव्य के विभिन्न अंगों का प्रयोग किया है वैसे किसी भक्तिकालीन कवि ने नहीं किया है। उन्होंने अपने समय के सब काव्य स्वरूपों की सफल अभिव्यक्ति की है।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१, पृ० २७६.

संगीतकला

संगीत का मूल आधार नाद है। मानव संगीत-कला की ओर चिरंतन काल से अभिरुचि दिखाता आया है। इसे वह कण्ठ से और वाद्ययंत्रों की सहायता से उत्पन्न करता है। विभिन्न विद्वानों ने संगीत कला के कुछ नियम निर्धारित किये हैं। संगीतशास्त्र में 'सा रे गा मा पा धा नी' नामक सप्त स्वरों का नियम सभी भारतीय संगीतज्ञ मानते हैं। ये सप्त स्वर ही संगीत कला के प्राण और मूल कारण हैं। इन स्वरों की सहायता से संगीतज्ञ अपने मानसिक भावों को व्यक्त करता है। संगीतज्ञ इन स्वरों के आरोह-अवरोह द्वारा भावों को उद्भूत करता है। सचमुच संगीत नाद-सौंदर्य के पारावार में हमें निमग्न कर देता है और भावविह्वल करके हमें भुला देता है।

समस्त भारत में मुगल बादशाहों के समय संगीत और नृत्य तो विलासिता का अंग हो गया। तुगलक काल से लेकर मुगल बादशाहों के समय तक संगीत कला का स्तर ऊंचाई पर था। अकबर के दरबार के संगीतज्ञों में तानसेन का स्थान शीर्ष पर था। केवल अकबर ही नहीं, बल्कि सभी मुगल बादशाहों ने संगीत-कला को प्रोत्साहित किया। अकबर के समकालीन संगीतज्ञों में बाजबहादुर, हरिदास, रामदास, सुभानखां, दाऊदघाटी और मियां गुरुनानक मशहूर हैं। मुगल बादशाहों में औरंगजेब को संगीत के प्रति घृणा थी। फिर भी हिन्दी भक्त कवि, विशेषकर कृष्ण-भक्त कवि संगीत की मंत्रमुग्धता में डूब जाते थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने संगीत का नाद-लय भर दिया। संगीत कला के तत्वों से भी सब परिचित थे।

मध्ययुग में संगीत कला की विशेष उन्नति हुई। इसका उत्तम उदाहरण तत्कालीन काव्य-ग्रंथ हैं। यद्यपि संत कवियों की रचनाओं में संगीत-कला का विशेष विकास नहीं हुआ था तो भी कबीर की पदावली, रमैणी भाग में अनेकों रागों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। कबीर ने राग गौड़ी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठि, राग केदारो, राग मारू, राग टोडी, राग भैरुं, राग बिलावल, राग ललित, राग बसंत, राग माली गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग,

राग मलार, राग धनाश्री, राग सूही आदि का सफल प्रयोग किया है। यद्यपि कबीरदास जी ने इतने रागों का प्रयोग अपनी रचना में किया है, तथापि उनके पद नियमबद्ध नहीं हैं। भावात्मकता भी उनमें कम है। वे ताल-लय युक्त भी नहीं हैं। उसी तरह जितने प्रेमाख्यानक काव्य प्राप्त हैं, उनमें संगीत का विशिष्ट गुण नहीं है।

कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में संगीत के सभी गुण विद्यमान हैं। अष्टछाप कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदासजी संगीत के मर्मज्ञ थे और उन्होंने इसमें दक्षता प्राप्त की थी। ताल, लय, स्वर और राग युक्त उनके पदों में इस कला की दक्षता झलकती है। 'सूरसागर' में अनेक संगीतात्मक पदों का दर्शन होता है। कृष्ण की जीवनी को लेकर उन्होंने गीत-शैली में नवीन काव्य का सृजन किया। उन्होंने संगीतात्मक पदों की रचना भिन्न-भिन्न संदर्भों के वर्णन में की है। सूरदासजी ने विवाह, जन्म, रास, होली आदि संस्कारों, उत्सव-पर्वों पर तथा अन्य विशेष अवसर पर अनुपम संगीत गाये थे और उन्होंने वाद्ययंत्रों का भी प्रयोग किया था।[१] परमानन्ददास ने जन्मोत्सव[२], नन्द महोत्सव[३], कनछेदन[४], नामकरण[५] आदि संस्कारों के अवसर पर गीत गाने का उल्लेख किया है।

सूरदास और तुलसीदास ने विभिन्न संस्कारों के समय प्रयुक्त नृत्य और गीत का जो चित्र उतारा है, वहां विशेष संगीत सांद्रता दिखायी पड़ती है। 'सूरसागर' में आये जन्मोत्सव के अवसर का वर्णन देखिए —

> आनंदित गोपी-ग्वाल, नाचें कर दै-दै ताल, अति अहलाद भयौ-
> - जसुमति माइ कैं।[६]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६, पृ० २५६; पद ६६, पृ० २६४; पद ४१८६, पृ० १५७६; नवम स्कंध पद २५, पृ० १६४; दशम स्कंध पद ३१, पृ० २७०; पद ८०६, पृ० ५४२.
२. परमानन्दसागर, पद ६, पृ० ३.
३. वही, पद १८, पृ० ७.
४. नारि सीमंतनि गीत गवाए दिये मुक्त मन भाये ।। -वही,पद ५३,पृ० १८.
५. मंगल गीत गवावत जसोमति बोलत अमृत बानी ।। -वही,पद ५६,पृ० १६.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१, पृ० २७०.

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'गीतावली' में जन्मोत्सव[1], जातकर्म[2] संस्कारों के अवसर पर नाच और गीत गाये जाने का उल्लेख किया है। विवाह के शुभवसर पर मंगल गीत का आलाप होना सामान्य बात है। मध्ययुग के कवि भी इस बात को नहीं भूले। कबीर ने इस ओर संकेत किया है।[3] जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती के विवाह-प्रसंग में पचास करोड़ बाजे-बजाने और सारा नगर गीतों की झनकार से मुखरित होने की ओर इशारा किया है।[4] महाकवि विद्यापति ने ऋतुपति वसंत के विवाह पर गीत होने का उल्लेख किया है।[5] सूरदास ने श्रीकृष्ण और राधा की बाल-लीलाओं तथा अन्य क्रीड़ाओं का जो वर्णन किया है, उसमें विभिन्न प्रकार के बाजे बजाने और नाच-गाने का संकेत मिलता है।[6] गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिव-पार्वती[7], राम-सीता[8] के विवाह के अवसर पर ताल-छन्द युक्त गीत होने का उल्लेख किया है। इन संस्कारों के अतिरिक्त मनोरंजन के वक्त भी संगीत का आलाप होता था। सूरदास ने वसंत-लीला-प्रसंग में यों लिखा है —

इक गावत इक नृत्यत इक रहत गोहन ।।
बाजत मिरदंग तार, अरस परस करें बिहार,[9]
\+ \+ \+ \+
राग रंग रंगिमंगि रह्यौ नंदराइ दरबार ।
गावतिं सकल गुवारिनी, बाजत सकल गुवार ।।[10]

---

१. गीतावली, बालकांड, पद १, पृ० १७.
२. वही, वही, पद २, पृ० २०-२१.
३. सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथे हलद चढ़ाई ।।
- कबीर ग्रन्थावली, पद २२६, पृ० ४७२.
४. बाजन बाजे कोटि पचासा । भा अनंद सगरी कबिलासा ।
\+ \+ \+ \+ \+
घर घर बंदन रचे दुआरा । जांवत नगर गीत झनकारा ।
- पद्मावत, पृ० ३१२.
५. विद्यापति की पदावली, पृ० २९१.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०६७, पृ० ६३४; पद १०८३, पृ० ६३५.
७. मानस, बालकांड, चौ० १, पृ० १९३; चौ० ३, पृ० २३५.
८. वही, वही, चौ० २, पृ० ४९३; चौ० ४, पृ० ५२५.
९. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८९१, पृ० ११४९-११५०.
१०. वही, वही, पद २९०८, पृ० ११६०.

इस प्रकार मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त और राम-भक्त कवियों के काव्यों में आद्यंत संगीत के ताल-लय युक्त गीत मिलते हैं। सूरदास ने ताल और लययुक्त जिन पदों की रचना की, उन्हें गीति-काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। उन्होंने छह राग, छत्तीस रागिनियाँ, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छना, कोटि उनचास तान, स र ग म आदि संगीत कला से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातें अपने काव्य में रखी हैं।[१] भक्ति-काव्यों में निम्नलिखित राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है –

राग बिलावल, राग धनाश्री, राग कान्हरो, राग मारू, राग नट, राग सारंग, राग केदारो, राग मालार, राग बिहागरो, राग गौरी, राग सोरठ, राग आसावरी, राग देव गांधार, राग काफी, राग गुजरी, राग नट नारायण, राग टोड़ी, राग गौड़ मलार, राग कल्याण, राग सूही, राग सूहो, राग जैतश्री, राग भैरव, राग अड़ाना, राग आसावरी तिताला, राग सूहा बिलावल, राग झिंझौटी, राग अहीरी, राग मुल्तानी, राग धनाश्री-तिताला, राग सम्भावती तिताला, राग गुजर, राग सोरठि, राग भोपाली, राग गांधार, राग नायकी, राग जै जैवन्ती, राग ललित, राग गुंड मलार, राग गौड़, राग पूर्वी, राग सुघराई, राग मेघमलार, राग श्री, राग पटासी, राग बिलावल, रामकली, राग हमीर, राग राशी श्रीहठी, राग बिलावल, अहल्या, राग आसाश्री, राग बिहाग तिताला, राग मुल्तानी तिताल, राग विभास, राग देव साख, राग ईमान, राग संकरायन, राग कुरंग, राग संकीर्ण,

---

१. (क) छहों राग, छत्तीसों रागिनि, इक इक नीकें गावै री।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १२३८, पृ० ४६८.

(ख) मुरलिया बाजति है बहु बान।
तीनि ग्राम, इक्कीस मूर्छना, कोटि उनचास तान।।
- वही, पद १३५३, पृ० ७३१.

(ग) वही, वही, पद ११५१, पृ० ४५५.

(घ) राग रागिनि मैलि गावैं, सुघर गुंड मलार।
सूहो, सारंग, टोड़ि, भैरव, सोरठी केदार।।
- वही, वही, पद २८३३, पृ० ११२५.

राग मालकौस, राग नारायणी, राग भूपाली,राग पुरिया, राग श्रीहठी, राग केसकार, राग धमार, राग सानुत, राग देवगिरि, राग कर्नाटी, राग षटपदी, राग बसंत, राग चंचरी, राग रामकली, राग रायसो, राग काफी, राग बिहाग, राग मल्हार, राग बिहागड़ो, राग भैरो, राग बिहाग इकताला, राग पंचम, राग चंपक, राग मालव, राग लावनी, राग बिलावल इकताला, राग विभास बर्वरी, राग मालश्री तिताला, मालश्री, गौरी, तिताला, राग यमन, राग देव गांधार तिताला, राग बिलावल तिताला, सुहा बिलावल तिताला, राग परज तिताला, राग जंगला, राग मालवा, राग श्याम, राग सुहा आसावरी, राग भूपाली, राग बिहगी मालकौस, राग कानरो, राग सारंग बिलावल, राग गौरी कानरो, राग मल्हार, राग सारंग, राग बढ़ाना, राग गौड़ सारंग, राग मल्हार पूर्वी, राग सारंग विभास, राग मैं, राग माली गौड़ी, राग भैरवी, राग पंचक आदि ।

इसी प्रकार संगीत कला को अत्यधिक पुष्टि देने वाले मृदंग, पखावज, डफ, खंजरी, ढोलक, डमरू, दमामा आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख तत्कालीन काव्य ग्रंथों में आद्योपांत मिलता है । इससे यह ज्ञात होता है कि मध्ययुग में संगीत कला की अवश्य उन्नति हुई थी ।

उत्सव-पर्व :

आदि काल से लेकर मानव उत्सव और त्योहार मनाने में उत्सुक रहा है। इन त्योहारों और उत्सवों से लोक-जीवन में सुख-शांति मिलती है । भारत में जनसाधारण के मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं । ये उत्सव और पर्व वर्ष में कई बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनाये जाते हैं । लोग खूब उल्लास एवं उत्साह के साथ प्रत्येक उत्सव का स्वागत करते हैं । प्रत्येक उत्सव की तिथि के आने पर जन-समाज गाते-नाते, बाजे बजाते, सज-धज कर इसका स्वागत करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवसर पर उनके सारे जीवन की करुणा, क्लेश एवं सारा दुःख अप्रत्यक्ष हो गया हो । गरीब से गरीब आदमी भी आनन्दाप्लावित हो जाता है, इन उत्सवों में घुलमिल जाता है, धार्मिक विधान के अनुसार पूजा करता है और भावी

मंगलाशा का अनुभव करता है ।

मध्ययुगीन कवियों ने जिन पर्वों और उत्सवों का वर्णन किया है, उनकी नामानुक्रमणिका निम्नप्रकार दी जा सकती है —

(१) वैदिक पर्व तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ
(२) नित्य एवं अवतार-लीलाओं का उत्सव
(३) ऋतुओं का उत्सव
(४) लौकिक त्यौहार
(५) अन्य त्यौहार

उत्सव और पर्वों का स्पष्टीकरण सभी भक्त कवियों के काव्यों में मिलता है, लेकिन कृष्णा-भक्त कवियों के काव्य में इनका दिग्दर्शन अधिक मात्रा में प्राप्त है । अब हम क्रमानुसार इनके अन्तर्गत आने वाले उत्सवों का वर्णन करेंगे ।

(१) <u>वैदिक पर्व तथा अन्य अवतारों की जयन्तियां</u>

<u>मकर संक्रान्ति (माघ शु.प. प्रतिपदा)</u>

कृष्णा-भक्त कवियों में परमानन्ददास और सूरदास ने मकरसंक्रान्ति उत्सव का वर्णन किया है । यह उत्सव तब सम्पन्न होता है जब सूर्य उत्तरायण में होता है । मकर-संक्रांति का यह उत्सव जन-जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और विशेष है । इस उत्सव के दिन लोग खिचड़ी बनाकर खाते हैं । मकरसंक्रांति को मावज ननद के लिए कपड़े, फल, मिष्टान्न, तिल, दाल और चावल आदि उपहार रूप में भेजती है, जिसे लोक-भाषा में `संकरात देना` कहा जाता है । `परमानन्दसागर` में ऐसा एक पद मिलता है जो मकरसंक्रांति की संध्या का है । देखिए —

म्यौ नंदराय के घर सिध ।
सब गोकुल के लरकन के संग बैठे है आये जिष ।।
परोसि थार धरे लै आगे सब मांखन घी सिध ।
`परमानंद` प्रभु भोजन कीनो अति रुचि मांग्यो छह ।।[१]

एकादशीव्रत (फाल्गुन शुक्लपक्ष, एकादशी)

एकादशी का व्रत एक वर्ष में कई बार आता है, लेकिन इनमें सबसे महत्वपूर्ण और विशेष दिन फाल्गुन और ज्येष्ठ की एकादशी का दिन है । कबीरदासजी ने एकादशी व्रत और उसके अनुष्ठाताओं का विरोध किया है। उसका कथन है कि एकादशी व्रत तो हिन्दू लोग बाहरी दिखावट के लिए करते हैं । इससे कोई फायदा नहीं और आखिर मुक्ति तो नहीं मिलती ।[२] सूरदास ने नन्द का विधिवत निराहार एकादशी व्रत के अनुष्ठान का उल्लेख यों किया है —

उत्तम सफल एकादसि आई । विधिवत व्रत कीन्हौ नंदराई ।।
निराहार जलपान विवर्जित । पापनि रहित धर्म-फल-अर्जित ।।
नारायन-हित ध्यान लगायौ । और नहीं कहुं मन बिरमायौ ।।
बासर ध्यान करत सब बीत्यौ । निसि जागरन करन मन चीत्यौ ।।
\+ \+ \+ \+ \+ \+
तृतीय पहर जब रैनि गंवाई । नंद महरि सौं कही बुलाई ।।
दंड एक द्वादसी सकारैं । पारन की विधि करौं सवारैं ।।
\+ \+ \+ \+ \+ \+
अंचवत लै पैठे नंद पानी । जल बाजत दूतनि तब जानी ।।
नंद बाँधि लै गए पतालहिं । बरुन ध्यास ल्याए ततकालहिं ।।[३]

---

१. परमानन्दसागर, पद ३२१, पृ० १०७.
२. कबीर ग्रन्थावली - पद १३५, पृ० २२१-२२२.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८४, पृ० ५६६.

एकादशी व्रत के दिन ब्राह्मणों का आदर-सत्कार होता है और उन्हें अनेक प्रकार का दान दिया जाता है। यह प्रथा आज भी प्रचलित है।[1]

भोगी संक्रांति

इस उत्सव के दिन लोग स्नान करके साज-शृंगार करते हैं। परमानन्ददास ने 'भोगी संक्रांति' का वर्णन इस प्रकार किया है --

भोगी के दिन अभ्यंग स्नान करि साज सिंगार स्याम सुभातन।
पुनि फूलितिलवा भोग धरिके परम सुंदर आरोगावत सब मिलवन।।
स्त्री घनस्याम मनोहर मूरत करत विहार नित व्रज वृन्दावन।
'परमानन्ददास' को ठाकुर करत रंग निस दिन।।[2]

ज्येष्ठाभिषेक (ज्येष्ठ कृ.प. दशमी)

इस पर्व का उल्लेख जल-क्रीड़ा और जल-विहार के कुछ पदों में प्राप्त है। जल-विहार का पर्व विशेष उल्लासमय है। उत्तरप्रदेश में गंगा नदी के क्षेत्र में इस पर्व को गंगा-दशहरा नाम से अभिहित किया जाता है। 'नहान' (स्नान) वाले दिन पावन सरिताओं के घाटों पर अनेक कलकंठों की मधुर ध्वनि गुंजारित हो उठती है। चारों ओर प्रसन्नता की लहर फैल जाती है। व्रत और उपासना करने तथा दान देने की धूम-सी मच जाती है। 'सूरसागर' में ज्येष्ठाभिषेक का वर्णन मिलता है।[3]

रामनवमी का पर्व

यह उत्सव चैत्र शुक्ल नवमी के दिन संपन्न होता है। यह दिन अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि उस दिन मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम का जन्म हुआ था। 'सूरसागर' के नवम स्कंध में राम-जन्म पर बधाई बजने का, सखियों के द्वारा मंगल गीत गाने का, राजा द्वारा अपना सर्वस्व दान देने आदि का उल्लेख

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८५, पृ० ४०१.
२. परमानन्दसागर, पद ३११, पृ० १०७.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ११६२, पृ० ४५६.

मिलता है ।[1] परमानन्ददास ने भी इस पर्व की ओर संकेत किया है ।[2] पुत्र-प्राप्ति के अवसर पर लोक-हृदय की उमंग, स्फूर्ति और शुभेच्छा पटल पर रंग-बिरंगी धारियों के समान झलमलाने लगती है । शास्त्रीय पद्धति के अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक वासन्तिक नवरात्रि भी मनायी जाती है । इसमें कहीं दुर्गा-सप्तशति का पाठ और कहीं राम की पूजा तथा रामायण का पाठ होता है ।[3]

नृसिंह जयन्ति (चैत्र शु.प. चतुर्दशी)

सूरदास और परमानन्ददास ने श्री नृसिंह चतुर्दशी का वर्णन किया है । 'सूर निर्णय' में इसका उल्लेख मिलता है, जिसमें उन्होंने भगवान के प्रति अनन्य भक्ति और प्रतिज्ञा पालन की 'टेव' की ओर संकेत किया है ।[4] परमानन्ददास ने भगवान से यह प्रार्थना की है कि इस संसार से दुष्टों के नाश करने वाले आप भक्तों की रक्षा कीजिए ।[5]

वामन जयन्ती

वामन-जयन्ती का वर्णन सूरदास और परमानन्ददास ने किया है । 'सूरसागर' के अष्टम स्कंध में असुर महाराजा बलि के द्वार पर 'तीन पैंड' भूमि की याचना करने वाले 'बटु वामन' के रूप में भगवान का चित्र उतारा है ।[6]

---

१. अयोध्या बाजति आजु बधाई ।
+ + + +
गावैं सखी परसपर मंगल, रिषि अभिषेक कराई ।
भीर भई दसरथ कैं आँगन, सामवेद-धुनि छाई ।
भौम बार, नौमी तिथि नीकी, चौदह भुवन बड़ाई ।
- सूरसागर, नवम स्कंध, पद १७, पृ० १६२.

२. परमानन्दसागर, पद ३३७, पृ० ११५.

३. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हरगुलाल, पृ० २३०

४. सूरनिर्णय, पृ० २४४.

५. जाकों तुम अंगीकार कियो ।
तिन के कोटि बिघन हरि टारे अभयदान भगतन दियो ।।
-परमानन्दसागर, पद ३४७, पृ० ११६.

६. द्वारें ठाढ़े हैं द्विज बावन ।
+ + +
तीनि पैंड़ बसुधा हौं चाहौं, परनकुटी कों छावन ।
- सूरसागर, अष्टम स्कंध, पद १३, पृ० १७६.

परमानन्ददास ने भी सूरदास के समान वामन को याचक रूप में बलि के द्वार पर खड़ा हुआ दिखलाया है ।[१] परमानन्दसागर के और एक पद में वामनावतार का वर्णन मिलता है । वह कश्यप और अदिति के घर में `देव काज` के लिए प्रकट होते हैं ।[२]

(२) नित्य एवं अवतार लीलाओं का उत्सव

संवत्सर

संवत्सर उत्सव चैत्र-मास में संपन्न होता है और वह नये वर्ष के प्रारंभ होने के उपलक्ष्य में है । `परमानन्दसागर` में नये वर्ष के आरंभ की बात कहकर इसका उल्लेख यों किया गया है –

> चैत्रमास संवत्सर परिवा बरस प्रवेस भयौ है आज ।
> कुंज महल बैठे पिय प्यारी लाल तन पैरें नौतन साज ।।
> आपु ही कुसुमहार गुहि लीने क्रीड़ा करत लाल मन भावत ।
> बीरी देत `दास परमानन्द` हरखि निरखि जस गावत ।।[३]

इस उत्सव के अवसर पर सूरदास के `चक्र के धरन हार गरुड़ के असवार` वाला पद गाया जाता है ।[४]

गनगौर (चैत्र शु.प. तृतीया) :

गनगौर उत्सव उसे कहते हैं जिसमें लड़कियां योग्य वर की प्राप्ति के लिए गौरी के रूप में देवी से प्रार्थना करती हैं । इस उत्सव के दिन सवेरे छोटी-छोटी लड़कियां फल-फूल आदि लेकर गनगौर की पूजा करती हैं ।

---

१. परमानन्दसागर, पद २०२, पृ० ६५.

२. कश्यप पिता अदिति माता प्रगटे बामन रूप ।
 \+ \+ \+ \+
 सुर तैंतीसौं हरखन लागे होहिं हमारे काम । – वही, पद २०४, पृ० ६५.

३. परमानन्दसागर, पद ३३६, पृ० ११५.

४. सूरनिर्णय प्रभुदयाल मीतल, पृ० २२७.

मीरा माधुरी में एक स्थान पर रंगोली गनगौर का उल्लेख मिलता है ।[१] यह राजस्थान का एक विशेष उत्सव है । ब्रज और राजस्थान की सीमाएं मिली होने के कारण पुरातन काल से ही इन दोनों प्रदेशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान चलता रहा है । गनगौर-पूजा निश्चय ही इन दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान का परिणाम है । राधा तथा अन्य सखियां जिस प्रकार कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने हेतु मार्गशीर्ष और पौष में कात्यायनी व्रत और मंगलकाल की आराधना करती हैं, उसी प्रकार चैत्र में ब्रज की आध्यात्मिक शक्ति रूपा गौरी की पूजा करती हैं ।[२] सूरदास ने ब्रज-बालिकाओं के द्वारा गौरी-पति की आराधना करने का उल्लेख किया है –

गौरी-पति पूजतिं ब्रजनारि ।
नेम धर्म सौं रहति क्रिया-जुत, बहुत करतिं मनिहारि ।।
यहै कहतिं पति हेतु उमापति गिरिधर नंद-कुमार ।
सरन राखि लीजै सिव संकर तनहिं न्रासवत मार ।।
कलप-पुहुप मालूर-पत्र-फल नाना सुमन सुवास ।
महादेव पूजति मन बच करि सूर स्याम की आस ।।[३]

अक्षय तृतीया (वैशाख शु. प. तृतीया)

इस उत्सव को नैतिक उत्सव की कोटि में रखा जा सकता है । इस अवसर पर संपूर्ण शरीर चन्दन से लेपन करने से विशेष महत्व है । चन्दन अरगजा आदि विशिष्ट सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करने का उल्लेख 'सूरनिर्णय' में मिलता है ।[४] परमानन्ददास ने तो प्रियतम को सुख प्रदान करने के नाते अक्षय सुहाग के दिन चन्दन की पूजा की बात कही है ।[५] एक और पद में

---

१. मीरा माधुरी, पद १४१.
२. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - हरगुलाल, पृ० २३२.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७६६, पृ० ५२४.
४. सूरनिर्णय, पृ० २२८.
५. अक्षय भाग सुहाग राधे को प्रीतम को दिन रतियां ।
चंदन पूजि प्रीतम सुख दीजै रीक रीक यहै कहीं बतियां ।।
- परमानन्दसागर, पद ७३३, पृ० २५५.

परमानन्ददास ने कृष्ण के अरगजा भीनें पीतांबर धारण करने की ओर संकेत किया है ।[१] कुम्भनदास ने भी इसका वर्णन किया है ।[२] नन्ददास ने इसका आशय इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि 'प्रिय' के शरीर पर चन्दन का लेपन करने की बात कहकर दोनों - कृष्ण और राधा - दर्पण देख रहे हैं ।[३]

श्रावण तीज

यह उत्सव लड़कियों और स्त्रियों का है, जो श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की तीज को मनाया जाता है । इस अवसर पर वे हिंडोरे में फूलती हैं। 'सूरसागर' के एक पद में गोपियों का यशोदा सहित तीज खेलने का उल्लेख मिलता है ।[४]

रथ-यात्रा (आषाढ़ शु.प. द्वितीया)

भारतीय अब्दकोश में वृन्दावन के श्रीरंग मंदिर में चैत्र में रथोत्सव नाम का उत्सव मनाये जाने का उल्लेख हुआ है ।[५] सूर ने इस उत्सव का सम्बन्ध कृष्ण के द्वारिका-लीला से किया है ।[६] परमानन्ददास ने तो कृष्ण और राधा दोनों के मिल कर रथ-यात्रा करने का उल्लेख किया है ।[७] उन्होंने एक अन्य पद में चार घोड़ों वाले रथ का संकेत किया है ।[८] गोविन्द स्वामी ने

---

१. परमानन्दसागर, पद ७३४, पृ० २५५.
२. कुम्भनदास, पद ८७.
३. अक्षय-तृतीया, अक्षय सुखनिधि, प्रिय कों प्यारी लगावै चंदन ।
तब ही प्रिया सिंगारी भारी, घोरि अरगजा सुघर-नंद-नंदन ।।
लै दरपन निरखैं जु परसपर, रीझि रीझि रहे भी जग-वंदन ।
'नंददास' प्रभु प्रिय रस भींजे, जुवतिन सुखद विरह-दुख-कंदन ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद १४१, पृ० ३२०-३२१.
४. गोपी गोविंद कें हिंडोरें झूलन आइ ।
रंग महल में जहं नंदरानी, खेलै तीज सुहाई । - सू०सा०, दशम०, पद २८४३, पृ० ११
५. भारतीय अब्दकोश (शब्दकोश), १८८३, पृ० ३४५.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१६५, पृ० १५६८.
७. देखौ माई रथ बैठे गिरिधारी ।
राजत परम मनोहर सब-अंग संग राधिका प्यारी ।। -परमा०, पद७४२, पृ० २५८.
८. परमानन्दसागर, पद ७४३, पृ० २५८.

रथ-यात्रा-उत्सव का उल्लेख वहाँ किया है, जहाँ कृष्ण अपने बालसुलभ स्वभाव से माता यशोदा से गोद में लेकर रथ-यात्रा कराने को कहते हैं।[१] अत: यह उत्सव प्रमुख रूप से बालकों का उत्सव है।

पवित्रा (श्रावण शु.प. एकादशी)

पवित्रा उत्सव नैतिक उत्सव है। इस दिन अर्ध रात्रि के समय साक्षात् पुरुषोत्तम ने प्रकट होकर ठकुरानी - गोविन्द घाट पर श्री वल्लभाचार्य को ब्रह्म संबंधी उपदेश दिया। आचार्यजी ने नित्य लीला के सम्बन्ध में उन पुरुषोत्तम को पवित्रा धारण कराया था।[२] उस समय से लेकर आज तक यह उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। सूरदास ने कृष्ण का केसर-कुंकुम के रंग का बागा पवित्रा के दिन धारण करने की बात कही है।[३] राधा के पवित्रा पहनने की बात परमानन्ददास ने कही है।[४] कुम्भनदास ने राधा और कृष्ण दोनों का एक साथ पवित्रा पहनने का चित्र उतारा है।[५] परमानन्ददास ने इस अवसर पर गीत गाने[६] और गोविन्दस्वामी ने ताल, पखावज और वेणु आदि बाजे बजाने और श्रीकृष्ण की आरती उतारने की ओर संकेत किया है।[७]

---

१. गोविन्दस्वामी, पद १७१.

२. सूरनिर्णय, पृ० २३०.

३. वही, पृ० २३०.

४. पवित्रा पहरत राजकुमारी।
   तीन्यों लोक पवित्रा किए हैं स्त्री विट्ठल गिरिधारी।।
   - परमानन्दसागर, पद ७७६, पृ० २७१.

५. कुम्भनदास, पद १२२.

६. पवित्रा उत्सव को दिन आयो।
   ब्रजबासिन मिलि मंगल गायो श्याम निरखि सुख पायो।।
   + + + +
   नंद जसोदा हंसि हंसि भेटत मोतिन चौक पुरायो।।
   - परमानन्दसागर, पद ७८५, पृ० २७३.

७. गोविन्दस्वामी, पद २१८.

जन्माष्टमी (भाद्रपद कृ.प. अष्टमी)

यह उत्सव प्रति वर्ष कृष्ण-जन्म के दिन मनाया जाता है। दिन भर व्रत या उपवास का अनुष्ठान करते हैं और चन्द्रोदय के समय लोग फलाहार करते हैं। व्रजवासी यह उत्सव धूमधाम से मनाते हैं। आज भी यह उत्सव सर्वाधिक महत्व का है। आधी रात में कृष्ण का जन्म होते ही उन्हें गोकुल में ले जाने का वर्णन सूरदास ने सविस्तार किया है।[1] परमानन्ददास ने गोकुल में तिथि, नक्षत्र और दिन शोध करके कृष्ण जन्मोत्सव मनाने की ओर संकेत किया है।[2] जन्मोत्सव समय के मनोरंजन की शाश्वत सामग्री है नर-नारियों का बधावा गाना, उछलना, कूदना, नृत्य करना, दान देना, देवी-देवताओं को पूजना और दधि का कीच मचाना। 'सूरसागर' में कृष्ण जन्मोत्सव का सुन्दर वर्णन मिलता है।[3] ऐसे उत्सव अवश्य जन-समाज को उत्साहवर्धक एवं मनोरंजक सिद्ध होते हैं।

राधाष्टमी (भाद्र शु.प., अष्टमी)

यह उत्सव राधाजी की जन्म-लीला का उत्सव है। व्रज में पुत्र या पुत्री के जन्मोत्सव का वर्णन बड़ी धूम-धाम से समान रूप से मनाया जाता है। यह उत्सव छः दिन तक मनाया जाता है। राधा के जन्म पर वृषभानु के यहाँ बधाई बजने की बात गोविन्दस्वामी ने प्रतिपादित की है।[4] 'सूरनिर्णय' में स्त्रियों का गीत गाते हुए तथा बाजे बजाते हुए वृषभानु महर के यहाँ जाने

---

१. अँधियारी भादौं की रात।
   बालक हित वसुदेव-देवकी, बैठि बहुत पछितात।
   + + +
   गोकुल बाजत सुनी बधाई, लोगनि हियैं सुहात।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १२, पृ० २६१.

२. जनम लियो सुभ लगन विचार।
   कृष्ण पच्छ भादौं निसि आठैं नक्षत्र रोहिनि और बुधवार।।
   - परमानन्दसागर, पद ३६, पृ० १२.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १६, पृ० २६३.

४. गोविन्दस्वामी, पद १६.

का उल्लेख मिलता है ।[१] `परमानन्दसागर` में राधाष्टमी का पद-चरण वन्दना से प्रारंभ होता है ।[२] दूसरे एक पद में यशोदा द्वारा राधा को बधाई देने की ओर संकेत मिलता है ।[३] उस दिन याचकों को विशिष्ट और अमूल्य वस्तुएं दान में दी जाती हैं ।[४]

गोपाष्टमी (कार्तिक शु. प. अष्टमी)

कृष्ण के प्रथम गोचारण के दिन यह उत्सव संपन्न होता है । सूरदास ने अपने हाथ से वन-फल खाने की बात की ओर संकेत करके गोचारण में दिलचस्पी रखने वाले कृष्ण का चित्र उतारा है ।[५] कृष्ण माता यशोदा से अपने को गोचारण के योग्य बताते हुए कहते हैं —

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं ।
तू कहि महर नंद बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं ।[६]

परमानन्ददास ने भी गोचारण के लिए जाने वाले कृष्ण का वर्णन किया है ।[७] उन्होंने और एक पद में ग्वाल-बालों का नन्द के घर में आना, अपने साथ कृष्ण को ले जाना और कृष्ण का गोचारण के लिए जाना, यह देखकर विप्र लोगों का आशीर्वाद देना, नन्द द्वारा अनेक दान दिये जाना आदि का उल्लेख किया है ।[८] नन्द महल में प्रथम बार कृष्ण को गोचारण के लिए जाते हुए देखकर होने वाले आनन्दोल्लास का वर्णन गोविन्दस्वामी ने किया है ।[९]

---

१. सूरनिर्णय, पृ० २३०.

२. धन धन लाडिली के चरन ।
अतिहि मृदुल सुगंध सीतल कमल के से बरन ।।
नखचन्द चारु अनूप राजत जोति जगमग करन । -परमानंदसागर, पद १६०, पृ०

३. वही, पद १६४, पृ० ५४.

४. गोविन्दस्वामी, पद २०.

५. आजु मैं गाइ चरावन जैहौं ।
वृन्दावन के भाँति-भाँति फल अपने कर मैं खैहौं । -सू०सा०, द०स्कं०, पद४११ पृ० ३६६

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४१२, पृ० ४००.

७. परमानन्दसागर, पद १२२, पृ० ४१.

८. वही, पद २६६, पृ० ६६.

९. गोविन्द स्वामी, पद ८२.

दानलीला (भाद्र० शु.प. एकादशी)

इस उत्सव को नित्य एवं अवतार-लीला की कोटि में रखा जा सकता है । `सूरसागर` में दानलीला के अनेक पद मिलते हैं । एक पद देखिए –

दान लेहु घर जान देहु काहे कौं कान्ह देत हौ गारी ।
जो कछु कहे करौं हम सोई, इहिं मारग आवे ब्रजनारी ।
भलो करी दधि माखन खायौ, चोली हार तोरि सब डारी ।
जोबन दान कहूं कोउ मांगत, यह सुनि-सुनि अति लाजनि मारी ।
होति अबार दूरि घर जैबौ, मैया लौं डरति हैं भारी ।
सूर स्याम काहे कौं झगरौ, तुम सुजान हम ग्वारि गंवारी ।।[1]

सांझी (भाद्र शु.प. पूर्णिमा से)

यह उत्सव विशेष रूप से लड़कियों का खेल और पूजन का त्यौहार है। उस दिन छोटी-छोटी लड़कियां गोबर से सांझी बनाकर संध्या समय गीत गाती हैं । सांझी उत्सव मनाने की विधि यों है कि वे सांझी माता से भाइयों के लिए अनेक वरदान मांगती हैं । सांझी में कहीं तो श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तक की समस्त लीलाएं विविध रंगों से भूमि पर चित्रित की जाती हैं और कहीं रंग-बिरंगे फूलों आदि से दीवार पर सांझी चित्रित की जाती है ।[2] सूरदास का सांझी का यह पद द्रष्टव्य है –

सखियन संग राधिका खेलत, सुमनन बन मांह ।
सांझी पूजन कौं आतुर, ठाढ़े कदम्ब की छांह ।
सखी भेज दे मोहन कौं ले चली आपुने गेह ।
+ + + +
सांझी खेल बिदा करि सब कौं दोउ बैठे सेज मंझार ।
सगरी रात सूर के स्वामी बसि सुख कियौ अपार ।।[3]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४६३, पृ० ७६८.
२. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति : हरगुलाल, पृ० २
३. सूर-निर्णय, पृ० २३२.

नवरात्र - देवी-पूजन (आश्विन शु.प. प्रतिपदा से नवमी तक)

इस अवतार-लीला के उत्सव के दिन नवरात्र, दुर्गा या देवी की पूजा विशेष रूप से होती है। नव-दुर्गा का पूजन कई स्थानों पर होता है। भारतीय शब्दकोश के अनुसार बंगाल, आसाम, उड़ीसा और बिहार में नव-दुर्गा का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इन दिनों महिषासुर-मर्दिनी, वीरवेषा देवी दुर्गा की मूर्ति की प्रतिष्ठा और पूजा की जाती है। देवी दुर्गा के साथ नौ दुर्गाओं एवं कार्तिक, गणेश आदि मूर्तियां भी होती हैं।[१] पंडित इन दिनों में महासरस्वती की प्रतिष्ठा एवं पूजा करके अनध्याय अर्थात् 'सरस्वती शयन' मनाते हैं। मंत्र सिद्ध करने वाले तांत्रिक इन दिनों में अपने-अपने मंत्रों की सिद्धि के लिए जप आदि किया करते हैं।[२] इस उत्सव के दिन व्रज में स्त्रियां और बालिकायें देवी के भक्त्यात्मक गीत गाती हैं और उससे मनौती करती हैं। सूर ने इसका वर्णन सविस्तार किया है।[३]

नाग-लीला (कार्तिक शु.प. चतुर्दशी)

यह उत्सव कृष्ण की नित्य और अवतार लीला की कोटि में रखा जा सकता है। कंस के कहे अनुसार कृष्ण कमल-पुष्प लाने के लिए कालीदह में कूदते हैं। इससे माता यशोदा और सब व्रजवासी रोने-पीटने लगे। इसके उपरांत कृष्ण 'कालीय' नाग के सिर पर तीन करोड़ कमल लादकर जल से बाहर आये तो सब प्रसन्न हुए।[४] यह उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। सूर ने काली-दमन-लीला के पश्चात् कृष्ण और सब व्रजवासियों का

---

१. भारतीय शब्दकोश (शब्दकोश) १८८३, पृ० ३४०.
२. वही, पृ० ३३६.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०७१-१०७२, पृ० ६२६-६३०.
४. वही, वही, पद ५४६, पृ० ४४८; पद ५५४, पृ० ४५३.

मिलकर यह उत्सव मनाने का वर्णन स्पष्ट रूप से किया है ।[१]

दावानल उत्सव (कार्तिक शु. प. द्वादशी)

दावानल का उत्सव व्रज में कृष्णावतार की लीला की कोटि में रखा जाता है । दावाग्नि से व्रज-जनों को उबारने के उपरांत श्रीकृष्ण जमुना के किनारे आनन्द मनाते हैं ।[२] व्रजवासियों का यह उत्सव यमुना-तट पर संपन्न होता है ।

केशी-दानव का उत्सव (कार्तिक शु. प. त्रयोदशी)

यह भी कृष्णावतार की लीला का उत्सव है । सूरदास ने 'सूरसागर' में इसका वर्णन केशी-वध के उपरांत संपन्न होने का उल्लेख किया है –

यह कहि कंस चिते केसी-तन, कह्यौ जाइ करि काज ।
+ + + +
पुष्प वृष्टि देवनि मिलि कीन्ही, आनंद मोद बढ़ाइ ।
व्रजजन, नंद-जसोदा हरषे, सूर सुमंगल गाए ।।[३]

---

१. व्रज-बासिनि सौं कहत कन्हाई ।
जमुना-तीर आजु सुख कीजै, यह मेरैं मन आई ।
गोपिन सुनि अति हरष बढ़ायौ, सुख पायौ नंदराइ ।
घर घर तैं पकवान मंगायौ, ग्वारनि दियौ पठाइ ।
दधि माखन षटरस के भोजन, तुरतहिं त्याए जाइ ।
मातु-पिता-गोपी-ग्वालनि कौं, सूरज प्रभु सुखदाई ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५८१, पृ० ४५८.

२. दवा तैं जरत व्रज-जन उबारे ।
पैठि जल गए गहि उरग आने नाथि, प्रगट फन फननि-प्रति चरन धारे ।।
+ + + +
सुख कियौ जमुन-तट एक दिन-रैनि बसि, प्रातहीं व्रज गई गोप-नारी ।
सूर प्रभु स्याम-बलराम नंद-धाम गए, मातु-पितु घोष-जननि सुखकारी ।।
- वही, वही, पद ६०२, पृ० ४७४.

३. वही, वही, पद १३६६, पृ० ७४४-७४५.

रास (आश्विन शु.प. पूर्णिमा)

यह नित्य अवतार-लीला का उत्सव है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्णन सूरदास ने किया है। कृष्ण मुरली बजाते हैं। उसका कर्णानन्ददायक शब्द सुनकर गोपियां जो गृह-कार्य में संलग्न हैं उसे छोड़कर दौड़ पड़ती हैं। कृष्ण उनसे घर लौट जाने को कहते हैं, लेकिन वे घर लौटना उचित नहीं समझतीं, क्योंकि पूर्णिमा का वातावरण है। चारों ओर चांदनी फैली है और रास के लिए यह वातावरण उचित है। कृष्ण के मन में भी रास रचने की इच्छा उत्पन्न होती है। अत: वे गोपियों के साथ मिलकर रास रचने लगे। सोलह हजार गोपियां नाचती हैं, उनके मध्य में कृष्ण और राधा सुशोभित हैं।[१] परमानन्ददास ने भी इसका मनोहारी वर्णन किया है।[२] उन्होंने रास की पूर्णाभिव्यक्ति करने के लिए नृत्य की ओर संकेत किया है।[३] रास रस से थकी हुई बालिकाओं को कृष्ण यमुना तट पर ले गये और जलक्रीड़ा करने लगे।[४] मध्ययुग में ब्रज के लोग सामूहिक रूप में रास रचते थे। परमानंददास ने इसका उल्लेख किया है।[५] यह सामूहिक रास सब स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति में होता था। इसमें नाटकीय ढंग से कथोपकथन भी चलता था। सूरदासजी ने 'रास पंचाध्यायी प्रसंग' में कुछ पद्यात्मक संवादों का उल्लेख किया है।[६]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १००० से १०४० तक, पृ० ६०६-६१८.

२. परमानन्दसागर, पद २१५-२५०, पृ० ६८-७९.

३. रास मंडल मध्य मंडित मदन मोहन अधिक सोहत, लाड़िली रूपनिधान।
हस्त कमल चरन चारु नृत्यत आछी भांति मुख हास भ्रू विलास, लेत नैननि
ही में मान ।।
गावत बजावत दोऊ रीझि परस्पर सधुपावत उरप तिरप लीहन विकट तान।
'परमानन्द' प्रभु किसोर बोर निरखत ललितादिक वारति निज तन मन प्रान ।।
- परमानन्दसागर, पद २३१, पृ० ७३.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ११५६, पृ० ६५७.

५. परमानन्दसागर, पद २२५-२२९, पृ० ७१-७२.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०२६-१०२७, १०३०, १०३१, १०३३, १०३४, १०३६, पृ० ६१४-६१७.

रास में राधा और कृष्ण अन्य गोपियों को रिझाने के लिए हाव-भावपूर्ण अनेक लीलायें करते हैं।[१] नन्ददास[२] और परमानन्ददास[३] ने भूमि पर पग पटककर भुजा लटकाने का वर्णन किया है, जिसमें पद रस का समावेश है। वाद्ययंत्रों के साहचर्य से नर्तकों द्वारा बजायी गयी करतालों के बीच ताली-रास प्रारंभ होता है। इसके अतिरिक्त ब्रज में `बरकलारास`, `चांचर`, `ढाढी-ढाढ़िन` आदि रोचक नृत्य भी प्रचलित हैं। नन्ददास ने इनका उल्लेख किया है।[४] `सूरसागर` में कृष्ण के जन्मोत्सव पर `हुरके` बजाते हुए नृत्य करने वाले ढाढ़िन-ढाढ़ी का उल्लेख है।[५] अत: रास, जो अवतार-लीला का उत्सव है, ब्रज का प्रमुख उत्सव है।

अन्नकूट (कार्तिक शु.प. प्रतिपदा)

अन्नकूट उत्सव कृष्णावतार-लीला का उत्सव है। यह ब्रजवासियों के मुख्य उत्सवों में एक है। यह एक प्रकार से अनेक प्रकार के पकवानों का त्यौहार होता है। विविध प्रकार के पकवान और षटरस व्यंजन बनाकर भगवान को अर्पित कर ब्रजवासी खुशी मनाते हैं। इस अवसर पर वे इन्द्र-पूजा भी करते हैं।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५६, पृ० ६२४.

२. नैंमिया मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की।
- नन्ददास ग्रन्थावली, दोहा ८, पृ० १७.

३. हस्त कमल परन चारु नृत्यत आछी भांति मुख हास भ्रू विलास,
लेत नैननि हां में मान ।।
- परमानन्दसागर, पद २३१, पृ० ७३.

४. इक दिसि बर-ब्रजबाला. इक दिसि मोहन-मदन-गुपाला;
चांचर देति परसपर छवि सों, कहि न परत तिहि काला।
\+ \+ \+ \+ \+
चांचर में चांचर सी चितवत, चपल तियन के नैन।
बजत चटक [redacted] कठताल, तार अरु मृदुल-मुरज-टंकार;
\+ \+ \+ \+ \+
चारु चलन में मनिमय नूपुर, किंकिनि कलरव राजै;
मनहुं मैद-गति पाछैं आछैं मधुर मधुर धुनि बाजै।
- नन्ददास, ग्रन्थावली, पद ९८६, पृ० ३३६.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१, पृ० २७७.

वार्षिक पर्व के रूप में इसे बड़े उत्साहपूर्वक मनाया जाता है ।[१] परमानन्ददास का मत भी ऐसा ही है कि अन्नकूट उत्सव के अवसर पर अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं । उन्होंने इन्द्र-पूजा के स्थान पर गोवर्धन पूजा का उल्लेख किया है ।[२] कुम्भनदास ने इस मंगल अवसर पर अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों को बजाने की ओर संकेत किया है ।[३]

व्रतचर्या (मार्ग-शीर्ष कृ.प. एकादशी से)

यह व्रजवासियों का एक मुख्य त्योहार है, जो कृष्ण की अवतार-लीला का उत्सव है । व्रतचर्या-प्रधान होने के कारण इस उत्सव के समय मनोरंजन का महत्व नहीं है । व्रज की स्त्रियां कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए गौरी-पति का पूजन करती हैं और चतुर्दशी को रात-दिन जागकर अपने व्रत को पूरा करने की सफल प्रचेष्टा करती हैं ।[४] सूरदास के अतिरिक्त अन्य कवि जैसे जायसी[५], तुलसी[६] आदि ने युवतियों का अनुरूप वर प्राप्त करने के लिए गौरी-पूजा करने की ओर संकेत किया है । लेकिन उन्होंने उसे एक उत्सव की कोटि में नहीं रखा है, जैसे सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है ।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८१६, पृ० ५५४.

२. अन्नकूट बहु भांति बनावत रचि पकवानन की ढेरी ।
   नन्दराय पूजत पर्वत को लाओ गायन घेरी ।।
   - परमानन्दसागर, पद २५५, पृ० ८०.

३. ध्वजा, पताका, छत्र, चमर धरे करत कुलाहल ग्वाल ।
   - कुम्भनदास, पद ५२.

४. व्रज-वनिता रवि को कर जोरें ।
   सीत-भीति नहिं करतिं छहों रितु त्रिविध काल जल खोरें ।।
   गौरी-पति पूजतिं, तप साधतिं, करत रहतिं नित नेम ।
   भोग-रहित निसि जागि चतुर्दसी, जसुमति-सुत कैं प्रेम ।।
   हमकौं देहु कृष्न पति ईस्वर, और नहीं मन आन ।
   मनसा वाचा कर्म हमारैं, सूर स्याम को ध्यान ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७८२, पृ० ५२९.

५. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१८.

६. रामचरितमानस, बालकांड, पृ० ३९८-४०१.

(३) ऋतुओं के उत्सव

डोल (फाल्गुन शु. प. प्रतिपदा)

डोल का उत्सव वसंत ऋतु में संपन्न होता है। वसंत ऋतु प्रकृति में अपना अनंत वैभव जब समस्त देश के चारों ओर बिखेरती है, तब फूलडोल का उत्सव अत्यंत शोभनीय लगता है। इस उत्सव के समय लोगों का मन आनन्द से आप्लावित हो जाता है। मध्ययुगीन निर्गुण संतों ने इस उत्सव की ओर विरले ही ध्यान दिया है। कबीर के अनुसार इस समय लोगों के मन में मादकता और संतोष छा जाते हैं। लेकिन वे आगे कहते हैं कि ऋतु वसंत में फूलने वाले कुसुमों के क्षणिक सौन्दर्य में समस्त संसार के जीव-जन्तु पड़े हुए हैं। जिस प्रकार पुष्पों के मध्य सुगन्ध का निवास है उसी प्रकार प्रत्येक के हृदय में ईश्वर का निवास है। संसार में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर अतुलित आनन्द की प्राप्ति होगी।[१] जायसी के अनुसार उस समय बाला अंग पर चंदन-चीर पहनकर प्रसन्न होकर मांग में सेंदुर भरती है। वह पुष्प का हार पहनती है, पुष्पों की सेज तैयार करती है।[२] कृष्ण को गोपियां झूले में झुलाती हैं, उसका चित्रण सूरदास ने इस प्रकार किया है —

डोल देखि ब्रजबासी फूलैं। गोपि झुलावैं गोविंद झूलैं।।
नंदनंदन गोकुल में सोहैं। मुरलि मनोहर मन्मथ मोहैं।।
कमल नैन को लाड़ लड़ावैं। प्रमुदित गीत मनोहर गावैं।।
रसिक सिरोमनि आनंद सागर। सूरदास मन मोहन नागर।।[३]

परमानन्ददास ने गोपियों द्वारा वृन्दावन में कालिंदी के तीर पर चन्दन के डोल में कृष्ण को झुलाने का उल्लेख किया है। इस अवसर पर

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३८२, पृ० ५६४.
२. जायसीकृत पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४०३.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८२१, पृ० ११७५.

गोपियां कृष्ण पर अरगजा छिड़कती थीं ।[1] सूरदास ने भी राधा का ऐसा ही चित्र उपस्थित किया है । विविध वस्त्राभूषण पहनाकर राधा को गोपियां डोल में झुलाती हैं ।[2] नन्ददास ने राधा और कृष्ण को रत्नजटित सिंहासन पर बिठाकर झूले पर झूलने का चित्रण किया है ।[3] डोल के उत्सव पर विविध वाद्य-यंत्र बजाये जाते हैं और गीत गाये जाते हैं ।[4] इस अवसर पर चोवा, चंदन, अबीर, गुलाल आदि का प्रयोग होता है ।[5]

फूल मंडली (चैत्र शु.प. एकादशी)

यह उत्सव ग्रीष्म ऋतु में मनाया जाता है । जब प्रकृति फूलों से अलंकृत होती है, तब सूर ने नर-नारियों के अंतरंग में झांक कर फूल मण्डली का पद लिखा है --

फूलनि के महल, फूलनि सेज, फूले कुंज बिहारी, फूली राधा प्यारी
फूले वे दंपति नवल मगन फूले फूले करें केलि न्यारीयै न्यारी ।।
फूली लता बेलि, बिविध सुमन फूले, फूले आनन दोऊ हैं सुखकारी ।।[6]

उस समय स्त्रियां अपने लिए सभी वस्तुएं फूलों से बनाती हैं । इसका उत्तम उदाहरण राधा के वेष-विधान में दृष्टिगत होता है । राधा की चोली, चोलना, आदि वस्त्र[7] तथा हार, कंकण, किंकाछठे चौकी, आदि आभूषण

१. डोल चंदन को झूलत हलधर वीर ।
   + + +
   गोपी रही अरगजा छिरकत उड़त गुलाल अबीर ।
   - परमानन्दसागर, पद ६२५, पृ० ३३४.
२. गोकुलनाथ बिराजत डोल ।
   संग लिये वृषभानु नंदिनी, पहिरे नील निचोल ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६२०, पृ० ११७५.
३. रतन खचित सिंघासन सोभित मर्वा काम की डोरी ।
   बैठे स्यामा श्याम झुलत हैं नील-कमल पिय राधा गोरी ।।
   - नन्ददास ग्रन्थावली, पद १६५, पृ० ३४२.
४. वही, पद १६२, पृ० ३४२.
५. चोवा, चंदन छिरकति भामिनि, उड़त अबीर, गुलाल; - वही, पद १६३, पृ० ३४२.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २४५६, पृ० १०२७.
७. फूलन की चोळी फूलन के चोलना । - परमानंद०, पद ७७०, पृ० २५८.

फूलों के ही हैं।[१] कृष्ण फूलों के वस्त्राभूषणों से अलंकृत हैं।[२] वह कभी तो फूलों के चौबारे[३], कभी फूलों की चौखंडी[४], कभी तिबारी[५], और कभी फूलों के खम्भों वाले भवन में बैठते हैं।[६] इस प्रकार फूलों से सुसज्जित भवन में राधा और कृष्ण सखियों सहित आनन्द मनाते हैं और इससे वे मनमोहक वातावरण उत्पन्न करते हैं।

हिंडोरा (श्रावण कृ.प. प्रतिपदा से)

यह उत्सव ग्रीष्म ऋतु के व्यतीत होने के अवसर पर और वर्षा ऋतु के आरंभ होने पर संपन्न होता है। इस उत्सव का उल्लेख मध्ययुग के कवियों ने किया है, जिनमें कबीर, जायसी, सूर, परमानन्ददास, नन्ददास, तुलसी आदि प्रमुख हैं। हिंडोला या फूला फूलने के अनेक संदर्भ प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रचलन आनन्दोल्लास के प्रसंगों में प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल में वसन्तोत्सव के साथ फूला फूलने की परंपरा मिलती है। उस प्रेम भक्ति रूपी हिंडोले पर फूलने की और कबीरदासजी ने संकेत किया है, जिस प्रेम-भक्ति के हिंडोले पर समस्त संत जन रमण करते हैं।[७] जायसी के अनुसार उस समय कोयल की बोली सुनायी पड़ती है, बगुलियाँ आकाश में स्वच्छन्द विहार करती हैं, सारा संसार हरा-भरा

---

१. चतुर्भुजदास, पद १०२.
२. फूलनि के बागे बने भूषन फूलनि ही की पाग संवारी। - वही, पद १०४.
३. बैठे लाल फूलनि के चौबारे। - कुम्भनदास, पद ८१.
४. बैठे लाल फूलनि की चौखंडी। - चतुर्भुजदास, पद १०२.
५. बैठे लाल फूलनि की तिबारी। - वही, पद १०४.
६. वही, पद ९९.
७. हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ बिश्राम।।
- कबीर ग्रंथावली, पद १८, पृ० ३५८.

है। फूलों से सुख-सेज बनायी जाती है। युवती कुसुंभी सारि पहनकर अपने पति के संग हिंडोला सजाती है।[१] पद्मावतकार ने जन-जीवन की भावनाओं को लेकर जो वर्णन किया है उसमें उन्होंने श्रावण मास का वर्णन भी किया है। नागमती उसके पति वियोग में तड़पती है। उसके लिए श्रावण मास की उद्दीपनकारी वस्तुएं द्वेषकारी हैं, क्योंकि उसका पति विदेश में है। उसकी सखियां अपने प्रियतम के साथ हिंडोले में झूलती हैं। नागमती का हृदय भी विरहाग्नि से ऊपर-नीचे हिंडोले की तरह झूल रहा है।[२] सूरदास ने झूला झूलने का वर्णन यों किया है —

हिंडोरैं झूलत स्यामा स्याम।
ब्रज जुवती मंडली चहुंधा, निरखत बिथकित काम।
कोउ गावति, कोउ हरषि झुलावति, सब पुरवति मन साध।
कोउ संग भचति, कहति काउ मचिहौं, उपज्यौ रूप अगाध।।
कोउ डरपति, हा हा करि बिनवति, प्यारी अंकम लाइ।
गाढ़ैं गहति पियहिं अपनें भुज, पुलकत अंग डराइ।।
अब जनि भचौ पाइ लागति हौं, मोकौं देहु उतारि।
यह सुनि हंसत मचत अति गिरिधर, डरत देखि अति नारि।।
प्यारी टेरि कहति ललिता सौं, मेरी सौं गहि राखि।
सूर हंसतिं ललिता चंद्रावलि, कहा कहति प्रिय भाखि।।[३]

कभी-कभी इस हिंडोरे के खंभ रत्नजटित एवं 'मारुवा' और 'पटुली' कंचन का होता है।[४] कुम्भनदास ने मणिजटित पटली पर हिंडोले झूलने वाले कृष्ण और राधा का चित्रण किया है।[५] चतुर्भुजदास के अनुसार झूले के चार

---

१. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४०७-८.
२. सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भूमि कुसुंभि तन चोला।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झंकोरा।
- वही, पृ० ४१८.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८३५, पृ० ११२७.
४. परमानन्दसागर, पद ७९२, पृ० २७६.
५. कुम्भनदास, पद १०८.

डाड़ियों के बीच हेमजटित चौकी है और उसमें मोतियों के झुमके लगे हैं ।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम-हिंडोले का उल्लेख किया है । उस हिंडोले के चारों तरफ स्फटिकमणि की मनोहर भीतें हैं और मणियों के सुन्दर दरवाजे हैं । उस हिंडोले में बड़े-बड़े खंभ हैं और उस खंभ में विचित्र आंकड़ों में लटकी हुई पाटी एवं लाल रंग का बेलन है ।[२] सोलहों शृंगार करके जो स्त्रियां आयीं वे सूहो, गौंडमलार आदि राग गाती हुई राम और सीता को झूले पर बिठा कर झुलाने लगीं । झुलाते समय उन स्त्रियों के आभूषण अर्थात मंजीर, नूपुर और कंकणों की ध्वनि सर्वत्र मुखरित होती थी ।[३]

देवप्रबोधिनी (कार्तिक शु.प. एकादशी)

हेमन्त-ऋतु में दीपावली के बाद देवप्रबोधिनी उत्सव का आगमन होता है । सूफी महाकवि जायसी ने हेमन्त ऋतु का वर्णन पद्मावत में किया है ।[४] कृष्ण-भक्त कवियों ने इसका कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है । यशोदा राधा का साज-शृंगार करती है और उसकी गोद तिल-चांवरी से भर देती है । इसके बाद गोद पसारकर सविता से कुछ मांगती है ।[५] इस अवसर पर यशोदा इक्षुदंड एवं पुष्पों की वेदी बनाकर उसके चारों ओर धूप-दीप जलाती है ।[६] गोस्वामी हरिरायजी के अनुसार यशोदा भूमि पर विचित्र चित्र रचती है और चारों तरफ दीपक जलाती है ।[७] कार्तिक में देव-पूजा करने का संकेत मीरा ने

---

१. चतुर्भुजदास, पद ११६.
२. गीतावली, उत्तरकांड, पद १८, पृ० ४१३.
३. झूलहिं, झुलावहिं, ओसरिन्ह गावैं सुहो, गौंडमलार ।
मंजीर नूपुर-वलय-धुनि जनु काम-करतल-तार ।।
अति मुदित प्रमकन मुखनि, बिथुरे चिकुर, बिलुलित हार ।
तम तड़ित उडुगन अरुन बिधु जनु करत व्योम-बिहार ।।
- वही, उत्तरकांड, पद १८, पृ० ४१३.
४. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४११.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७०४, ७०८, पृ० ५०७-५०८.
६. देव जगावत जसोदा रानी बहु उपहार पूजा के करिकै ।
इच्छु दण्ड मंडप पोहपन के चौक चहुं दिसि दीवा धरिकै ।।
- परमानन्दसागर, पद ३०४, पृ० १०१.
७. गोस्वामी हरिरायजी का पद साहित्य, पद ३८१, पृ० १६४.

भी किया है ।[१] इस अवसर पर अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र बजाये जाते हैं ।[२]

(४) लौकिक-त्योहार

रक्षा-बन्धन

यह त्योहार मुख्य रूप से ब्राह्मणों का है । पुरोहित लोगों के द्वारा यह संपन्न होता है । प्राचीन काल में राजा लोग जब युद्ध के लिए जाते थे तब उनके कल्याणार्थ उनकी कलाई में रक्षासूत्र बांधे जाते थे । उस समय से यह उत्सव चलता आरहा है । मध्ययुगीन कवियों ने रक्षा-बन्धन के उत्सव का उल्लेख किया है । परमानन्ददास के अनुसार यह उत्सव समाज में `सलूनों` के नाम से प्रसिद्ध रहा है ।[३] कुम्भनदास और गोविन्दस्वामी ने इसे `रच्छा` कहा है ।[४] सूरदास ने ब्राह्मणों द्वारा कृष्ण की कलाई में राखी बांधने पर दक्षिणा देने की ओर संकेत किया है ।[५] कृष्ण के रक्षा-बन्धन के समय नन्द ने गर्ग मुनि को बुलाया और उनसे कृष्ण के मस्तक पर तिलक लगाने को कहा ।[६] परमानन्ददास ने एक स्थान पर माता यशोदा द्वारा यह कृत्य संपन्न होना, गोपियों के द्वारा मांगलिक गीत आलाप करना और माता का चौक पूरना आदि का उल्लेख किया है ।[७] कृष्णदास ने माता यशोदा द्वारा कृष्ण का रक्षा-बन्धन करना और साथ ही साथ ब्राह्मणों को दान देने का चित्रण किया है ।[८]

---

१. मीरा-माधुरी, पद १६७, पृ० ५७.
२. ताल पखावज भेरि संख धुनि गावत निसि मिलि आगरन करिके ।
- परमानन्ददास, पद ३०४, पृ० १०१.
३. याही भांति सलूनों तुम कों गिरिधर नित नित आवौ । -वही, पद७६८, पृ०
४. कुम्भनदास, पद १२७; गोविन्दस्वामी, पद २२०.
५. सूर-निर्णय, पृ० २५०.
६. राखी बंधन नंद कराई ।
गर्गादिक सब रिसिन बुलाये भालहिं तिलक बनाई ।।
- परमानन्दसागर, पद ७९६, पृ० २७७.
७. (क) परमानन्दसागर, पद ७९७, पृ० २७७;(ख) वही पद ६७९, पृ० २७८.
८. कृष्णदास, पद १०७५.

गोविन्दस्वामी के एक पद में यद्यपि माता द्वारा यह कृत्य संपन्न होता है, तो भी ब्राह्मण लोग बधाई देते हैं।[1] नन्ददास के अनुसार कृष्ण का रक्षा-बन्धन गर्ग द्वारा होता है और नन्द दक्षिणा देते हैं।[2] रत्नखचित[3] एवं रत्नजटित[4] राखियों का उल्लेख परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने किया है। नन्ददास ने हीरे, रत्न, माणिक्य एवं मोतियों से निर्मित राखी का उल्लेख किया है।[5] परमानन्ददास ने अपने आराध्य को विविध प्रकार के आभूषणों से सजाकर उनके राखी-बंधन कर्म करने की ओर संकेत किया है।[6] ताल, किन्नरी, ढोल, दमामा, भेरी, मृदंग आदि वाद्ययंत्रों की ध्वनि से वह दिन मुखरित रहता है।[7] इस अवसर पर अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाये जाते हैं।[8]

---

१. गोविन्दस्वामी, पद २२१.

२. राखी बांधत गरग स्याम-कर ।

+ + +

दच्छिना देत नंद पा लागत आसिस देत गरग सब द्विज वर ।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद १४२, पृ० ३२१.

३. रतन खचित राखी बांधी कर पुन पुन लेत बलैया ।
- परमानन्दसागर, पद ७६५, पृ० २७७.

४. रत्नजटित सुभग बनी अति मोहन के मन मानी ।
- कुम्भनदास, पद १२६.

५. हीरा रतनन बिच बिच मानिक पुनि-पुनि मुक्तन भर ।।
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद १४२, पृ० ३२१.

६. बहु सिंगार सजे आभूषन गिरिधर हलधर भैया ।।
- परमानन्दसागर, पद ७६५, पृ० २७७.

७. ताल किन्नरी ढोल दमामा भेरि मृदंग बजावौ ।
- वही, पद ७६८, पृ० २७८.

८. (क) सकल भोग आगे धर राखे तनक जु लेहु कन्हैया ।।
- वही, पद ७६५, पृ० २७७.

(ख) मधु मेवा पकवान मिठाई आरोगो प्रभु धैया ।।
- वही, पद ७६७, पृ० २७७.

दशहरा (आश्विन शु.प. दशमी)

यह त्योहार लोक-जीवन के अत्यंत निकट न होने के कारण संतकाव्यों में इसका विशेष रूप से उल्लेख नहीं हुआ है । मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-काव्यों में इस उत्सव का सविस्तार वर्णन यथातथ्य रूप में मिलता है । यह क्षत्रियों का प्रमुख उत्सव है । आज के दिन रावणत्व पर रामत्व की विजय का उल्लास हजारों नर-नारियों के कल-कंठ से निसृत होकर सहज समुज्ज्वलित औसत भावनाओं के रूप में चारों ओर फैल जाता है । भारत में अधिकांश स्थानों पर दशमी के दिन रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद की मूर्तियां बनाकर उनमें आग लगायी जाती है । इस अवसर पर सर्वत्र रामलीला भी होती है ।[१] उस समय के कवियों ने दशहरा शब्द के लिए `देसरा`[२], `दशमी`[३], `विजयदशमी`[४] तथा `विजय सुदिन`[५] आदि शब्दों का प्रयोग किया है । विजय सुदिन जानकर यशोदा कृष्ण को स्नान कराकर अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण पहनाती है[६] और `जवार` आदि धारण कराती है ।[७] कृष्ण के उस दिन के वेष-विधान का वर्णन परमानन्ददास ने विस्तार से किया है ।[८] सूरदास के अनुसार उस दिन

---

१. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति —
 — हरगुलाल, पृ० २५२.

२. आज देसरा परम मंगल दिन । - गोविन्दस्वामी, पद ५०.

३. सरद ऋतु सुभ जानि अनुपम दसमी को दिन आयो री ।
 - परमानन्दसागर, पद २०७, पृ० ६६.

४. धनि दिन आजु विजयदसमी को । - कुम्भनदास, पद २५.

५. विजय सुदिन आनन्द अधिक छवि मोहन बसन विराजत ।
 - परमानन्दसागर, पद २०५, पृ० ६५.

६. सुदिन सुमंगल जानि जसोदालाल को पहिरावत बागे ।
अंग अंग भूषन ललित मनोहर लटकनि बारे पागे ।।
 - वही, पद २०६, पृ० ६६

७. धरत जवारा श्री गोविंद । - वही, पद २०८, पृ० ६६.

८. विजय सुदिन आनन्द अधिक छवि मोहन बसन विराजत ।
सीस पाग रही बाम भाग पर लटकि जवारे छाजत ।।
तिलक तरल है रैख भाल पर कुंडल लसत न द्वै कानन ।
+ + + + +
कटि पट कुछ घंटिका मनिमय सोहत मोहत मन मोहन ।
`परमानन्द` निरख नंदरानी लेत बलैया बोऊ कर ।। - वही, पद २०५,
पृ० ६५-६६.

रामजी ने दुष्ट राक्षसराज रावण का निग्रह कर अनुज विभीषण को राज्य दिया था ।[१] कुम्भनदास ने उस दिन शमी वृक्ष की पूजा का महत्व सिद्ध किया ।[२] इस अवसर पर मंगल गीत होते हैं ।[३] यशोदा आरती करती है और मोतियों का हार न्योछावर करती है ।[४] इतना ही नहीं अनेक प्रकार के पकवान भी बनाये जाते हैं ।[५]

धनतेरस (कार्तिक कृ.प. त्रयोदशी)

यह त्योहार दीपावली के पहले आता है और इसका आगमन दीपावली के प्रारंभ को सूचित करता है । इस उत्सव के पश्चात् लोग बहुविधि सजावट करके दीपावली की प्रतीक्षा करते हैं । धनतेरस के अवसर पर नये-नये बर्तन खरीदे जाते हैं । लोग इसे मांगलिक कृत्य मानते हैं । नन्दरानी के `धन-धोने` का परिचय देकर ब्रज में इस उत्सव के मनाने की ओर संकेत किया गया है ।[६] कुम्भनदास के अनुसार नंदरानी नवसत शृंगार करती है ।[७] परमानन्ददास ने गर्ग मुनि के सान्निध्य में नन्द महर के द्वार पर धार्मिक विधि के अनुसार धनतेरस उत्सव मनाने का उल्लेख किया है ।[८]

---

१. सूरसागर, नवम स्कंध, पद १५६, पृ० २४६.

२. कुम्भनदास प्रभु विट्ठलेस पूजत वृच्छ समी को । - कुम्भनदास, पद २५.

३. (क) परमानन्दसागर पद २०७, पृ० ६६; चतुभु
   (ख) चतुर्भुजदास, पद २८.
   (ग) गोविन्दस्वामी, पद ५१.

४. कनक थार कर लिए आरती ब्रज भामिनि मिलि मंगल गायौ ।
   - चतुर्भुजदास, पद २८.

५. कहत जसोदा सुनो मेरे लाला सोई सोई भावे तिहारे मन ।
   सोई सोई भोजन करी दोउन भैया गावत गुन तहं `परमानन्द` ।।
   - परमानन्दसागर, पद २०८, पृ० ६६.

६. (क) धनतेरस रानी धन धोवति । - वही, पद २५१, पृ० ७८.
   (ख) आज माई धन धोवति नन्दरानी । - कुम्भनदास, पद ४८.

७. नव सत साजि सिंगार अनुपम आपु करति मन जानी । - वही, पद ४८.

८. गर्ग बुलाइ वेद विधि पूजत ठौर ठौर घृत दीप संजोवति ।।
   - परमानन्दसागर, पद २५१, पृ० ७८.

रूपचतुर्दशी (कार्तिक कृ.प. चतुर्दशी)

यह ब्रज का एक प्रमुख उत्सव है। दीपावली के पूर्व इसके स्वागत होने पर परमानन्द ने इसे छोटी दीपावली कहा है। इस दिन कृष्ण को दूध में स्नान कराने और उसको साज-शृंगार कराने का वर्णन उन्होंने किया है।[१] इस समय कृष्ण का रूप-सौन्दर्य देखने लायक है।[२] इस प्रकार इस उत्सव को ब्रज में काफी प्रसिद्धि हुई है।

दीपावली (कार्तिक कृ.प. अमावस्या)

दीपावली या दीपमालिका एक सामूहिक त्यौहार है। इस उत्सव के दिन प्रत्येक घर के चारों ओर दीप सजाये जाते हैं। इस दिन भारतीय-जन स्नानादि के उपरांत सुसज्जित होकर मंदिर में जाते हैं, दान दक्षिणा देते हैं, आनन्दोल्लासपूर्वक एक-दूसरे से मिलते हैं और रात में हर स्थान पर दीप जलाते हैं। दीपावली के दिन दीप जलाने के सम्बन्ध में एक पौराणिक विश्वास भी प्रचलित है। यमराज को प्रसन्न करने और अकाल मृत्यु से बचने के लिए उस दिन संध्या समय दीप जलाने या दीपावली देने का विधान किया गया है। सूफी संतों में महाकवि जायसी ने नागमती-वियोग-खंड में बारह मासे का वर्णन किया है और उसमें उन्होंने कार्तिक मास की प्रकृति वर्णन करते हुए दीपावली का भी उल्लेख किया है।[३] मध्ययुग के कृष्ण-भक्त कवियों ने दीपावली उत्सव

---

१. दूध सौं सनान करो मन मोहन छोटी दिवारी काल मनाये।
   करो सिंगार लाल तन बागो कुल्हे जरकसी सीस धराये।।
   - परमानन्दसागर, पद २५१, पृ० ७१.

२. वही, पद २५२, पृ० ७१.

३. अबहूं निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा।
   सखि झूमक गावहिं अंग मोरी। हौं झुरों बिछुरी जेहि जोरी।
   जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहं विरह सवति दुख दूजा।
   सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
   हौं का खेलौं कंत बिनु तेहिं रही छार सिर मेलि।।
   - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४२१-४२२.

का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है । इसका लोक प्रचलित नाम `दिवारी` या `दिवाली` है ।[१] ब्रजवासी इस अवसर पर दिव्य दीपमालिका लेकर ब्रज के मुखिया के यहां धूम-धाम से उत्सव मनाने के लिए जाते हैं । चौक पूरे जाते हैं और पुष्प, अक्षत, रोली आदि चढ़ा कर पूजा की जाती है । ब्रज-बालिकाएं समस्त शृंगार करके हाथ में तालिका लेकर चलती हैं । वे नन्द द्वार पर पहुंचती हैं ।[२] सूरदासजी ने दीपावली के दिन प्रशोभित दीपकों की पंक्ति का वर्णन यों किया है –

आजु दीपति दिव्य दीपमालिका ।
मनहु कोटि रवि चंद्र कोटि छबि मिटि जो गई निशि कालिका ।।
गोकुल सकल विचित्र मणि मंडित सोभित झाक झक झालिका ।
गज-मोतिन के चौक पुराय बिच बिच लाल प्रवालिका ।।[३]

माता यशोदा पुत्र कृष्ण को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करती है ।[४] इसके बाद पिता की आज्ञानुसार पुत्र घर के दीपक जलाता है ।[५] अनेक दीपों के विपुल प्रकाश से घर का अन्धकार नष्ट हो जाता है ।[६] इस समय कृष्ण के साथ ब्रज की युवतियां मंगल गान गाती हुई चारों ओर संतोषप्रद वातावरण

---

१. आज दिवारी मंगल चार । — परमानन्दसागर, पद २५३, पृ० ८०.

२. नाचत हंसत गवाय हंसावत पटकि पटकि करतालिका ।
नंद-द्वार आनंद बढ्यौ अति देखियत परम रसालिका ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८०१, पृ० ५४२.

३. वही, वही, पद ८०१, पृ० ५४२.

४. परमानन्दसागर, पद २६१, पृ० ८२.

५. कहत जसोदा सुनो मन मोहन अपने तात की आग्या लेहु ।
चारौं दीपक बहुत लाड़िले करौं उजियारो आपुन गेह ।।
- वही, पद २६२, पृ० ८२.

६. दीपदान दीपावलि देखौं हीरा दीप खंभ नग राजत ।
जगमग जोति रही चहुं दिसि तें निविड तिमिर अति भाजत ।।
- वही, पद २६४, पृ० ८३.

बनाती हैं।[१] कुम्भनदास के अनुसार उस अवसर पर गोकुल का दीपक आकाश मंडल के नक्षत्र के समान प्रशोभित है।[२] जगमगाती हुई इन दीपमालाओं में प्रयुक्त होने वाले घी को कपूर आदि सुगन्ध से सुवासित किया जाता है।[३]

सूरदास ने एक पद में कृष्ण-बलराम के साथ हटरी[४] में बैठने का उल्लेख किया है। इसमें गोपियों का नन्द महर के यहां एकत्र होने का, उनके द्वारा अनेक पकवान कृष्ण को लेकर आना और कृष्ण को आशीर्वाद देने का चित्रण किया है।[५] चतुर्भुजदास, नन्ददास एवं गोविन्दस्वामी के अनुसार उनके आराध्य देव `हटरी` में बैठते हैं, वे दीपमालिका में नहीं बैठते।[६] परमानन्ददास ने अपने आराध्य देव कृष्ण का हटरी या हटरिया में विविध प्रकार के पकवान बेचने बैठने और ब्रजबालाओं का हंस हंस कर उसे बेचने के लिए आने का चित्रण किया है।[७] दीपमालिका के अवसर पर संकर्षन के साथ कृष्ण का जुआ खेलने का उल्लेख परमानन्ददास ने किया है।[८] गोस्वामी तुलसीदासजी ने `गीतावली` में दीपमालिका का उल्लेख किया है। रघुनाथजी की राजधानी में दीपमालिका का उत्सव मनाया जा रहा है। स्फटिकमणि की भीतों के ऊपर सुवर्णमय

---

१. आज दिवारी मंगल चार।
   ब्रज जुवति जन मंगल गावत चौक पुरावत नंद कुमार।
   - परमानन्दसागर, पद २५३, पृ० ८०.
२. कुम्भनदास, पद ५१.
३. विविध सुगन्ध कपूर आदि मिलि घृत परिपूरनताई। - वही, पद ५१.
४. दीपावली के अवसर पर मिट्टी के खिलौने के रूप में एक छोटा-सा घर बनाया जाता है, जिसमें दीपक रखने के लिए जगह-जगह पर स्थान बने होते हैं। इसे `हटरी` कहा जाता है।
   - मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति : हरगुलाल, पृ० २६८.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८१०, पृ० ५४२.
६. चतुर्भुजदास पद ४२; गोविन्दस्वामी, पद ६६; नन्ददास, पद १४५, पृ० ३२१.
७. परमानन्दसागर, पद २६३-२६४, पृ० ८३.
८. खेलो घृत सहित संकर्षन मोहन मूरति नंदकुमार।।
   - परमानन्दसागर, पद २६१, पृ० ८२.

जिन दीपकों की पंक्ति है वे अत्यंत शोभायमान हैं। घर-घर में मंगलाचार हो रहा है। उच्च-नीच सभी एक समान आनंदित हैं।[1]

उपर्युक्त विचारों से व्यक्त होता है कि दीपावली जन-जीवन का एक मुख्य त्योहार है और समाज हर्षोल्लास के साथ दीपमालिका का उत्सव मनाता है।

गोवर्धन पूजा (कार्तिक शु. प. प्रतिपदा)

यह उत्सव दीपावली के दूसरे दिन संपन्न होता है। इस उत्सव का वर्णन पांचवें अध्याय में विस्तार के साथ किया है।

भैया दूज (कार्तिक, शु. प. द्वितीया)

इस उत्सव को 'यम द्वितीया' भी कहते हैं। एक प्रचलित पौराणिक कथा के अनुसार यमराज की बहिन यमुनाजी ने दूज के दिन यमराज के टीका काढ़ा, यमराज ने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि जो बहिन साल भर बाद द्वितीया के दिन अपने भाई के टीका काढ़ेगी उसे यम-यातना नहीं भोगनी पड़ेगी और लोगों में यह विश्वास भी साथ ही साथ चल पड़ा कि जो बहिन इस द्वितीया को भाई के टीका नहीं काढ़ेगी उसका माथा पत्थर का हो जायेगा। यही कारण है कि इस दिन चाहे और कोई लोकाचार हो या न हो टीका काढ़ना आवश्यक है।[2] मध्ययुगीन कवियों में केवल गोविन्दस्वामी ने भैयादूज का वर्णन किया है। इस अवसर पर माता यशोदा बहिन सुभद्रा को आमंत्रित

---

१. साँझ समय रघुबीर-पुरी की सोभा आजु बनी।
ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवधधनी।।
फटिक-भीत-सिखरन-पर राजति कंचन-दीप-अनी।
+ + + +
घर घर मंगलाचार एकरस हरषित रंक-गनी।
तुलसीदास कल कीरति गावहिं, जो कलिमल-समनी।।
- गीतावली, उत्तरकांड, पद २०, पृ० ४२०.

२. ब्रज-भारती पत्रिका (सं० २००६), पृ० ५४.

करती है । दोनों भाइयों को नहलाने के बाद सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाती है । सुभद्रा तिलक करती है, आरती करती है । इस अवसर पर खिचड़ी, दही, भात आदि बनाकर उसे एक थाल में रखकर उनके सामने रखती है । इसके बाद अंत में उन्हें पान का बीड़ा दिया जाता है । दोनों भाई सुभद्रा को प्रणाम करते हैं और वह उन्हें आशीर्वाद देती है ।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह त्योहार भाई-बहिन के स्नेह का सूचक है ।

होली (फाल्गुन शु.प. पूर्णिमा)

मध्ययुगीन भक्ति-काव्यों में होली का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है । इसे `फाग` या `फगुआ` भी कहते हैं । सूरदास के अनुसार होली का उत्सव वसंत ऋतु की प्रथम पंचमी से ही आरंभ हो जाता है । फाल्गुनी पूर्णिमा की रात्रि में एक वर्ष के पुराने संवत् में आग लगती है, वह जलकर समाप्त होता है और दूसरे दिन होली का त्योहार लगभग संपूर्ण भारतवर्ष में रंग-रंग के साथ मनाया जाता है । कहा जाता है कि होली के दिन ही हिरण्यकशिपु की बहिन होलिका ने सत्यव्रती प्रह्लाद को अपनी गोद में लेकर उसे जला डालने का असफल प्रयास किया था ।[२] एक अन्य उपाख्यान के अनुसार होली के दिन ही शिव ने कामदेव को भस्म किया था ।[३] होलिका दहन करने, इस अवसर पर रंग खेलने और अश्लील गीत गाने की रीतियाँ एकदम लौकिक हैं ।[४]

मध्ययुगीन काव्यों में होली का वर्णन कुछ विस्तार के साथ मिलता है । कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने होलिकोत्सव के वर्णन में अपनी अनुपम काव्यात्मक प्रतिभा दिखायी है । पद्मावतकार ने होली का वर्णन पौराणिक कथा के आधार पर नहीं किया है । उन्होंने इसमें कुछ

---

१. गोविन्दस्वामी, पद ८०.

२. हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक-तत्व डा० रवीन्द्र भ्रमर, पृ० ३२२.

३. स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आफ् फोकलोर, न्यूयोर्क, १९४९, पृ० ५०१.

४. वही, पृ० ५०१.

सामान्य लोक-रीति और लोक-संस्कृति की चर्चा की है । 'नागमती-वियोग-खंड' में कवि ने फागुन की हवा द्वारा झकझोरने एवं शीत की हवा बहने की ओर संकेत किया है ।[१] सूरदास ने पन्द्रह दिन तक होली खेले जाने का उल्लेख किया है ।[२] 'सूर सारावली' में नित्य प्रति की क्रियाओं की कोटि में होली को रखा है ।[३] सूरदास के समान गोविन्दस्वामी ने भी होली का उत्सव पन्द्रह दिन तक माना है ।[४]

होली का उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है । गोपियां अच्छी तरह वेष-विधान करके नन्द-द्वार पर आ जाती हैं ।[५] उसी प्रकार नृपति शिरोमणि जानकीनाथ राम के दरबार में भीड़ लगी देखकर उन्होंने हंसते हुए कहा कि सब नर-नारी मिल जुलकर प्रसन्नतापूर्वक होली खेलो । इससे सब फाग खेलने चले गये ।[६] स्त्रियां सुन्दर और मंहगे वस्त्र पहनकर जाती हैं ।[७] ब्रजकुमारियें नख से शिख तक शृंगार करती हुई जाती हैं ।[८] चतुर्भुजदास ने भी ब्रज-बालिकाओं के वेष-विधान का उल्लेख किया है ।[९] नन्ददास ने विविध प्रकार के वस्त्राभूषण पहनकर हाथ में कनक पिचकारियां लेकर मार्ग में केसर तथा चूका चन्दन उड़ाती हुई कृष्ण के पास जाने वाली स्त्रियों का चित्रण किया है । इसके बाद

---

१. फागुन पवन झकोरैं बहा । चौगुन सीउ जाइ किमि सहा ।
- पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४२६.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६१५, पृ० ११६६-११६७.

३. सूरसारावली, छन्द १०५३-१०६८.

४. गोविन्दस्वामी, पद ११८.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८७३, पृ० ११४२.

६. समय बिचारि कृपानिधि, देखि द्वार अति भीर ।
खेलहु मुदित नारि-नर, बिहंसि कहेउ रघुबीर ।।
नार-नारि-नर हरषित सब चले खेलन फागु ।
- गीतावली, उत्तरकांड, पद २१, पृ० ४२१.

७. सारी पहिरि सुरंग, कसि कंचुकि, काजर दै दै नैन ।
बनि बनि निकसि निकसि भई ठाढ़ी, सुनि माधौ के बैन ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८६१, पृ० ११३५.

८. सकल सिंगार कियौ ब्रज बनिता, नख सिख लौं भल ठानि ।
- वही, पद २८६२, पृ० ११३६.

९. चतुर्भुजदास, पद ७८.

कृष्ण सखाओं सहित होली खेलते हैं। पिचकारी में जो रंग भरकर रखा है वह सब ब्रजबालाओं के ऊपर बिखेर देते हैं।[1] इस अवसर पर वे एक दूसरे को गालियां देते हैं और कोई पीछे से आकर किसी की आंख बन्द करती है। इतने में कृष्ण पिचकारी में से रंग उस पर छोड़ देते हैं।[2] कृष्ण की तरह राधा भी सखियों सहित पिचकारी लेकर होली खेलने जाती है और प्रिय की ओर कुटिल कटाक्ष छोड़ती हुई रंग छिड़कती है।[3] गोस्वामीजी ने चित्रित किया है कि वसन्ती साड़ियां पहनकर अबीर घोलकर कुंकुमों में भरती हुई ऋतु के अनुसार स्त्रियां पवित्र और सुन्दर गालियां देती हैं।[4] अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास ने फाग खेलने के लिए सखियों सहित आयी हुई राधा के वेष-विधान का वर्णन किया है।[5] सूरदास ने नीलाम्बर और लाल कंचुकी धारण कर सखियों सहित जाने वाली राधा का चित्र उतारा है।[6] इस समय कृष्ण के सिर से राधा पाग उतार कर उनकी पटिया पाटती है, मोतियों से मांग भरती है, केश संवारती है, आंखों में काजल लगाती है, भाल पर मृगमद की आड़ देती है। वह सीस फूल, चन्द्रावली, बेसरी, बेहर, नूपुर, चुरा, पायल आदि आभूषण धारण करती है। ढोल, डफ, मृदंग, गोमुख, किन्नरी, झांझ, उपंग आदि बाजे बजते हैं। इनके बीच नृत्य और गाना भी होता है। एक सखी अरगजा ढारती है, एक पलकों पर रोली लगाती है, एक गाली देती है, एक गुलाल की मुट्ठी मारती है, एक स्नेह के साथ आंचल से उनका मुख पोंछती है।[7] सूर ने

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पद १७३, १७५, पृ० ३२६-३३०.

२. गोपी ग्वाल मिले इकसारी। बचत नहीं बिनु दीन्हे गारी।।
आनि अचानक अंखियां मीचै। बंदन बंदन ऊपर सींचै।।
+ + + +
हाथनि लिये कनक पिचकारी। तकि तकि छिरकत मोहन प्यारी।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८१७, पृ० ११५३.

३. नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३०.

४. गीतावली, उत्तर कांड, पद २१, पृ० ४२२.

५. चतुर्भुजदास, पद ८०.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८७३, पृ० ११४२.

७. नन्ददास ग्रंथावली, पद १८२, पृ० ३३३-३३४.

गोपियों का कृष्ण के मांग निकाल कर वेणी गूंथने और भाल पर बिंदी लगाने का चित्र उतारा है। गोपियां इसके बाद बधू-बधू कहकर गाना गाती हैं।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामजी का सखाओं और छोटे भाइयों सहित फाग खेलने की ओर संकेत किया है। उस समय नगरवासी करताल, मृदंग, झांझ, डफ, ढोल, दुंदुभी बजाते हैं। सुन्दर शहनाइयों पर समयानुकूल गाना होता है। वीणा और बांसुरी की सुमधुर ध्वनि सुनकर गंधर्वगण अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं।[२] जायसी ने उस समय चंदन चीर पहनने और मांग में सेंदुर भरने की ओर संकेत किया है।[३] फगुआ आने पर चांचर के गीत गाये जाते हैं। नंददास ने इस ओर संकेत किया है।[४] जायसी ने फाग होने पर चांचर एकत्र होने का उल्लेख किया है।[५] तुलसीदासजी ने सीताजी के साथ रंग-बिरंगी साड़ी पहनकर अत्यंत सरस एवं झूमक राग गाने वाली सखियों का चित्र उपस्थित किया है।[६] जायसी ने फाग के समय मनोरा झूमक गान होने का उल्लेख किया है।[७]

---

१. (ब्रज जुवती मिलि) नागरि, राधा मैं मोहन लै आई।
   लोचन आंजि, भाल बेंदी दै, पुनि पुनि पाइ पराई।।
   बेनी गूंथि, मांग सिर पारी, बधू बधू कहि गाई।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८८०, पृ० ११४५.

२. गीतावली, उत्तरकांड, पद २१, पृ० ४२२.

३. चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहंसि भरि मंगा।
   - पद्मावत श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४०३.

४. चांचर देति परसपर छबि सों, कहि न परत तिहि काला।
   ....
   बाल बलन में मनमय-नूपुर, किंकिनि कलरव राजें; - नन्ददास ग्रंथावली, पद १८६, पृ० ३३६.

५. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४०३.

६. उत जुवति-जूथ-जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग।।
   लिये छरी बेंत सोंधे बिभाग। चांचरि झूमक कहैं सरस राग।।
   - गीतावली, उत्तरकांड, पद २२, पृ० ४२६.

७. जहां मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेइ सब कोई।
   फागु खेलि पुनि दाहब होली। सेंतब खेह उड़ाउब झोली।
   - पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २११

सूरदास ने 'सूरसागर' में ग्वाल-बालों के होली खेलने का वर्णन किया है। वे परस्पर मारते, गावते, फकढते, हर्षित होते, घात परखते, नेत्रों में गुलाल डालते, रंग ढरकाते हैं। वे कभी एकत्र होकर, कभी अलग-अलग होकर फिरते हैं और गाते, नाचते और वाद्ययंत्र बजाते हैं।[१] ये सब प्रतिक्रियायें उनके उत्साह और हर्ष को व्यक्त करने वाली हैं। मोर-मुकुट वाले मुरलीधर ने ब्रज के लोक-जीवन में रंग भरी पिचकारी लेकर ऐसी भावना उत्पन्न कर दी जिसमें आधुनिकता का कोई प्रभाव नहीं है। कृष्ण ने ब्रज की गलियों में कुंकुम-कस्तूरी आदि मिलाकर जितनी होली खेली है उसके प्रभाव से गलियों का कीच तक सुगंधित हो गया है।[२]

होलिकोत्सव मनाते समय लोग आपस में भेद-भाव नहीं रखते और हर प्रकार की शत्रुता नष्ट हो जाती है। चतुर्भुजदास के अनुसार होली खेलते समय राजा को भी कोई नहीं गिनता।[३] गोपियां गुरुजनों को भुलाकर कृष्ण से मेल-मिलाप करती हैं।[४] वे कुल की परिपाटी, लोक-वेद की मर्यादा, कुल-धर्म की मर्यादा सब को छोड़ देती हैं।[५] परमानन्ददास ने इस अवसर पर गोपियों के लाज त्यागने एवं तन न संभालने की बात कही है।[६] दूसरे एक पद में गोपियों के कुल-धर्म और मर्यादा तोड़ने का उल्लेख हुआ है।[७] अब ग्वाल-बाल

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८९२, पृ० ११५८-११५९.

२. कनक कलस कुमकुम भरि लीन्हौ, कस्तूरी तामें घसि घोरी।
   खेल परस्पर कीच मची घर, अधिक सुगंध भई ब्रज खोरी॥
   — वही, वही, पद २९०६, पृ० ११६३.

३. चतुर्भुजदास, पद ७५.

४. इक अवलंबति, इक अवलोकति। चुंबन दान देति इक दंपति॥
   मगन भई आप वपु न सम्हारतिं। लालन भुज अर्पी उर धारतिं॥
   गुरुजन सरें सबें मिलि देतें। तिनकौं तरुनी तृन सम लेतें॥
   — सूरसागर, दशम स्कंध, पद २९०२, पृ० ११५७.

५. उपरा उपरि छिरकि रस सर भरि, कुल की परिमति फोरी॥
   — वही, वही, पद २८५९, पृ० ११३५.
   तथा
   लोक वेद कुल धर्म केतकौ, नैकु न मानतिं कानि॥ — वही, वही, पद २८६२, पृ० ११३६.

६. परमानन्दसागर, पद ३३२, पृ० १११.

७. वही, पद ३३३, पृ० १११.

होली खेलते हैं तब गोपियां कृष्ण को गाली देती हैं - नन्दजी की पत्नी यशोदा गुणों की खान हैं। नन्दजी भी सर्वगुण संपन्न हैं। तुम्हारे पिता नन्द नहीं हैं। अपने कुलटापन से तुम्हारी माता ने वृषभानु को भी अपने वश में कर लिया है।[१] होली के समय रसिक-व्यंजक और व्यंग्यपूर्ण गालियां गायी जाती हैं। कृष्ण को गोपियां कारो, लटुआ, मधुकर, मटवा, खंजन आदि नाम देकर गाली देती हैं।[२]

होली के उत्सव के समय अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र बजाये जाते हैं। सूरदास ने झांझ, झिल्ली, निर्झर, निसान, डफ, भेरि, ताल, मृदंग, बीन, बांसुरी, रबाब, रुंज, महुवरि, उपंग, झालरि, आउझ आदि वाद्ययंत्र होली के समय बजाने का उल्लेख किया है।[३] कुम्भनदास ने इसके अतिरिक्त अघोटी, बीना, शंख आदि का प्रतिपादन किया है।[४] नन्ददास, चतुर्भुजदास, तथा गोविन्दस्वामी ने मुरज, ढोल, टनक, सहनाई, शृंग, बेन्न, गिरगिरी, झिमझिम, बीणा, अमृत कुंडली, दमामा और धौंसा आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया है।[५] गोस्वामी तुलसीदासजी ने ताल, मृदंग, झांझ, डफ, करताल, बांसुरी आदि वाद्ययंत्रों का वर्णन किया है।[६] सूरदास ने होली खेलने के बाद गोप और गोपियों के यमुना-स्नान की बात कही है।[७] तुलसीदास ने फाग खेलने के बाद सरयू-स्नान करने का उल्लेख किया है।[८]

---

१. उत होरी खेलत ग्वार, इत गारी गावत ये,
   नंद नाहिं जाये तुम, महरि गुननि भारी।
   कुलटी उनतें को है, नंदादिक मन मोहे,
   बाबा वृषभानु की वे, सूर सुनहु प्यारी।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८९०, पृ० ११५६.

२. परमानन्दसागर, पद ३३५, पृ० ११२.

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८५३, २८५४, २८५६, २८६०, २८६६, २८६७, २८७२.

४. कुम्भनदास, पद ७२.

५. नन्ददास, पद १८८, पृ० ३४०; चतुर्भुजदास, पद ७४, ८०, ८१; गोविन्दस्वामी पद १०८, ११८.

६. गीतावली, उत्तरकांड, पद २१, २२, पृ० ४२२, ४२६.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २९०२, पृ० ११६०.

८. गीतावली, उत्तरकांड, पद २१, पृ० ४२२.

इस प्रकार मध्ययुगीन कवियों ने होलिकोत्सव का जो सरस वर्णन किया है वह समस्त गतिविधियों को लेकर एक मास में समाप्त होने वाला है । उस समय के कवियों ने अपनी कला-निपुणता के अनुसार इसका वर्णन किया है ।

(५) अन्य त्यौहार

दधिकांधा उत्सव

ब्रज के मंदिरों में यह उत्सव आज भी बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है । श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन यह उत्सव आता है । सूर के समय दधिकांधा उत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाया जाता था । दहि और हल्दी को मिलाकर आने वाले व्यक्तियों पर छिड़का जाता था । शुभ शकुन के लिए स्त्रियां कलशों में विशिष्ट वस्तुओं को अपने सिर पर रखकर गीत गाती हुई आती थीं । उसी दिन स्त्रियां ब्राह्मणों को गो दान करती थीं । आज भी ब्रज में यह रीति प्रचलित है । यह उत्सव `दधिकांधा` नाम से प्रसिद्ध है ।[१]

नाग पंचमी (श्रावण शु.प. पंचमी)

ब्रज का एक मुख्य त्यौहार `नाग पंचमी` है । इस उत्सव के अवसर पर नाग का चित्र हल्दी या काजल से खींचा जाता है । घरों में नाग-पूजा होती है और सेवई एवं चावल बनाते हैं । सूरदास ने नन्द-द्वार पर बनाये काजल के नाग का उल्लेख किया है । इस चित्र को देखकर कृष्ण डरते हैं ।[२] महाकवि विद्यापति ने भी इसका चित्रण किया है, जिसमें दीवार पर भुजंग-पति का चित्रण है ।[३]

कार्तिक स्नान :

प्राचीन काल से लेकर आज तक लोगों में असंख्य जलपातों एवं विशाल

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३१, पृ० २००.
२. लिख्यौ काजर नाग द्वारें, स्याम देखि डराइ ।
- वही, वही, पद ६६८, पृ० ४३३.
३. विद्यापति पदावली, पृ० २१३.

सरिताओं के प्रति सम्मान का भाव रहा है । इसी कारण से हमें इतिहास के आधार पर नदियों और किनारों पर के अनेक सभ्यताओं का भग्नावशेष प्राप्त होता है । इसमें अनेक तीर्थोंका अस्तित्व भी मालूम हुआ है । व्रज प्रदेश में रहने वाली जनता यमुना एवं भागीरथी को प्राचीन काल से ही बहुत महत्व देती आयी है । हर कार्य को प्रारंभ करते समय सफलता चाहने के लिए वे इन नदियों का जय-जयकार करते हैं । यहां का किसान अपने अवकाश के दिन इन नदियों के किनारों पर लगे मेलों को देखने में काटता है । इस अवसर पर लोक-जीवन गीतों के अथाह सागर में डूबने लगता है । गंगा के तट पर अनेकों टोलियों के रूप में अगणित गीतों की सरितायें मानों तीर्थ-स्नान के समुद्र में सभी दिशाओं से उमड़ा पड़ता है । इन गीतों में गंगा-माता से हर प्रकार के कल्याण की कामना की जाती है । इस समय लोग यज्ञ, जप, तप एवं दानादि भी करते हैं ।[१] 'मीरा-माधुरी' के अनुसार कार्तिक स्नान एवं दान-पुण्य आठ मास तक होता है ।[२] मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने कुछ उत्सव, जैसे रास, नागलीला, दानलीला एवं दावानल का वर्णन करते समय यमुना के किनारे पर कार्तिक स्नान के संपन्न होने का उल्लेख किया है । परमानन्ददास[३] और नंददास[४] ने अपने काव्यों में गंगा-यमुना के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने सरयू के महत्व का उल्लेख किया है ।[५]

वसंत पंचमी

मध्ययुग में पर्वोत्सव के रूप में वसंतपंचमी नामक त्यौहार मनाया जाता था । वर्तमान समय में यह उत्सव माघ शुक्ल पंचमी को मनाया जाता है ।

---

१. मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति : हरगुलाल, पृ० २८३.

२. आठ मास कार्तिक नहाए, दान पुण्य बहु कीना ।
- मीरा-माधुरी, पद १४२, पृ० ३७.

३. परमानन्दसागर, पद ५७८, पृ० २०१; पद ५८४-५८६, पृ० २०३.

४. हे गंगे, हे हे गोदावरि । हे जमुने, हे भावरि, बावरि ।।
हे मंवरि, हे कुंवरि, सीयरी । हे हे गौरी, कुमरि, पीयरि ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पृ० २४०.

५. खेलि बसंत कियो प्रभु मज्जन सरजुनीर ।
- गीतावली, उत्तरकांड, पद २१, पृ० ४२२.

ब्राह्मण-समाज में इस पर्व का विशेष महत्व है । इस दिन वीणापाणि सरस्वती की पूजा की जाती है । इसे श्रीपंचमी भी कहते हैं ।[१] जायसी ने `पद्मावत` में श्रीपंचमी की चर्चा तब की है, जब हीरामन तोते ने रत्नसेन को पद्मावती से मिलने की युक्ति बतायी —

> माघ मास पाछिल पख लागे । सिरी पंचमी होइहि आगे ।
> उघरिहि महादेव कर बारू । पूजिहि जाइ सकल संसारू ।
> पदुमावति पुनि पूजै आवा । होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा ।[२]

इस पद में जायसी ने श्रीपंचमी का वर्णन वसंत पंचमी के अनुकूल कर दिया है । इस दिन देवाधिदेव महादेव की पूजा होती है । आज भी उत्तर भारत के लोग धूम-धाम से इस देव की पूजा करते हैं ।

जायसी ने `बसंत-खंड` में श्रीपंचमी का उल्लेख किया है । यह वर्णन उन्होंने पद्मावती के अपनी सहेलियों सहित महादेव की पूजा के लिए जाते समय किया है ।[३] इस वर्णन में जायसी ने बसंत पंचमी का पूरा परिचय दिया है । इससे इस अवसर पर `धमारी` गान और चांचरी नृत्य की चर्चा मिलती है । यह गान (धमारी) और नृत्य सामान्यत: होलिकोत्सव के समय प्रयुक्त होता था । इसलिए कवि इसकी जो चर्चा वसंतपंचमी के समय करता है वह उपयुक्त नहीं है । परमानन्ददास[४] और विद्यापति[५] ने वसंतपंचमी को ब्रज में मनाये जाने वाला `मदनमहोत्सव` कहा है और इसकी तिथि की भी चर्चा की है ।

---

१. पद्मावत में लोक-तत्व   डा० रवीन्द्र भ्रमर, पृ० १९१.
२. पद्मावत   व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १८४-१८५.
३. वही, पृ० २०७-२१५.
४. आज मदन महोत्सव राधा ।
    + + +
  तिथि बुधवार पंचमी मंगल रितु कुसुमाकर आई ।
    - परमानन्दसागर, पद ३३१, पृ० ११०.
५. विद्यापति पदावली, पृ० १७४-१७५.

इस प्रकार मध्ययुगीन काव्यों में उत्सवों और त्योहारों का जो वर्णन उपलब्ध होता है वह युगानुकूल, परंपरागत विश्वासों, आस्थाओं, लोकाश्रित भावनाओं का पूर्ण चित्र है ।

वस्त्राभूषण

दैनिक जीवन में वस्त्र और आभूषणों का अपना एक अलग स्थान है । जिस प्रकार वस्त्र पहनने से शरीर की रक्षा के साथ-साथ उसके सौन्दर्य और प्रभाव को बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति शरीर की ओर भी सौन्दर्य बढ़ाने के उद्देश्य से तरह-तरह के आभूषण पहनता है । मध्य युग के काव्य-ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि उस समय वस्त्रों का प्रयोग मुख्य रूप से शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिए ही हुआ करता था । प्रत्येक अवसर पर, अर्थात् उत्सवों और पर्वों तथा विशेष मांगलिक अवसरों पर लोग साज-शृंगार करके तथा सज-धज कर जाते थे ।

वस्त्र-विशेष

अब हम भक्ति-काल में सर्वप्रचलित वस्त्रों के बारे में विचार करेंगे । यहां हमने सुविधा की दृष्टि से मध्ययुगीन काव्यों में वर्णित समस्त वस्त्रों को चार कोटियों में रखा है – बालकों के, बालिकाओं के, पुरुषों के और स्त्रियों के वस्त्र विशेष ।

बालकों के वस्त्र

मध्ययुग के काव्यों के आधार पर तत्कालीन प्रचलित वस्त्रों का निरूपण किया जा सकता है । बालकों के वेष-विधान के लिए प्रत्येक तरह के वस्त्र हो सकते थे । उनके वस्त्र अनेक प्रकार के थे । मध्ययुग के कवियों ने बच्चों के लिए झगा या झगुली, पिछौरी बागा आदि वस्त्र-विशेष माने हैं । सूरदास ने बालकों की टोपी को लाल वर्ण का माना है ।[१] कृष्ण-भक्त कवियों ने

---

१. तन झंगुली, सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुं कर-पाइ ।
– सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८६, पृ० २९१.

झगा, झगुलिया, झँगुलि अथवा झँगुली का उल्लेख किया है, जो बालकों का ढीला-ढाला कुरता है ।[1] सूर[2] और तुलसी[3] ने पीत-वर्ण की झँगुली की ओर संकेत किया है ।

बालकों की टोपी का नाम कुलही है । इसके लिए कुलहिया शब्द भी प्रयुक्त होता है । तुलसीदास ने कुलही शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर किया है ।[4] सूरदास ने कुलही एवं चौतनी का प्रयोग किया है ।[5] यह टोपी एक विशेष प्रकार की होती है, जिसके चार कोने होते हैं, प्रत्येक कोने पर डोरी लगी रहती है । पीत वस्त्र पहनने की प्रथा आज भी प्रचलन में है । सूर ने परमाराध्य कृष्ण के बड़े होने पर पीताम्बर पहनने का उल्लेख किया है ।[6] वर्षगाँठ के दिन निचोल एवं बागे चीर धारण करते थे ।[7] गोस्वामी तुलसीदास ने चौतनी टोपी का उल्लेख किया है ।[8] और उन्होंने पीत-पट ओढ़ने[9], पीताम्बर पहनने[10] और सिर पर लाल टोपी पहनने[11] का भी उल्लेख किया है ।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३६, पृ० २७४; परमानन्दसागर, पद १०, पृ० ३०.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १३२, पृ० ३०५.

३. (क) पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली,
   - गीतावली, बालकांड, पद ३३, पृ० ७४.
   (ख) मानस, बालकांड, चौ० ६, पृ० ३४४.

४. कुलही चित्र बिचित्र झँगुली । — गीतावली, बालकांड, पद ३३, पृ० ७१.

५. स्याम बरन पर पीत झँगुरिया, सीस कुलहिया चौतनियाँ ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १३२, पृ० ३०५.

६. कटि कछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी ।।
   - वही, वही, पद ६७२, पृ० ४६६.

७. सिर चौतनी डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहिराइ निचोल ।
   - वही, वही, पद ६४, पृ० २६३.

८. गीतावली, बालकांड, पद ३४, पृ० ७५; पद ७४, पृ० १२५; मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ५४६.

९. पीरे पट ओढ़े चले बारन बाहु । - गीतावली, बालकांड, पद ४२, पृ० ८५.

१०. तैसो तरकसी कटि कसे, पट पियरे । - वही, वही, पद ४३, पृ० ८६.

११. सिरसि टिपारो लाल, नीरज-नयन बिसाल । -वही, वही, पद ४३, पृ० ८६.

इसके अतिरिक्त बालकों के सिर पर पाग भी बांधी जाती थी । सूर ने बालक के सिर पर जिस पाग का उल्लेख किया है, उसमें नाना रंग की गोसमावल लगाने की ओर संकेत किया है ।[१] पगड़ी में कानों के पास तक लटकने वाली मोतियों की गुच्छी को गोसमावल कहते हैं । मुसलमान संस्कृति का प्रभाव इस पर निश्चय ही प्रतीत होता है । सूरदास आदि कवियों के समय इस प्रकार की मोती की लड़ को गोसमावल कहते थे । सूरदास ने एक पद में दस्तार की पाग का उल्लेख किया है ।[२] सूरसागर में उपरैना का संकेत मिलता है । यह एक प्रकार की बड़ी चादर होती थी ।[३] उपरैना और निचोल दोनों चादर के पर्यायवाची शब्द हैं । छोटी चादर को निचोल और बड़ी को उपरैना कहते थे ।

बालिकाओं के वस्त्र

मध्ययुग के काव्यों में बालिकाओं के वस्त्रों का उल्लेख उतना अधिक नहीं मिलता, जितना बालकों का मिलता है । इसका अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन कृष्ण-भक्त काव्यों में मिलता है । सूर ने छोटे लहंगे के अर्थ में फरिया शब्द का उल्लेख किया है ।[४] सगुण भक्त कवियों ने चुनरिया, चुनरि या चुनरी का उल्लेख किया है, जो ओढ़ने के काम आती है ।[५] नन्ददासजी की राधा कृष्ण को हिंडोले पर भुलाते समय सुन्दर पीतयुक्त कंचुकी धारण करती है ।[६]

---

१. पाग ऊपर गोसमावल, रंग रंग रची बनाइ ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १३७२, पृ० ७३६.
२. सिथिल पाग दस्तार की, गावक रंग भीने । - वही, पद २५१२, पृ० १०४०.
३. सिर पर मुकुट, पीत उपरैना, भृगु-पद उर, भुज चारि धरे ।
   - वही, पद ८, पृ० २६०.
४. नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति भकभोरी ।।
   - वही, पद ६७२, पृ० ४६७.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २८८१, पृ० ११४५; परमानन्दसागर, पद ३७६, पृ० १२८; चतुर्भुजदास, पद २५; गीतावली, बालकांड, पद १०५, पृ० १६६; नन्ददास, पद १६१, पृ० ३२५.
६. लहंगा पीत, कंचुकी पीत सोहै तन गोरैं;
   - नन्ददास ग्रंथावली, पद १६१, पृ० ३२५.

जायसी की पद्मावती और उसकी सखियाँ महादेव की पूजा के लिए जाते समय लाल रंग का लहंगा पहनती है ।[१] षटऋतु वर्णन में लाल रंग के फीने वस्त्र का उल्लेख हुआ है ।[२] पावस ऋतु में कुसुंभी चोला चलता था ।[३]

पुरुषों के वस्त्र

प्राचीन काल से चले आने वाले वस्त्रों में जामा धोती, उपरना, अधोवस्त्र या उत्तरीय आदि प्रमुख हैं । कबीर ने दगली (मोटे वस्त्र) और पाग का उल्लेख किया है ।[४] उस समय भगा, पागा धोती और दुपटी आदि पुरुषों के वस्त्र थे ।[५] भगा को प्राचीन काल में कंचुक कहते थे । यह कुरते जैसा कोई वस्त्र रहा हो, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह वस्त्र आगे से खुला रहता था अथवा बन्द ।[६] जब कृष्ण तीन करोड़ कमल कंस को भेंट देते हैं तब कंस उन्हें सिरोपाव और अन्यान्य गोपों को पहिरावनी पहनाता है ।[७] सूरदास ने पुरुषों के लिए कामरि[८], कामरिया[९] या कामरी[१०], धोती और पीताम्बर[११]

----

१. पटुकनि पहिरि सुरंग तन चोला । औ बरहनि मुख सुरस तंबोला ।
   - पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१०.
२. वही, पृ० ४०५.
३. वही, पृ० ४०७.
४. संत कबीर   डा० रामकुमार वर्मा, पद ३, पृ० ६२; पद ३५, पृ० ३७.
५. कविता-कौमुदी, पद १६, पृ० १४६.
६. प्राचीन भारतीय वेश-भूषा   डा० मोतीचन्द, पृ० ३७.
७. नंद कौं सिरपाय दीन्हौं, गोप सब पहिराइ ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५८६, पृ० ४६०.
८. सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग ।
   - वही, प्रथम स्कंध, पद ३३२, पृ० ११०.
९. कान्ह कांधे कामरिया कारी, लकुट लिए कर घेरैं हो ।
   - वही, दशम स्कंध, पद ४५२, पृ० ४१६.
१०. डासन कांसा, कामरी ओढ़न, बैठन गोप समाहीं ।
   - वही, वही, पद ३८२६, पृ० ११९७.
११. वही, वही, पद ३८७८, पृ० ११५४.

का उल्लेख किया है । परमानन्ददास[1], नन्ददास[2], गोस्वामी तुलसीदास[3] आदि कवियों ने सूर के समान ही उपर्युक्त वस्त्रों का उल्लेख किया है ।

स्त्रियों के वस्त्र

मध्ययुगीन काव्यों के अध्ययन से उस समय के स्त्रियों के वस्त्र विशेष का उल्लेख मिलता है । संत कवि कबीर ने स्त्रियों के वस्त्रों में चोली की बात कही है ।[4] स्त्रियां विविध रंग के वस्त्र पहनती थीं जैसे लाल, पीले, नीले, हरे, चटकीले और गहरे रंग के वस्त्र पसंद करती थीं । उस समय लहंगा या चोला स्त्रियों का एक साधारण वस्त्र था । जायसी[5], सूर[6] प्रभृति कवियों ने इसका उल्लेख किया है । जायसी ने हेमन्त ऋतु के उत्सव में पति और पत्नी के वगले और चीर पहनने की ओर संकेत किया है ।[7] मध्ययुग में उत्तर और पश्चिम भारत में स्त्रियां लहंगा पहनती थीं । आज भी पश्चिमी युक्तप्रांत, राजपूताना, मालवा तथा गुजरात में यह प्रथा जारी है । जहां तक हमें पता चलता है सबसे पहले लहंगा कुषाण युग की मूर्ति कला में दीख पड़ता है । इस युग की मूर्तियों में आये वेश-विन्यास से यह प्राय: निश्चित हो जाता है कि लहंगा पहनने की प्रथा साधारण न होकर अपवाद स्वरूप थी । ऐसा लगता है कि इस युग में ग्वालिनें और उन्हीं की श्रेणी की स्त्रियां लहंगा पहनती थीं ।[8]

---

१. परमानन्दसागर, पद ३१४, पृ० १०५.

२. नन्ददास ग्रंथावली, पद १६०, पृ० ३४१.

३. बसन पीत सोभा अधिकाई ।। — गीतावली, बालकांड, पद१०८, पृ०१६६.

४. कबीर ग्रंथावली, साखी ३, पृ० २६६.

५. कंचुकी कटि साजि, लहंगा चरति निरख्य माहिं ।।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १००१, पृ० ६०६.

६. पाटन्हि पहिरि सुरंग तन चोला । औ बरहनि मुख सुरस तंबोला ।
   - ~~अपपदक~~ पद्मावत व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २१०.

७. वगल चीर पहिरहिं बहु भांति । - वही, पृ० ४११.

८. प्राचीन भारतीय वेश-भूषा डा० मोतीचन्द्र, पृ० १२५.

स्त्रियों का दूसरा एक प्रमुख वस्त्र था साड़ी। जातकों में साड़ी को सटट-साटटक कहा गया है।[१] साड़ी पहनने का उल्लेख मध्ययुग के अधिकांश कवियों ने किया है। विभिन्न रंग की साड़ियों का प्रयोग उस समय होता था। जायसी ने लाल रंग की कुसुंभी सारी[२], कुम्भनदास ने लाल कुसुंभी सारी[३], चतुर्भुजदास ने सुरंग सारी[४], चुनरी सारी[५], तनसुख की सारी[६] का उल्लेख किया है। सूर ने पंचरंगी की सारी का वर्णन किया है।[७] परमानन्ददास के अनुसार उस समय झूमक सारी[८] और ढिगिन की सारी[९] सर्वप्रचलित थी। उस समय स्त्रियों का तीसरा मुख्य वस्त्र था कंचुकी, अंगिया, अंगी अथवा चोली। जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती विवाह खंड में कंचुकी और चोली के बारे में कहा है[१०] कृष्ण-भक्त कवियों में सूर ने कटाव की अंगिया[११], जराऊ अंगिया[१२], लाल माड़नीयुक्त नील अंगिया[१३] की ओर संकेत किया है। गोविन्दस्वामी ने पीली

---

१. प्राचीन भारतीय वेश-भूषा डा० मोतीचन्द्र, पृ० ३७.
२. हरियर भुइं कुसुंभि तन चोला।
- पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४१८.
३. लहंगा लाल झूमकी सारी कुसुंभी बरन पिय हेत रंगाई।
- कुम्भनदास, पृ० पद ३१६.
४. चतुर्भुजदास, पद १२९.
५. वही, पद ३६५.
६. वही, पद २०२.
७. पगनि जेहरि, लाल लहंगा, अंग पंच-रंग सारि ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५३, पृ० ६११.
८. सापेरी झूमक अंग साथे बहु दिसि लगी किनारी ।।
- परमानन्दसागर, पद ६१६, पृ० ३२८.
९. ये तो लाल ढिंगन की ओढ़े है काहु की सारी ।।
- वही, पद ६६६, पृ० २३२.
१०. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१८.
११. सुभग सुमेल कटाव की, अंगिया, मगनि जटित की बांकी।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५५०, पृ० ७६२.
१२. बहु नग जरे जराऊ अंगिया, भुजा बहूंटनि, बलय संग की।
- वही, वही, पद १४७५, पृ० ७७१.
१३. अंगिया नील, मांड़नी राती, निरखत नैन चुराइ ।।
- वही, वही, पद १०५३, पृ० ६२२.

मांडनी युक्त सुही कंचुकी[1], कसीदा कंचुकी[2] की बात कही है। नन्ददास ने पीले रंग की कंचुकी का उल्लेख किया है।[3] कटाव की चोली[4], चोली बन्द डोरी[5] का वर्णन भी कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। उस समय तन सुख, ताफता, सासा सुधी वस्त्रों का प्रचार था।[6] तत्कालीन मोटे ऊनी वस्त्र के रूप में काली कमरिया प्रसिद्ध थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों का प्रचार था। इस प्रकार मध्ययुगीन कवियों ने तत्कालीन प्रचलित अनेक वस्त्रों का उल्लेख किया है।

मुख्य वस्त्रों के नाम

कगुली	बच्चों का कुरता
कमरिया	ओढ़ने का वस्त्र
पीतांबर	बच्चे और बड़े लोग पहनते थे
कुलही	बालकों की टोपी
पाग	बालक सिर पर बांधते थे
उपरैना	बड़ी चादर जो बड़े लोगों ओढ़ते थे
दुपट्टा चुनरी उढ़निया	बालिकाओं का वस्त्र, जो ओढ़ने के काम आता था।
कंचुकी	स्त्रियों का वस्त्र
कगा	

---

१. गोविन्दस्वामी, पद १३५.
२. कंचुकी सोभित कसीदा सुन्दर। - वही, पद ४२.
३. लहंगा पीत, कंचुकी पीत सोहै तन गोरै।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद १६१, पृ० ३२५.
४. पहिर कसुंभी कटाव की चोली चंद्र बधू सी ठाढ़ी सोहै।
- परमानन्दसागर, पद ३६२, पृ० १२६.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३२७, पृ० ३६६.
६. परमानन्दसागर, पद ७१५, पृ० २५२; पद ७४२, पृ० २५८; पद ५६२, पृ० १६१.

पागा) धोती) दुपटी)	पुरुषों के वस्त्र
सारी(साड़ी)	स्त्रियों का वस्त्र
दगल	एक प्रकार का गर्म चोगा
पटोरी	एक प्रकार की साड़ी
अंगिया	स्त्रियों का वस्त्र
चोली) कंचुकी) अंगी)	स्त्रियों का वस्त्र

इस विवरण से प्रकट है कि उस समय अनेक रंगों के और विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था ।

आभूषण

पहले ही कहा जा चुका है कि नर-नारी अपने रूप-सौन्दर्य में दत्तचित्त थे । शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए वे कई प्रकार के आभूषण धारण करते थे । नये-नये आभूषणों की ओर उनकी तीव्र इच्छा थी । मध्ययुग के कवियों ने पुरुषों और स्त्रियों के आभूषणों पर दृष्टिपात किया है । पुरुषों की आभूषणोच्छा परिमित थी, लेकिन स्त्रियों के आभूषण अगणित थे । मध्ययुग में अनेक प्रकार के आभूषण प्रचलित थे । कहा जाता है कि उस समय बारह आभूषण सर्वसाधारण में प्रचलित थे - नूपुर, किंकिणी, वलय, अंगूठी, कंकन, अंगद, हार, कंठश्री, बेसर, बिछिया, टीका और शीशफूल । इन बारह आभूषणों का उल्लेख जायसी ने इस प्रकार किया है -

> जोगी दिढ़ आसन करै अहिथिर धरै मन ठाउं ।
> जौं न सुनै तौ अब सुनु बारह अभरन नाउं ।।[१]

---

१. पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४५.

जायसी के अनुसार बारह आभूषण ये हैं — कुण्डल, नकफूल, गिउ आभरन या हार, कंगन, क्षुद्रावलि या करधनी, पायल और चूड़ा या कड़ा । इन सात आभूषणों के अतिरिक्त जायसी ने चंदन, चीर, सिंदूर तिलक, अंजन और ताम्बूल को भी आभूषण की कोटि में रखकर बारह आभूषण कर दिये हैं ।[1] सूरदास के एक पद में बारह आभूषणों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

> छबीं दाम सब अंग अंग को ।
> गोरैं भाल लाल सेंदुर छबि, मुक्ता बर सिर सुभग मंग को ।।
> नकबेसरि खुठिला, तरिवनि को, गर हमेल, कुच जुग उतंग को ।
> कंठसिरी, दुलरी, तिलरी उर, मानिक-मोती-हार रंग को ।।
> बहु नग जरे जराऊ अंगिया, भुजा बहुंटनि, बलय संग को ।
> कटि किंकिनि की दाम जु छबीं, जिनहीं रीझत मन अनंग को ।।
> जेहरि पग जरायीं गाढ़ैं मनु, मंद-मंद गति हहिं मतंग को ।
> जोबन रूप अंग पाटंबर, सुनहु सूर सब इहिं प्रसंग को ।।[2]

उपर्युक्त पद में आये बारह आभूषणों के नाम हैं - शिशमुक्ता, नकबेसर खुठिला, तरिवन, हमेल, कंठसिरी, दुलरी, तिलरी, हार, बहुटनी, बलय, किंकिणी और जेहरी या पाजेब । सूरदास के एक अन्य पद में बारह आभूषणों के नाम मिलते हैं ।[3] सूर ने इन आभूषणों का उल्लेख और भी अनेक पदों में किया है ।

अब हम सुविधा के लिए मध्ययुगीन आभूषणों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । एक बालकों तथा युवकों के आभूषण और दूसरे स्त्रियों के आभूषण ।

बालकों तथा युवकों के आभूषण

मध्ययुग के कवियों ने बालकों तथा युवकों के आभूषणों का जहाँ-जहाँ

---

१. पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४६.
२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१.
३. वही, वही, पद १५४०, पृ० ७८२.

वर्णन किया है। परमानन्ददास ने कृष्ण के आभूषणों में सबसे प्रथम आभूषण के रूप में मुकुट या मोर-मुकुट को माना है।[१] लेकिन सूरदास ने सोने के जड़ाऊ मुकुट का उल्लेख किया है।[२] गोस्वामी तुलसीदासजी ने कंचन किरीट की बात कही है।[३] कृष्ण के लटकन[४], गजमोती[५] का उल्लेख कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। तुलसीदास ने राम के लटकन होने का संकेत किया है।[६] कनछेदन के अवसर पर बालकों के कानों में ढेंढुर पहनाये जाते थे, जो सोने के होते थे।[७] सूर, तुलसी, परमानन्ददास आदि कवियों ने बालकों के कनछेदन के बाद कानों में कुंडल पहनाने की ओर संकेत किया है।[८] कबीरदासजी ने कानों के आभूषणों के रूप में कुंडल, कर्णी, मंजूषा (संन्यासी लोग कान में पहनते हैं) का उल्लेख किया है।[९] जायसी ने पद्मावत में कुण्डल की ओर संकेत किया है।[१०] गो० तुलसीदासजी ने रंगभूमि में जाते समय रामजी के कानों में कर्णफूल होने का वर्णन किया है।[११] उन्होंने बालकों के आभूषणों में गुंजावतंस को रखा है।[१२]

---

१. मोर मुकट मुरली पीताम्बर अरु गुंजा बनमाला ।।
- परमानन्ददास, पद २२३, पृ० ७०.

२. भूषन मुकुट जराइ जर्यौ, मनु सूर स्याम संग बनिता-बाल ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५०, पृ० ६२२.

३. भाल तिलक, कंचनकिरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई ।
- गीतावली, बालकाण्ड, पद १०८, पृ० १७०.

४. लटकन लटकन ललित भाल पर, काजर-बिंदु भ्रुव-ऊपर री ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६८, पृ० २६४.

५. परमानन्दसागर, पद ६०, पृ० ३०.

६. पेंड़ी लटकन मसिबिन्दु मुनि-मन-हर । - गीतावली, बाल०, पद ३३, पृ० ७४.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८०, पृ० ३२९.

८. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६३, पृ० ४८४; गीतावली, बाल०, पद ४३, पृ० ८६; श्रीकृष्णगीतावली, पद २२, पृ० ३३; परमानन्दसागर, पद १२४, पृ० ४२.

९. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, सलोक ४, पृ० २५६; पद ५३, पृ० ५६; कबीरग्रंथावली (रमैणी) पद ६, पृ० ५८८; पद १३४, पृ० ४१५.

१०. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३६५.

११. गीतावली, बालकाण्ड, पद ७३, पृ० १२३.

१२. गुंजावतंस विचित्र सब अँग धातु, भव भय मोचन ।
- श्रीकृष्णगीतावली, पद २३, पृ० ३४.

कृष्ण को गाय चराने के लिए भेजते समय उनके गले पर मोरमिला का आभूषण था।[१] नाक में नथ तथा बेसरि पहनाने की रीति भी उस समय थी। नाक में मोतियों की नथुनी विशेष सुन्दर मानी जाती थी।[२] इसके अलावा गले में कठुला[३], हँसली[४], गजमनि[५], कंबुकंठ ललित माला[६], केहरी नख जटित माला[७], मनिमाला[८], कंठ में मुक्तामनि माला[९], बनमाला[१०], गजमनिहार[११], हार[१२], मोतियों की दुलरी माला[१३], गुंजा की बनमाला[१४], मयूर पंख माला[१५], बघली[१६], धारण करने का उल्लेख मिलता है। उस समय भुजाओं में केयूर[१७] और

---

१. पान फूल चोवा दिव्य अम्बर मारमिला ले कंठ धरी।
- परमानन्दसागर, पद २६१, पृ० ८२.

२. मोतिनि सहित नासिका नथुनी, कंठ-कमल-दल-माल की।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५, पृ० २६७.

३. पहुँची करनि, पदिक उर हरि नख, कठुला कंठ मंजु गज-मनियाँ।
- वही, वही, पद १०६, पृ० २६७.

४. परमानन्दसागर, पद ६०, पृ० ३०.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०६, पृ० २६७.

६. गीतावली, बालकांड, पद २५, पृ० ६१.

७. वही, वही, पद २६, पृ० ६४.

८. वही, वही, पद ३२, पृ० ७२; पद ३४, पृ० ७५.

९. वही, वही, पद ५२, पृ० ९५; पद ६२, पृ० १०७.

१०. वही, उत्तरकांड, पद ३, पृ० ३८४.

११. वही, वही, पद ८, पृ० ३९६.

१२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४०, पृ० २७४.

१३. वही, वही, पद ५१२, पृ० ४३८.

१४. वही, वही, पद ४७९, पृ० ४२४.

१५. विद्यापति पदावली, पद १६६, पृ० २९८.

१६. नन्ददास ग्रंथावली, पृष्ठ २१३.

१७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ५१२, पृ० ४३८.

अंगद[१], हाथ में पहुंची[२], और जुरा (जूड़ा)[३] पहनने की प्रथा थी । इन सबके अतिरिक्त अधिकांश कवियों ने कमर में करधनी[४], किंकिनी[५], क्षुद्रघंटिका[६] और पैरों में पैंजनी[७], नूपुर[८] पहनने का उल्लेख किया है । इस तरह मध्य युग के काव्यों में बालकों और युवकों के अनेक आभूषणों का उल्लेख मिलता है । वह उस समय की आभूषण-निर्माण कला की ओर संकेत करता है ।

स्त्रियों के आभूषण

मध्य युग के काव्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्रियां सिर, मस्तक, नाक, कान, हाथ, पैर, ग्रीवा और कमर में वर्णित आभूषण पहनती थीं । स्त्रियों ने आभूषणों को अपनी निजी संपत्ति [redacted] समझा । उनमें हमेशा आभूषणों के प्रति आशा और स्फूर्ति होती थी । मध्ययुगीन काव्यों के आधार पर स्त्रियों के आभूषण निम्न प्रकार के थे —

शीश के आभूषण

स्त्रियां अपने सिर पर केशों को अलंकृत करने के लिए जिन आभूषणों को पहनती हैं, उन्हें शीश के आभूषण कहते हैं । इनमें जूड़ा या सिर के

---

१. गोविन्दस्वामी, पद १३.

२. सूरसागर, दशम स्कंध पद १०६, पृ० २९७; गीतावली, बालकांड, पद २२, पृ० ५५

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८९, पृ० २९१.

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १८४, पृ० ३२४.

५. परमानन्दसागर, पद ७७, पृ० २७; सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१; नन्ददास ग्रन्थावली पृ० २१३; मानस, बालकांड, चौ० २, पृ० ५४६; गीतावली, बालकांड, पद २२, पृ० ५५; पद २७७, पृ० ६६; पद ३२, पृ० ७२.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५८८, पृ० ७८०.

७. वही, वही, पद १३२, पृ० ३०५; नन्ददास ग्रंथावली पृ० २१३; गीतावली, बालकांड, पद ३१, पृ० ७१; पद ३३, पृ० ७४.

८. परमानन्दसागर, पद ७७, पृ० २७; गीतावली, बालकांड, पद २२, पृ० ५५; पद २६, पृ० ६४.

बालों में टीका[१], शीशफूल[२], चंपकली[३], चन्द्रावलि[४] आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विवाहित स्त्रियां मांग में सिंदूर भरने के साथ-साथ सिर पर मोती सजा लिया करती थीं।[५]

मस्तक के आभूषण

मध्य युग के कवियों ने मस्तक के आभूषणों का उल्लेख भी किया है। उन्होंने माथे पर बेंदी, तिलक, लटकन आदि शोभित होने की ओर संकेत किया है। जायसी ने पद्मावती के माथे पर तिलक होने का उल्लेख किया है।[६] कृष्ण-भक्त कवियों ने बेंदी[७] एवं लटकन[८] लगाने का चित्र खींचा है। सूरदास ने माथे पर टीका होने का उल्लेख किया है।[९]

कर्णाभूषण

कान के आभूषणों के अन्तर्गत अवतंस[१०], कर्णफूल[११], कुंडल[१२],

---

१. गोरे भाल बिंदु सेंदुर पर, टीका धर्यो जराउ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४६८, पृ० ७८०.
२. बेनी गूंथि, मांग मोतिनि की, सीसफूल सिर धारति।
- वही, वही, पद १४६८, पृ० ७८६.
३. चंपकली कुटिल अलक, बीच बीच रखी री।
- वही, वही, पद १३८४, पृ० ७४०.
४. मृग-मद आड़ सुदेस करी चन्द्रावलि नीकी।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३३.
५. पद्मावत, पृ० ३४७; सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१.
६. साजि मांग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक संवारा।
- पद्मावत : व्याख्या० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४६.
७. बंदन बिंद जराइ की बेंदी तापर बने सुधारत।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६६८, पृ० १०६७.
८. वही, वही, पद १०५५, पृ० ६२३.
९. वही, वही, पद १४६८, पृ० ७८०.
१०. श्रीकृष्णगीतावली, पद २३, पृ० ४३६.
११. करनफूल कर लिएं संवारति, बेंदी बुंद ललाट सुधारत।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २१८६, पृ० ६६५.
१२. कबीर ग्रंथावली (रमैणी), पद ६, पृ० ८८; पद्मावत पृ० ३४६; सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १०५५, पृ० ६००.

तरिवनि[1], खुटिला या खुठिला[2], झुमका या झुमक[3], ताटंक[4] आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ताटंक को तरिवनि, तर्रौना या तर्यौना भी कहते हैं।[5]

नाक के आभूषण

मध्ययुगीन कवियों ने स्त्रियों के नाक के आभूषणों में बेसरि[6], नथ[7], बुलाक[8] आदि का उल्लेख किया है। जायसी[9] और स्वामी हरिदासजी[10] ने एक स्थान पर 'नकफूल' का प्रयोग नाक के आभूषण के रूप में किया है। नथ और बुलाक का प्रयोग प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता, इसलिए अनुमान कर सकते हैं कि ये मुसलमानों से लिये गये हैं।

गले के आभूषण

स्त्रियों और पुरुषों के आभूषणों में गले के आभूषण संख्या में अधिक हैं। गले के आभूषणों के कई-कई पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। इनमें

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१.
२. नकबेसरि खुठिला, कि तरिवनि कौ, गर हमेल कुच जुग उतंग कौ।
- वही,वही, पद १४७५, पृ० ७७१. तथा
पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४७.
३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५७, पृ० ६२४.
४. मुनि कुंडल ताटंक बिलोल। बिलसत लज्जित ललित कपोल।
- वही, वही, पद ११८०, पृ० ६७०.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७२, पृ० ३२८.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३३.
७. नासा नथ-मुक्ता के भारहिं, रह्यौ अधर-तट आइ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४९८, पृ० ७८०.
८. कटि किंकिनि पग नूपुर बाजे नाक बुलाक हलै रे ।।
- वही, परिशिष्ट, पद ११, पृ० १५७५.
९. पुनि नासिक भल फूल अमोला। - पद्मावत, पृ० ३४६.
१०. स्वामी हरिदास जी जीवनी और वाणी, पद २१, पृ० ७४.

मुख्य हैं — कंठश्री या कंठसिरी[१], चौकी या तौकी[२], कंचन हार[३], हीर हार[४], मोती-हार[५], चौसर[६], पंच या पंचमाला[७], नौसरि हार[८], दुलरी[९], तिलरी[१०], हमेल[११], हंसवारी[१२], मोतिसरी[१३], कौस्तुभमणि[१४], मुक्तामाला[१५], हंसुली या हँसुली[१६] आदि।

भुजा एवं कलाई के आभूषण

भुजा में पहनने वाले आभूषणों में टांड[१७], बहुंटा अथवा बहूंटनि[१८] तथा बाजूबन्द[१९] आते हैं। रामायण काल में भुजबन्द अथवा बाजूबन्द को ही अंगद या केयूर कहते थे और उसे पहनने का रिवाज स्त्री-पुरुष दोनों में [redacted] प्रचलित था।[२०] हिन्दी काव्यों में वलय[२१], कंकन[२२], कांच एवं हाथी दांत की

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१.
२. वही, वही, पद १५५०, पृ० ७८२.
३. वही, वही, पद १६, पृ० २६६.
४. पद्मावत, पृ० ३४६.
५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४३६, पृ० ७५७.
६. बिहारीरत्नाकर, दोहा ८६.
७. नन्ददास ग्रंथावली, पद १७२, पृ० ३२८.
८ से १०. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१; पद १५५०, पृ० ७८२.
११. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५५०, पृ० ७८२.
१२. वही, परिशिष्ट, पद ८, पृ० १५७५.
१३. वही, दशम स्कंध, पद १६७३, पृ० ९१५
१४. वही, वही, पद १९८०, पृ० ६००.
१५. वही, वही, पद १०५५, पृ० ६२३.
१६. श्री ब्रजप्रेमानन्दसागर, पृ० ४१.
१७. कर कंकन तैं भुज टाड़ गई।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४०६२, पृ० १४६५.
१८. बहुंटा, कर कंकन, बाजूबंद, रसी पर है तौकी ।।
   - वही, वही, पद १५५०, पृ० ७८२.
१९. बाजूबंद ताउ हिम सोहत मन अनुमोठी लागे । -परमानंद०, पद ९१९, पृ० ३२९.
२०. रामायणकालीन संस्कृति : डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास, पृ० ६०.
२१. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४७५, पृ० ७७१.
२२. पद्मावत, पृ० ३४६; सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५५०, पृ० ७८२;
   कबीर ग्रन्थावली, पद १३९, पृ० ४१७-४१८.

चूड़ियाँ[१], पोहोंची[२], चूरा[३] धारण करती थीं ।

उंगलियों के आभूषण

मध्य युग में स्त्रियां उंगलियों में मुंदरी या मुद्रिका (अंगूठी)[४] पहनती थीं ।

कटि के आभूषण

जायसी ने कटि में क्षुद्रघंटिका या क्षुद्रावलि नामक आभूषण पहनने का उल्लेख किया है ।[५] इसका उल्लेख सूरदास ने भी किया है ।[६] इसके अतिरिक्त स्त्रियां करधनी[७], किंकिनी[८], मणिमेखला[९] आदि पहनती थीं । रामायण-काल में इसे कांची दाम, मेखला या रशना कहा जाता था ।[१०]

पैर के आभूषण

उस समय के पैरों के आभूषणों में घुंघरू[११], जेहर[१२], तेहर[१३], चूरा[१४],

---

१. विद्यापति पदावली, पृ० २५७.
२. नवग्रह गजरा जगमगे नव पोंहोंची चुटियन आगे ।
   - परमानन्दसागर, पद ६१६, पृ० ३२६.
३. पद्मावत, पृ० ३४६; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३३; परमानन्दसागर, पद ६१६, पृ० ३२६.
४. ललित कर पहुंची उपाजै, मुद्रिका अति जोति ।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५६, पृ० ६२४.
   गीतावली, सुन्दरकाण्ड, पद १, पृ० २६१.
५. पद्मावत, पृ० ३४६, ३४६.
६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४६८, पृ० ७८०.
७. वही, वही, पद ९८४, पृ० ३२४.
८. वही, वही, पद १०५५, पृ० ६२३.
९. अष्टछाप पदावली, पद ७, पृ० ७५.
१०. रामायणकालीन संस्कृति : डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास, पृ० ६९.
११. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २८६३, पृ० ११३७.
१२ से १४. नन्ददास ग्रन्थावली, पद १७६, पृ० ३३६.

बिछुवा[1], नूपुर[2], पायल[3] आदि की चर्चा है। ये सब आभूषण स्त्रियों के थे।

इस प्रकार मध्ययुग के काव्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय के स्त्री-पुरुष सब आभूषणों को अत्यंत पसंद करते थे और उनका निर्माण भी उस समय सुचारु रूप से होता था। अब विभिन्न प्रकार के आभूषणों की तालिका देखिए –

मुकुट	सिर का आभूषण
कुंडल	कर्णाभूषण
चूरा	एक प्रकार का कड़ा
नूपुर	पैर का आभूषण
नथुनी	नाक का आभूषण - गोलाकृति का होता है।
पहुँची	हाथ का आभूषण
किंकिणी	बच्चों की कमर में पहनने की करधनी
बाजूबन्द	भुजा का आभूषण
छटकन	मस्तक पर पहना जाता है
पैजनी	पैरों का आभूषण
बिछुआ	पैरों की उंगलियों में पहना जाता है
ताटंक	कान का कुण्डल
फुमका	कान का आभूषण, जो फूल के आकार का होता है।
बेसरि	नाक का गहना
तरिवनि	कान का आभूषण
तिलरी	तीन लड़ों की माला

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १३६, पृ० ४१७-४१८; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३६.

२. संत कबीर, पद ८, पृ० १७१; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३६.

३. पद्मावत, पृ० ३४६; नन्ददास ग्रंथावली, पद १७६, पृ० ३३३.

हमेल	गले का आभूषण
कंकण	हाथ का आभूषण
जेहरी	पैरों का गहना
चौकी	गले का गहना
तौकी	गले का गहना
मुद्रिका	उंगली में पहनी जाती है ।
झुमी	कान का आभूषण
टीका	माथे का आभूषण
सीसंड या भीसंड	सिर का गहना
नथ	नाक का आभूषण
आरसी	अंगूठे में पहना जाने वाला आभूषण
चंपकली या चंपाकली	गले का गहना
पहुंची	हाथ का आभूषण
वलय	हाथ का आभूषण
माला	गले का गहना
कंठुला	कंठ का आभूषण
पायल	पैर का गहना
मेखला	कटिप्रदेश में पहना जाने वाला आभूषण
सीस फूल	सिर पर धारण कियाजाता है ।
क्षुद्रावलि	कमर में पहनी जाती है ।
अंगूठी	उंगली का आभूषण ।

जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट है, मध्य युग के काव्यों के अध्ययन से हमें अगणित आभूषणों का नाम प्राप्त होता है । इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय लोगों को आभूषणों के प्रति विशेष रुचि थी । पुरुष एवं स्त्रियां आभूषणप्रिय थे, लेकिन स्त्रियों का इस ओर विशेष झुकाव था।

शृंगार-प्रसाधन

प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय जनता शृंगार-प्रसाधनों की ओर

अग्रसर है । स्त्री और पुरुष दोनों इस ओर आकृष्ट थे । मध्ययुगीन काव्य-ग्रंथों में इसका संकेत मिलता है । संत कवि कबीर ने शृंगार-प्रसाधनों का खंडन किया है । वे कहते हैं कि सोलहों शृंगार करने से यदि आत्मा रूपी प्रिय प्रभु को अच्छी नहीं लगती तो पड़ोसियों को प्रसन्न करने से क्या फायदा ।[१] वे आगे कहते हैं कि ये शृंगार-प्रसाधन मृत्युपरांत लकड़ी के साथ जल कर भस्म के रूप में परिणत हो जाते हैं और मिट्टी में मिल जाते हैं ।[२] जायसी के 'पद्मावत' में पद्मावती के शृंगार-प्रसाधनों में नवरत्नों की सेज, सेमों पर गढ़कर उभारी हुई पुतलियां, चंदन को कटोरी, सिंदूर की डिबिया, केसर, कुमकुम, चोवा, पानों का बीड़ा, मिस्सी की बीरी तथा कस्तूरी-मेद आदि का उल्लेख हुआ है । इसी प्रकार आगे जायसी ने शरीर-स्नान, चंदन, वस्त्र, मांग का सिंदूर, ललाट पर तिलक, नेत्रों में अंजन, कानों में कुण्डल, नाक में अनमोल फूल (बेसर), पान खाना, कनक के आभूषण, कलाई के कंकण, कटि के आभूषण, पावों में पायल तथा बिछी आदि गहनों का वर्णन किया है ।[३] इससे उस युग की शृंगारिक भावना का परिचय मिलता है । श्रीरामचन्द्र वर्मा ने 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में उबटन, मंजन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, मांग भरना, अंजन, महावर, बिन्दी, ठोढ़ी पर तिलक लगाना, मेंहदी, सुगंधित द्रव्य, आभूषण, फूलमाला और पान रचना आदि सोलह शृंगार के विविध अंग गिनाये हैं ।[४] अब हम मध्ययुगीन ग्रंथों के आधार पर तत्कालीन विभिन्न शृंगार-प्रसाधनों की ओर सिंहावलोकन करेंगे ।

उबटन

शृंगार-प्रसाधन का प्रथम कार्य इससे संपन्न होता है । कृष्ण को

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद १३६, पृ० ४१८.

२. वही, पद २६४, २६५, पृ० ५१०; संत कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पद १६, पृ० १८.

३. पद्मावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३४६-३४६.

४. प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ० ११२४.

यशोदा केसर का उबटन लगाकर स्नान कराती है ।[१] तुलसीदास ने तेल और उबटन लगाकर स्नान कराने का उल्लेख कई बार किया है ।[२]

स्नान

शरीर पर तैल आदि से मलने के बाद ही नहाया जाता है । परमानंद-दास ने दीपावली के दिन दूध से स्नान करने की ओर संकेत किया है ।[३] ऋतुओं के अनुसार गर्म जल या शीतल जल का प्रयोग होता था ।[४] 'परमानन्दसागर' में वर्णन है कि स्त्रियाँ स्नान के पूर्व जल को अनेक सुगंधित वस्तुओं से सुगंधित कर लेती थीं ।[५] नन्ददास ने स्नान में प्रयुक्त जल में अष्टगंध डालने का उल्लेख किया है ।[६] जायसी ने पद्मावती का मंजन करके स्नान करने का परिचय दिया है ।[७]

केशविन्यास

लम्बे, घने और काले बालों को सजाकर सौन्दर्याभिवृद्धि करना स्त्रियों की प्राचीन काल से ही मुख्य प्रवृत्ति रही है । प्राचीन काल में बालों की रचना के ढंग का पता स्त्री-मूर्तियों, पुरुष-मूर्तियों, मिट्टी के खिलौनों तथा धातु की मूर्तियों से चलता है । इन रचनाओं में केश-विन्यास बहुत

---

१. मोहन आउ तुम्हैं अन्हवाऊं ।

\+ + + +

केसरि को उबटनो बनाऊं, रचि-रचि मैल छुड़ाऊं ।

- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८८५, पृ० ३२४.

२. (क) चुपरि उबटि अन्हवाइकै नयन आंजे,

रुचि रुचि तिलक गोरोचन को कियो है ।

- गीतावली, बालकांड, पद १०, पृ० ४२.

(ख) श्रीकृष्णगीतावली, पद १३, पृ० २०.

३. दूध सों सनान करो मन मोहन छोटी दिवारी काल मनाये ।

- परमानन्दसागर, पद २५२, पृ० ७८.

४. उष्ण सीतल अन्हवाय औरबह चंदन अंग लगाऊंगी ।। -वही, पद ६०८, पृ० २१२.

५. केसर सोंधी घोरि जसोदा प्रथम न्हवाये कान्ह गोविन्द। -वही, पद २०८, पृ०

६. अष्ट गंध उसनोदक सों असनान कराये । - नन्ददास०, दोहा ५०, पृ० १६८.

७. कै मंजन तन कीन्ह अन्हानू । - पद्मावत, पृ० ३४७.

प्रकार के हैं — घुंघराले, घटुलेदार घुंघर, पाटीदार, मौली आदि ।[१] जायसी ने पद्मावती के कस्तूरी से काले केशों का वर्णन किया है ।[२] यशोदा राधा के सीमन्त सास के बड़े-बड़े बालों को सुन्दर और कलात्मक ढंग से संवारती है और गूंथती है ।[३] बेनी को विविध प्रकार से बांधने की प्रथा प्रचलित थी।[४] स्त्रियां बालों को सुगंध द्रव्यों से मलने के बाद उन पर तेल फुलेल डालती थीं ।[५] आज की तरह उस समय स्त्रियां जूड़ा बांध कर उस पर चम्पक और बकुल पुष्प गुंथती थीं ।[६] सुवासित और सुगंधित पुष्पों से अलंकृत केशों के मृदु बिखार हमेशा मन को हरने वाला कहा गया है ।[७] श्री राधा के फूलों से गुंथे हुए बालों को देखने से मन उस ओर आकर्षित होता है ।[८] गोस्वामी तुलसीदास जी ने यशोदा द्वारा कृष्ण की चोटी गुंथने का उल्लेख किया है ।[९] उस समय केश रचना का उद्देश्य किसी को दिखाना नहीं था । यह बात मथुरा की मूर्तियों की केश-सज्जा से मालूम होती है ।

---

१. प्राचीन भारत के प्रसाधन श्री अत्रिदेव, पृ० १९६.
२. पद्मावत, पृ० १११-११२.
३. जसुमति राधा कुंवरि संवारति ।
बड़े बार सीमंत सीस के, प्रेम सहित निरुवारति ।।
मांग पारि बेनी जु संवारति, गुंथी सुंदर भांति ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७०४, पृ० ५०७.

४. विविध बेनी रची, मांग-पाटी सुमग, भाल बेंदी-बिंदु इंदु लाजै ।।
- वहां, वही, पद १०४२, पृ० ६१६.

५. जे कब कनक कटोरा भरि भरि, मेलत तेल फुलेल ।
- वही, वही, पद ३८१७, पृ० १४०२.

६. बेनी चंपक बकुलन ग्रंथित रुचि रुचि सखिन संवारी ।
- परमानन्दसागर, पद ६१६, पृ० ३२८.

७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५५, पृ० ६२३.

८. वही, वही, पद ३८१७, पृ०१०६४.

९. उबटी न्हाहु, गुहौं चुटिया बलि । - श्रीकृष्णगीतावली, पद १३, पृ० २०.

मांग :

उलझते हुए बालों को दो भागों में विभक्त करने वाली विभाजक रेखा 'मांग' कहलाती है । मांग को सीमन्त भी कहते हैं । कबीरदासजी ने मांग काढ़ने और सिंदूर भरने की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह पतिव्रता का लक्षण है ।[१] मांग बनाने को मांग पारना भी कहा जाता है ।[२] दर्पण में देखकर मांग बनाने का उल्लेख परमानन्ददास ने किया है ।[३] उस समय विवाहित स्त्रियाँ सिंदूर से मांग सजाया करती थीं । जायसी[४], परमानंददास[५] आदि ने इसका वर्णन किया है । मांग में सीसफूल[६] या रतनजटित आभूषण[७] पहना जाता था ।

अंजन :

नेत्रों में अंजन लगाने से उनकी शोभा और भी बढ़ जाती है । कबीर ने अंजन युक्त आंखों का वर्णन किया है ।[८] जायसी ने भी इस ओर संकेत किया है[९] और आगे कहा है कि अंजन लगाने से नेत्र खंजन से दिखाई देते हैं ।[१०]

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी ४, पृ० १५४; पद १३६, पृ० ४१८.
२. मांग पारि बेनी जु संवारति, गूंथी सुंदर भांति ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ७०४, पृ० ५०७.
३. परमानन्दसागर, पद ४४२, पृ० १५०.
४. बरनौं मांग सीस उपराहीं । सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं ।
 - पद्मावत, पृ० ११३.
५. चोवा चंदन अंग लगाये सेंदुर मांग संभारी ।
 - परमानन्दसागर, पद १५, पृ० ६.
६. मोतिन मांग और सीस फूल मध्य रतन जटित फुलकारी ।।
 - वही, पद ६१६, पृ० ३२८.
७. रचि पत्रावलि मांग सेंदुरा । भरि मोतिन्ह औ मानिक पूरा ।
 - पद्मावत, पृ० ३४७.
८. अंजन मंजन करै ठगौरी, का पचि मरै निगौड़ी बौरी ।।
 - कबीर ग्रंथावली, पद १३६, पृ० ४१८.
९. पुनि अंजन दुहु नैन करेई । - पद्मावत, पृ० ३४६.
१०. बहु अंजन दे खंजन देखावा । - वही, पृ० ४०६.

तुलसीदास ने नेत्रों को आंजकर गोरोचन का तिलक लगाने का उल्लेख किया है।[१] उन्होंने 'श्रीकृष्णगीतावली' में कृष्ण के काजल से युक्त नयनों से जल के कण आने की बात कही है।[२] परमानन्ददास के अनुसार नेत्रों की काजल की रेखा भी वशीकरण-शक्ति से युक्त है।[३] उनकी गोपियां, जो विरहिणी हैं, कृष्ण से नयन मिलने पर ही अपने नेत्रों में काजल लगाती हैं।[४] नेत्रों में अंजन लगाने का उल्लेख सूरदास ने भी किया है।[५]

भौंह बनाना

प्राचीन काल में भौंहों का प्रसाधन मसि, काजल या अंजन से किया जाता था। मसि से इनका कुटिल रूप चित्रित किया जाता था। जायसी ने लिखा है कि पद्मावती की भौंहें देखकर ऐसा लगता है मानो ताना हुआ धनुष हो।[६] उस समय स्त्रियां भौंहें बनाया करती थीं।[७]

महावर

नाइन के द्वारा पैरों पर महावर लगाया जाता था। सूरदास की गोपियां पैरों पर प्रियतम को आकृष्ट करने के लिए जावक धारण करती थीं।[८]

---

१. गीतावली, बालकांड, पद १०, पृ० ४२.
२. मंजु अंजन सहित जल कन चुवत लोचन चारु।
   - श्रीकृष्णगीतावली, पद १४, पृ० २२.
३. बसीकरन रस सों मिलो रचि पचि अंजन रेख बनाई।
   - परमानन्दसागर, पद ६१६, पृ० २२८.
४. ता दिन काजर देहों सखीरी।
   जा दिन नंदनंदन के नैना अपने नैना मिलैहों सखी री।।
   - वही, पद ५५४, पृ० १८५.
५. नैन अंजन अधर^आंजहीं^ हरष सों, श्रवन ताटंक उलटे संवारे।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद ६६८, पृ० ४०६.
६. भौंहें स्याम धनुक जनु ताना। - पद्मावत, पृ० ११५.
७. तेल लगाइ, लगाइ कै अंजन, भौंह बनाइ-बनाइ ठिठौनहिं।
   - रसखान का अमर काव्य, पद १६, पृ० ४०.
८. नखनि रंग जावक की सोभा, देखत पिय-मन भावत।
   - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५४, पृ० ६२३.

कृष्ण-जन्म पर नाइन द्वारा यशोदा के पैरों में महावर लगाया जाता है ।[१] तुलसीदास ने भी इसका वर्णन किया है ।[२]

विंदी एवं तिलक

मस्तक के मध्य चंदन, कस्तूरी आदि से तिलक लगाया जाता है । मस्तक पर चंदन लगाने का उल्लेख कबीर ने किया है ।[३] जायसी ने ललाट के तिलक का वर्णन किया है ।[४] गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामजी के मस्तक के तिलक की शोभा का प्रतिपादन किया है ।[५] सूरसागर में मृगमद एवं केसर के तिलक का उल्लेख मिलता है ।[६] और मस्तक पर मृग-मद रेखा होने की बात कही है ।[७] परमानन्ददास ने विजय दशमी के अवसर पर चन्दन लगाने की ओर संकेत किया है ।[८] उन्होंने गोरोचन-तिलक का वर्णन किया है ।[९] तुलसीदासजी ने भी इस ओर संकेत किया है ।[१०] कृष्णदास ने काजल के तिलक का उल्लेख

---

१. नाइनि बोलहु नव रंगी (हो), ल्याउ महावर वेग ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद ४०, पृ० २७५.

२. जावक रचि क अंगुरियन्ह मृदुल सुठारी हो ।
प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो ।
- रामलला नहछू, पद १५, पृ० १४.

३. चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ के संगा ।
- कबीर ग्रंथावली, पद २९५, पृ० ५१०.

४. पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा ।
- पद्मावत, पृ० ३४६.

५. भाल तिलक रुचिरता निवासा । - मानस, बाल०, चौ० ५, पृ० ५४७.

६. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४८७, पृ० ७७५.

७. वही, वही, पद ६१६, पृ० ४७९.

८. तिलक तरह ईं रेख भाल पर कुंडल तकत न श्रे कानन ।
- परमानन्दसागर, पद २०५, पृ० ६५.

९. वही, पद १२२, पृ० ४१.

१०. चिर रुचि तिलक गोरोचनको कियो है ।
- गीतावली, बालकांड, पद १०, पृ० ४२.

किया है ।[१] सूरदास ने गोरे भाल पर सेंदुर का टीका लगाने का चित्रण किया है ।[२] उन्होंने तिलक के चारों ओर लाल चुनी खचित करने की ओर भी संकेत किया है ।[३] `गीतावली` में `राम हिंडोला` प्रसंग में कुमकुम तिलक का उल्लेख है ।[४]

तिल

स्त्रियाँ अपनी सौन्दर्य-महिमा दिखाने के लिए कपोल पर कृत्रिम तिल बनाती हैं ।[५] नन्ददास लिखते हैं कि कृष्ण के कपोल पर बर्सौंडा बनाया जाता था ।[६] सूरदास ने कृष्ण के कपोल पर डिठौना बनाने का उल्लेख किया है ।[७] परमानन्ददास ने चिबुक पर धातु घिस कर अनेक चित्र बनाने की ओर संकेत किया है ।[८]

मेंहदी :

मेंहदी लगाने की प्रथा यद्यपि साधारण थी, तो भी ब्रज-वनिताओं में यह अधिक प्रचलित थी । वे मेंहदी रचाने को अचल सौभाग्य का प्रतीक

---

१. कुम्भनदास, पद ३१६.

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४६८, पृ० ७८०.

३. ताटंक तिलक सुदेस भलकत, खचित चुनी लाल ।
 - वही, वही, पद २८४३, पृ० ११३०.

४. गीतावली, उत्तरकांड, पद १८, पृ० ४१३.

५. सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५५, पृ० ६२३.

६. लटकनि लटकत ललित सुभाल । बनि रहे रुचिर बर्सौंडा भाल ।
 - नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २१३.

७. दमकत दसन अरुन अधरनितर, चिबुक डिठौना भ्राजत ।
 - सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४६८, पृ० ७८०.

८. स्याम सुभग तन धातु चित्र अंग बसन प्रसन्न मनु हासि ।
 - परमानन्दसागर, पद ७२५, पृ० २०८.

मानती हैं ।[1] गाय की पीठ पर मेंहदी से अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते थे ।[2]

सुगंध द्रव्यों का प्रयोग

मध्य युगीन काव्यों में चित्रण आया है कि स्नान से पूर्व शरीर को किसी सुगन्ध द्रव्य से प्रक्षालित किया जाता था और इसके बाद भी अनेक प्रकार के सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था । कबीर ने शरीर पर तेल-फुलेल लगाने (इत्र लगाना) या सुगंधित पदार्थ जैसे चोवा, चंदन आदि लगाने की ओर संकेत किया है ।[3] जायसी ने वर्णन किया है कि षट्ऋतु-वर्णन प्रसंग में गर्मी की ऋतु में बालायें अपना शरीर परिमल और सुवासित करती थीं ।[4] शीत ऋतु ऐसी लगती है मानो शरीर पर चंदन लगाया हो ।[5] स्त्रियां अरगजा और मरगाजी सुगंध से सुवासित साड़ियां पहनती थीं ।[6] जल-विहार-प्रसंग में कहा गया है कि ये चीजें जल में डाली जाती थीं[7] और तट पर चन्दन, कुमकुम की कीच होती थी ।[8] परमानन्ददास की यशोदा कृष्ण को स्नान कराने के बाद उनके शरीर पर कस्तूरी, कुमकुम, चन्दन, अगर, कपूर आदि छिड़कती है ।[9]

---

१. अचल सुहाग भाग्य की लहरों हस्त हैं मेंहदी दागे ।।
- परमानन्दसागर, पद ६९६, पृ० ३२८.

२. वही, पद २५४, पृ० ८०.

३. संत कबीर : डा० रामकुमार वर्मा, पद १६, पृ० ९८.

४. रितु ग्रीसम के तपनि न तहां । जेठ असाढ़ कंत घर जहां ।
- पद्मावत, पृ० ४०५.

५. जानहुं चंदन लागेउ अंगा । चंदन रहै न पावै संगा ।
- वही, पृ० ४१०.

६. सौंधे अरगजा अरु मरगजी सारी अंग ,
कहूं दरकी कुचनि पर अंगिया नेवलि ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद २०१०, पृ० ६२४.

७. स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग ।
मलयज-पंक कुंकुमा मिलिकै, जल-जमुना इक रंग । -वही, पद ११६२, पृ० ४५६.

८. वही, दशम स्कंध, पद ११६३, पृ० ४५६.

९. परमानन्दसागर, पद ७३८, पृ० २५७.

उन्होंने अंग अंग में चोवा चंदन लगाने की प्रथा का परिचय दिया है ।[1] सूरदास ने चंदन की खौरि बनाने का उल्लेख किया है ।[2] पुत्र-जन्म पर अयोध्या की गलियों में केसर की कीच मच रही थी और अरगजा, अबीर, अगर की गंध उड़ रही थी ।[3] गोस्वामी तुलसीदासजी ने वसंत-विहार-प्रसंग में स्त्रियों का अबीर घोलकर कुमकुम भरने का उल्लेख किया है ।[4]

नाना प्रकार के पुष्पों का प्रयोग

मध्ययुग में प्रचलित अनेक प्रकार के पुष्पों का परिचय उस समय के काव्यों में मिलता है । जायसी ने पद्मावती की सखियों को विभिन्न प्रकार के पुष्पों से अभिहित किया है ।[5] उसी प्रकार 'बसंत खंड' में अनेक फूलों का नाम उपलब्ध होता है ।[6] बसंत ऋतु में स्त्रियां पुष्प-हार पहनती थीं और पुष्पों की सेज बनाती थीं ।[7] नन्ददास ने फूल-मंडली शीर्षक में पुष्पों के विधान का यों उल्लेख किया है —

> फूलन के महल बने फूलन बितान तने,
> फूलन के झूले, झरोखा, फूलन किवार हैं ।
> फूलन की गादी गुंदी, तकिया सु फूलन के
> बैठे स्यामा-स्याम तहां सोभा अपार है ।।

---

१. चोवा चन्दन अंग लगाये सेंदुर मांग संभारी ।।
- परमानन्दसागर, पद १५, पृ० ६.

२. चंदन की खौरी किये तन, कटि काछनी बनाइ ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १४४५, पृ० ७६०.

३. बीथिन्ह कुंकुम-कीच, अरगजा अगर अबीर उड़ाई ।
- गीतावली, बालकांड, पद १, पृ० १७.

४. कुंकुम सुरस अबीरनि भरहिं चतुर बर नारि । - वहीं, उत्तर०, पद २१, पृ० ४२२.

५. पद्मावत : व्याख्या० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८८.

६. वही, पद २१४.

७. वही, पद ४०३.

फूलन के बसन और अभूषन सु फूलन के,
फूलन के फौंदा, औ फूलन उर हार हैं ।
'नंददास' प्रभु फूले, निरखति सुधि-बुधि भूले,
सुकदेव, सारद, नारद रटति बार-बार हैं ।।[१]

सूरदास[२] और परमानन्ददास[३] ने इसका वर्णन किया है । सौन्दर्याभिवृद्धि के लिए फूलों के गजरे और फूलों की माला बनायी जाती थी ।[४] पुष्प गुंथे हुए बाल हमेशा सुगंधित और मन मोहक होते हैं ।[५]

दर्पण

प्राचीन काल से ही शृंगार के लिए दर्पण का प्रयोग होता चला आ रहा है । कबीर ने शृंगार के लिए दर्पण के प्रयोग के सम्बन्ध में लिखा है कि यह तो केवल बाह्याडंबर के लिए प्रयुक्त होता है ।[६] सूरदास ने दर्पण के सहारे शृंगार करने का उल्लेख किया है ।[७] परमानन्ददास ने दर्पण देखकर मांग संवारने का चित्र उतारा है ।[८] नन्ददास ने दर्पण देखकर केवल हंसने का उल्लेख किया है ।[९]

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, पद १७१, पृ० ३२८.
२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २६१८, पृ० ११७१-११७४.
३. परमानन्दसागर, पद ७७०, ७७१, पृ० २६८.
४.(क) फूलन की चंपमाल, फूलन गजरा री ।।
- नन्ददास ग्रंथावली, पद १७२, पृ० ३२८.
(ख) नवग्रह गजरा अमर्ग नव पोहोंची जुवतिन आगे ।
- परमानन्दसागर, पद ६११, पृ० २२६.
५. अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गुंथे सुमन रसालहिं ।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद १०५५, पृ० ६२३.
६. कबीर ग्रंथावली, साखी ८, पृ० १७६.
७. सूरसागर, दशम स्कंध, पद २२११, पृ० ६७१.
८. हौं दरपन लै मांग संवारत बार्यौ हु नैना एक भये ।।
- परमानन्दसागर, पद ४४२, पृ० १५०.
९. दरपन में देखति हगनि मैं न समाति दोऊ,
- नन्ददास ग्रन्थावली, पद १६०, पृ० ३२५.

सूर की राधा दर्पण देख कर अपने को सौन्दर्यधाम मानती है और कृष्ण के रीझने के भय से एकदम रीझने लगती है ।[१]

पान खाना

प्राचीन काल से लेकर भारतवर्ष में तांबूल चर्वण की रीति चली आरही है । विशेष अवसर पर पान खाकर होठ और दांतों को लाल करना अच्छा समझा जाता था । हमारे आलोच्य काल में पान के आवश्यक उपादानों में सुपारी, गुलाबी कत्था और लौंग आते हैं ।[२] पान से शोभा बढ़ती है और अपने उर-अन्तर में रुचि उत्पन्न होती है ।[३] तुलसीदासजी ने राजा जनक द्वारा राजा दशरथ को पान देने का उल्लेख किया है ।[४] जायसी ने पदुमावत में एक स्थान पर पान खाने की ओर संकेत किया है ।[५]

इस प्रकार मध्ययुगीन शृंगार प्रसाधनों की चर्चा से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट काल में नर और नारी दोनों शृंगारप्रिय थे । उस समय जो शृंगार-प्रसाधन प्रचलित थे वे सब आज भी चलते हैं । यह बात सत्य है कि लोग प्रति दिन शृंगार-सज्जा की ओर अग्रसर होते हैं । उसके लिए वे अधिक खर्च भी करते हैं । अत: यह परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है ।

---

१. यह सुंदरी कहां तैं आई ।
बार बार प्रतिबिंब निहारति, नागरि मन मन रही लुभाई ।।
+ + + +
सूरदास यार्को या ब्रज में, ऐसी को बरनि जो ल्याई ।।
- सूरसागर, दशम स्कंध, पद२१६१, पृ० ६६६.

२. कृष्ण को बीरी देत ब्रजनारी ।
पान सुपारी काथो गुलाबी लौंगन कील संवारी ।।
- परमानन्दसागर, पद ८१४, पृ० २८३.

३. वही, पद ८१५, ८१६, पृ० २८४.

४. देइ पान पूजे जनक, दसरथ सहित समाज ।
- मानस, बालकांड, दोहा ३२६, पृ० ५५१.

५. पदुमावत व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३२६.

साहित्यिक स्थिति

मध्य युगीन साहित्यिक स्थिति का सदाम रूप तत्कालीन कवियों की रचनाओं से होता है। कवि युग-निर्माता है और उसका जन्म दीन, दु:खी, पद-दलित समाज के लिए एक अनुग्रह है, सांत्वना की बात है। कवि लोग अपना प्रतिनिधित्व जन्म लेने के पश्चात् अपने समाज के स्वरूप और वातावरण को समझ लेने के उपरांत करते हैं। समाज के प्रति उनका जो कर्तव्य और प्रयत्न है उसे प्राप्त करने के उपरांत ही वे युग-निर्माता बन जाते हैं। उनके उनके युग-संगीत की तरंगें आर्त-दु:ख में उतराते तैरते जनता को सुख और शांति प्रदान करती हैं। मध्य युग में मुसलमानों के शासन, अत्याचार, अनीति और कुरीतियों से पदच्युत जनता को सुख-शांति प्रदान करने वाला एकमात्र साधन तत्कालीन कवियों की काव्य कृतियां ही थीं।

यहां हम तत्कालीन साहित्यिक स्थिति पर प्रकाश डालेंगे। पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव तत्कालीन सर्वप्रचलित साहित्य पर निहित है। वैसे साहित्य का परवर्ती प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दिखायी पड़ता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की बानियों की रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह संपूर्णत: भारतीय है और बौद्धधर्म के अंतिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के यागादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही रा-रागनियां, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयां कबीर आदि ने व्यवहार की हैं, जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं।[१] कबीर की भांति ये साधक नाना मतों का खण्डन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने की कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। मध्ययुगीन भक्त कवियों के समय भारतीय जीवन में विषमय विषम वातावरण ने घेर लिया था। ऐसी अवस्था में साहित्य

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९४४) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१.

कैसे साँस ले सकता है और कैसे पनप सकता है ?

अब हम सुविधा के लिए भक्ति-कालीन साहित्य को चार भागों में विभक्त करेंगे और इनका अलग-अलग करके विश्लेषण करेंगे ।

संत-साहित्य

संतकालीन साहित्य में भाषा का स्वरूप पूर्णत: स्थिर नहीं था । कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि `कबीर बीजक` की साखियों की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, तथा उनकी रमैनियों एवं पदों में काव्य की ब्रजभाषा` एवं पूरबी बोली का भी व्यवहार है ।[१] कबीर की बोली `पूरबी` ही अधिक होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने कहा भी है कि उनका सारा जन्म `सिवपुरी` (काशी) में ही व्यतीत हुआ ।.... प्रधान रूप से उसमें हमें पूर्वी हिन्दी (अवधी) व्याकरण के रूप ही मिलते हैं । कहीं खड़ीबोली, कहीं ब्रजभाषा और कहीं अवधी की क्रियाओं के रूप कबीर की कविता में पाये जाते हैं ।[२] कबीर अवधी के प्रथम संत कवि हैं ।[३] कबीर की भाषा `पंचमेल खिचड़ी` है ।[४] उनकी रचना में हमें मुख्यत: ब्रजभाषा मिलती है, लेकिन उसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खड़ी बोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में मिलता है ।[५] एक दूसरे स्थान पर उन्हीं लेखक महोदय का कथन है कि कबीर की भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) तथा ब्रजभाषा का मिश्रित रूप है ।[६] कबीर की मूल वाणी का बहुत कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में लिखा गया था, किन्तु उनके पदों का पछांह की साहित्यिक भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८.
२. संत कबीर (प्रस्तावना) : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ८, २२, २४.
३. दक्खिनी हिन्दी : डा० बाबूराम सक्सेना, पृ० ३२.
४. कबीर ग्रन्थावली (प्रस्तावना) : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ६७.
५. भारत की भाषाएं : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० ६०.
६. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० चाटुर्ज्या, पृ० १६८.

संतों की भाषा में संस्कृत भाषा का प्रचलन बहुत कम हुआ । कबीर जैसे संतों ने सुविधापूर्ण उपयोग के लिए संध्या भाषा में प्रतीक योजना का सुन्दर विधान किया । `संध्या भाषा` ने एक ओर तो अपने प्रवर्तकों के आचरण की कलई खोली, दूसरी ओर साहित्य की प्रतीक पद्धति को आगे बढ़ाया । उसी से उलटबासियों का प्रचलन हुआ । यों तो प्रतीक प्रयोग कोई नई वस्तु नहीं था और न उलटबासियों में ही कोई नवीनता थी । कूट और विरोधाभास में इसका बीज विद्यमान था, किन्तु निरूपण शैली में नूतनता अवश्य थी ।[१]

कबीर साहब की रचनाओं में भाषा का वैविध्य है । उनकी भाषा अटपटी है, उस पर साहित्यिक `पालिश` नहीं है । उनके विभिन्न ग्रंथों में भाषा के विभिन्न रूप मिलते हैं । उनकी भाषा में छ भाषाओं का मिश्रण है, वे हैं - अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पंजाबी और राजस्थानी । `कबीर ग्रंथावली` का एक उदाहरण देखिए जिसमें ब्रजभाषा का रूप मिलता है—

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ।।टेक।।[२]

कबीर की भाषा सीधी और सरल है । उनकी भाषा की एक दूसरी विशेषता है कि उनकी भाषा व्यक्ति, विषय और भाव के अनुरूप बदलती रहती है ।

कबीरदासजी ने अपने समय में प्रचलित साधु-समाज की शैली को ही अपनाया । उसमें स्पष्टता, वक्रता, व्यंग्यात्मकता और प्रेषणीयता है । संतों के समय सबसे लोकप्रिय छंद दोहा था । इसके अलावा उन्होंने चौंतीसा, कहरा, विप्रमतीसी, चांचर, हिंडोला, बेलि, बिरहुली, वसंत, बावनी आदि छंदों का भी प्रयोग किया है । कबीर ने दोहा छंद को अपनाया । इसके

---

१. कबीर विमर्श सरनामसिंह शर्मा, पृ० ६०.
२. कबीर ग्रंथावली, पद २४१, पृ० १८०.

अतिरिक्त चौपाई और पदों का प्रणयन भी किया । उनके पद और रमैणियों में कई चौपाइयों के बाद दोहा का प्रयोग किया गया है । रमैणियों के अनेक भेद हैं — सतपदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैणी, दुपदी रमैणी, अष्टपदी रमैणी, बारहपदी रमैणी आदि । इससे यह ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने समय में प्रचलित दोहा-शैली, पद-शैली, दोहा-चौपाई की कड़वक-बद्ध शैली आदि को अपनाया । `कबीर वाणी` का सूक्ष्म निरीक्षण करने से हमें अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है । वे हैं — सामान्य निरूपण शैली, प्रस्थापन, स्वानुभव प्रकाशन, साक्ष्य-प्रस्तुतीकरण शैली, विरोध व्यंजना, प्रत्याख्यान, अनुताप-प्रकाशन, शब्दावृत्ति, प्रबोधन, प्रतिबोधन, संबोधन, प्रश्नोत्तर. प्रश्न, संवाद, खंडन-प्रसंग शैली, कथा शैली, वर्णन-शैली, नीतिवादी शैली, निषेध शैली, निर्णय-घोषणा, उत्साहाभिव्यक्ति, विवशता-प्रकाशन, दैन्य एवं विनय-प्रकाशन, उपालम्भ शैली, प्रशंसात्मक शैली, संस्कृतनिष्ठ, फारसी-निष्ठ, प्रतीक शैली, रहस्यवाद, कूट शैली, उलटबांसी, पहेली, अलंकार शैली और छन्द शैली ।

कबीर ने अपनी रचनाओं में अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है । उन्होंने सर्वाधिक रूप में रूपक और उपमालंकार का प्रयोग किया है । इसके अतिरिक्त विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग भी उनके काव्य में मिलता है । इनमें विरोधालंकार, विरोधाभासालंकार, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति और विषम का अधिक मात्रा में प्रयोग किया गया है । उन्होंने उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति दृष्टांत, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, लोकोक्ति, आदि का बहुत कम प्रयोग किया है ।

संत-साहित्य में प्रयुक्त कतिपय मुहावरे —

(१) दून्यौ बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर का नाव ।

(२) राम बियोगी ना जीवै, जिवै त बौरा होइ ।

(३) जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवैगा झख मारि ।[१]

---

१. कबीर ग्रन्थावली : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २, ६, ६१.

(४) वारी कौने वाग लगाया, फूक दियो जस होरी ।

(५) ऊंची गैल राह रपटीली, पांव नहीं ठहराय ।

(६) बाजा बाजा रहित का, पड़ा नगर में सोर ।

(७) सुसमनि सेज बिछावौं गगनमें, नित उठि करौं निहोरि ।

(८) जब से सतगुरु ज्ञान भयो हो, चलै न केहु और ।

(९) हौं कुरबान जाउं प्यारे ।

(१०) करि परपंच जात के उरके, अपनी उदर भरैं ।[1]

कहावत

(१) अंधे अंधा ठेलिया, दुन्यूं कूप पड़ंत ।

(२) रतन निराला पाइया, जात ढंढोल्या बादि ।

(३) विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ।

(४) बोवैं पेड़ बबूल का, अब कहां तें खाइ ।।

(५) नींद न मांगै सांथरा, भूख न मांगे स्वाद ।

(६) खूंदन कौं धरती सहै, बाढ़ सहै बनराई ।।

(७) मरनें कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह ।।

(८) जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ ।

(९) जब गुण कूं गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ
जब गुण कौ गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ ।।

(१०) निंदक नेड़ा राखिये आंगणि कुटी बधाइ ।[2]

सूफी साहित्य :

सूफी कवियों का साहित्य अधिक सरल और उसकी भाषा जन-भाषा के निकट की है, अर्थात् वह साहित्यिक भाषा नहीं थी । उन्होंने साहित्य

---

१. संत बाणी संग्रह, पृ० ४, ११, ३७, ४०, ४०, ४७, ५३.

२. कबीर ग्रंथावली : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २, १५, २८, ३०, ४१, ६३, ६९, ७३, ७८, ८२.

रचना के लिए जन-भाषा को प्रोत्साहन दिया । अधिकांश अवधी भाषा में लिखा गया है । उदाहरण के लिए मधुमालती, मृगावती, पद्मावत आदि अवधी भाषा के ग्रंथ हैं । मलिक मुहम्मद जायसीकृत `पद्मावत` अवधी भाषा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है । सूफी कवियों ने अवधी भाषा की कोई साहित्यिक परंपरा को नहीं अपनाया । उन्होंने तत्कालीन जन-कंठ की भाषा का प्रयोग किया ।

सूफी कवियों ने मसनवी शैली और भारतीय काव्यों की प्रबंध शैली - दोनों का सम्मिश्रण रूप में प्रयोग किया है । इसके अलावा लोक-कथाओं और लोकगीतों की शैली एवं लोक-जीवन और लोकवार्ता शैली में मार्मिक व्यंजनायें की हैं ।

जायसी ने संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार वर्णन कर पद्मावत की भाषा को प्रभविष्णुता और संगीतात्मकता प्रदान की ।[१] उन्होंने शृंगार-वर्णन के अलावा युद्ध-वर्णन, ऋतु-वर्णन, नगर-वर्णन आदि का सुन्दर वर्णन किया है ।[२]

सूफी कवियों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सुन्दर प्रयोग किया है । जायसी ने शब्दालंकारों में यमक[३], श्लेष[४], पुनरुक्तिप्रकाश[५], तथा वीप्सा[६] अलंकार की ओर विशेष ध्यान दिया । इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों में दीपक[७], सहोक्ति[८], समासोक्ति[९] आदि का प्रयोग जायसी ने किया है ।

---

१. पद्मावत : व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४०८-४०६; ४१२-४१८.
२. वही, पृ० ६७१-६६८; ४००-४११; ३८-५७.
३. भा अस सूर पुरुष निरमरा । सूर चाहि दह आगरि करा । -वही, पृ० ९७.
४. दाहिने ससि न सिंगी पुरे । बाएं परि बादि दिन करे । - वही, पृ० ४४६.
५. तरकि तरकि गौ चंदन चोला । धरकि धरकि उर उठै न बोला ।
- वही, पृ० ३६३.
६. एतना बोल न आव मुख करहिं त राहि तराहि । - वही, पृ० १३५.
७. परिमल प्रेम न आछै छपा । - वही, पृ० २३६.
८. सोइ प्रीति जिउ साथ जो जाई । - वही, पृ० ६७.
९. वही, पृ० ७७.

सूफी कवियों ने अपने काव्यों में मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' को लें।

मुहावरे :

(१) दूध पानि सब करं निनारा।

(२) पिता हमार न बांध लावहिं।

(३) आइ बात ओहि आगे चली।

(४) अस बड़ बोल मो जीभ मुख छोटे।

(५) जेइ तिल देखि सो तिल-तिल जरा।

(६) देखें किछु न आग नहिं पानी।

(७) राजै दीन्ह कटक कहं बीरा।

(८) परबत उड़हिं सूर के फूंके।

(९) नमक दिये होइ लौन बिलाई।

(१०) पिय बिनु मई कौड़ी बर बारी।[१]

कहावतें

(१) मेंटि न जाइ लिखी अस होनी।

(२) लोनी सोइ कंत जेहि चहै।

(३) निकसे घिउ न बिना दधि मथे।

(४) जहवां राम तहां संग सीता

(५) फूल सोइ जो महेसुर चढ़ै।

(६) साहस जहां सिद्धि तहं होई।

(७) सोइ सिंगार कंत जो चाहा।

(८) जहं बीरा तहं चून हैं, पान सोपारी काथ।

(९) पाहन कर रिपु पाहन हीरा।

(१०) छोड़ी राम अयोध्या, जो भावै सो लेव।[२]

---

१. जायसी ग्रंथावली (पंचम संस्करण) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६, २१, ३१, ३५, ४४, ६०, ६६, २९८, २५२, २६५

२. वही, पृ० १७, ३४, ५१, ५५, ६६, ६२, १९९, २२३, २३८, २९८.

कृष्ण-भक्ति-साहित्य

कृष्ण-भक्त कवियों ने सरल एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में अपनी रचना को काव्यात्मक ढंग से जन-सम्मुख रखा । ब्रजभाषा में ही उनकी काव्य रचना चली । सूरदास के `सूरसागर` के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी का मत है कि भिन्न-भिन्न लीलाओं के प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यंत मधुर और मनोहर पदों की झड़ी-सी बाँध दी है । इन पदों के सम्बन्ध में ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती ब्रज भाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी यह इतनी सुडौल और परिमार्जित है । यह रचना इतनी प्रबल और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं । अत: `सूरसागर` किसी चली आती हुई गीत-परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है ।[१] सूर के शृंगारिक पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है । यही नहीं, कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं । `सूरसागर` में जगह-जगह दृष्टि-कूटवाले पद मिलते हैं । यह भी विद्यापति का अनुकरण है ।[२] इस प्रकार कहें तो सूर और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने साहित्य में शुद्ध ब्रज भाषा का प्रयोग किया । ब्रजभाषा का प्रयोग सबसे पहले करने वाले कवि सूरदास ही हैं । उन्होंने कोमलकांत पदावली से युक्त ब्रज-भाषा का प्रयोग किया । सूर ने ब्रज की चलती भाषा का प्रयोग किया है । उसमें कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्द भी देखने को मिल जाते हैं । इसके फलस्वरूप वह समस्त उत्तरप्रदेश में समझी जानेवाली भाषा बन जाती है और व्यापक रूप ग्रहण कर लेती है । ब्रजभाषा को सूर ने जन-भाषा बना दिया, धार्मिक-भाषा बना दिया, साहित्यिक भाषा बना दिया ।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास   आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६५.
२. वही, पृ० १६५.
३. सूर साहित्य और सिद्धांत   यज्ञदत्त शर्मा, पृ० ६७.

सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दों का समावेश कर दिया है । उन्होंने अलंकारों का संतुलित ढंग से प्रयोग किया है । सूर ने तो अलंकारों का प्रयोग अपनी साहित्य-निपुणता दिखाने के लिए नहीं किया, बल्कि उनका उद्देश्य काव्य में अलंकारों के प्रयोग द्वारा भाव, गुण, रूप दिखाना था । उन्होंने अपनी रचना में रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उपमा तथा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग किया है । उनका यह अलंकार-प्रयोग स्पष्ट और आसानी से समझ में आने वाला है । इसके अलावा उन्होंने शब्दालंकारों का प्रयोग भी किया है ।

सूरदास ने चौपाई छन्दों में अधिकांश पदों की रचना की है । चौपाई के साथ चौबोल का भी प्रयोग किया है । नन्ददास ने दोहा और चौपाई में अपनी ग्रंथावली का सृजन किया । परमानन्ददास ने सूरदास का अनुकरण किया ।

सूर-साहित्य में वात्सल्य रस की प्रधानता है । लेकिन उन्होंने सभी रसों का प्रयोग किया है । अत: उनकी रचनाओं में आद्यंत रस ही रस भरा हुआ दिखायी देता है । उसमें वात्सल्य, शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, करुणा, हास्य, अद्भुत एवं शांत रस का परिमार्जित रूप में प्रयोग किया गया है । वात्सल्य रस की प्रधानता माता यशोदा और कृष्ण के सम्बन्ध में अधिक मात्रा में दिखायी देती है, और शृंगार की अधिकता राधिका रानी के जीवन से सम्बद्ध प्रसंगों में ।

अंत में यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में एक दूसरे का अनुकरण हुआ है ।

<u>मुहावरों का प्रयोग</u>

(१) कबहुंक फूलि सभा में बैठ्यौ, मुंछनि ताव दिखायौ ।

(२) हरि की माया कोउ न जानै, आंखि धूरि सी दीन्ही ।

(३) मुरली स्यामहिं मूंड़ चढ़ाई ।

(४) तब तें गनति नहीं यह काहुहिं, जब तें उन मुंह लाई ।

(५) काहे कों द्वै नाव चढ़त हैं, अपनी विपति करावत ।[१]

(६) उदय भयौ जादौ कुल दीपक ।

(७) ब्रज में फूले फिरत अहीर ।

(८) मच्यौं मंदिया फाग ।

(९) पूजे मन के काम ।

(१०) आनन्द भरी नन्द जु की रानी फूली अंग न समाई ।[२]

कहावत :
----

(१) प्रेम पियूषै छांड़िकै कौन समेटे धूरि ।।

(२) घर आए नाग न पूजै बांबी पूजन जाहिं ।

(३) जल बिनु कहि कैसें जियें पराधीन ज्‍यै मीन ।।

(४) परसत पायं प्रथम हीं हमहि निवारयौ ।[३]

(५) मारे कों मारत हैं, बड़े लोग ।

(६) झूठी कैथै मीठि कारन ।

(७) स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुंन करी ।।

(८) चौर रंग जात नहिं कैसेहुं, ज्यौं कारी कमरी ।

(९) जोबन रूप दिवस दसही कौ ।

(१०) नाव को गांव पाथर तें आगी ।[४]

राम-भक्ति-साहित्य

राम-भक्ति साहित्य के प्रमुख कवि हैं गोस्वामी तुलसीदास । उन्होंने मुख्य रूप में बारह ग्रंथों की रचना की । उनमें सर्वश्रेष्ठ रचना `रामचरितमानस`

---

१. सूरसागर नन्ददुलारे वाजपेयी, पद ३०१, १३१२, १८८८, २८८८, १९०५.

२. परमानन्दसागर, पद ३, ४, ५, १३, ११.

३. नन्ददास भ्रमरगीत, पद १२, २८, ३१, ६६.

४. सूरसागर, पद ३९२१, ३९५८, ४१४५, ४१४५, ३२१०, ४२१८.

राम भक्ति-साहित्य

रामभक्ति-साहित्य के प्रमुख कवि हैं तु. दे. [illegible] 1554 में कुल 12 ग्रन्थों की रचना की उनमें सर्वश्रेष्ठ रचना है रामचरितमानस है । तुलसी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है । जायसी के पश्चात् अवधी भाषा में काव्य रचने वाले कवियों में तुलसीदास का प्रथम स्थान है । `मानस` की भाषा अवधी भाषा है । श्रीकृष्णगीतावली अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं का ग्रंथ है । उन्होंने एक ओर ब्रजभाषा को अपनाया तो दूसरी ओर अवधी और संस्कृत का प्रयोग किया है ।

तुलसीदासजी ने अपने काव्य-ग्रंथों में विभिन्न छन्दों का परिमार्जित एवं परिनिष्ठित रूप में प्रयोग किया है । `रामचरितमानस` दोहा-चौपाईवाली शैली में लिखा गया है । दोहावली, रामाज्ञाप्रश्न एवं वैराग्य-संदीपिनी में साखी शैली का दर्शन होता है । तुलसी ने कवितावली में ब्रज भाषा के माध्यम से कवित्त-सवैयों की ललित शैली का अत्यंत ललित रूप में प्रयोग किया है । गीतावली, विनयपत्रिका, श्रीकृष्णगीतावली में पद-पद्धति का प्रयोग किया है । बरवै-रामायण बरवै छन्द की रचना है । उनकी लोकगीत की पद्धति `पार्वती-मंगल`, `जानकी-मंगल`, `गीतावली`, `रामलला नहछू` और `कवितावली` में देखने को मिलती है । उनके `मानस` में इसका अमिट प्रभाव हुआ है । `नहछू` सोहर छन्द की रचना है ।

तुलसीदास की रचनाओं में सभी रसों का परिमार्जित एवं परिनिष्ठित रूप दिखायी पड़ता है । `मानस` का प्रमुख रस शांत है, परन्तु शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र आदि का भी परिपाक अनेक स्थलों पर हुआ है । तुलसी ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का प्रयोग करके अपनी काव्य प्रतिभा दिखायी है ।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तुलसी का प्रमुख ध्येय (विविध रचनाओं में रामचरित लिखने का) सामाजिक ही जान पड़ता है । उन्होंने प्रत्येक वर्ग को अपनी रुचि के अनुकूल रामचरित सुलभ करना चाहा और इस प्रकार महिला वर्ग के लिए उत्सव, संस्कारों के अवसर पर उपर्युक्त रामचरित से सम्बन्ध रखने वाले गीत उन्होंने

`रामलला-नहछू`, `पार्वती मंगल`, `जानकी मंगल` और `गीतावली` में प्रदान किये, कवित्त-रसिकों के लिए `कवितावली` बनायी, भक्तों और संन्यासियों के लिए `विनयपत्रिका`, `वैराग्यसंदीपिनी` जैसे ग्रंथ हैं, लोक नीति से प्रेम रखने वालों के लिए `दोहावली` है और गंभीर साहित्यिक एवं दार्शनिक रुचि वाले लोगों के लिए तुलसीदास ने `रामचरितमानस` का प्रणयन किया । इस प्रकार तुलसी की जागरूक चेतना ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर विविध ग्रंथों की रचना की थी ।[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया है ।

मुहावरों का प्रयोग

(१) सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।

(२) बहत बारि पर भीति उठावा ।

(३) जब प्रताप रवि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस ।

(४) पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल ।

(५) अवलोकि रघुकुल कमल रवि छबि, सुफल जीवन लेखहीं ।

(६) नारि महामनि और मंजुल अंग सब चित चोरहीं ।

(७) पुर नारि सुर सुंदरी बरहिं बिलोकि सब तिन तोरहीं ।[२]

(८) जरि तुम्हारि चह सवति उखारी ।

(९) रेख खंचाइ कहौं बल भाखी ।

(१०) भामिनि भयेहु दूध कइ माखी ।।[३]

कहावतें :

(१) कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार ।।

---

१. तुलसी रसायन : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३७.

२. मानस, बालकांड, चौ० ४, पृ० २९; चौ० ३, पृ० १६१; दोहा १५३, पृ० २
दोहा २४९, पृ० ४२०; छंद १, पृ० ४२०; छंद १, पृ० ५४७; छंद १, पृ० ५४७.

३. मानस, अयोध्या०, चौ० ४, पृ० २९; चौ० ४, पृ० ३२; चौ० ४, पृ० ३२.

(२) बांभकि जान प्रसव के पीरा ।
(३) बिनु औषध बिआधि बिधि खोई ।[१]
(४) कोउ नृप होउ हमहि का हानी ।
(५) निज हित अनहित पशु पहिचाना ।
(६) को न कुसंगति पाइ नसाई ।
(७) लिखत सुधाकर गा लिखि राहू ।
(८) लाइ अति पहार करपानी ।
(९) जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ।।[२]

इस प्रकार मध्ययुग के काव्य-ग्रंथों और कवियों की काव्य पटुता की ओर निरीक्षण करने से हमें यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उस समय आज की तरह काव्य के विविध तत्वों की ओर लोगों का ध्यान था । वे काव्य-तत्वों के सक्षम और सूक्ष्म ज्ञाता थे । यह कवि लोगों का पाण्डित्य प्रदर्शन दिखाता है ।

अंत में निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि मध्ययुग की संस्कृति उसकी चरम सीमा तक पहुंच गयी थी । उस समय के किसी भी सांस्कृतिक पक्ष को लें, उसका विकास आज की तरह ही हुआ था । उस समय के विभिन्न संस्कार, कला सम्बन्धी बातें, [illegible], पर्वोत्सव, रहन-सहन, शृंगार-सज्जा, वस्त्राभूषण, साहित्यिक दशा आदि इसके प्रमाण हैं । इन सबका विकास परिनिष्ठित रूप में हुआ था । मध्ययुगीन काव्य-ग्रंथों के आधार पर उस समय के सांस्कृतिक विकास का निरीक्षण एवं परीक्षण सक्षम रूप में किया जा सकता है । अत: कहने का तात्पर्य यह है कि मध्ययुग में एक सभ्य एवं सुसंस्कृत जनता थी ।

---

१. मानस, बाल०, दोहा ६८; चौ० २, पृ० ११६; चौ० २, पृ० २६५.
२. वही, अयो०, चौ० ३, पृ० २७; चौ० १, पृ० ८१; चौ० ४, पृ० ३६;
चौ० १, पृ० ८४; चौ० १, पृ० ६५; चौ० ४, पृ० ६६.

सप्तम अध्याय

उ प सं हा र

प्रत्येक युग के साहित्य में उस समय के सामाजिक जीवन की अनेक बातों का होना स्वाभाविक है और समाज परिवर्तन के साथ नागरिक जीवन भी बदल जाता है। समाज में अनेक संस्कार, उत्सव, पर्व आदि मनाये जाते हैं। परंपरा से समाज में चलने वाले संस्कारों, उत्सवों आदि को कवि लोग अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं और इससे उनके काव्यों का महत्व बढ़ जाता है।

साहित्य में समाजपरक अध्ययन की भी आवश्यकता है। ऐसे अध्ययन से समाज का सर्वांगीण चित्रण तथा परंपरागत बोध हमारे स्मृति-मंडल में आने लगता है। समाज गठन के तत्व, समाज और मानव का सम्बन्ध, समाज की इकाई के रूप में परिवार और परिवार गठन आदि बातों का चित्र, आंशिक रूप में ही सही, उनमें अंकित रहता है। समाज में स्त्री का स्थान, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, रीति-रिवाज, नागरिक-जीवन आदि का भी यथार्थ या कल्पित चित्रण साहित्य में होता है। सामाजिक व्यवस्था के साथ उसकी राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की चर्चा भी उचित रूप में उनमें होती है। जिस परिस्थिति के अनुकूल लोग रहते हैं उसका भी जीवंत चित्रण साहित्यिक रचनाओं में हमें प्राप्त होता है। कविगण सामाजिक बातों के प्रति आंख बंद नहीं कर सकते - जाने-अनजाने वे उनका वर्णन कर बैठते हैं। यही बात मध्ययुगीन कवियों के सम्बन्ध में भी ठीक कही जा सकती है। यही प्रस्तुत अध्ययन स्पष्ट करता है।

सन् १३०० ई से सन् १८०० ई० तक के समय में उत्तर भारत का जन-जीवन अत्यंत विषम एवं संकटग्रस्त था। देश हेय, घृणित एवं अपयश की दशाओं का अनुभव करते हुए आगे बढ़ रहा था। जनता में लोभ, लालच, महत्वाकांक्षा, दर्प, गर्व, अहंकार, प्रतिकार, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, कामुकता आदि दुर्गुण विद्यमान थे। मुसलमानों का अत्याचार था, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी सामाजिक क्षेत्रों में कुछ व्यवस्था नहीं थी। उस समय

पंडित, पुजारी, मुल्ला-मौलवी आदि पथभ्रष्ट एवं विवेकशून्य होकर जप, तप, तिलक, माला, रोजा, नमाज़ आदि को अपना नैतिक एवं सदाचार का मापदण्ड समझते थे। देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से नर-बलि और पशु-बलि का प्रचलन था। इन्हीं कारणों से इस समय में जनता के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में विपत्तियों के बादल छाने लगे। जनता निराश थी, उसका न कोई लक्ष्य था, न उद्देश्य। ऐसी विकट परिस्थिति में अनेक श्रेष्ठ कवियों और आचार्यों का आगमन हुआ और उन्होंने जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। आचार्यों तथा कवियों ने जनता में धैर्य और सामाशीलता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को दिव्य गुणों का उपदेश देकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच में स्थित भेद-भाव को दूर करने का अथक प्रयास किया। इसके लिए दोनों जातियों की बुराइयों पर प्रकाश डाला तथा उनका खण्डन किया और अच्छाइयों का मण्डन किया।

इसी समय समाज में अनेक धार्मिक संप्रदायों का प्रचार हुआ। उनमें निर्गुण-सगुण दोनों शाखाओं को विशेष स्थान प्राप्त है। इन संप्रदायों के आचार्य तथा कवियों ने जनता को सुख शांति प्रदान करने के लिए, सामाजिक कल्याण के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया।

मध्य युग के विभिन्न कवियों का व्यक्तित्व तत्कालीन समाज के लिए वरदान और आशीर्वाद के रूप में विकसित हुआ। उस समय प्रचलित विभिन्न शाखाओं के कवियों ने अपने समय के संतप्त लोगों के विकास तथा अभ्युत्थान के लिए सतत परिश्रम किया। उन्होंने निराशा से ग्रस्त मानव-समाज में आशा का दीप जलाया। लोगों में समता, एकता, सार्वधर्मिकता और सर्वप्रियता का गुण प्रदान किया। ऐसे सद्गुण पथ पर चलकर लोगों ने अपने समस्त दुःखों, आतंकों, संकटों और व्यथाओं को भूलकर सुख पूर्ण जीवन बिताने का एक सीमा तक प्रयत्न किया।

मध्य युग के कवियों का उद्देश्य तत्कालीन जनता को सुधार कर उसे

उन्नति की दिशा की ओर ले जाना था । इसके लिए कवियों ने मानव को समता, क्षमा, दया, त्याग, विश्वबन्धुत्व तथा उदारता का उपदेश दिया । उनका कथन था कि मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है । उनके अनुसार मानव-जीवन बड़ी कठोर तपस्या के बाद प्राप्त होता है । उसे छोटी-सी बातों के नाम पर अपवित्र कर देना पाप है । मानव-जन्म की सार्थकता तभी प्रमाणित होती है जब वह जीवन को उदात्त कार्यों में संलग्न कर देता है ।

भक्तिकाल की विभिन्न शाखाओं के कवियों के काव्य का अध्ययन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सभी कवियों की जीवन संबंधी कार्यों में विशेष पैठ थी । इन कवियों ने उस समय के जन-जीवन का चित्रण यथार्थ रूप में काव्य में प्रतिपादित किया है । उन्होंने १४ वीं शती से १६ वीं शती तक के समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, मान्यताओं, व्यवस्थाओं, मनोरंजन के विविध साधनों, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का अंकन इतनी पटुता से किया है कि हमें उनके काव्य में मध्ययुगीन जीवन की झांकी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है ।

इन भक्त कवियों के आविर्भाव के समय नगरों का जीवन कुछ ऐश्वर्यपूर्ण था । उस समय के काव्य-ग्रंथों के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनता सभी प्रकार के सुख-सुविधाओं से अलंकृत होने के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान, कला और शिक्षा आदि में प्रवीण थी । पारिवारिक जीवन कष्टमय नहीं था । परिवार के मुखिया के अनुसार घर का सभी काम चलता था । घर के सदस्यों को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था । मुखिया की आज्ञा का उल्लंघन करने पर सदस्य को उचित दण्ड दिया जाता था । परिवार में पुत्र एवं पुत्री दोनों का जन्म आनन्दवर्द्धक था; लेकिन पुत्र पारिवारिक जीवन का मुख्य आकर्षण हुआ करता था । घर में प्रत्येक उत्सव के समय बाजे बजने, याचकों को दान देने, परिचारकों को नेग देने, होम करने एवं द्विज-पूजा करने का जो क्रम जनता में था उसका उल्लेख उस समय के काव्य-ग्रंथों में मिलता है ।

समाज में नारी की जो स्थिति थी उस की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि परिवार में स्त्री, पुत्री, कन्या, पत्नी, माता, दादी, नानी, सास, जिठानी, ननद, सहेली आदि के रूप में थी। कवियों ने तत्कालीन नारी की दुरावस्था को चित्रित किया है। कबीर, तुलसी आदि कवियों ने पूर्ण रूप से नारी की निंदा नहीं की, लेकिन उसकी हीन प्रवृत्ति का विरोध किया है। उन्होंने नारी के धर्म, कर्तव्य एवं आदर्श की ओर संकेत किया है। उन कवियों के काव्य-ग्रंथों में स्त्री सहज दुर्बलताओं का उल्लेख मिलता है। मध्य युग के व्यवसाय और वाणिज्य में पुरुषों को स्त्रियां भी सहयोग देती थीं।

समाज के गार्हिक नियमों और सम्बन्धों में शिथिलता नहीं थी। माता-पिता को पुत्र-पुत्री के प्रति अतीव वात्सल्य था। उसी प्रकार माता-पिता के प्रति पुत्र एवं पुत्री की श्रद्धा और भक्ति अपार थी। परिवार का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यंत उच्च कोटि का था। प्रणाम करना, चरण स्पर्श करके बड़ों की श्रद्धा करना, अतिथि का स्वागत करना, अपने से बड़ों की बात मानना, आदि उस समय के आचार थे। समाज में चुगली लाना, लोक-लाज को न मानना, कृपण होना, नैन से नचाना आदि बुरी बातों का उल्लेख भी कवियों ने किया है। सामाजिक नियम-विधान के रूप में पर्दा, सती, जौहर, गौना, दहेज, दास-प्रथा आदि प्रथाओं का प्रचलन सर्वत्र था।

मध्य युग के काव्यों में तत्कालीन समाज के रीति-रिवाज, आचार-विचार, भोजन-रीति और भोजन-सामग्री आदि का उल्लेख हुआ है। अनेकों खाद्य पदार्थों का उल्लेख काव्यों में मिलता है। तत्कालीन विभिन्न प्रकार की घरेलू चीजों, औषधियों और वनस्पतियों का परिचय भी उस समय की साहित्यिक कृतियों से होता है।

उस समय सामाजिक [illegible] के रूप में बालकों, वयस्कों और स्त्रियों में दौड़, आंखमिचौनी, बट भौरी, गेंदतड़ी, पतंग उड़ाना, चौगान, भौरा-चकरी,

चौपड़, जल क्रीड़ा, मृगया, मल्लक्रीड़ा, झूला-झूलना, वन-विहार आदि खेल प्रचलित थे। समाज में सांस्कृतिक, लौकिक, धार्मिक आदि सभी मेलों तथा त्योहारों को स्थान था।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के भक्त कवियों ने अपने काव्य में राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए तत्कालीन शासन प्रणाली, राजा का कर्तव्य, राजा का अधिकार, सरकार की नियम व्यवस्था, अफसरों का रूप, सेना का संचालन, दण्ड-विधान आदि का सुव्यवस्थित चित्र अंकित किया है। उन्होंने तत्कालीन राजनैतिक दशा को देखकर राजा और प्रजा में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का उपदेश दिया। काव्यों में एक आदर्शनिष्ठ शासन की ओर उनका विशेष आग्रह था, उसका मूर्त भाव देखने को मिलता है। कबीर, तुलसी आदि ने रामराज्य का महान सन्देश इसी उद्देश्य से दिया था, जिससे राजा-प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध उच्चकोटि का रहे, शासन प्रणाली सुव्यवस्थित हो और सभी दृष्टियों से देश में सुख-शांति व्याप्त रहे।

मध्ययुग में राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, लेकिन बाद में इसमें कुछ सुधार हुआ। अनेक प्रकार के व्यवसाय और वाणिज्य का प्रचार होने लगा जो उस समय की आर्थिक उन्नति के लिए सहायक हुआ। तत्कालीन कवियों ने उच्च और निम्न वर्ग के लोगों की आय को विचार में रखते हुए किसानों की दशा, देश के व्यापार और वाणिज्य की स्थिति, उस समय प्रचलित विभिन्न सिक्कों, नाप-तौल एवं परिमाण की रीति का वर्णन किया है। समाज के मुख्य व्यवसाय गोचारण, कृषि एवं वाणिज्य थे। जलगत और स्थलगत व्यापार की उन्नति हुई थी। अत: समाज में आर्थिक विकास हुआ। यद्यपि आंतरिक संघर्षों और बाहरी आक्रमणों से देश की स्थिति डांवाडोल थी, तब भी देश की सामाजिक उन्नति में वह बाधा नहीं बनी।

आलोच्य काल के कवियों की दृष्टि धार्मिक क्षेत्र पर विशेष रूप से पड़ी। मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दू मन्दिरों का विनाश हुआ। उपासना, व्रतानुष्ठान आदि में क्रम न था। ऐसी दशा में धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न

धर्मप्रचारकों का प्रादुर्भाव हुआ । वे जनता को अपने-अपने पथ पर ले गए । सगुण एवं निर्गुण कवियों ने अपने काव्य ग्रंथों में तत्कालीन प्रचलित धार्मिक परिस्थितियों की आराधना-क्रम आदि की ओर संकेत किया है । हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न पूजा जैसे मूर्तिपूजा, शक्ति-पूजा, शिव-पार्वती की पूजा, सूर्य-पूजा, गोवर्द्धन-पूजा, इन्द्र-पूजा, भूत-प्रेत की पूजा, शालिग्राम की पूजा, नदियों की पूजा आदि पूजाओं का उल्लेख करके उन्होंने उचित का मण्डन और अनुचित का खण्डन किया । हिन्दू-मुसलमानों में प्रचलित वर्णव्यवस्था, छुआछूत, बाह्याडम्बर, अंधविश्वास आदि भी उनकी लेखनी से बच नहीं सके ।

उस समय लोगों में अनेक प्रकार के अंधविश्वास विद्यमान थे । शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेतादि की छाया में पड़ जाना, कुलदेवता पर अधिक विश्वास करना, बलि चढ़ाना आदि बातें उस समय के लोकविश्वास को अभिव्यंजित करती हैं । स्त्रियां बच्चों पर दूसरे लोगों की नज़र लगने पर `राई-नोन' उतारतीं, आंचल से झाड़तीं एवं कुलगुरु तथा दूसरे लोगों से `हाथ दिवाती डालतीं' थीं । पुत्र को दूसरों की कुदृष्टि से बचाने के लिए कंठ में कठुला, भाल में `मसि बिंदु' आदि लगातीं थीं । इतना ही नहीं कि लोग भाग्यवाद, कर्मानुसार फल-प्राप्ति, जन्म-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि झंझटों में पड़कर कर्म-धर्म से हाथ धो बैठे; इसके अतिरिक्त अन्य विविध विश्वास भी परंपरागत रूप से लोगों में प्रचलित थे - जैसे यात्रा विचार, दिवस विचार, तिथि विचार, ग्रह विचार, हस्तरेखा एवं भालरेखा पर विश्वास रखना मुख्य था । मध्ययुगीन कवियों ने उनका विवेकयुक्त वर्णन प्रस्तुत किया ।

मध्ययुगीन काव्यों में सांस्कृतिक एवं कला सम्बन्धी बातों का भी संकेत मिलता है । मानव-जीवन सम्बन्धी अनेक संस्कारों पर विचार करते हुए उसका सफल वर्णन हिन्दी भक्त कवियों ने किया है । जन-समाज में जीवन के जो संस्कार प्रचलित थे वे उनकी आत्म-शुद्धि को अभिद्योतित करते थे । उनका खुलासा वर्णन करना उन कवियों का अभीष्ट था । यद्यपि मुसलमान शासकों में कुछ कला-प्रेमी नहीं थे और कला के विरुद्ध खड़े थे, तो भी मध्ययुग में संगीत, साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला आदि की उन्नति हुई । तत्कालीन कवियों ने

उनका विस्तार से वर्णन किया है ।

विभिन्न कलापूर्ण वस्तुओं के निर्माता मणिकार, चित्रकार, मूर्तिकार, शिल्पी, स्वर्णकार आदि समाज में विद्यमान थे । समाज में साधारण उपयोग में आनेवाली वस्तुओं का निर्माण कलाल, दरजी, बढ़ई, रंगरेज, जुलाहा, तेली, गंधी आदि के द्वारा किया जाता था । काछी, केवट, सारथी, महावत, 'सानगर', मजूर, चौड़, दाई, धाय, माली, नाई, बारी (पत्तल बनाने वाला), रजक आदि अन्यान्य व्यवसायी अपने परिश्रम का फल पाने के लिए परिवारों से सम्बद्ध होकर स्वतंत्र जीवन बिताते थे और अपना जीवन-निर्वाह सफलतापूर्वक करते थे । सूत, मागध, भाट, बंदीजन, ढाढ़ी-ढाढिन आदि शुभ अवसरों पर घरों में जाकर प्रशस्ति का गायन करते थे और परिवार के नायक से नेग अथवा दान पाकर प्रसन्न होते थे । नट, बाजीगर आदि समाज में मनोरंजन कार्य करके लोगों को प्रसन्न करते थे और अपनी जीविका कमाते थे ।

मध्ययुगीन काव्यों में जिन लोकगीतों, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, रास आदि का उल्लेख मिलता है वे कला के प्रति जनसाधारण की परिष्कृत अभिरुचि व्यक्त करते हैं । उस समय की वास्तुकला की अभिव्यक्ति गगनचुम्बी महलों, मंदिरों आदि में हुई है । पर्वोत्सव पर स्त्रियां विभिन्न प्रकार के चित्र बनाकर या चौक पूर कर अपनी कला का प्रावीण्य दिखाती थीं । भौतिक जीवन के प्रति उन लोगों का निगूढ़तम विश्वास था, जिसका स्पष्ट दिग्दर्शन भोज्य पदार्थ, आभूषण, वस्त्रादि के विविध प्रकार एवं दैनिक उपयोग के आवश्यक उपकरणों को देखकर होता है । उस समय के लोग रंग-बिरंगे छपे कपड़े, जरी के कपड़े, तरह-तरह की महंगी साड़ियां आदि वस्त्रों का प्रयोग करते थे । कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्यों में स्त्रियों के नैतिक कामों का उल्लेख किया है, जिनमें रसोई बनाना, पति की सेवा करना, बालक को दूध पिलाना, घाट से पानी भरने जाना, दूध दुहवाना, वन में छाक भेजना, दधि-मंथना आदि मुख्य काम हैं । नारी का मुख्य कर्तव्य कुल की मर्यादा का

पालन करना, बड़े-बूढ़ों का सम्मान करना, परिवार में संगठन एवं एकता बनाये रखना आदि थे । समाज में अनेक प्रकार के उत्सव प्रचलित थे, जो उस समय की जनता के मनोरंजन के स्वरूप एवं रीति-रिवाज को स्पष्ट करते हैं । समाज में पर्वों, उत्सवों और त्योहारों का जाल बिछा हुआ था । विभिन्न संस्कारों का आचरण भी समाज में प्रचलित था, जिनमें अनेक कुलाचारों की प्रधानता थी । विवाह, अन्त्येष्टि संस्कार आदि में ऐसे कुलाचारों की विशेषतायें स्पष्ट होती हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय के कवियों ने राम, कृष्ण आदि को काव्य का अवलम्बन बना कर जिस समाज की कल्पना की वह अपने आपमें एक पूर्ण और समृद्ध समाज है । यद्यपि यह समाज धर्म प्रवण था तो भी उन्होंने भौतिक सुख-साधनों का निषेध नहीं किया । वास्तव में यह एक ऐसा समाज है जिसमें गंभीरता एवं कोमलता, अध्यात्म तथा सौन्दर्य, सांसारिकता और वैराग्य का एक साथ समन्वय पाया जाता है । यह समाज निश्चय रूप से उन्नति की उच्च सीमा तक पहुंचा हुआ था । उस समय के सांस्कृतिक विकास के साथ ही साथ सामाजिक पुरातन परंपराओं का अनुकरण, कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहन मोह, आदि दर्शनीय गुण थे । संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस समय के कवियों ने राम और कृष्ण के शैशवोचित क्रीड़ाओं और यौवनावस्था के रंगरेलियों के वर्णन करने के साथ ही ही साथ तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण अंकित किया है । सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कुछ पौराणिक कथाओं के आधार पर श्रीकृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं को कुछ विस्तार से चित्रित करने का प्रयास किया है ।

संतों ने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखने वालों को चेतावनी दी । विलासपूर्ण जीवन बिताने वालों को अर्थात् माया, ऐश्वर्य और भोग में संलग्न व्यक्तियों को इनसे अलग रहने का उपदेश दिया । उन्हें विलासिता, हिंसा, गर्व, प्रतिकार आदि दुर्गुणों से दूर कर दिया । जनताके लिए संतों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने जनता के निराशापूर्ण और संत्रस्त जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया । इसके अलावा उन्होंने वैमनस्य, भेदभाव,

असमानता से अभिशप्त जन-जीवन को एकता और प्रेम के सूत्र में बांधने का सफल प्रयास किया। यह कार्य सैकड़ों धार्मिक नेताओं से भी संभव नहीं था, सामाजिक कार्यकर्ता भी यहां पराजित होते थे। अत: इन संत कवियों की वाणी की कटुता तथा स्पष्टता ने युगप्रवर्तन का काम ही किया है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रेमाख्यानक परंपरा के कवियों ने लौकिक प्रेम-कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की। राजकुमार और राजकुमारी की प्रणय-कथा के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा के आपसी संबंधों का चित्र खींचने में सूफी कवि सफल सिद्ध हुए। सुप्रसिद्ध सूफी कवि जायसी ने अपने 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती के दाम्पत्य-प्रेम का रूपक बांधते हुए ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग का निरूपण किया है। प्रेम ही मानव-मानव को निकट खींचने वाला सूत्र है। ये कवि इसी सूत्र को हाथ में लेकर जनता के मध्य आये थे। इसी से जनता के भावुक हृदय की तंत्रियों को उन्होंने झंकरित किया। उससे क्रूर धार्मिक हत्याओं के नग्नताण्डव से जनता का विक्षुब्ध मन, लघु रूप में ही सही, कुछ शांत हुआ।

लोकनायक तुलसीदास ने 'मानस' मन्दाकिनी की पीयूष वर्षा में शत-शत जन-मानस को डुबो देने का प्रयास किया। 'रामचरितमानस' में वर्णित विभिन्न पात्रों के माध्यम से तुलसीदासजी ने कौटुम्बिक जीवन का सर्वोच्च आदर्श जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी का संपूर्ण जीवन आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श राजा, आदर्श मित्र आदि का परिचायक था। 'रामचरितमानस' के आदर्श जन-जीवन के समान भारतवर्ष में एक आदर्श रामराज्य की स्थापना की परिकल्पना भी मानसकार के उद्देश्य में निहित है। राम-कथा के सहारे एक विशिष्ट सामाजिक जन-जीवन का निर्माण भी उनका लक्ष्य था। राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी, व्यावसायिक सभी दृष्टियों से आदर्शपूर्ण समाज की सृष्टि करना ही उस कवि का अभीष्ट था।

कृष्ण भक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की बहुमुखी जीवन-गाथा का परिचय दिया है। प्रमुखत: महाकवि सूरदास ने अपनी अमर कृति 'सूरसागर' के द्वारा कृष्ण की बाल-लीला का अत्यंत मनोहारी चित्र उतारा है। इस कृति में पारिवारिक जीवन के विभिन्न आदर्शात्मक पहलुओं के साथ-साथ बाल-मनोविज्ञान का भी पुट दर्शनीय है। बालकृष्ण की विभिन्न लीलाओं के वर्णन के अलावा इसमें युवा कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों का भी उल्लेख आया है। गोपियों का कृष्ण के प्रति जो प्रेम था वह वास्तव में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का द्योतक था। सूर, तुलसी तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने वात्सल्य भावना को जो नवीन दिशा प्रदान की थी वह अपूर्व साहित्यिक घटना है। निस्वार्थ भाव है वात्सल्य। उस ओर सारी जनता आकृष्ट होती है। उसका सांगोपांग तथा मनोहारी चित्रण जो इस समय हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेमानुभूति के समस्त भावों का व्यापक रूप इन कवियों ने प्रस्तुत किया है। वैसा अन्यत्र कहीं मिलना कठिन है।

मध्ययुगीन कवियों ने पथभ्रष्ट, लक्ष्यविहीन, निराशाग्रस्त, संत्रस्त जीवन को परित्राण और शांति प्रदान करने के लिए अनेक साहित्यिक कृतियों का प्रणयन किया। इन्होंने पद, साखी, रमैणी, दोहा, कवित्त, चौपाई, छंद आदि काव्यरूपों से युक्त काव्य-कृतियों की रचना की। इसके द्वारा जनता में विश्वबन्धुत्व, क्षमाशीलता, दया, करुणा, त्याग आदि गुण उत्पन्न होते हैं। वह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-काल था। केवल श्रेष्ठ साहित्य की रचना के ही कारण नहीं, हिन्दी के वरेण्य कवियों के जन्म से तथा अनेकों उदात्त काव्य रूपों के प्रणयन से ही ऐसा कहा जाता है। अवधी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी आदि सभी हिन्दी की साहित्यिक भाषाओं में इस काल में उत्तम रचनायें हुई। सब साहित्यिक विधाओं का प्रयोग किया गया, सब जीवन के पहलुओं का आदर्शपूर्ण चित्रण प्रस्तुत हुआ। इसलिए वह काल साहित्य के लिए तथा साहित्यिक सृष्टि के द्वारा समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण एवं कल्याणकारी था।

प्रस्तुत काल में सारे भारतवर्ष में भक्ति का नवजागरण हो रहा था। हिन्दी भाषी जनता ने उससे नवचेतना एवं प्रेरणा प्राप्त की। विभिन्न संप्रदायों के भक्तों ने स्वतंत्रतापूर्वक भक्ति की विशिष्टता उद्घोषित की तथा भक्ति रस निर्भर रचनाओं के सहारे जन-जन को भक्ति की ओर आकृष्ट किया। संतों ने इसके लिए उपदेशात्मक शैली स्वीकार की। कृष्ण-भक्त कवियों ने ताल-लय युक्त संगीत प्रधान शैली का प्रणयन किया। उनके गीतों में भक्ति उच्छ्वसित हुई। राम-भक्ति शाखा के कवियों में तुलसीदासजी ने संतों के खंडन-मंडन की कटुता को छोड़कर समीचीन संतुलित उपदेश पद्धति को स्वीकार किया। कृष्ण-भक्तों की ~~[?]~~ राग-रागनियों को अपनाकर भक्ति रस प्रमोचक काव्य-धारा बहायी। यह सत्य है कि कबीर आदि संत कवियों ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से अत्यंत तीक्ष्ण वाणी का प्रयोग किया। अशिक्षित, हीन लोगों के वचनों के प्रति उच्च वर्ग के लोग मौन थे। भक्ति का उपदेश तो उन्होंने किया, मगर जनता के सामाजिक उत्थान की ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। परन्तु, भक्त कवियों में तुलसीदासजी ने जो किया वह सामाजिक जीवन के अध्याय में एक दिव्य एवं प्रायोगिक सिद्धांत व प्रावर्तिक रूप जोड़ देता है। उन्होंने समाज की बहुमुखी आवश्यकताओं का अनुभव किया। इसलिए एकांगी खण्डन या मण्डन का प्रयत्न न करके विशाल समाज रूपी शरीर में व्याप्त व्रणों को दूर करने का अनुपम तथा फलसिद्ध औषधियों के रूप में अपनी काव्य-कृतियों को जनता के सम्मुख रखा। तुलसी की भावुकता में भी सत्य का अंश था, परिकल्पना में प्रयोग की साधुता थी। जन-कल्याण के लिए विभिन्न क्रमिक एवं संपूर्ण मार्ग-निर्देश ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। समाज के सारे वर्गों की उन्नति ही वे चाहते थे। इसलिए राजनैतिक, आर्थिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक जीवन के छोटे-बड़े सब पहलुओं का नाड़ी-स्पर्श करके उनमें व्याप्त दोषों को दूर करने का मार्ग उन्होंने प्रस्तुत किया। रामराज्य की कल्पना के पीछे उनका यही उदात्त लक्ष्य स्पंदित होता है। राम के चरित्र के सहारे उन्होंने एक आदर्शपूर्ण भारतीय परिवार, समाज, राज्य और साम्राज्य की पुष्टि एवं सृष्टि करते हुए जन-शक्ति को राज्यसत्ता में आवश्यक स्थान भी दिलाया। इस तरह स्पष्टता के साथ व्यावहारिक रूप में, अपने समय तक के

भारतीय मनीषियों के प्रसाद रूप में प्राप्त तत्वों के आधार पर एक शासन प्रणाली का रूप-विधान प्रस्तुत करना एक स्थितप्रज्ञ राज्य-मीमांसक से ही संभव था । तुलसी की शिक्षा-दीक्षा एवं लौकिक ज्ञान ने उनको इसके लिए बड़ा बनाया था । उनके रामराज्य के अन्तर्गत राज्यसत्ता तथा प्रजातंत्रात्मक सिद्धांत दोनों मेल खाते हैं । युगप्रवर्तक तुलसी ने केवल काव्य में ही नहीं अपितु जीवन के व्यापक क्षेत्र में जैसे सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक क्षेत्र आदि में भी युगप्रवर्तन की छाप लगायी । इसी कारण आधुनिक युग में गांधी जी जैसे राजनैतिक नेता रामराज्य की ओर आकृष्ट हुए थे और उसको कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील रहे थे । तुलसी का यह सिद्धान्त परंपरागत भारतीय जीवन तथा ऋषितुल्य पूर्वजों के अनुभवों से निसेवित लिखित प्रमाणों से पुष्ट था । वह पूर्णत: भारतीय था । अत: जब हम सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रतिपादन के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब आलोच्य युग के कवियों में तुलसी का स्थान सर्वोपरि सिद्ध होता है । उनका उपदेश रम्य था, सौम्य था, संतों का जैसा कटु नहीं था । सेवावृत्ति और प्रेम उनके आदर्श रहे हैं । उसमें शाक्तान्यियों की जैसी सांप्रदायिकता की छाप नहीं लगी हुई थी । उनकी भक्ति में समन्वयात्मक दृष्टिकोण था, जिससे किसी जन-विभाग को वह असंतुष्ट नहीं करते थे ।

इसलिए निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन कवियों ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को अपना विषय चुना था । कबीर तथा अन्य संत कवियों का स्थान आलोच्य युग में कुछ ऊंचा है । लेकिन कवि सार्वभौम तुलसी इस विषय में अपनी छत्रछाया आच्छादित कर रहे हैं ।

000000000
0000000
00000
000
0

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रंथों की सूची

(अ) हिन्दी ग्रंथ

(क) काव्य

१. कबीर ग्रन्थावली सटीक (१९६५)	प्रो० पुष्पपाल सिंह	अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली ६
२. कबीर दोहावली	कबीरदासजी	देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, दिल्ली
३. कबीर वचनावली (वि.सं० २०१०)	: अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	ना०प्र०सभा, काशी
४. कबीर साखी समीक्षा (१९६२)	प्रो० पुष्पपाल सिंह	अशोक प्रकाशन, दिल्ली
५. कबीर साखी सार (१९६३)	: रामवशिष्ठ और तारकनाथ बाली	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
६. कबीर संग्रह (१९६४)	डा० सीताराम चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
७. कवितावली (गो०तुलसीदास) (वि.सं. २०१५)	- तिलककार श्री श्रीकांत शरण	श्री सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, अयोध्या
८. कीर्तिलता - महाकवि विद्यापति (१९६२)	व्याख्या० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य सदन, चिरगाँव झांसी
९. गीतावली - तुलसीदास (सं. २०२२ वि.)	अनुवादक मुनिलाल	गीताप्रेस, गोरखपुर
१०. जानकीमंगल - गोस्वामी तुलसीदास (वि.सं. २०१४)		,,
११. जायसी ग्रंथावली (१९६२)	राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
१२. जायसी ग्रंथावली (वि.सं० २०१७)	रामचन्द्र शुक्ल	ना०प्र०सभा, वाराणसी
१३. तुलसी ग्रंथावली - सं० पहला खंड	माता प्रसाद गुप्त	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१४. तुलसी ग्रंथावली - सं० (सं० २०१५ वि.)	रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास	ना०प्र०सभा, वाराणसी

१५.	तुलसी के चार दल (भाग १ और २)	सद्गुरुशरण अवस्थी	इण्डियन प्रेस लि०,प्रयाग (प्रथम संस्करण १६३५)
१६.	दादूदयाल ग्रंथावली	सं० परशुराम चतुर्वेदी	ना०प्र०सभा,वाराणसी (वि०सं० २०२३)
१७.	दोहावली (गो०तुलसीदास)	सं०हनुमानप्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर (वि०सं० २०२२)
१८.	नन्ददासकृत रास पंचाध्यायी और भंवरगीत - सं० प्रो० विश्वंभर 'अरुण'		अशोक प्रकाशन, दिल्ली (१६६६)
१६.	नन्ददास ग्रंथावली	सं० ब्रजरत्नदास	ना०प्र०सभा,वाराणसी (वि०सं० २०१४)
२०.	पद्मावत (मलिक मुहम्मद जायसी)	व्याख्याकार - श्री वासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य सदन, चिरगांव, फांसी (वि०सं० २०१८)
२१.	पद्मावतसार	हन्द्रचन्द्र नारंग	हिन्दी भवन, जलंधर और इलाहाबाद (१६५४)
२२.	परमानन्दसागर (परमानन्ददास)	सं०गोवर्धननाथ शुक्ल	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
२३.	पार्वतीमंगल (गो० तुलसीदास)	टीकाकार - हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस,गोरखपुर (वि०सं० २०२४)
२४.	बरवैरामायण (गो० तुलसीदास)	तिलककार - श्री श्रीकांत-शरण	श्री सद्गुरु कुटी,गोलाघाट, श्री अयोध्याजी (वि०सं० २०१४
२५.	मीराबाई और उनकी पदावली	प्रो० देशराजसिंह भाटी	अशोक प्रकाशन, दिल्ली (१६६२)
२६.	मीरा-पदावली	सं० डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी	साहित्य संगम,मथुरा (१६६५)
२७.	मीरा-मन्दाकिनी (द्वितीय संस्करण)	सं० नरोत्तमदास स्वामी	गया प्रसाद एंड सन्स, आगरा
२८.	मीरा माधुरी	ब्रजरत्नदास	हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी-१(वि०सं० २०१३
२६.	रामचरितमानस (तीनभाग)	टीकाकार पं०विजयानंद त्रिपाठी	मदैनी,काशी, पो०ब० ७५, नेपालीखपरा,बनारस (सन् १६५५)
३०.	रामाज्ञाप्रश्न (गो०तुलसीदास)	तिलककार श्री श्रीकांतशरण	श्री सद्गुरु कुटी,गोलाघाट श्री अयोध्याजी(वि०सं० २०१

३१. विद्यापति की पदावली	संकलनकर्ता - श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; संशोधक - कुमार गंगानन्दसिंह	पुस्तक भंडार, पटना और लहेरियासराय ।
३२. विनयपत्रिका (गोस्वामी तुलसीदास)	सं० राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (सन् १९६३)
३३. वैराग्य संदीपनी (गोस्वामी तुलसीदास)	तिलककार - श्री श्रीकांत-शरण	श्री सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजी (वि०सं० २०१४)
३४. श्रीकृष्ण गीतावली (गोस्वामी तुलसीदास)	अनु० हनुमानप्रसाद पोद्दार	गीताप्रेस, गोरखपुर (वि०सं० २०२३)
३५. साहित्यलहरी	व्याख्या० प्रभुदयाल मीतल	साहित्य संस्थान, मथुरा (सन् १९६१)
३६. सूरदास और उनका भ्रमरगीत	डा० श्रीनिवास शर्मा	अशोक प्रकाशन, दिल्ली (सन् १९६६)
३७. सूर निर्णय	द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल,	साहित्य संस्थान, मथुरा (सन् १९६२)
३८. सूरसागर (दो खंड)	सं० नन्ददुलारे वाजपेयी	ना०प्र०सभा, काशी (वि०सं० २०१५)
३९. सूर-सारावली	सं० डा० प्रेमनारायण टंडन	हिन्दी साहित्य भंडार, अमीनाबाद, लखनऊ (१९६१)
४०. सूर सुषमा	सं० नन्ददुलारे वाजपेयी	ना०प्र०सभा, काशी (वि०सं० २०१५)
४१. सूर सन्दर्भ	,,	इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग.
४२. संत कबीर	डा० रामकुमार वर्मा	साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद (१९५७)
४३. संत कबीर (संक्षिप्त)	,,	,, (१९६१)
४४. संक्षिप्त संत सुधा सार	वियोगी हरि	सस्तासाहित्य प्रकाशन, दिल्ली (१९५८)
४५. हनुमान बाहुक (गोस्वामी तुलसीदास)	टीका० पं०महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य 'वीर'	गीताप्रेस, गोरखपुर (वि०सं० १९९०)
४६. हिन्दी प्रेमगाथा काव्य-संग्रह	सं० श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद (१९५३)
४७. हिन्दी संत काव्य-संग्रह	,,	,, (१९५२)

(ख) समालोचना

१. अलबेरूनी का भारत — अनु० श्री रजनीकान्त शर्मा — आदर्श हिन्दी पुस्तकालय ४६२, मालवीयनगर, इलाहाबाद-३ (१९६७)

२. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन — डा० मायारानी टंडन — हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ (१९६०)

३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय — डा० दीनदयालु गुप्त — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (प्रथम सं०, सं० २००४)

४. अष्टछाप - श्री गोकुलनाथ — संकलनकर्ता धीरेन्द्र वर्मा — रामनारायणलाल, इलाहाबाद (१९५९)

५. आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय - भजनसिंह `सिंह` - रचना प्रकाशन, इलाहाबाद (सन् १९६८)

६. आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण काव्य — डा० मलिक मोहम्मद, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (१९६४)

७. उत्तरी भारत में संत परंपरा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी — भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद (वि०सं० २०२१)

८. ऋग्वैदिक आर्य - राहुल सांकृत्यायन - किताब महल, इलाहाबाद तथा दिल्ली (१९५७)

९. कबीर (आलोचनात्मक अध्ययन) - प्रो० भारतभूषण `सरोज` एवं डा० श्रीनिवास शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार-१३, यू०बी० बंगलो रोड, दिल्ली-६ - (१९६४)

१०. कबीर (आलोचनात्मक अध्ययन) - राजनाथ शर्मा - विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-३ - (१९६६)

११. कबीर और उनका काव्य - भोलानाथ तिवारी - राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली - (१९६२)

१२. कबीर और कबीर पंथ (तुलनात्मक अध्ययन) - प्रस्तुतकर्ता डा० केदारनाथ द्विवेदी - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (१९६५)

१३. कबीर और जायसी का मूल्यांकन - पुरुषोत्तम चन्द्र वाजपेयी - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पो०बा० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी-१ (१९६१)

१४. कबीर कल्पनाशक्ति और काव्य सौन्दर्य - ब्रह्मदत्त शर्मा - भारतीय अनुसंधान परिषद्, भारतेन्दु भवन, लोअर बाज़ार, शिमला-१ (१९६९)

१५.	कबीर की विचारधारा	गोविन्द त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर (वि०सं० २०१
१६.	कबीर के धार्मिक विश्वास	डा० धर्मपाल मैनी	सेक्टर-१४, चण्डीगढ़-३.
१७.	कबीर दर्शन	डा० रामजीलाल 'सहायक' प्रधान सं० डा० दीनदयालु गुप्त.	हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय (१९६२)
१८.	कबीर	डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्रा० लि०,हीराबाग,बंबई-४ (१९६४)
१९.	कबीर	पुष्पकुमारी शर्मा 'कौशिक'	कुमार सम्भव,सोलन(हि.प्र. (१९६२)
२०.	कबीर मीमांसा	कैलाशचन्द्र वार्ष्णेय	सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा,आगरा (१९५
२१.	कबीर	विजयेन्द्र स्नातक	राधाकृष्ण प्रकाशन,४-१४ रूपनगर,दिल्ली-७ (१९६
२२.	कबीर विमर्श (विश्लेषणात्मक अध्ययन)	सरनामसिंह शर्मा	श्री भारत भारती प्रा०लि अन्सारी रोड़, नया दरियागंज,दिल्ली-६.
२३.	कबीर व्यक्तित्व,कृतित्व एवं सिद्धांत	,,	भारतीय शोध संस्थान, गांधी शिक्षण समिति, गुलाबपुरा (१९६९)
२४.	कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी	भारती भण्डार,लीडर प्रेस इलाहाबाद (वि०सं० २०११
२५.	कवि कालिदास के ग्रंथों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति	डा० गायत्री वर्मा	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पो०बा०नं०७०,पिशाचमोच वाराणसी-१ (सं० ११००
२६.	कविवर परमानन्ददास और वल्लभ संप्रदाय	डा० गोवर्धननाथ शुक्ल	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
२७.	कृष्ण भक्ति काव्य	डा० जगदीश गुप्त	वसुमती, ३८,थौर्न्हिल रोड़, इलाहाबाद-३ (१९६८)
२८.	कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव	डा० शरण बिहारी गोस्वामी	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी (वि०सं० २०२३
२९.	कृष्ण भक्ति साहित्य में रीति काव्य परंपरा	डा० राजकुमारी मीतल	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६७)

३०.	कौटिल्य का अर्थशास्त्र	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (वि०सं० २०१
३१.	क्रांतिकारी तुलसी	श्री नारायण सिंह	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, (शक सं० १८८०)
३२.	गोस्वामी तुलसीदास	डा० पं० सीताराम चतुर्वेदी	चौखम्बा विद्याभवन, चौक,बनारस-१ (१९५६)
३३.	गोस्वामी तुलसीदास और राम-कथा	सत्यदेव चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य सृजन परिषद्,जौनपुर (१९५७)
३४.	गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना	व्यौहार राजेन्द्र सिंह	ना०प्र०सभा,वाराणसी (वि०सं० २०२६)
३५.	गोस्वामी तुलसीदासजी का सामाजिक आदर्श	श्रीमती सुधारानी शुक्ल	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
३६.	गोस्वामी तुलसीदास	डा० रामचन्द्र शुक्ल	ना०प्र०सभा,वाराणसी (वि०सं० २०११)
३७.	गोस्वामी तुलसीदास	लेखक स्व० बाबू शिवनंदन सहाय, सं० श्री नलिन विलोचन शर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (१९६२)
३८.	गोस्वामी तुलसीदास : विवेचन,विश्लेषण और अध्ययन	राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	एस०चन्द एंड कं०, दिल्ली (१९६३)
३९.	गोस्वामी तुलसीदा व्यक्तित्व,दर्शन,साहित्य	रामदत्त भारद्वाज	भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा,दिल्ली (१९६२
४०.	गोस्वामी तुलसीदास	श्यामसुन्दर दास, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ०प्र०,इलाहाबाद (१९३१
४१.	जायसी और उनका पद्मावत एक सर्वेक्षण	राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६२)
४२.	जायसी (आलोचनात्मक अध्ययन)	भारत भूषण `सरोज`	,, (१९६६
४३.	जायसी : एक विवेचन	प्रो० देशराजसिंह भाटी	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६ (१९६२)
४४.	जायसी का काव्य-दर्शन (आलोचनात्मक अध्ययन)	,,	रीगल बुक डिपो,नई सड़क दिल्ली-६
४५.	जायसी का पद्मावत काव्य और सौन्दर्य	डा० गोविन्द त्रिगुणायत	अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६ (१९६३)

४६.	जायसी की काव्य-साधना (आलोचनात्मक अध्ययन)	प्रो० राजबहादुर पाठक	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६ (१९६१)
४७.	जायसी	रामपूजन तिवारी	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-७
४८.	जायसी	रामरतन भटनागर	किताब महल, इलाहाबाद (१९६७)
४९.	जायसी साहित्य और सिद्धांत	यज्ञदत्त शर्मा	रामलाल पुरी, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली (१९५५)
५०.	तुलसी : आधुनिक वातायन से.	डा० रमेश कुन्तल मेघ	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, (१९६७)
५१.	तुलसी का गवेषणात्मक अध्ययन	राजकुमार 'कुमार'	सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा (१९५९)
५२.	तुलसी काव्य-मीमांसा	उदयभानुसिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (१९६६)
५३.	तुलसी काव्य में नैतिक मूल्य	डा० वरणाशर्मा शास्त्री	भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-६ (१९७१)
५४.	तुलसी की काव्य कला और दर्शन	डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	सरस्वती संवाद कार्यालय, आगरा (१९६५)
५५.	तुलसी की काव्य-कला	डा० भाग्यवती सिंह	सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा (वि०सं० २०११)
५६.	तुलसी की गीतिकाव्य	हरिकृष्ण देवसरे	नन्दकिशोर एंड संस, चौक, वाराणसी (१९६३)
५७.	तुलसी की भाषा	डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव	लखनऊ विश्वविद्यालय, (वि०सं० २०१४)
५८.	तुलसी दर्शन-मीमांसा	डा० उदयभानु सिंह	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (वि०सं० २०१८)
५९.	तुलसीदास (आलोचनात्मक अध्ययन)	प्रो० दामोदरदास गुप्त	हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली-६ (१९६१)
६०.	तुलसीदास और उनका काव्य	रामनरेश त्रिपाठी	राजपाल एंड सं०, दिल्ली (१९५८)
६१.	तुलसीदास और उनका युग	डा० राजपति दीक्षित	ज्ञानमंडल वि०, वाराणसी (वि०सं० २०१८)

६२. तुलसीदास और उनका साहित्य	डा० विमलकुमार जैन	साहित्य सदन, देहरादून.
६३. तुलसीदास और उनके ग्रंथ	भगीरथप्रसाद दीक्षित	अशोक प्रकाशन, लखनऊ (१९५५)
६४. तुलसीदास (एक आलोचनात्मक अध्ययन)	माताप्रसाद गुप्त	हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग (१९५३)
६५. तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन	डा० श्रीधर सिंह	हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी-१ (१९६८)
६६. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा	डा० राजाराम रस्तोगी	अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर.
६७. तुलसीदास वस्तु और शिल्प	डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित	सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा (१९५९)
६८. तुलसी नवमूल्यांकन	डा० रामरतन भटनागर	स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद (१९७१)
६९. तुलसी-प्रतिमा	डा० इन्द्रनाथ मदान	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (१९७१)
७०. तुलसी	प्रो० रामबहोरी शुक्ल	हिन्दी भवन, इलाहाबाद (१९५२)
७१. तुलसी रसायन	डा० भगीरथ मिश्र	साहित्य भवन प्रा०लि०, इलाहाबाद (१९६६)
७२. तुलसी मानस रत्नाकर	डा० भाग्यवती सिंह	सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा (१९६२)
७३. तुलसी साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	रामलाल पुरी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली-६ (१९५५
७४. तुलसी साहित्य रत्नाकर अथवा महाकवि तुलसीदास	पं० रामचन्द्र द्विवेदी	सत्साहित्य प्रकाशक मंडल, पटना (वि०सं० १९८६)
७५. तुलसी	सं० उदयभानु सिंह	
७६. त्रिवेणी	(आ० रामचन्द्र शुक्ल) सं० कृष्णानन्द	ना०प्र०सभा, काशी (वि० सं० २०१६)
७७. धर्म तथा समाजवाद	गुरुदत्त [redacted]	शाश्वत संस्कृति परिषद्, नई दिल्ली (१९६७)

७८.	दादू दयाल (जीवन, दर्शन और काव्य)	डा० सत्यनारायण उपाध्याय	ईश्वर गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता २६.
७९.	नन्ददासकृत रास पंचाध्यायी और भंवरगीत	प्रो० विश्वम्भर 'अरुण'	अशोक प्रकाशन, दिल्ली-६ (१९६६)
८०.	नया हिन्दी काव्य	डा० शिवकुमार मिश्र	अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर (१९६२)
८१.	निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डा० मोतीसिंह	ना०प्र०सभा, काशी (वि०सं० २०१९)
८२.	निबन्ध पारिजात	अमबमसिंह 'नीलकमल'	मगध राजधानी प्रकाशन, पटना-४.
८३.	पतंजली कालीन भारत	डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४ (१९६३)
८४.	पद्मावत में लोकतत्व	डा० रवीन्द्र भ्रमर सं० श्रीकृष्णदास	मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद (१९६२)
८५.	प्राचीन कवियों की	राजेन्द्रसिंह गौड़ सं० रामनाथ 'सुमन'	साधना सदन, इलाहाबाद-१ (१९५८)
८६.	प्राचीन भारत का इतिहास	डा० रमाशंकर त्रिपाठी	बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७ (१९६८)
८७.	प्राचीन भारत की सांग्रामिकता	पं० रामदीन पांडेय	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (१९५७)
८८.	प्राचीन भारत में नगर तथा [redacted] नगर जीवन	डा० उदयनारायण राय	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६५)
८९.	प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक भूमिका	रामजी उपाध्याय	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१ (१९६६)
९०.	प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास	रांगेय राघव	आत्माराम एंड संस, दिल्ली-६.
९१.	प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति	प्रो० अनन्त सदाशिव	भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग (वि०सं० २०१६)
९२.	भक्ति आन्दोलन का अध्ययन	डा० रतिभानुसिंह नाहर	किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद
९३.	भक्ति का काव्य-सौंदर्य	सत्येन्द्र पारीक	सुशील प्रकाशन, अजमेर (१९६६)

९४.	भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप	डा० जगन्नाथ 'नलिन'	बंसल एंड कं०, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२ (१९६६)
९५.	भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा	चौखंबा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१ (१९५८)
९६.	भागवत दर्शन	डा० हरवंशलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ (वि०सं० २०२०)
९७.	भागवत संप्रदाय	पं० बलदेवप्रसाद उपाध्याय	ना०प्र०सभा, काशी.
९८.	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	हरिदत्त वेदालंकार	आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९५२)
९९.	भारत का सांस्कृतिक विकास	शिवशेखर मिश्र	लखनऊ विश्वविद्यालय ११००
१००.	भारत में समाजशास्त्र प्रजाति और संस्कृति	गौरीशंकर भट्ट	साहित्य सदन, देहरादून (१९६५)
१०१.	भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास	डा० विमलचन्द्र पांडेय	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६०)
१०२.	भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास	परमात्माशरण	नन्दकिशोर एंड सन्स, पो०बा० १७, चौक, वाराणसी- (१९६४)
१०३.	भारतीय साधना और संत तुलसी	डा० हरस्वरूप माथुर	साहित्य निकेतन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर (१९६५)
१०४.	भारतीय संत परंपरा और समाज	डा० रांगेय राघव	किताब महल प्रा०लि०, इलाहाबाद (शक० १८८४)
१०५.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	आ० चतुरसेन शास्त्री	रस्तोगी एंड कं०, मेरठ (१९५८)
१०६.	भारतीय संस्कृति का विकास(वैदिक धारा)	डा० मंगलदेव शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, (१९७०)
१०७.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	दिनेशचन्द्र भारद्वाज	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६२)
१०८.	भारतीय संस्कृति के उपादान	डी.एन.मजुमदार	एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई-१ (१९५८)
१०९.	भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य	वृन्दावनदास	सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली ३ (१९६८)
११०.	भारतीय संस्कृति	बाबू गुलाबराय	रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर (१९६६)

१११.	मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति	दिनेशचन्द्र भारद्वाज	कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर (१९६७)
११२.	मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति	उमाशंकर मेहरा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६३)
११३.	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (६०० ई०-१२०० ई०)	रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद (१९५१)
११४.	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद	डा० कपिलदेव पांडेय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (वि०सं० २०२०)
११५.	मध्यकालीन संत साहित्य	डा० रामखेलावन पांडेय	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१ (१९६५)
११६.	मध्यकालीन हिन्दी संत विचार और साधना	डा० केशनीप्रसाद चौरसिया	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६५)
११७.	मध्ययुगीन काव्य-साधना	डा० रामचन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर (१९६२)
११८.	मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति	डा० हरगुलाल	भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली (१९६७)
११९.	मध्ययुगीन प्रेमाख्यान	डा० श्याममनोहर पांडेय सं० श्रीकृष्णदास	मित्र प्रकाशन प्रा०लि०, इलाहाबाद.
१२०.	मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास	डा० रामरतन भटनागर	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६ (१९६२)
१२१.	मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	डा० आशा गुप्ता	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (१९७०)
१२२.	मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्तिधारा और चैतन्य संप्रदाय	डा० मीरा श्रीवास्तव	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६८)
१२३.	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६०)
१२४.	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी-भावना	डा० उषा पांडेय	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६ (१९५९)

१२५.	मनुष्य का विकास	श्री रमेश्वर	नवलकिशोर प्रेस बुक डिपो हजरतगंज, लखनऊ (१९३९)
१२६.	मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य	डा० शिवसहाय पाठक	ग्रंथम रामबाग, कानपुर (१९६४)
१२७.	महाकवि सूरदास	नंददुलारे वाजपेयी	आत्माराम एंड संस, दिल्ली (१९६६)
१२८.	महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग	आचार्य पं० सीताराम	हिन्दी साहित्य कुटीर, हाथी गली, वाराणसी (वि०सं० २०२३)
१२९.	महाभारतकालीन समाज	मूललेखक - सुखमय भट्टाचार्य	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१ (१९६६)
१३०.	मानस की महिलाएं	रामानन्द शर्मा	कन्याकुमारी प्रकाशन, मद्रास (१९६२)
१३१.	मानस की (रूसी) भूमिका	मूल लेखक - स्व० श्री० ए०पी०वारान्निकोव अनु० डा० केसरीनारायण शुक्ल	विद्यामंदिर, रानी कटरा, लखनऊ (१९५५)
१३२.	मानस-माधुरी	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र	साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा (१९५८)
१३३.	मीरा की काव्य-कला	प्रो० देशराजसिंह भाटी	ओमप्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली (१९६२)
१३४.	मुगलकालीन भारत	डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	शिवलाल अग्रवाल एंड कं०, आगरा-३, (१९६४)
१३५.	मुस्लिम भारत की ग्रामीण व्यवस्था	डब्ल्यू.एच.मोरलाण्ड अनु० श्री कमलाकार तिवारी	इतिहास प्रकाशन संस्थान, ४६२,मालवीय नगर, इलाहाबाद (१९३३)
१३६.	मोहन जोदड़ो तथा सिंधु सभ्यता	श्री सतीशचन्द्र	ना०प्र०सभा,काशी (वि०सं० २००८)
१३७.	मंगल काव्य परंपरा	डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया	मंगल प्रकाशन,गोविन्द राजियों का रास्ता, जयपुर (१९७०)
१३८.	रसखान काव्य तथा भक्ति-भावना	डा० माजदा असद	साहित्य सदन,देहरादून (१९६८)

१३९.	रसखान (जीवन और कृतित्व)	देवेन्द्रप्रताप उपाध्याय	आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी-२ (१९६२)
१४०.	राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७ (१९५८)
१४१.	रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त	,, (१९६१)
१४२.	रामचरितमानस का कथा-शिल्प	श्रीधर सिंह	आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी (१९५९)
१४३.	रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन	डा० राजकुमार पांडेय	अनुसंधान प्रकाशन,
१४४.	रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	डा० शिवकुमार शुक्ल	युगवाणी प्रकाशन, कानपुर (१९६४)
१४५.	रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डा० जगदीशप्रसाद शर्मा	किताब महल प्रा० लि०, (१९६५)
१४६.	रामचरितमानस की भूमिका	रामदास गौड़	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञानवापी, बनारस (१९५०
१४७.	रामचरितमानस में लोक-वार्ता	चन्द्रभान	सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा (१९५५)
१४८.	रामचरितमानस - साहित्य मूल्यांकन	सं० सुधाकर पांडेय	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-६
१४९.	रामभक्ति में रसिक संप्रदाय	डा० भगवती प्रसाद सिंह	अवध साहित्य मंदिर, उत्तरप्रदेश (वि०सं० २०१४)
१५०.	रामभक्ति	रामनिरंजन पांडेय	नवहिन्द पब्लिकेशन्स, हैदराबाद (१९६०)
१५१.	रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी परिषद् वि०वि० प्रयाग (१९५७)
१५२.	ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (१९६६)
१५३.	ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति	डा० रूपनारायण	यंग मैन एंड कं०, दिल्ली-६ (१९६२)
१५४.	ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	साहित्य संस्थान, मथुरा (१९६८)

१५५.	वाल्मीकि और तुलसी साहित्यिक मूल्यांकन	रामप्रकाश अग्रवाल	प्रकाशन प्रतिष्ठान, सुभाष बाजार, मेरठ (१९६६)
१५६.	वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	प्रधान सं० डा० दीनदयालु गुप्त - लेखिका डा० विद्या मिश्र	विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ वि०वि०, (संवत् २०१५)
१५७.	विनयपत्रिका दर्शन	तपेशकुमार चतुर्वेदी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९५७)
१५८.	विष्णुपुराण का भारत	डा० सर्वानन्द पाठक	चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी (वि०सं० २०२४)
१५९.	वेदकालीन समाज	डा० शिवदत्त ज्ञानी	चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (वि०सं० २०२३)
१६०.	वेदों में भारतीय संस्कृति	आद्यादत्त ठाकुर	हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र., लखनऊ (१९६७)
१६१.	वैदिक युग के भारतीय आभूषण - एक अध्ययन	डा० रायगोविन्द चन्द्र	चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (वि०सं० २०२२)
१६२.	वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	शारदा मंदिर, काशी (१९५८)
१६३.	वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन	डा० मलिक मोहम्मद	राजपाल एंड संस, दिल्ली (१९७१)
१६४.	समाजशास्त्र	मॉरिस गिन्सबर्ग	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (१९६६)
१६५.	समीक्षात्मक निबंध	डा० सत्येन्द्र	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६२)
१६६.	सामाजिक संस्थाएं और रीति-रिवाज़	डा० रांगेय राघव	,, (१९६१)
१६७.	सांस्कृतिक मानवशास्त्र	मेलविल जे. हर्सकोवित्स अनु० रघुराज गुप्त	भारती भवन, देहरादून, भारतीय बुक सोसाइटी, लखनऊ (१९६०)
१६८.	साहित्य सम्राट तुलसीदास	पं० गंगाधर मिश्र	सरस्वती मंदिर, वाराणसी (वि०सं० २०१६)
१६९.	साहित्यिक निबंध	डा० त्रिभुवन सिंह	हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी (१९७०)

१७०. साहित्यिक निबंध	राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६३)
१७१. सूफी मत और हिन्दी साहित्य	डा० विमलकुमार जैन	आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली-६ (१९५५)
१७२. सूफी महाकवि जायसी	डा० जयदेव	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ (१९५७)
१७३. सूर और उनका साहित्य (तृतीय संस्करण)	डा० हरवंशलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
१७४. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण	विश्वंभरनाथ उपाध्याय	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६५)
१७५. सूर का वसंत वर्णन	चुन्नीलाल 'शेष'	जैनबन्धु पुस्तकालय, मथुरा (१९६०)
१७६. सूर की आलोचना	डा० हरवंशलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़.
१७७. सूर की काव्य-कला	मनमोहन गौतम	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली (१९६३)
१७८. सूर की काव्य-कला (सूर साहित्य का विस्तृत विवेचन)	डा० शंभुनाथ पांडेय	सरस्वती संवाद, मोतीकटरा आगरा (१९६२)
१७९. सूर की भाषा	डा० प्रेमनारायण टंडन	हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ (१९५७)
१८०. सूर की साहित्य साधना	डा० भगवत्स्वरूप मिश्र एवं विश्वंभर 'अरुण'	शिवलाल अग्रवाल एंड कं०, आगरा-३ (१९६५)
१८१. सूर-दर्शन	डा० कृष्णलाल हंस	हंस प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद (१९५८)
१८२. सूरदास (आलोचनात्मक अध्ययन)	प्रो० भारतभूषण 'सरोज'	रीगल बुक डिपो, दिल्ली (१९६५)
१८३. सूरदास ,,	वासुदेव शर्मा शास्त्री	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६७)
१८४. सूरदास और भगवद्भक्ति	डा० मुंशीराम शर्मा	साहित्य भवन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद (१९५८)
१८५. सूरदास का काव्य-वैभव	डा० मुंशीराम शर्मा	ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर (१९६५)

१८६.	सूरदास (जीवनी और काव्य का अध्ययन	डा० ब्रजेश्वर वर्मा	हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग (१९५६)
१८७.	सूरदास	प्रो० शिवशंकर सारस्वत	अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६ (१९६४)
१८८.	सूरदास	रामचन्द्र शुक्ल	ना०प्र०सभा, काशी.
१८९.	सूरदास	सं० हरबंशलाल शर्मा	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-७.
१९०.	सूर मीमांसा	डा० ब्रजेश्वर वर्मा	ओरियंटल बुक डिपो, दिल्ली.
१९१.	सूरसागर में लोक-जीवन	डा० हरगुलाल	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-७.
१९२.	सूर समीक्षा	डा० रामरतन भटनागर	संस्कृत-हिन्दी पुस्तक विक्रेता, दिल्ली (१९५२)
१९३.	सूर साधना और साहित्य	त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	आदर्श पुस्तक भंडार, कलकत्ता-७ (१९६१)
१९४.	सूर साहित्य और सिद्धांत	यज्ञदत्त शर्मा	आत्माराम एंड संस, दिल्ली-६ (१९५५)
१९५.	सूर साहित्य का नव-मूल्यांकन	डा० चन्द्रभान रावत	जवाहर पुस्तकालय, मथुरा (१९६७)
१९६.	सूर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	डा० प्रेमनारायण टंडन	हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ (१९५८)
१९७.	सूर साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, गिरगांव, बंबई-४ (१९६१
१९८.	संत कवि दादू और उनका काव्य	डा० वासुदेव शर्मा शास्त्री	शोध प्रबन्ध प्रकाशन, नई दिल्ली (१९६९)
१९९.	संत काव्य में परोक्षता का स्वरूप	डा० बाबूराव जोशी	कैलास पुस्तक सदन, ग्वालियर-१ (१९६८)
२००.	संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि	डा० ओमप्रकाश शर्मा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६५)
२०१.	संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डा० सावित्री शुक्ल	विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ वि०वि० (१९६३)

२०२.	संत साहित्य	डा० सुदर्शनसिंह मजीठिया	कमल प्रकाशन, दिल्ली-६ (१९६२)
२०३.	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	डा० देवराज	प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश (१९५७)
२०४.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह 'दिनकर'	उदयाचल, पटना-४ (१९६२)
२०५.	हमारे रीतिरिवाज़	जगदीश सिंह	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
२०६.	हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति-साहित्य - तुलनात्मक अध्ययन	डा० के.रामनाथन	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-३ (१९६८)
२०७.	हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय	ले०स्व०डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; अनु० परशुराम चतुर्वेदी; सं० डा०भगीरथ मिश्र.	अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ.
२०८.	हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव	डा० शशि अग्रवाल	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६०)
२०९.	हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव	डा० विश्वनाथ शुक्ल	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ (१९६६)
२१०.	हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि	डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६४)
२११.	हिन्दी निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गोविन्द त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर (१९६१)
२१२.	हिन्दी भक्त वार्ता साहित्य	डा० लालताप्रसाद दुबे	साहित्य सदन, देहरादून (१९६८)
२१३.	हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु	सं० डा० विजयेन्द्र स्नातक प्रधान सं० डा० नगेन्द्र भाष्यकार - आ०विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (१९६३)
२१४.	हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक-तत्व	रवीन्द्र भ्रमर	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली (१९६५)

२१५.	हिन्दी भारती (पहला भाग)	डा० रामरतन भटनागर	रामनारायण लाल, इलाहाबाद (१९५१)
२१६.	हिन्दी में प्रगीत काव्य और उसकी परंपरा	डा० स्नेहलता श्रीवास्तव	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़.
२१७.	हिन्दी वैष्णव-भक्ति काव्य : काव्यादर्श तथा काव्य-सिद्धांत	योगेन्द्रप्रताप सिंह	साहित्य भवन,इलाहाबाद। (१९६९)
२१८.	हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका	रामनरेश वर्मा	ना०प्र०सभा,काशी (वि०सं० २०२०)
२१९.	हिन्दी साहित्य और साहित्यकार	सुधाकर पांडेय	नन्दकिशोर एंड सन्स, चौक,वाराणसी (१९५७)
२२०.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा	रामनारायण लाल बेनी माधव,प्रयाग (१९६४)
२२१.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आ०रामचन्द्र शुक्ल	ना०प्र०सभा,काशी (वि०सं० २०२२)
२२२.	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (चतुर्थ भाग)	पं० परशुराम चतुर्वेदी	ना०प्र०सभा,काशी (वि०सं० २०२५)
२२३.	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग)	सं० राजबली पांडेय	ना०प्र०सभा,काशी, (वि०सं० २०१४)
२२४.	हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	डा० रामरतन भटनागर	साथी प्रकाशन,सागर(म०प्र० (१९६४)
२२५.	हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई-४ (१९५६)
२२६.	हिन्दी साहित्य - द्वितीय खंड	सं० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), व्रजेश्वर वर्मा (सहकारी)	भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग (वि०सं० २०१५)
२२७.	हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	लेफ्टीनेन्ट डा० सरनाम-सिंह शर्मा 'अरुण'	रामनारायण लाल, इलाहाबाद (१९५२)
२२८.	हिन्दी साहित्य,परमोत्तर	श्री हरि	किताब महल,इलाहाबाद
२२९.	हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ	डा० शिवकुमार शर्मा	अशोक प्रकाशन, दिल्ली-६

२३०.	हिन्दी साहित्यानुशीलन	सत्यकाम वर्मा	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली (१९६२)
२३१.	हिन्दी सूफी कवि और काव्य (जायसी के परवर्ती)	सरला शुक्ल	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (वि०सं० २०१३)
२३२.	हिन्दी संत साहित्य	त्रिलोकीनारायण दीक्षित	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६
२३३.	हिन्दी संत साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव	डा० विद्यावती 'मालविका'	हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी-१ (१९६६)
२३४.	हिन्दुओं के व्रत और त्योहार	कुंवर कन्हैयाजू	-
२३५.	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	बेनी प्रसाद	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ०प्र०, इलाहाबाद (१९५०)
२३६.	हिन्दू भारत	रतिभानु सिंह 'नाहर'	किताब महल, इलाहाबाद (१९६०)
२३७.	हिन्दू-संस्कार	डा० राजबली पांडेय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९६६)

(आ) संस्कृत-ग्रंथ

१. अध्यात्म रामायणम्
२. अथर्ववेद
३. ऋग्वेद
४. कात्यायन-श्रौतसूत्र
५. कुमारसंभव
६. छान्दोग्योपनिषद्
७. प्रसन्नराघव
८. बृहदारण्योपनिषद्
९. ब्राह्मण ग्रन्थ
१०. बीस स्मृतियां
११. मनुस्मृतियां
१२. महाभारत

१३. यजुर्वेद
१४. वाल्मीकिरामायणम्
१५. श्रीमद्भगवद्गीता
१६. श्रीमद्भागवत
१७. सामवेद
१८. हनुमन्नाटक
१९. हरिभक्तिरसामृतसिंधु

(ख) मलयालम ग्रंथ

१. एषुत्तच्छन्टे अध्यात्मरामायणम् - ओरु पठनम् डा० के.एन.एषुत्तच्छन - करन्ट बुक स्टाल (१९६८)
२. एषुत्तच्छन्टे रामायणावुं मट्टु रामायणङ्ङळुं - एन.मुकुन्दन - - नेशनल बुक स्टाल, कोट्टयम् (१९७१)

(ई) कोश ग्रंथ

(क) हिन्दी

१. अमरकोश	टी.सी.परमेश्वर	नेशनल बुक स्टाल, कोट्टयम् (१९१४)
२. अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश	फादर कामिल बुल्के	काथलिक प्रेस, रांची, बिहार (१९६८)
३. तुलसी शब्दसागर	सं० भोलानाथ तिवारी	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ.प्र., इलाहाबाद - प्रथम संस्करण
४. बृहत् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश	डा० हरदेव बाहरी	ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी- (१९६२)
५. ब्रजभाषा सूर कोश	सं० डा० प्रेमनारायण टंडन	लखनऊ विश्वविद्यालय (१९६२
६. वाचस्पत्यम्	श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्येण	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१ (१९६२)
७. वैदिक इण्डेक्स (भाग १)	मूल लेखक ए.ए.मैक्डोनेल अनु० रामकुमार राय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (वि०सं० २०१८

८.	शब्द कल्पद्रुम	राजा राधाकान्त देव	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,वाराणसी-१ (वि०सं० २०२४)
९.	शब्दरत्न महोदधि (महान शब्दकोष) - भाग २.	संग्राहक - श्री मुक्तिविजयजी, संशोधक - शास्त्री गिरिजाप्रसाद दयाराम, संवत् १९९७, सन् १९४१	
१०.	संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७ (१९६६)
११.	संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर	सं० रामचन्द्र वर्मा	ना०प्र०सभा,काशी (१९७१)
१२.	हिन्दी साहित्य कोश	सं० धीरेन्द्र वर्मा(प्रधान)	ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी-१(वि०सं० २०२०)

(ख) अंग्रेजी :

1. Bhargava's Standard Illustrated Dictionary of the Hindi Language (Hindi-English edition) - Prof. R.C. Pathak — Bhargava Book Depot, Chowk Varanasi - 1946.
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics — James Hastings — Edinburgh. T & T Clark, 38 George Street, New York, Charle: Scribner's Sons - 1971.
3. English-Hindi-Malayalam Dictionary — V. Ramanathan, V. Balakrishnan - The Educational Supplies Depot, Trivandru: 1968.
4. Sanskrit-English Dictionary - P.K. Gode & C. G. Karve — Prasad Prakasan; poona - 1959.
5. The Twentieth Century English-Hindi Dictionary of Administr tion & Legal terms — Sukhsampathi Rai Bhandari — Diction: Publishing House, Brahmpuri, Ajmer - 1957.
6. The Universal Dictionary of the English Language —Henry C Wyld — The Waverley Book Company Limited, London —1961.

(ड) अंग्रेजी-ग्रंथ

I. Ain-i-Akbari —Abul Faze-L-Allami, Royal Asiatic Society of Bengal.

2. Akbar the Great Mughal —Vincent A Smith —S. Chand & Co. Delhi —1962.

3. Caste and Communication in an Indian village —D.N. Majumdar —Asia Publishing House, Bombay —1962.

4. Caste in India — J.H. Hutton — Oxford University Press, Apollo Bunder, Bombay I BR - 1969.

5. Civilization — Past and Present —Wallbank & Taylor — Scott Foresmaw and Company, United States of America —1954.

6. Culture and Society —Raymond Withams —Chatto & Windus Ltd, 42 Withams IV Street, London, W.C.2 - 1960.

7. Customs and Cultures —Eugene A. India — United States of America.

8. Festivals and Holidays of India — P. Thomas —D.B. Taraporevala Sons & Co. Private Limited, 210 Dr.D.Naoroji Road, Bombay —1971.

9. Glimpses of Medieval Indian Culture —Yusuf Husain — P.S. Jayasingha, Asia Publishing House, Bombay —1959.

10. Hindu Manners, Customs and Cerimonies —Abbe J.A. Doubois — Great Britain —1906.

11. History of Shahjahan of Delhi —Banarsiprasad Saksena — the Central Book Depot, Allahabad.

12. History of Hindu Public Life —I —U.N. Ghoshal —Ramesh Ghoshal, 35, Badurbagan Row, Culcutta.

13. India in the time of Patanjali —B.N. Puri —Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay - 7 - 1968.

14. India of Vedic Kalpasutras —Ram Gopal —1959.

15. India's Culture through the Ages —M.L. Vidyarthi — Meenakshi Prakashan, Begum Bridge, Meerut (India) - 1970.

16. Introductory Sociology — William E. Cole — Canada — 1962.
17. Man, time and society — Albert E. Moore — United States of America.
18. Modern Democracies — James Bryce — Macmillian and Co. Limited, St. Martins Street, London - 1921.
19. Social Life During the Mughal Age — Pran Nath Chopra — Shivlal Agarwala & Co. (P) Ltd, Jaipur, Agra — 1963.
20. Social Problems and Social Disorganisation in India — Dr. C.B. Mamorie — Kitab Mahal Private Ltd, Allahabad-3. 1960.
21. Society — Ely Chinoy — Random House, New York. Second edition.
22. Sociology — Murris Ginsberg — Great Britain, London — 1934.
23. Sociology — Arnold W. Green - Mc Graw- Hill Book Company, Ine New York Toronto, London — 1960.
24. Sociology — Abrahamson — D. Van Nostrand Company (Canada). Ltd, Canada.
25. Sociology — T.B. Bottomore — George Allen & Unwin Ltd, Ruskin House, London - 1962.
26. The Birth of Indian Civilization — Bridget and Raymond Allchin — Richard Clay (the Chancer Press) Ltd, Great Britain, Bungay, Sufolk - 1968.
27. The Cultural Heritage of India (Vols. I, II, III) — Haridas Bhattacharya — The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Culcutta — 1937.
28. The Civilization of Ancient India — Louis Renow, — Susil Gupta (India) Ltd, Culcutta-12 — 1954.
29. The Culture and Art of India — Radhakamal Mukerjee — George Allen & Unwin Ltd, Ruskin House, Museum Street, London.
30. The Flowering of Indian Art — Radhakamal Mukerjee — Asia Publishing House, Bombay — 1964.

31. The Position of Women in Hindu Civilization — Dr. A. S. Altekar — Motilal Banarasidas, Bangalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-6. — 1962.

32. The Problem of Indian Society — Devabrata Bose — Popular Prakashan, 35 C, Trader Road, Bombay 34 WB — 1968.

33. The Socio-Economic History of Northern India — Bhakat Prasad Mazumdar — Banebharam Akrur Lane, Calcutta-12 — 1960.

34. The Socio-Religious Conditions of North India — Varudeva Upadhyay — the Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi-1 — 1964.

35. The Social Orders — Robert Bierstedt — McGraw - Hill Book Company, Inc. New York, SanFrancisco, Toronto, London — Second edition.

36. The Social Background of a Plan — Ruthglass — C. Tinling and Co. Limited Liverpool, London and Prescot, London — 1948.

37. The Vedic Age — R. C. Majumdar — Bharatiya Vidya Bhavan, Chaupathy Road, Bombay-7 — 1970.

38. Women in Ancient India — Mary E. R. Martin — The Chowkhamlea Sanskrit Series Office, Varanasi-1, — 1964.

39. Women and Social Injustice — M. K. Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahemmadabad, — 1954.

पत्र-पत्रिकाएं

१. तुलसीदल (अगस्त १९६९, अप्रैल १९७०, मई १९७०, जुलाई १९७१, अप्रैल १९७२, अंक ३, ११, १२, २, ११) — संत शिरोमणि गो० तुलसीदासजी - सं० परामर्शदाता - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, वियोगी हरि, बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० भगीरथ मिश्र, डा० सु. शंकरराजु नायडु - मानस प्रेस, इब्राहीमपुरा, भोपाल (म०प्र०).

२. धर्मयुग - संपादक - धर्मवीर भारती - टाइम्स आफ इण्डिया, बम्बई १ - अगस्त १९७०.

३. युगप्रभात - संपादक के. रवि वर्मा - दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास १७ - जुलाई १९७१.

४. रसवंती - संपादक प्रेमनारायण टंडन - नन्दन प्रकाशन, रानीकटरा, लखनऊ ३, अक्टूबर १९७१.

५. साप्ताहिक हिन्दुस्तान - रामनन्दन सिन्हा - हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली - अगस्त १९७१.

६. साहित्य सन्देश - (फाइल) - संपादक गुलाबराय, सत्येन्द्र और महेन्द्र - साहित्यरत्न भण्डार, आगरा - १९५१-५२, १९५४-५५, १९५८-५९, १९६०-६१.